और विश्वासघात—इन सबका समुचित ज्ञान महाभारत में कराया गया है। भाइयों की फूट का दुष्प्रभाव और सत्य की विजय अवश्य होती है-निराशता कायरपन और सहनशीलता वीरता है-इन सब सत्य सिद्धान्तों को कथा के रूप में इतनी सुन्दरता से प्रतिपादित किया गया है, कि जो पढ़ने के समय बड़े ही रुचिकर प्रतीत होते हैं—इनके आधार पर ही अपने आचरण निर्माण करने की इच्छा प्रकट होने लगती है। मुझे तो महाभारत, "आम के आम और गुठलियाँ के दाम" वाली कहावत को चरितार्थ करती दिखाई देती है। उपदेश और कथा का ऐसा अपूर्व सम्मिश्रण बहुत कम देखने में आता है-यही नहीं-इसके द्वारा हमारे ज्ञान की भी समुचित वृद्धि होती है। क्या दर्शन, क्या तर्क, क्या विज्ञान, क्या साहित्य, सभी कुछ इस महाभारत में है।

मुझे महाभारत अन्य ग्रन्थों की अपेक्षा क्यों अधिक रुचिकर प्रतीत हुआ तो इसका सीधा उत्तर है, कि मेरे विचार से ज्ञान का जैसा सञ्चित कोश मुझे इस ग्रन्थ में उपलब्ध हुआ-वैसा अन्यत्र कहीं प्राप्त नहीं हो सका।

मनोरञ्जकता के साथ ज्ञान वृद्धि का साधन महाभारत से अन्यत्र दुर्लभ है। मुझे महाभारत में सभी उच्च गुण प्रतीत हुए—इसी से मैंने इसे इतना उच्च स्थान देने का साहस किया है।

ये विचार एक विद्वान् के हैं, जिनको सत्य समझ कर हमने यहां उद्धृत किया है और हमने भी आयु का एक बहुत बड़ा भाग इसी महाभारत के समर्पित कर दिया है।

इसकी छपाई में हमको जो २ विघ्न आए-उनकी समय पर पाठकों को सूचना दी जाती रही है। अब महायुद्ध भीषण धारण करता जा रहा है। कागज की मंहगी से बहुत अड़चन खड़ी हो गई है। क्या किया जावे, अब तो किसी भी भाव पर कागज बाजार में नहीं मिलता है।

यदि इस समय कुछ दिन को महाभारत का प्रकाशन बन्द कर दिया-तो ये थोड़े से ग्राहक भी टूट जावेंगे और महाभारत के शेष थोड़े से भाग प्रकाशित न हो सकेंगे। आगे समय की क्या परिस्थिति होगी—इसको भी कौन बता सकता है। पाठक कुछ सन्तोष से काम लेंगे-तो हम शीघ्र ही सोलहवां भाग उनकी सेवा में प्रस्तुत करेंगे। आशा है, पाठक हमारी कठिनाइयों का अनुभव करके हमारी त्रुटियों को क्षमा करते रहेंगे—

भवदीय—

गङ्गाप्रसाद शास्त्री

मालीवाड़ा दिल्ली।



पन्द्रहवें भाग की विषय सूची

शल्य पर्व

सौप्तिकपर्व

स्त्रीपर्व

शान्तिपर्व

प्रमाद का परिणाम

नहि प्रमादात्परमस्ति कश्चिद्वधो नराणामिह जीवलोके। प्रमत्तमर्था हि नरं समन्तात् त्यजन्त्यनर्थाश्च समाविशन्ति ॥

(महा० सौप्तिक पर्व १०-१६)

अर्थात्—प्रमाद से बढ़कर संसार में मनुष्य का घातक अन्य कुछ नहीं है। जो मनुष्य प्रमाद में पड़ा रहता है, उसके सारे काम नष्ट हो जाते हैं, और उस पर सारी विपत्तियां टूट पड़ती हैं।





श्रीमन्महर्षि व्यास प्रणीते

महाभारत

शल्य पर्व

१५ वां भाग



सैंतालीसवां अध्याय

जनमेजय उवाच—अत्यद्भुतमिदं ब्रह्मन् श्रुतवानस्मि तत्त्वतः
अभिषेकं कुमारस्य विस्तरेण यथाविधि ॥१॥
यच्छ्रुत्वा पूतमात्मानं विजानामि तपोधन ।
प्रहृष्टानि च रोमाणि प्रसन्नं च मनो मम ॥२॥
अभिषेकं कुमारस्य दैत्यानां च वधं तथा ।
श्रुत्वा मे परमा प्रीतिर्भूयः कौतूहलं हि मे ॥३॥
अपां पतिः कथं ह्यस्मिन्नभिषिक्तः पुरा सुरैः ।
तन्मे ब्रूहि महाप्राज्ञ कुशलो ह्यसि सत्तम ॥४॥

जनमेजय बोले—हे ब्रह्मन ! मैंने विधि पूर्वक हुए कुमार के अभिषेक की अत्यन्त अद्‌भुत कथा तत्व और विस्तार के साथ सुनी-हे तपोधन ! इसके सुनने से मेरी आत्मा पवित्र होगई-मुझे यह प्रतीत होरहा है। मेरे रोमाञ्च खड़े होगए और मेरा मन आनन्दित होरहा है। कुमार का अभिपेक और दैत्यों का वध सुनकर मेरी कथा सुनने में बड़ी प्रीति होरही है। अब मुझे यह सुनने की बहुत ही उत्कण्ठा है कि देवों ने जलपति वरुण का किस तरह अभिषेक किया है। महा बुद्धिमानों में श्रेष्ठ ! आप मुझे अब यह कथा सुनाइए ॥१-४॥

वैशंपायन उवाच—शृणु राजन्निदं चित्रं पूर्वकल्पे यथातथम् ।

आदौ कृतयुगे राजन्वर्तमाने यथाविधि ॥५॥

वरुणं देवताः सर्वाः समेत्येदमथाब्रुवन् ।

यथाऽस्मान् सुरराट् शक्रो भयेभ्यः पाति सर्वदा ॥६॥

तथा त्वमपि सर्वासां सरितां वै पतिर्भव ।

वासश्च ते सदा देव सागरे मकरालये ॥७॥

समुद्रोऽयं तव वशे भविष्यति नदीपतिः ।

सोमेन सार्धं च तव हानिवृद्धी भविष्यतः ॥८॥

एवमस्त्विति तान्देवान्वरुणो वाक्यमब्रवीत् ।

वैशम्पायन बोले—हे राजन् ! यह बड़ी अपूर्व कथा है। पूर्व-कल्प के सत्युग में विधि पूर्वक यज्ञ याग आदि होरहे थे। उस समय वरुण के पास इकट्ठे होकर देवता पहुंचे और उन्होंने यह

वचन कहा—हे वरुण ! जिस तरह देवराज इन्द्र हम लोगों को सर्वदा विपत्ति से बचाते रहते हैं, इसी तरह तुम भी सारी नदियों के पति बन जाओ। हे देव ! तुम्हारा वास भी मकरालय समुद्र में ही होना चाहिए। तुम जब नदी पति बन जाओगे-तो समुद्र तुम्हारे वश में स्वयं होजावेगा चन्द्रमा के साथ समुद्र रूप धारी तुम्हारी हानि और वृद्धि हुआ करेगी। वरुण ने देवों से कह दिया-अच्छी बात है ॥५-८॥

समागम्य ततः सर्वे वरुणं सागरालयम् ॥६॥
अपां पतिं प्रचक्रुर्हि विधिदृष्टेन कर्मणा।
अभिषिच्य ततो देवा वरुणं यादसां पतिम् ॥१०॥
जग्मुः स्वान्येव स्थानानि पूजयित्वा जलेश्वरम्।

इसके अनन्तर सारे देवों ने इकट्ठे होकर विधि पूर्वक कर्म करके वरुण को जलपति बनाया और उसका निवास समुद्र में निश्चित किया। वरुण को जलपति पद पर अभिषिक्त करके उसको समुद्र में निवास करने की अनुज्ञादी। इस प्रकार जलपति वरुण की पूजा करके देवता अपने २ स्थान को गए ॥६-१०॥

अभिषिक्तस्ततो देवैर्वरुणोऽपि महायशाः ॥११॥
सरितः सागरांश्चैव नदांश्चापि सरांसि च।
पालयामास विधिना यथा देवान् शतक्रतुः ॥१२॥

जब देवों से महायशस्वी वरुण को भी अभिषेक प्राप्त होगया तो सरित् सागर नदी सरोवरों को वरुण-इस तरह पालने लगा जैसे देवों की शतक्रतु इन्द्र पालना करते हैं ॥११-१२॥

ततस्तत्राप्युपस्पृश्य दत्वा च विविधं वसु ।
अग्नितीर्थं महाप्राज्ञो जगामाथ प्रलंबहा ॥१३॥

प्रलम्बासुर नाशक बलराम ने इस वरुण तीर्थ पर भी स्नान आचमन किया। इसके बाद महाबुद्धिमान् बलदेव, अग्नि तीर्थ पर पहुंचे ॥१३॥

नष्टो न दृश्यते यत्र शमीगर्भे हुताशनः ।
लोकालोकविनाशे च प्रादुर्भूते तदाऽनघ ॥१४॥
उपतस्थुः सुरा यत्र सर्वलोकपितामहम् ।
अग्निः प्रणष्टो भगवान् कारणं च न विद्महे ॥१५॥
सर्वभूतक्षयो राजन् संपादय विभोऽनलम् ।

हे अनघ ! एक बार सारा जगत् विनष्ट होने लगा-तो अग्नि शमी वृक्ष के गर्भ में आकर अलक्षित होगए और वहां दिखाई न दिए। देवता ब्रह्माजीके पास पहुंचे। हे महाराज ! भगवान अग्नि अलक्षित होगए और इसके कारण का कुछ भी पता नहीं लगता है। अब तो सारे प्राणियों का क्षय होने को आरहा है। हे विभो आप अग्नि उत्पन्न करो ॥१४-१५॥

जनमेजय उवाच—किमर्थं भगवानग्निः प्रणष्टो लोकभावनः ॥
विज्ञातश्च कथं देवैस्तन्ममाचक्ष्व तत्त्वतः ।

जनमेजय ने कहा—हे ब्रह्मन् ! लोक की रक्षा करने वाले भगवान् अग्नि देव क्यों नष्ट होगए और फिर देवों को उसका कैसे पता लगा-आप मुझे यह तत्व पूर्वक बताइए ॥१६॥

वैशम्पायन उवाच—

भृगोः शापाद् भृशं भीतो जातवेदाः प्रतापवान् ॥१७॥
शमीगर्भमथासाद्य ननाश भगवांस्ततः ।
प्रणष्टे तु तदा वह्नौ देवाः सर्वे सवासवाः ॥१८॥
अन्वैषत तदा नष्टं ज्वलनं भृशदुःखिताः ।
ततोऽग्नितीर्थमासाद्य शमीगर्भस्थमेव हि ॥१९॥
ददृशुर्ज्वलनं तत्र वसमानं यथाविधि ।

वैशम्पायन बोले—हे राजन ! एक बार भृगु महर्षि ने अग्नि को शाप दिया । महाप्रतापी भगवान् अग्निदेव, उस शाप से भयभीत होकर शमीवृक्ष के गर्भ में घुस कर अलक्षित होगए। जब अग्निदेव अन्तर्हित होगए-तो इन्द्र को साथ लेकर देवताओं ने अत्यन्त दुःखी होकर अलक्षित अग्नि का ढूंढ़ना आरम्भ किया देवों ने अग्नि तीर्थ पर पहुंच कर देखा, कि यथा विधि अग्नि देव शमीवृक्ष के गर्भ में निवास कर रहे हैं ॥१७-१९॥

देवाः सर्वे नरव्याघ्र बृहस्पतिपुरोगमाः ॥२०॥
ज्वलनं तं समासाद्य प्रीताऽभूवन्सवासवाः ।
पुनर्यथागतं जग्मुः सर्वभक्षश्च सोऽभवत् ॥२१॥
भृगोः शापान्महाभाग यदुक्तं ब्रह्मवादिना ।

हे नर व्याघ्र ! जब देवों को पता लगा-तो बृहस्पति आदिक सारे इन्द्रादिदेव, उस अग्नि का पता लगा कर बड़े ही प्रसन्न हुए

देवता तो अग्नि का पता लगाकर चले गए, परन्तु अग्नि भृगु के शाप के कारण सर्वभक्षी होगए! हे महाभाग ! भृगु ने उनको इसी तरह का शाप दिया था ॥२०-२१॥

तत्राप्याप्लुत्य मतिमान् ब्रह्मयोनिं जगाम ह ॥२२॥
ससर्ज भगवान्यत्र सर्वलोकपितामहः ।
तत्राप्लुत्य ततो ब्रह्मा सह देवैः प्रभुः पुरा ॥२३॥
ससर्ज तीर्थानि तथा देवतानां यथाविधि ।
तत्र स्नात्वा च दत्त्वा च वसूनि विविधानि च ॥२४॥

वहां भी मतिमान् बलराम स्नान करके ब्रह्मयोनि तीर्थ पर पहुंचे जहां पर भगवान् सब लोक के पितामह ब्रह्मा ने सृष्टि की रचना की थी। शक्तिशाली पितामह ब्रह्मा ने देवों के साथ पूर्वकाल में इसी स्थान पर स्वयं भी स्नान किया । उन्होंने यथा विधि अन्य देवों के भी तीर्थ बनाए। वहां पर भी स्नान आचमन करके बलराम ने विधिपूर्वक अनेक प्रकार के दान दिए ॥२२-२४॥

कौबेरं प्रययौः तीर्थं तत्र तप्त्वा महत्तपः ।
धनाधिपत्यं सम्प्राप्तो राजन्नैलविलः प्रभुः ॥२५॥

हे राजन् ! वहां से बलराम कुबेर के तीर्थ पर गए। जहां उन्होंने बड़ा तप किया। शक्तिशाली कुबेर ने यहीं पर धनपति की पदवी प्राप्त की ॥२५॥

तत्रस्थमेव तं राजन् धनानि निधयस्तथा ।
उपतस्थुर्नरश्रेष्ठ तत्तीर्थं लांगली बलः ॥२६॥

गत्वा स्नात्वा च विधिवद्ब्राह्मणेभ्यो धनं ददौ ।
ददृशे तत्र तत् स्थानं कौबेरे काननोत्तमे ॥२७॥

पुरा यत्र तपस्तप्तं विपुलं सुमहात्मना ।
यक्षराज्ञा कुबेरेण वरा लब्धाश्च पुष्कलाः ॥२८॥

धनाधिपत्यं सख्यं च रुद्रेणामिततेजसा ।
सुरत्वं लोकपालत्वं पुत्रं च नलकूबरम् ॥२९॥

यत्र लेभे महाबाहो धनाधिपतिरंजसा ।
अभिषिक्तश्च तत्रैव समागम्य मरुद्गणैः ॥३०॥

वाहनं चास्य तद्दत्तं हंसयुक्तं मनोजवम् ।
विमानं पुष्पकं दिव्यं नैर्ऋतैश्वर्यमेव च ॥३१॥

हे राजन् ! इसी स्थान पर कुबेर के समीप निधि और सम्पूर्ण धन चले आए। हे नरश्रेष्ठ ! उसी तीर्थ पर हलधर बलराम पहुंचे वहां उन्होंने स्नान करके विधि पूर्वक ब्राह्मणों को दान दिए । इस कुबेर के उत्तम वन में वह स्थान देखा-जहां पर महात्मा यक्षराज कुबेर ने विपुल तप किया था। वहां पर उनको पुष्कल वरों की प्राप्ति हुई। अत्यन्त तेजस्वी रुद्र से यहां पर मित्रता और धनाधिपति पद की प्राप्ति हुई। हे महाबाहो ! देवपद और लोकपाल पदवी भी यहीं पर बहुत शीघ्र धनाधिपति कुबेर ने पाई थी। नलकूबर पुत्र भी यहीं पर उत्पन्न हुआ। मरुद्गणों ने आकर यहीं पर इसका धनाध्यक्ष पद पर अभिषेक किया। मन के समान वेगधारी

हंसयुक्त वाहन भी देवों ने इसे प्रदान किया। उस दिव्य विमान का नाम पुष्पक था। देवों का सारा ऐश्वर्य भी कुवेर को यहीं पर मिला ॥२६-३१॥

तत्राप्लुत्य बलो राजन् दत्वा दायांश्च पुष्कलान् ।
जगाम त्वरितो रामस्तीर्थं श्वेतानुलेपनः ॥३२॥
निषेवितं सर्वसत्वैर्नाम्ना बदरपाचनम् ।
नानर्तुकवनोपेतं सदापुष्पफलं शुभम् ॥३३॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां शल्यपर्वांतर्गतगदापर्वणि बलदेवतीर्थ० सारस्वतो० स्कन्दाभिषेके सप्तचत्वारिंशोऽध्यायः ॥४७॥

हे राजन्! यहां पर स्नान करके बलराम ने देने योग्य पुष्कल दान दिए। यह श्वेत चन्द्रन से चर्चित होकर फिर वेग से बद्र-पाचन नामक तीर्थ पर पहुंचे, जिस पर सब प्रकार के प्राणी, निवास करते थे। इसमें अनेक ऋतु और अनेक प्रकार के सुन्दर पुष्पफल सदा छाए रहते थे ॥३२-३३॥

इति श्री महाभारत शल्यपर्वान्तर्गत गदापर्व में बलदेव तीर्थयात्रा प्रसङ्ग में सारस्वतोपाख्यान का सैंतालीसवां अध्याय समाप्त हुआ।



अड़तालीसवां अध्याय

वैशम्पायन उवाच—ततस्तीर्थवरं रामो ययौ बदरपाचनम् ।

तपस्विसिद्धचरितं यत्र कन्या धृतव्रता ॥१॥

भरद्वाजस्य दुहिता रूपेणाप्रतिमा भुवि ।

श्रुतावती नाम विभो कुमारी ब्रह्मचारिणी ॥२॥

वैशम्पायन बोले—हे राजन् ! इसके अनन्तर बलराम जी बदर पाचन नामक तीर्थ पर पहुंचे जो तपस्वी और सिद्धों से सेवित था। वहां पर एक व्रतधारिणी कन्या थी जो भरद्वाज की पुत्री और पृथिवी पर अद्भुत रूपवती थी। इसका नाम श्रुतावती था जो आजन्म ब्रह्मचारिणी थी। ॥१-२॥

तपश्चचार सात्युग्रं नियमैर्बहुभिर्वृता ।

भर्ता मे देवराजः स्यादिति निश्चित्य भामिनी ॥३॥

यह कन्या बहुत से जपनियमों से युक्त होकर उग्र तप रही थी इसकी इच्छा थी, कि मेरा पति देवराजइन्द्र होवे ॥३॥

समास्तस्या व्यतिक्रान्ता बह्व्यः कुरुकुलोद्वह ।

चरंत्या नियमांस्तांस्तान् स्त्रीभिस्तीव्रान् सुदुश्चरान् ॥

हे कुरुकुलोद्भव ! उसको ऐसे कठिन व्रत तप करते हुए बहुत से वर्ष व्यतीत होगए। इन तीव्र व्रतों को अन्य स्त्री करने में असमर्थ थीं ॥४॥

तस्यास्तु तेन वृत्तेन तपसा च विशांपते ।

भक्त्या च भगवान्प्रीतः परया पाकशासनः ॥५॥

हे विशाम्पते ! उसके उस नियमाचरण तप परम भक्ति से भगवान पाकशासन इन्द्र प्रसन्न होगए ॥५॥

आजगामाश्रमं तस्यास्त्रिदशाधिपतिः प्रभुः ।

आस्थाय रूपं विप्रर्षेर्वसिष्ठस्य महात्मनः ॥६॥

अब देवाधपति, भगवान् इन्द्र, उस श्रुतावती के आश्रम में ब्रह्मर्षि महात्मा वसिष्ठ का रूप धारण करके पहुंचे ॥६॥

सा तं दृष्ट्वोग्रतपसं वसिष्ठं तपतां वरम् ।

आचारैर्मुनिभिर्दृष्टैः पूजयामास भारत ॥७॥

उवाच नियमज्ञा च कल्याणी सा प्रियंवदा ।

भगवन्मुनिशार्दूल किमाज्ञापयसि प्रभो ॥८॥

हे भारत ! जब उस कन्या ने अपने आश्रम में तपस्वियों में श्रेष्ठ, उग्र तपधारी ब्रह्मर्षि वसिष्ठ को देखा-तो मुनियों द्वारा उपदिष्ट पूजा विधि से उसने उनकी पूजा की और कहा—हे भगवन् प्रभो ! मुनिशार्दूल ! क्या आज्ञा है ? यह कन्या बड़ी ही नियम चारिणी, कल्याणी और मधुर भाषण करने वाली थी ॥७-८॥

सर्वमद्य यथाशक्ति तव दास्यामि सुव्रत ।

शक्रभक्त्या च ते पाणिं न पास्यामि कथंचन ॥९॥

इसके अनन्तर फिर कन्या ने कहा—हे सुव्रत ! मैं
आपको इच्छानुसार सब कुछ भेंट कर सकती हूं, परन्तु इन्द्र की
भक्ति के कारण तुमको अपना पाणि ग्रहण नहीं करा सकती ॥९॥

व्रतैश्च नियमैश्चैव तपसा च तपोधन ।
शक्रस्तोषयितव्यो वै मया त्रिभुवनेश्वरः ॥१०॥

हे तपोधन ! व्रत, नियम और तप जो कुछ भी मैं करती हूं
उनसे त्रिभुवनपति इन्द्र को ही मैं सन्तुष्ट करना चाहती हूँ ॥१०॥

इत्युक्तो भगवान्देवः स्मयन्निव निरीक्ष्यताम् ।
उवाच नियमं ज्ञात्वा सांत्वयन्निव भारत ॥११॥

हे भारत ! जब उस श्रुतावती कन्या ने इतना कहा—तो
भगवान देवराज इन्द्र, कुछ मुसकुराकर देखने तथा उसके इस
नियम को जानकर कुछ समझाते हुए कहने लगे ॥११॥

उग्रं तपश्चरसि वै विदिता मेऽसि सुव्रते ।
यदर्थमयमारंभस्तव कल्याणि हृद्गतः ॥१२॥
तच्च सर्वं यथाभूतं भविष्यति वरानने ।
तपसा लभ्यते सर्वं यथाभूतं भविष्यति ॥१३॥

हे सुव्रते ! तुम बड़ा उग्रतप कर रही हो-यह मुझे ज्ञात है ।
कल्याणि ! वरानने ! जिस अभिलाषा को हृदय में रखकर तुमने
यह आरम्भ किया है, वह वैसा ही होगा-तप से सब कुछ मिलता
है और इच्छानुसार कार्य सम्पादित होता है ॥१२-१३॥

यथा स्थानानि दिव्यानि विबुधानां शुभानने ।
तपसा तानि प्राप्याणि तपोमूलं महत्सुखम् ॥१४॥

हे शुभानने ! जो देवों के अनेक दिव्य लोक हैं, वे भी तप से प्राप्त होजाते हैं, क्योंकि तप तो सारे सुखों का मूल है ॥१४॥

इति कृत्वा तपो घोरं देहं संन्यस्य मानवाः ।
देवत्वं यान्ति कल्याणि शृणुष्वैकं वचो मम ॥१५॥

हे कल्याणि ! इस प्रकार का घोर तप करने के अनन्तर मनुष्य देह छोड़कर प्राणी, देव पदवी प्राप्त करते हैं । अब तुम मेरा एक वचन सुनो ॥१५॥

पंच चैतानि सुभगे बदराणि शुभव्रते ।
पचेत्युक्त्वा तु भगवान् जगाम बलसूदनः ॥१६॥
आमंत्र्यतां तु कल्याणीं ततो जप्यं जजाप सः ।
अविदूरे ततस्तस्मादाश्रमात्तीर्थमुत्तमम् ॥१७॥
इंद्रतीर्थेऽतिविख्यातं त्रिषु लोकेषु मानद ।

हे शुभव्रते ! सुभगे ! यह पांच बदरी फल है, तुम इनको पका दो। हे मानद ! इतना कहकर असुर बल नाशक भगवान् इन्द्र उस कन्या से आज्ञा लेकर चले गए। इस कन्या के आश्रम के समीप ही तीनों लोकों में विख्यात इन्द्र तीर्थ था, वहां पर वे जप करने लगे ॥१६-१७॥

तस्य जिज्ञासनार्थं स भगवान्पाकशासनः ॥१८॥
बदराणामपचनं चकार विबुधाधिपः ।

अब देवराज भगवान् पाकशासन इन्द्र ने, उस कन्या जिज्ञासा के लिए उन बेरों का पकना असम्भव कर दिया ॥१८॥

ततः प्रतप्ता सा राजन् वाग्यता विगतक्लमा ॥१९।
तत्परा शुचिसंवीता पावके समधिश्रयत् ।

हे राजन ! इसके बाद वह कन्या मौन होकर किसी प्रकार के क्लेश को न मानती हुई, उन बेरों को पकाने लगी इस तरह पवित्र वस्त्र धारण करके उसने उन्हें आग पर चढ़ा दिया और उनके पकाने में व्यग्र होगई ॥१६॥

अपचद्राजशार्दूल बदराणि महाव्रता ॥२०॥
तस्याः पचंत्याः सुमहान् कालोऽगात्पुरुषर्षभ ।
न च स्म तान्यपच्यन्त दिनं च क्षयमभ्यगात् ॥२१
हुताशनेन दग्धश्च यस्तस्याः काष्ठसञ्चयः ।
अकाष्ठमग्नि सा दृष्ट्वा स्वशरीरमथादहत् ॥२२॥
पादौ प्रक्षिप्य सा पूर्वं पावके चारुदर्शना ।
दग्धौ दग्धौ पुनः पादावुपावर्तयतानघ ॥२३॥
चरणौ दह्यमानौ च नाचिन्तयदनिन्दिता ।
कुर्वाणा दुष्करं कर्म महर्षिप्रियकाम्यया ॥२४॥
न वैमनस्यं तस्यास्तु मुखभेदोऽथवाऽभवत् ।
शरीरमग्निनाऽऽदीप्य जलमध्येव हर्षिता ॥२५॥

हे राजशार्दूल ! महाव्रत धारिणी उस कन्या ने, उन बेरों को पकाना आरम्भ किया, परन्तु हे पुरुषर्षभ ! उनके पकाने में उस भाचिका कन्या का बहुत ही समय व्यतीत होगया और वे बेर न पके। दिन समाप्ति पर आगया। जो लकड़ी उसके पास थी-वे सब आग ने जला डाली। जब उसने देखा, कि आग में लकड़ी नहीं रही-तो उसने अपना शरीर जलाना आरम्भ किया। उस सुन्दरी ने प्रथम अपने पैर उस अग्नि में डाले। हे अनघ ! ज्यों २ उसके पैर जलते थे, वह उनको बदल २ कर प्रदीप्त करती रही थी, उस प्रशंसनीय कन्या ने अपने दग्ध चरणों की कुछ भी परवाह न की। वह तो महर्षि वसिष्ठ का प्रिय करने को उसी दुष्कर कार्य को करती रही। इस समय न तो उसके मन में कोई झुंझलाहट आई और नमुख पर कोई विकार ही दिखाई दिया। वह तो अपने शरीर को अग्नि में डालकर ऐसा समझ रही थी जैसे पानी में डाल रखे हो ॥२०-२५॥

तच्चास्या वचनं नित्यमवर्तद् धृदि भारत ।
सर्वथा बदराण्येव पक्तव्यानीति कन्यका ॥२६॥
सा तन्मनसि कृत्वैव महर्षेर्वचनं शुभा ।
अपचद्बदराण्येव न चापच्यन्त भारत ॥२७॥
तस्यास्तु चरणौ वह्निर्ददाह भगवान्स्वयम् ।
न च तस्या मनो दुःखं स्वल्पमप्यभवत्तदा ॥२८॥

हे भारत ! अब उस कन्या के हृदय में लगातार यह चक्कर लगा रही थी, मैं सर्वदा वेर पकाती रहूंगी। हे भारत इस तरह महर्षि के वचन को मन में रखकर उसने वेर पका॰ परन्तु वे वेर बिल्कुल न पके। महाप्रज्वलित अग्नि ने उसके पैर जलादिए, परन्तु उसके मन जरा भी दुःख नहीं हुआ ॥२६-२८॥

अथ तत्कर्म दृष्ट्वाऽस्याः प्रीतस्त्रिभुवनेश्वरः ।
ततः संदर्शयामास कन्यायै रूपमात्मनः ॥२९॥

उवाच च सुरश्रेष्ठस्तां कन्यां सुदृढव्रताम् ।
प्रीतोऽस्मि ते शुभे भक्त्या तपसा नियमेन च ॥३०

तस्माद्योऽभिमतः कामः स ते संपत्स्यते शुभे ।
देहं त्यक्त्वा महाभागे त्रिदिवे मयि वत्स्यसि ॥३१।

उस कन्या के इस दुष्कर कर्मको देखकर त्रिभुवनपति इन्द्र प्रसन्न होगए और उन्होंने अपना रूप कन्या को दिखा दिया। उस दृढ़ व्रत चारिणी कन्या से सुरश्रेष्ठ इन्द्र ने कहा—हे शुभे मैं तो तुम्हारी भक्ति, तप और नियम से बड़ा प्रसन्न हूँ। हे शुभे ! जो तुम्हारी कामना थी, वह पूरी होजावेगी। हे महाभागे ! देह त्याग के अनन्तर स्वर्ग में मेरे साथ रह सकोगी ॥२९-३१॥

इदं च ते तीर्थवरं स्थिरं लोके भविष्यति ।
सर्वपापपहं सुभ्रु नाम्ना बदरपाचनम् ॥३२॥

विख्यातं त्रिषु लोकेषु ब्रह्मर्षिभिरभिप्लुतम् ।

हे सुभ्रु ! अबसे आगे यह स्थान सब पाप नाशक,तीर्थ बनकर
रे नाम से प्रसिद्ध बदर पाचन तीर्थ कहलावेगा । यह तीनों
लोकों में विख्यात, ब्रह्मर्षियों के स्नान का केन्द्र बनेगा ॥३२॥

अस्मिन् खलु महाभागे शुभे तीर्थवरेऽनघे ॥३३॥
त्यक्त्वा सप्तर्षयो जग्मुर्हिमवन्तमरुन्धतीम् ।
ततस्ते वै महाभागा गत्वा तत्र सुसंशिताः ॥३४॥
वृत्त्यर्थं फलमूलानि समाहर्तुं ययुः किल ।
तेषां वृत्त्यर्थिनां तत्र वसतां हिमवद्वने ॥३५॥
अनावृष्टिरनुप्राप्ता तदा द्वादशवार्षिकी ।
ते कृत्वा चाश्रमं तत्र न्यवसन्त तपस्विनः ॥३६॥
अरुन्धत्यपि कल्याणी तपोनित्याऽभवत्तदा ।
अरुन्धतीं ततो दृष्ट्वा तीव्रं नियममास्थिताम् ॥३७॥
अथागमत्त्रिनयनः सुप्रीतो वरदस्तदा ।
ब्राह्मं रूपं ततः कृत्वा महादेवो महायशाः ॥३८॥
तामभ्येत्याब्रवीद्देवो भिक्षामिच्छाम्यहं शुभे ।
प्रत्युवाच ततः सा तं ब्राह्मणं चारुदर्शना ॥३९॥
क्षीणोऽन्नसंचयो विप्र बदराणीह भक्षय ।

हे महाभागे ! इस उत्तम तीर्थ में एक बार सातों महर्षि,
अरुन्धती को छोड़ कर हिमालय पर तप करने लगे । वे महाभाग

व्रतशील ऋषि एक बार अपने निर्वाह के निमित्त फल मूल लेते गए। वे लोग वृत्ति के लिए हिमालय पर निवास करते थे, परन्तु वहां एक दम बारह वर्ष की अनावृष्टि होगई। इन तपस्वी ऋषियों ने वहां आश्रम बनाकर रहना आरम्भ किया। कल्याणी अरुन्धती भी तप करने लगी। अरुन्धती को तीव्र तप करते देखकर वरदायी भगवान शङ्कर प्रसन्नता के साथ वहां आए। महायशस्वी महादेव ने ब्राह्मण का रूप धारण किया। वह अरुन्धती के पास जाकर बोले—हे शुभे! मैं तुमसे भिक्षा की याचना कर रहा हूँ। सुन्दरी अरुन्धती उस ब्राह्मण से बोली हे विप्र! अन्न तो क्षीण हो चुका तुम इन बेरों को खालो ॥३३-३९॥

ततोऽब्रवीन्महादेवः पचस्वैतानि सुव्रते ॥४०॥
इत्युक्ता साऽपचत्तानि ब्राह्मणप्रियकाम्यया।
अधिश्रित्य,समिद्धेऽग्नौ बदराणि यशस्विनी ॥४१॥
दिव्या मनोरमाः पुण्याः कथाः शुश्राव सा तदा।
अतीता सा त्वनावृष्टिर्घोरा द्वादशवार्षिकी ॥४२॥
अनश्नन्त्याः पचन्त्याश्च शृण्वन्त्याश्च कथाः शुभाः।
दिनोपमः स तस्याऽथ कालोऽतीतः सुदारुणः ॥४३॥

महादेव जी बोले—हे सुव्रते! तुम इनको पका दो जब शंकर ने इतना कहा-तो वह ब्राह्मण की कामना से उन बेरों को पकाने लगी। उस यशस्विनी अरुन्धती ने प्रदीप्त अग्नि में बेरों को चढ़ा दिया। उस समय वह दिव्य और मनोहर कथा सुनने लगी।

भोजन नहीं करती हुई, बेर पकाती हुई और शुभ कथा सुनती हुई अरुन्धती को यह बारह वर्ष का दारुण काल, एक दिन की भांति व्यतीत होगया ॥४०-४३॥

ततस्तु मुनयः प्राप्ताः फलान्यादाय पर्वतात् ।
ततः स भगवान्प्रीतः प्रोवाचारुंधतीं ततः ॥४४॥

उपसर्पस्व धर्मज्ञे यथापूर्वमिमानृषीन् ।
प्रीतोऽस्मि तव धर्मज्ञे तपसा नियमेन च ॥४५॥
ततः संदर्शयामास स्वरूपं भगवान् हरः ।

इस समय सातों ऋषि भी हिमालय पर्वत से फल लेकर आए। भगवान् शङ्कर प्रसन्न होकर अरुन्धती से कहने लगे। हे धर्मज्ञे! तुम पूर्व की भांति इन ऋषियों के समीप जाओ । मैं तुम्हारे तप से बड़ा ही प्रसन्न होगया हूँ। भगवान शङ्कर ने अपना रूप दिखा दिया ॥४४-४५॥

ततोऽब्रवीत्तदा तेभ्यस्तस्याश्च चरितं महत् ॥४६॥
भवद्भिर्हिमवत्पृष्ठे यत्तपः समुपार्जितम् ।
अस्याश्च यत्तपो विप्रा न समं तन्मतं मम ॥४७॥

भगवान् शङ्कर ने उन सप्तर्षियों से अरुन्धती के महान् तप की कथा सुनाई। हे विप्रों! तुम लोगों ने जो हिमालय के शिखर पर तप किया, वह तप इसके तप के बराबर नहीं है

अनया हि तपस्विन्या तपस्तप्तं सुदुश्चरम् ।
अनश्नन्त्या पचन्त्या च समा द्वादशपारिताः ॥४८॥

इस तपस्विनी ने बड़ा घोर तप किया है । इसने कुछ भी भोजन नहीं किया और बेर पकाती रही । इस तरह ही इसने बारह वर्ष व्यतीत कर दिए ॥४८॥

ततः प्रोवाच भगवांस्तामेवारुंधतीं पुनः ।
वरं वृणीष्व कल्याणि यत्तेऽभिलषितं हृदि ॥४९॥

इसके अनन्तर भगवान् शिव ने फिर अरुन्धती से कहा—हे कल्याणि ! जो तेरे हृदय में स्थित हो-वह तू वर मांग ॥४९॥

साब्रवीत्पृथुताम्राक्षी देवं सप्तर्षिसंसदि ।
भगवन्यदि मे प्रीतस्तीर्थं स्यादिदमद्भुतम् ॥५०॥
सिद्धदेवर्षिदयितं नाम्ना बदरपाचनम् ।
तथास्मिन्देवदेवश त्रिरात्रमुषितः शुचिः ॥५१॥
प्राप्नुयादुपवासेन फलं द्वादशवार्षिकम् ।

पुष्ट ताम्र आंखों वाली अरुन्धती उन सप्तर्षियों के मध्य में महादेव जी से कहने लगी-हे भगवन ! यदि तुम प्रसन्न हो-तो यह स्थान सर्वोत्तम तीर्थं बन जावे । इससे सिद्ध, देव और ऋषि लोग प्रीति रखें और यह बदर पाचन नाम से प्रसिद्ध हो । हे देव देवेश ! यदि यहां पर कोई तीन रात तक व्रत करके पवित्रता के साथ रहे-तो उसे बारह वर्ष तक व्रत करने के फल की प्राप्ति होवे ॥

एवमस्त्विति तां देवः प्रत्युवाच तपस्विनीम् ॥५२॥
सप्तर्षिभिः स्तुतो देवस्ततो लोकं ययौ तदा ।

भगवान् शङ्कर ने उस तपस्विनी अरुन्धती से कहा—अच्छी बात है, ऐसा ही होगा। इसके बाद सप्तर्षियों ने महादेव जी की स्तुति की और वे फिर अपने लोक में चले गए ॥५२॥

ऋषयो विस्मयं जग्मुस्तां दृष्ट्वा चाप्यरुंधतीम् ॥
अश्रांतां चाविवर्णां च क्षुत्पिपासासमायुताम् ।
एवं सिद्धिः परा प्राप्ता अरुंधत्या विशुद्धया ॥५४॥

नहीं थकने वाली ज्यों की त्यों कान्ति से समन्वित, भूख प्यास से युक्त, अरुन्धती को देखकर सारे ऋषि बड़े ही अचम्भे को प्राप्त हुए। इस प्रकार विशुद्ध चरित्र वाली अरुन्धती ने बड़ी भारी सिद्धि प्राप्त की ॥५३-५४॥

यथा त्वया महाभागे मदर्थं संशितव्रते ।
विशेषो हि त्वया भद्रे व्रते ह्यस्मिन्समर्पितः ॥५५॥
तथा चेदं ददाम्यद्य नियमेन सुतोषितः ।
विशेषं तव कल्याणि प्रयच्छामि वरं वरे ॥५६॥
अरुन्धत्या वरस्तस्या यो दत्तो वै महात्मना ।
तस्य चाहं प्रभावेन तव कल्याणि तेजसा ॥५७॥
प्रवक्ष्यामि परं भूयो वरमत्र यथाविधि ।
यस्त्वेकां रजनीं तीर्थे वत्स्यते सुसमाहितः ॥५८॥
स स्नात्वा प्राप्स्यते लोकान् देहन्यासात्सुदुर्लभान् ।

हे महाभागे ! व्रतशील ! श्रुतावती ! इसी तरह तुमने भी मेरे लिए इस व्रत में दुर्लभता का प्रदर्शन किया है। मैं भी तुम्हारे व्रत और नियमों से सन्तुष्ट होगया हूं, इससे यह वर प्रदान करता हूँ। हे कल्याणि ! मैं तुमको एक विशेष वरदान देता हूं, जैसा अरुन्धती को महात्मा शङ्कर ने वरदान दिया था। हे कल्याणी ! उसी वर के प्रभाव और तुम्हारे तेज के कारण विधि पूर्वक मैं भी फिर वरदान देता हूं। जो मनुष्य, इस तीर्थ पर एक रात भी सावधानी से निवास करेगा वह इस में स्नान करने के कारण, देहत्याग के अनन्तर अत्यन्त दुर्लभ लोकों को प्राप्त करेगा ॥५५-५८॥

इत्युक्त्वा भगवान् देवः सहस्राक्षः प्रतापवान् ॥५९॥

श्रुतावतीं ततः पुण्यां जगाम त्रिदिवं पुनः।

गते वज्रधरे राजंस्तत्र वर्षं पपात ह ॥६०॥

पुष्पाणां भरतश्रेष्ठ दिव्यानां पुण्यगन्धिनाम्।

देवदुन्दुभयश्चापि नेदुस्तत्र महास्वनाः ॥६१॥

मारुतश्च ववौ पुण्यः पुण्यगन्धो विशाम्पते।

हे राजन ! महाप्रतापी, भगवान् सहस्र लोचन इन्द्र, पवित्र चरित्र वाली श्रुतावती से इतना कहकर स्वर्ग लोक को चला गया हे भरतश्रेष्ठ ! वज्रधारी इन्द्र के चले जाने पर वहां पुण्य गन्ध वाली दिव्य पुष्पों की वर्षा होने लगी। देवों की दुन्दुभियां बड़े २ शब्दों के साथ बजने लगी। हे विशाम्पते ! बड़ी पवित्र गन्ध लेकर वायु चलने लगा ॥५९-६१॥

उत्सृज्य तु शुभा देहं जगामास्य च भार्यताम् ॥६२॥
तपसोग्रेण तं लब्ध्वा तेन रेमे सहाच्युत ।

हे अच्युत ! अब श्रुतावती देह छोड़ कर इन्द्र की भार्या बन गई । उग्र तप के कारण इन्द्र को पाकर उसने बड़ा आनन्द प्राप्त किया ॥६२॥

जनमेजय उवाच—का तस्या भगवन्माता क संवृद्धा च शोभना
श्रोतुमिच्छाम्यहं विप्र परं कौतूहलं हि मे ।

जनमेजय ने कहा—हे भगवन् ! उस श्रुतावती की माता का क्या नाम था, उस सुन्दरी ने कहां वृद्धि प्राप्त की । हे ब्रह्मन् ! मैं यह सब कुछ सुनना चाहती हूं-उसकी मुझे बहुत ही उत्कण्ठा है ॥

वैशम्पायन उवाच—भरद्वाजस्य विप्रर्षेः स्कन्नं रेतो महात्मनः ॥
दृष्ट्वाऽप्सरसमायान्तीं घृताचीं पृथुलोचनाम् ।
स तु जग्राह तद्रेतः करेण जपतां वर ॥६५॥
तदापतत्पर्णपुटे तत्र सा संभवत्सुता ।
तस्यास्तु जातकर्मादि कृत्वा सर्वं तपोधनः ॥६६॥
नाम चास्याःस कृतवान् भरद्वाजो महामुनिः ।
श्रुतावतीति धर्मात्मा देवर्षिगणसंसदि ।
स्वे च तामाश्रमे न्यस्य जगाम हिमवद्वनम् ॥६७॥

वैशम्पायन बोले—हे राजन ! एक बार बड़ी २ आंखों वाली आती हुई घृताची नामक अप्सरा को देखकर महात्मा भरद्वाज

का वीर्य स्खलित होगया। हे जय शील ! उसने उस वीर्यको पत्तेके पुट में रख लिया। उसमें से कन्या उत्पन्न होगई। उस तपस्वी ने उसके सारे जात कर्म आदि संस्कार किए। उस कन्या का धर्मात्मा महामुनि भरद्वाज ने देवर्षि सभा में श्रुतावती नाम रखा। वह उसको अपने आश्रम में रखकर आप कहीं वन में चला गया।

तत्राप्युपस्पृश्य महानुभावो वसूनि दत्वा च महाद्विजेभ्यः।
जगाम तीर्थं सुसमाहितात्मा शक्रस्य वृष्णिप्रवरस्तदानीम्॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्रयां संहितायां वैयासिक्यां गदापर्वणि बलदेवतीर्थ० सारस्वतोपाख्याने बदरपाचनतीर्थकथने अष्टचत्वारिंशोऽध्यायः ।४८॥

हे राजन् ! महानुभाव, वृष्णिवंश प्रवर बलराम ने, बदर पाचन तीर्थ में स्नान आचमन करके बड़े २ ब्राह्मणों को धन प्रदान किया। अब बलराम, बड़ी सावधानी से इन्द्र तीर्थ की ओर चल दिए ॥६८॥

इतिश्री महाभारत शल्यपर्वान्तर्गत गदापर्व के सारस्वतोपाख्यान में बदर पाचन तीर्थ में अड़तालीसवां अध्याय समाप्त हुआ।



उनंचासवां अध्याय

वैशम्पायन उवाच—इंद्रतीर्थं ततो गत्वा यदूनां प्रवरो बलः।
विप्रेभ्यो धनरत्नानि ददौ स्नात्वा यथाविधि ॥१॥
तत्र ह्यमरराजोऽसावीजे क्रतुशतेन च।
बृहस्पतेश्च देवेशः प्रददौ विपुलं धनम् ॥२॥

वैशम्पायन बोले—हे राजन्! यदुवंशश्रेष्ठ, बलराम ने इन्द्र तीर्थ पर जाकर विधि पूर्वक स्नान तथा ब्राह्मणों के लिए धन और रत्नों का दान किया इसी स्थान पर इन्द्र ने, सौ यज्ञ किए थे, और बृहस्पति को बहुत सा धन प्रदान किया था ॥१-२॥

निर्गलान्सजारूथ्यान्सर्वान्विविधदक्षिणान्।
आजहार क्रतूंस्तत्र यथोक्तान्वेदपारगैः ॥३॥

वेद पारगामी ऋषियों द्वारा कहे गए, सर्वाङ्गपूर्ण, अनेक प्रकार की दक्षिणाओं से समन्वित विशेष २ विधियों के साथ, इन्द्र ने अपने यज्ञों को पूरा किया ॥३॥

तान्क्रतून्भरतश्रेष्ठ शतकृत्वो महाद्युतिः।
पूरयामास विधिवत्ततः ख्यातः शतक्रतुः ॥४॥

हे भरत वंशश्रेष्ठ! महाद्युतिमान इन्द्र ने विधि पूर्वक यहीं पर सौ बार यज्ञों को पर्व किया इससे इसका नाम ही शतक्रतु पड़ गया ॥४॥

तस्य नाम्ना च तत्तीर्थं शिवं पुण्यं सनातनम् ।
इन्द्रतीर्थमिति ख्यातं सर्वपापप्रमोचनम् ॥५॥

इन्द्र के नाम पर ही इस तीर्थ का नाम पड़ा। यह तीर्थ बड़ा पवित्र, कल्याण कारी सनातन है। सब पापों के छुड़ाने वाले इस तीर्थ का नाम इन्द्र तीर्थ प्रसिद्ध होगया ॥५॥

उपस्पृश्य च तत्रापि विधिवन्मुसलायुधः ।
ब्राह्मणान्पूजयित्वा च सदाऽऽच्छादनभोजनैः ॥६॥
शुभं तीर्थवरं तस्माद्रामतीर्थं जगाम ह ।

मुसलधारी, बलराम ने वहां भी स्नान आचमन किया। उत्तम आच्छादन और भोजनों से उसने ब्राह्मणों की पूजा की। उससे आगे वे फिर सुन्दर तीर्थ श्रेष्ठ, राम तीर्थ पर पहुंचे ॥६॥

यत्र रामो महाभागो भार्गवः सुमहातपाः ॥७॥
असकृत्पृथिवीं जित्वा हतक्षत्रियपुङ्गवाम् ।
उपाध्यायं पुरस्कृत्य कश्यपं मुनिसत्तमम् ॥८॥
अयजद्वाजपेयेन सोऽश्वमेधशतेन च ।
प्रददौ दक्षिणां चैव पृथिवीं वै ससागराम् ॥९॥

महाभाग, महातपस्वी, भृगोवंशोत्पन्न, परशुराम ने क्ष वीरों को मार २ कर बार २ पृथिवी को जीता था। मुनि श्रेष्ठ उपाध्याय कश्यप मुनि को आगे इसी स्थान पर परशुराम ने पेय और सौ अश्वमेघ यज्ञ किए थे। तथा समुद्र मेखला से सुशोभित सारी पृथिवी का इन ही यज्ञां में दान किया ॥७-९॥

दत्त्वा च दानं विविधं नानारत्नसमन्वितम् ।
सगोहस्तिकदासीकं साजाविगतवान्वनम् ॥१०॥

अनेक रत्नों से समन्वित, गो, हस्ती, दासी, भेड़ बकरी आदि के सहित अनेक प्रकार का दान करके आप वनको चले गए॥१०॥

पुण्ये तीर्थवरे तत्र देवब्रह्मर्षिसेविते ।
मुनींश्चैवाभिवाद्याथ यमुनातीर्थमागमत् ॥११॥

यत्रानयामास तदा राजसूयं महीपते ।
पुत्रोऽदितेर्महाभागो वरुणो वै सितप्रभः ॥१२॥

तत्र निर्जित्य संग्रामे मानुषान्देवतांस्तथा ।
वरं क्रतुं समाजह्रे वरुणः परवीरहा ॥१३॥

बलराम जी भी देवर्षि ब्रह्मर्षियों से सेवित, इस पवित्र तीर्थ पर मुनियों को प्रणाम करके यमुना तीर्थ पर पहुंचे ! हे महीपते ! जहां पर अदिति के पुत्र श्वेत कान्ति-धारी, महाभाग वरुण ने राजसूय यज्ञ किया था । शत्रु विजयी वरुण ने संग्राम में मनुष्य, और देवताओं को जीत कर इस सर्वोत्तम यज्ञ राजसूय का अनुष्ठान किया॥११-१३॥

तस्मिन्क्रतुवरे वृत्ते संग्रामः समजायत ।
देवानां दानवानां च त्रैलोक्यस्य भयावहः ॥१४॥

उस वरुण के उत्तम यज्ञ के समाप्त होने पर त्रिलोकी के भय उत्पादक देव और दानवों का युद्ध होने लगा ॥१४॥

राजसूये क्रतुश्रेष्ठे निवृत्ते जनमेजय।
जायते सुमहाघोरः संग्रामः क्षत्रियान्प्रति ॥१५॥
तत्रापि लांगली देव ऋषीनभ्यर्च्य पूजया।
इतरेभ्योऽप्यदाद्दानमर्थिभ्यः कामदो विभुः ॥१६॥
वनमाली ततो हृष्टः स्तूयमानो महर्षिभिः।

हे जनमेजय! जब यज्ञ श्रेष्ठ, राज-सूय समाप्त होता है-तो क्षत्रियों में भी महाघोर संग्राम हुआ करता है। वहां पर भी बलराम ने ऋषियों की पूजा की। वहां कामना के देने वाले शक्तिशाली बलराम ने, अन्य भी अर्थियों को दान दिया। जब महर्षियों ने बलराम की प्रशंसा की तो वे बड़े प्रसन्न हुए ॥१५-१६॥

तस्मादादित्यतीर्थं च जगाम कमलेक्षणः। १७॥
यत्रेष्ट्वा भगवान्ज्योतिर्भास्करो राजसत्तम।
ज्योतिषामाधिपत्यं च प्रभावं चाभ्यपद्यत ॥१८॥

हे राजसत्तम! इसके आगे कमल लोचन बलराम, आदित्य तीर्थ पर गए, जहां भगवान् ज्योतिःस्वरूप सूर्य ने यज्ञ करके ज्योतियों पर अधिकार और प्रभाव प्राप्त किया ॥१७-१८॥

तस्या नद्यास्तु तीरे वै सर्वे देवाः सवासवाः।
विश्वेदेवाः समरुतो गन्धर्वाप्सरसश्च ह ॥१९॥
द्वैपायनः शुकश्चैव कृष्णश्च मधुसूदनः।
यक्षाश्च राक्षसाश्चैव पिशाचाश्च विशाम्पते ॥२०॥

एते चान्ये च बहवो योगसिद्धाः सहस्रशः ।
तस्मिंस्तीर्थे सरस्वत्याः शिवे पुण्ये परंतप ॥२१॥

हे विशाम्पते! इन्द्र सहित सारे देव, विश्वेदेवा, मरुत, गन्धर्व, अप्सरा, द्वैपायन, शुक, मधुसूदन कृष्ण, यक्ष, राक्षस, पिशाच,-ये सारे तथा अन्य बहुत से सहस्रों योगसिद्ध महात्मा उस सरस्वती के तीर पर पवित्र तीर्थ में स्नान करते थे ॥१८-२१॥

तत्र हत्वा पुरा विष्णुरसुरौ मधुकैटभौ ।
आप्लुत्य भरतश्रेष्ठ तीर्थप्रवर उत्तमे ॥२२॥

हे भरत श्रेष्ठ ! भगवान् विष्णु ने भी पूर्वकाल में मधु और कैटभ नामक दैत्यों को मार कर इसी तीर्थ में स्नान किया था २२॥

द्वैपायनश्च धर्मात्मा तत्रैवाप्लुत्य भारत ।
संप्राप्य परमं योगं सिद्धिं च परमां गतः ॥२३॥

हे भारत! धर्मात्मा कृष्ण द्वैपायन व्यास ने भी यहीं पर स्नान किया। वे परम योग को प्राप्त करके परम सिद्धि को प्राप्त हुए ॥२३॥

असितो देवलश्चैव तस्मिन्नेव महातपाः ।
परमं योगमास्थाय ऋषिर्योगमवाप्तवान् ॥२४॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां शल्यपर्वांतर्गतगदापर्वणि बलदेवतीर्थ० सारस्वतो० एकोनपंचाशत्तमोऽध्यायः ॥४९॥

महातपस्वी असित देवल ने, परम ध्यान को प्राप्त करके यहीं पर सिद्धि प्राप्त की थी ॥२४॥

इतिश्री महाभारत शल्यपर्वान्तर्गत गदापर्व में सारस्वतो-पाख्यान में उनंचासवां अध्याय सम्पूर्ण हुआ।



पचासवां अध्याय

वैशम्पायन उवाच—तस्मिन्नेव तु धर्मात्मा वसति स्म तपोधनः
गार्हस्थ्यं धर्ममास्थाय ह्यसितो देवलः पुरा ॥१॥

वैशम्पायन बोले—हे राजन! धर्मात्मा महातपस्वी, असित देवल, गृहस्थ धर्म को स्वीकार करके इसी तीर्थ पर निवास करते थे। ये महर्षि, नित्य धर्म परायण, पवित्र, उदार, दण्डत्यागी महातपस्वी थे ॥१॥

धर्मनित्यः शुचिर्दान्तो न्यस्तदण्डो महातपाः।
कर्मणा मनसा वाचा समः सर्वेषु जन्तुषु ॥२॥

अक्रोधनो महाराज तुल्यनिंदात्मसंस्तुतिः।
प्रियाप्रिये तुल्यवृत्तिर्यमवत्समदर्शनः ॥३॥

कांचने लोष्ठभावे च समदर्शी महातपाः।
देवानपूजयन्नित्यमतिथींश्च द्विजैः सह ॥४॥

ब्रह्मचर्यरतो नित्यं सदा धर्मपरायणः।

हे महाराज ! ये महात्मा, कर्म, मन और वाणी से सारे जन्तुओं में समान व्यवहार करते थे। इनको कभी क्रोध नहीं आता था, ये निन्दा और स्तुति में समान ही थे। प्रिय या अप्रिय कुछ भी क्यों न हो-इनकी समान ही वृत्ति रहती थी। यमराज की भांति ये समदर्शी थे। महातपस्वी असित-देवल, सुवर्ण और मिट्टी में एकसा ही भाव रखते थे। ये महर्षि, नित्य ब्राह्मणों के साथ देव और अतिथियों की पूजा करते थे। ये ब्रह्मचर्य में रत और धर्म में परायण थे ॥२-४॥

ततोऽभ्येत्य महाभाग योगमास्थाय भिक्षुकः ॥५॥
जैगीषव्यो मुनिर्धीमांस्तस्मिंस्तीर्थे समाहितः ।

हे महाभाग ! उसी तीर्थ पर एक बार बड़ा सावधान भिक्षुक परमयोग में स्थित महा बुद्धिमान् जैगीषव्य नामक महर्षि उपस्थित हुए ॥५॥

देवलस्याश्रमे राजन्न्यवसत्स महाद्युतिः ॥६॥
योगनित्यो महाराज सिद्धिं प्राप्तो महातपाः ।

हे राजन् ! महाद्युतिमान्, देवल ऋषि के आश्रम में वह भी आकर ठहर गया। हे महाराज यह महातपस्वी, योगीश्वर थे और परम सिद्धि को प्राप्त कर चुके थे ॥६॥

तं तत्र वसमानं तु जैगीषव्यं महामुनिम् ॥७॥
देवलो दर्शयन्नेव नैवायुंजत धर्मतः ।

एवं तयोर्महाराज दीर्घकालो व्यतिक्रमत् ॥८॥
जैगीषव्यं मुनिवरं न ददर्शाथ देवलः ।

हे महाराज ! महामुनि जैगीषव्य, देवल के आश्रम में वसे थे, परन्तु वे उनके पास धर्मानुसार उपस्थित नहीं हुए। इस तरह रहते २ उनको बहुत समय व्यतीत होगया, परन्तु देवल मुनि, मुनिश्रेष्ठ, जैगीषव्य के पास तक न फटके ॥७-८॥

आहारकाले मतिमान्परिव्राड् जनमेजय ॥९॥
उपातिष्ठत धर्मज्ञो भैक्षकाले स देवलम् ।

हे जनमेजय ! एक दिन जब भोजन काल उपस्थित हुआ-तो बुद्धिमान धर्मज्ञाता, सन्यासी भिक्षा के समय देवल मुनि के पास उपस्थित हुआ ॥९॥

स दृष्ट्वा भिक्षुरूपेण प्राप्तं तत्र महामुनिम् ॥१०॥
गौरवं परमं चक्रे प्रीतिं च विपुलां तथा ।
देवलस्तु यथाशक्ति पूजयामास भारत ॥११॥
ऋषिदृष्टेन विधिना समा बह्वीः समाहितः ।

हे राजन् ! भिक्षुरूप में प्राप्त महामुनि को देखकर, देवल महर्षि ने उनका बड़ा गौरव माना और उनपर बड़ी प्री[illegible] दिखाई । हे भारत ! देवल मुनि ने जैगीषव्य संन्यासी की [illegible] शक्ति बहुत ही पूजा की यह सब कुछ ऋषि मुनियों की कही [illegible] विधि के अनुसार बड़ी सावधानी से बहुत वर्ष तक होता रहा ॥

कदाचित्तस्य नृपते देवलस्य महात्मनः ॥१२॥

चिन्ता सुमहती जाता मुनिं दृष्ट्वा महाद्युतिम् ।

समास्तु समतिक्रान्ता बह्वयः पूजयतो मम ॥१३॥

न चायमलसो भिक्षुरभ्यभाषत किंचन ।

हे नृपते ! एक बार महात्मा, देवल मुनि के चित्त में उन हाद्युतिमान मुनि को देखकर बड़ी चिन्ता उत्पन्न हुई, कि मुझे ना करते हुए बहुत वर्ष व्यतीत होगए परन्तु यह आलसी भिक्षु, छ भी नहीं बोलता है ॥१२-१३॥

एवं विगणयन्नेव स जगाम महोदधिम् ॥१४॥

अंतरिक्षचरः श्रीमान् कलशं गृह्य देवलः ।

गच्छन्नेव स धर्मात्मा समुद्रं सरितां पतिम् । ॥१५॥

जैगीषव्यं ततोऽपश्यद्गतं प्रागेव भारत

हे राजन् ! इस तरह सोचते हुए श्रीमान देवल मुनि, कलश कर आकाश मार्ग से समुद्र पर पहुंचे । हे भारत ! उस धर्मात्मा ल ने वहां पहुंच कर भी सरित्पति समुद्र के ऊपर पहुंचते ही पने से भी पूर्व में ही पहुंचे हुए उनही जैगीषव्य मुनि को वहां खा ॥१४-१५॥

ततः सविस्मयश्चिंतां जगामाथासितप्रभः ॥१६॥

कथं भिक्षुरयं प्राप्तः समुद्रे स्नात एव च ।

हे महीपते! अब महात्मा, अत्यन्त प्रभाव शाली, असित देवल को चिन्ता हुई, कि यह भिक्षु समुद्र पर कैसे आपहुंचा और कैसे मुझसे पूर्व ही स्नान करके चुपचाप बैठा है ॥१६॥

इत्येवं चिंतयामास महर्षेरसितस्तदा ॥१७॥
स्नात्वा समुद्रे विधिवच्छुचिर्जप्यं जजाप सः।

हे राजन्! इस तरह जैगीषव्य ऋषि के विषय में असित देवल विचारने लगे। उसने समुद्र में विधि पूर्वक स्नान किया और पवित्र होकर जप करना आरम्भ किया ॥१७॥

कृतजप्याह्निकः श्रीमानाश्रमं च जगाम ह ॥१८॥
कलशं जलपूर्णं वै गृहीत्वा जनमेजय।

हे जनमेजय! इस प्रकार जप और नित्य प्रक्रिया करके देवल मुनि, जलपूर्ण कलश लेकर अपने आश्रम में चले आए॥१८॥

ततः स प्रविशन्नेव स्वमाश्रमपदं मुनिः ॥१९॥
आसीनमाश्रमे तत्र जैगीषव्यमपश्यत।
न व्याहरति चैवैनं जैगीषव्यः कथंचन ॥२०॥
काष्ठभूतोऽऽश्रमपदे वसति स्म महातपाः।

हे राजन्! ज्योंही देवल मुनि अपने आश्रम में पहुंचे, त्योंही उन्होंने अपने आश्रम में स्थित महामुनि जैगीषव्य, को देखा। महातपस्वी जैगीषव्य, कभी इनसे कुछ नहीं बोलते थे। वे केवल आश्रम में शुष्क काष्ठ की भांति जड़ हुए उस आश्रम में रहते थे ॥

तं दृष्ट्वा चाप्लुतं तोये सागरे सागरोपमम् ॥२१॥

प्रविष्टमाश्रमं चापि पूर्वमेव ददर्श सः ।

असितो देवलो राजंश्चिंतयामास बुद्धिमान् ॥२२॥

हे राजन् ! समुद्र के समान गम्भीर, समुद्र जल में भीगे हुए अपने आश्रम में स्थित जैगीषव्य मुनि को देवल मुनि ने अपने से भी पूर्व स्थित देखा। अब महा बुद्धिमान असित देवल न बार २ विचार किया ॥२१-२२॥

दृष्ट्वा प्रभावं तपसो जैगीषव्यस्य योगजम् ।

चिन्तयामास राजेन्द्र तदा स मुनिसत्तमः ॥२३॥

मया दृष्टः समुद्रे च आश्रमे च कथं त्वयम् ।

हे राजेन्द्र ! मुनि श्रेष्ठ, देवल ने जैगीषव्य के तप और योग का प्रभाव देखकर अपने मन में यह विचारा कि मैंने इसे अभी समुद्र पर देखा था, परन्तु यह मुझसे पूर्व ही आश्रम में कैसे आ बैठा ॥२३॥

एवं विगणयन्नेव स मुनिर्मन्त्रपारगः ॥२४॥

उत्पपाताश्रमात्तस्मादन्तरिक्षं विशाम्पते ।

जिज्ञासार्थं तदा भिक्षोर्जैगीषव्यस्य देवलः ॥२५॥

हे विशाम्पते ! मन्त्र शास्त्र का पारगामी वह मुनि देवल इतना विचार कर उस आश्रम से उस जैगीषव्य मुनि का पता लगाने को आकाश में उड़ गया ॥२४-२५॥

सोन्तऽरिक्षचरान् सिद्धान् समपश्यत्समाहितान् ।
जैगीषव्यं च तैः सिद्धैः पूज्यमानमपश्यत ॥२६॥

महर्षि देवल ने वहां आकाशचारी, समाहितचित्त सिद्ध देखे। वे सिद्ध भी, उन जैगीषव्य मुनि की पूजा कर रहे थे ॥२६॥

ततोऽसितः सुसरंब्धो व्यवसायी दृढव्रतः ।
अपश्यद्वै दिवं यातं जैगीषव्यं स देवलः ॥२७॥

असित देवल भी बड़ा उद्योगी और अपने व्रत का पूरा करने वाला आवेश धारी मुनि था। उसने ऊपर बढ़कर देखा-तो वहां भी उसे जैगीषव्य मुनि दिखाई दिए ॥२७॥

तस्मात्तु पितृलोकं तं व्रजन्तं सोऽन्वपश्यत ।
पितृलोकाच्च तं यातं याम्यं लोकमपश्यत ॥२८॥

उससे आगे देवल बढ़े तो जैगीषव्य पितृलोक जाते देखे गए और फिर पितृलोक से भी आगे यमलोक की ओर जैगीषव्य मुनि को देखा ॥२८॥

तस्मादपि समुत्पत्य सोमलोकमभिप्लुतम् ।
व्रजन्तमन्वपश्यत्स जैगीषव्यं महामुनिम् ॥२९॥
लोकान्समुत्पतन्तं तु शुभानेकान्तयाजिनाम् ।
ततोऽग्निहोत्रिणां लोकांस्ततश्चाप्युत्पपात ह ॥३०॥
दर्शं च पौर्णमासं च ये यजन्ति तपोधनाः ।
तेभ्यः स ददृशे धीमाँल्लोकेभ्यः पशुयाजिनाम् ॥३१॥

वहां से देवल उड़े-तो महामुनि जैगीषव्य को सोम लोक की ओर उड़ते देखा। वहां से आगे, ऐकान्त याजियों के लोकों को उड़कर जाते हुए जैगीषव्य को देखा। उसके आगे अग्नि-होत्र कर्ताओं के लोक में पहुंचा। देवल वहां से भी उड़े। वहां से आगे जो तपोधन मुनि, दर्शपौर्ण मास यज्ञ करते हैं, उनके लोक थे, महा बुद्धिमान देवल ने जैगीषव्य को वहां देखा-वहां से आगे पशुयाजी लोकों में जाते देखा ॥२६-३१॥

व्रजन्तं लोकममलमपश्यद्देवपूजितम् ।
चातुर्मास्यैर्बहुविधैर्यजन्ते ये तपोधनाः ॥३२॥
तेषां स्थानं ततो यातं तथाग्निष्टोमयाजिनाम् ।
अग्निष्टुतेन च तथा ये यजन्ति तपोधनाः ॥३३॥
तत्स्थानमनुसंप्राप्तमन्वपश्यत देवलः ।
वाजपेयं क्रतुवरं तथा बहुसुवर्णकम् ॥३४॥
आहरंति महाप्राज्ञास्तेषां लोकेष्वपश्यत ।

हे राजन्! फिर असित देवल ने देव पूजित निर्मल लोक की ओर जैगीषव्य को देखा। जो तपोधन, चतुर्मास में यज्ञ करके जिन लोकों को प्राप्त करते हैं, देवल ने उन लोकों में जाते हुए उन महामुनि के दर्शन किए। उसके आगे अग्निष्टोम याजी मुनियों के लोक हैं, जहां पर अग्नि के द्वारा यज्ञ करके मुनि लोग जाते हैं, देवल ने उन लोकों में भी जैगीषव्य मुनि को देखा। बहुत सी सुवर्ण दक्षिणा से संयुक्त, वाजपेय यज्ञ करने वाले महा-

बुद्धिमान् मुनि, जिस लोकों को प्राप्त करते हैं। उन लोकों में भी देवल ने जैगीषव्य को देखा ॥३२-३४॥

यजंते राजसूयेन पुंडरीकेण चैव ये ॥३५॥
तेषां लोकेष्वपश्यच्च जैगीषव्यं स देवलः।
अश्वमेधं क्रतुवरं नरमेधं तथैव च ॥३६॥
आहरंति नरश्रेष्ठास्तेषां लोकेष्वपश्यत ।
सर्वमेधं च दुष्प्रापं तथा सौत्रामणिं च ये ॥३७॥
तेषां लोकेष्वपश्यच्च जैगीषव्यं स देवलः।

हे भारत ! राजसूय यज्ञ और पुण्डरीक यज्ञ से जो लोक मिलते हैं, देवल ने उन लोकों में भी जैगीषव्य को देखा। अश्वमेध नरमेध नामक यज्ञ करके महा बुद्धिमान् मनुष्य, जिन लोकों को पाते हैं, देवल को उन लोकों में भी जैगीषव्य के दर्शन हुए। बड़ा दुर्लभ सर्वमेध और सौत्रामणि यज्ञ होता है, देवल ने उन लोकों में भी जैगीषव्य मुनि को देखा ॥३५-३७॥

द्वादशाहैश्च सत्रैश्च यजन्ते विविधैर्नृप ॥३८॥
तेषां लोकेष्वपश्यच्च जैगीषव्यं स देवलः।

हे नृप ! बारह दिन तक लगातार होने वाले यज्ञों से जिन लोकों की प्राप्ति होती है। उन लोकों में भी जैगीषव्य मुनि, देवल ऋषि को बैठे दिखाई दिए ॥३८॥

मैत्रावरुणयोर्लोकानादित्यानां तथैव च ॥३९॥
सलोकतामनुप्राप्तमपश्यत ततोऽसितः।

रुद्राणां च वसूनां च स्थानं यच्च बृहस्पतेः ॥४०॥
तानि सर्वाण्यतीतानि समपश्यत्ततोऽसितः ।
आरुह्य च गवां लोकं प्रयातो ब्रह्मसत्रिणाम् ॥४१॥
लोकानपश्यद्गच्छन्तं जैगीषव्यं ततोऽसितः ।
त्रींल्लोकानपरान् विप्रमुत्पतन्तं स्वतेजसा ॥४२॥
पतिव्रतानां लोकांश्च व्रजन्तं सोऽन्वपश्यत ।

हे नराधिप ! मैत्रावरुण और आदित्य लोकों में भी जैगीषव्य को असित देवल ने उपस्थित देखा। रुद्र वसु, और बृहस्पति के लोकों में और उनको उलांघ कर भी देवल मुनि ने उस महा मुनि जैगीषव्य के दर्शन किए। देवल मुनि गो लोक को उलांघ कर ब्रह्माजी के लोकों को जारहे थे, वहां भी महर्षि जैगीषव्य दिखाई दिए। ब्रह्मर्षि देवल, वहां से आगे बढ़े तो तीन लोक थे, उनमें वे मुनि विद्यमान थे। वहां से आगे, पतिव्रताओं के लोक हैं; उधर भी महामुनि जैगीषव्य उड़े जारहे थे ॥३६-४२॥

ततो मुनिवरं भूयो जैगीषव्यमथासितः ॥४३॥
नान्वपश्यत लोकस्थमन्तर्हितमरिन्दम ।

हे अरिन्दम ! इसके आगे असित मुनि ने, मुनिवर जैगीषव्य को किसी लोक में नहीं देखा, अब वे मुनि अलक्षित होगए ॥४३॥

सोऽचिन्तयन्महाभागो जैगीषव्यस्य देवलः ॥४४॥
प्रभावं सुव्रतत्वं च सिद्धिं योगस्य चातुलाम् ।

असितोऽपृच्छत तदा सिद्धाँल्लोकेषु सत्तमान् ॥४५॥
प्रयतः प्राञ्जलिर्भूत्वा धीरस्तान्ब्रह्मसत्रिणः ।
जैगीषव्यं न पश्यामि तं शंसध्वं महौजसम् ॥४६॥
एतदिच्छाम्यहं श्रोतुं परं कौतूहलं हि मे ।

महाभाग देवल महामुनि ने, अपने मन में जैगीषव्य मुनि का प्रभाव, व्रतशीलता और योग की अतुल सिद्धि पर विचार किया। अब असित देवल ने हाथ जोड़ कर बड़ी विनय से उन उत्तम लोकों में स्थित, ब्रह्मयाजी उत्तम२ सिद्धों से पूछा। हे सिद्धों जैगीषव्य मुनि दिखाई नही देते-वे कहां चले गए-आप मुझे बताइए। मैं इसको सुनना चाहता हूँ-मुझे जैगीषव्य के विषय में बड़ा ही कौतूहल है ॥४४-४६॥

सिद्धा ऊचुः—शृणु देवल भूतार्थं शंसतां नो दृढव्रत ॥४७॥
जैगीषव्यः स वै लोकं शाश्वतं ब्रह्मणो गतः ।

सिद्ध बोले—हे दृढ़ व्रत देवल! हम तुमको बताते हैं, तुम ध्यान से सुनो। अब जैगीषव्य महामुनि ब्रह्म के शाश्वत लोक में पहुंच गए हैं ॥४७॥

वैशम्पायन उवाच—स श्रुत्वा वचनं तेषां सिद्धानां ब्रह्मसत्रिणाम्
असितो देवलस्तूर्णमुत्पपात पपात च ।

वैशम्पायन बोले—हे जनाधिप! ब्रह्मयाजी, सिद्धों की यह वाणी सुनकर असित देवल भी वेग से उड़े-परन्तु गिर पड़े ॥४८॥

ततः सिद्धास्त ऊचुर्हि देवलं पुनरेव ह ॥४६॥

न देवल गतिस्तत्र तव गन्तुं तपोधन ।

ब्रह्मणः सदने विप्र जैगीषव्यो यदाप्तवान् ॥५०॥

अब सिद्धों ने देवल मुनि से कहा—हे तपोधन देवल ! वहां जाने की तुम्हारी शक्ति नहीं है, क्योंकि ब्रह्म के सदन में जैगीषव्य मुनि पहुंच चुके हैं ॥४६-५०॥

वैशम्पायन उवाच—तेषां तद्वचनं श्रुत्वा सिद्धानां देवलः पुनः

आनुपूर्व्येण लोकांस्तान्सर्वानवततार ह ॥५१॥

स्वमाश्रमपदं पुण्यमाजगाम पतत्रिवत् ।

प्रविशन्नेव चापश्यज्जैगीषव्यं स देवलः ॥५२॥

वैशम्पायन बोले—हे राजन् ! उन सिद्धों के वचन सुनकर देवल मुनि, उसी क्रम से लोकों से नीचे उतर आया । वह पक्षी की भांति उड़ता हुआ, अपने आश्रम में आपहुंचा । वहां प्रविष्ट होते ही देवल ने अपने आश्रम में जैगीषव्य को स्थित देखा ॥

ततो बुद्धया व्यगणयद्देवलो धर्मयुक्तया ।

दृष्ट्वा प्रभावं तपसो जैगीषव्यस्य योगजम् ॥५३॥

ततोऽब्रवीन्महात्मानं जैगीषव्यं स देवलः ।

विनयावनतो राजन्नुपसर्प्य महामुनिम् ॥५४॥

मोक्षधर्मं समास्थातुमिच्छेयं भगवन्नहम् ।

तस्य तद्वचनं श्रुत्वा उपदेशं चकार सः ॥५५॥
विधिं च योगस्य परं कार्याकार्यस्य शास्त्रतः ।

हे राजन! देवल महामुनि ने धर्मयुक्त बुद्धि से विचार किया उसने जैगीषव्य मुनि के तप और योग के प्रभाव को देखा। अब वह विनय से अवनत होकर महामुनि जैगीषव्य के पास पहुंचा और कहा—हे भगवन्! मैं मोक्ष धर्म में स्थित होना चाहता हूँ। देवल के ये वचन सुनकर उसने योग की सर्वश्रेष्ठ विधि और शास्त्रानुसार कार्य अकार्य का उसे उपदेश दिया ॥५३-५५॥

संन्यासकृतबुद्धिं तं ततो दृष्ट्वा महातपाः ॥५६॥
सर्वाश्चास्य क्रियाश्चक्रे विधिदृष्टेन कर्मणा ।

महातपस्वी जैगीषव्य, देवल की संन्यास निष्ठ बुद्धि देखकर शास्त्र विधि के अनुसार उसकी सारी संन्यास की क्रिया की ॥५६॥

संन्यासकृतबुद्धिं तं भूतानि पितृभिः सह ॥५७॥
ततो दृष्ट्वा प्ररुरुदुः कोऽस्मान्संविभजिष्यति ।

उसको संन्यास में निमग्न होते देखकर पितरों के साथ सारे प्राणी, रोने लगे, कि अब हमको कौन अन्न दान दिया करेगा ।

देवलस्तु वचः श्रुत्वा भूतानां करुणं तथा ॥५८॥
दिशो दश व्याहरतां मोक्षं त्यक्तुं मनो दधे ।

जब देवल मुनि ने दशों दिशाओं में चिल्लाते हुए भूतों के करुणापूर्ण वचन सुने-तो उन्होंने मोक्ष के परित्याग में मन लगाया ॥५८॥

ततस्तु फलमूलानि पवित्राणि च भारत ॥५९॥
पुष्पाण्योषधयश्चैव रोरूयन्ति सहस्रशः ।

हे भारत ! जब देवल ने संन्यास के छोड़ने का विचार किया तो पवित्र फल मूल पुष्प और सहस्रों ओषधियां चिल्लाने लगी ॥

पुनर्नो देवलः क्षुद्रो नूनं छेत्स्यति दुर्मतिः ॥६०॥
अभयं सर्वभूतेभ्यो यो दत्त्वा नावबुध्यते ।

इन्होंने समझा—यह दुर्मति क्षुद्र देवल अब फिर हमको यज्ञादि के निमित्त से काटेगा। इसने तो अभी सब भूतों को अभय दिया और फिर यह उसे भूल गया ॥६०॥

ततो भूयो व्यगणयत्स्वबुद्ध्या मुनिसत्तमः ॥६१॥
मोक्षे गार्हस्थ्यधर्मे वा किं नु श्रेयस्करं भवेत् ।

इस समय महर्षि देवल ने, अपनी बुद्धि से विचार किया, कि मोक्ष में या गृहस्थ धर्म में कौन सी बात कल्याण कारी होगी ॥६१॥

इति निश्चित्य मनसा देवलो राजसत्तम ॥६२॥
त्यक्त्वा गार्हस्थ्यधर्मं स मोक्षधर्ममरोचयत् ।

हे राजसत्तम ! देवल मुनि ने मन में बहुत देर तक विचारा और फिर यही निश्चित किया, कि गार्हस्थ्य धर्म की अपेक्षा मोक्ष धर्म ही श्रेष्ठ है, इससे उसने उसे छोड़ कर मोक्ष धर्म में मन लगाया ॥६२॥

एवमादीनि सञ्चित्य देवलो निश्चयात्ततः ॥६३॥
प्राप्तवान्परमां सिद्धिं परं योगं च भारत ।

हे भारत ! इस प्रकार देवल मुनि, बहुत सोच विचार के अनन्तर संन्यास धर्म के निश्चय पर पहुंचे । वह परम सिद्धि और परमयोग को प्राप्त हुआ ॥६३॥

ततो देवाः समागम्य बृहस्पतिपुरोगमाः ॥६४॥
जैगीषव्यं तपश्चास्य प्रशंसन्ति तपस्विनः ।

अब बृहस्पति आदि देवता आकर उपस्थित हुए । उन्होंने जैगीषव्य की बड़ी प्रशंसा की और उसी के साथ उस तपस्वी जैगीषव्य के तप की महिमा का भी गान किया ॥६४॥

अथाब्रवीदृषिवरो देवान्वै नारदस्तथा ॥६५॥
जैगीषव्ये तपो नास्ति विस्मापयति योऽसितम् ।

अब महर्षि नारद ने देवों से कहा—कि जैगीषव्य के तप की प्रशंसा नहीं करनी चाहिए, क्योंकि उसने असित देवल मुनि को अचम्भे में डाल दिया ॥६५॥

तमेवं वादिनं धीरं प्रत्यूचुस्ते दिवौकसः ॥६६॥
नैवमित्यवशंसन्तो जैगीषव्यं महामुनिम् ।

जब नारद जी ने इतना कहा—तो देवता कहने लगे-तुम लोग महामुनि जैगीषव्य को ऐसा न समझो ॥६६॥

नातः परतरं किञ्चित्तुल्यमस्ति प्रभावतः ॥६७॥
तेजसस्तपसश्चास्य योगस्य च महात्मनः ।
एवं प्रभावो धर्मात्मा जैगीषव्यस्तथाऽसितः ।
तयोरिदं स्थानवरं तीर्थं चैव महात्मनोः ॥६८॥

इस महात्मा जैगीषव्य के तेज, तप और योग के तुल्य किसी का प्रभाव नहीं है, अधिक तो हो हीं कैसे सकता है। धर्मात्मा जैगीषव्य और असित देवल मुनि का ऐसा ही प्रभाव है। इन दोनों महात्माओं का स्थान भूत यह तीर्थ है ॥६७-६८॥

तत्राप्युपस्पृश्य ततो महात्मा दत्वा च वित्तं हलभृद् द्विजेभ्यः
अवाप्य धर्मं परमार्थकर्मा जगाम सोमस्य महत्सुतीर्थम् ।

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां
शल्यपर्वान्तर्गतगदा० बलदेवती० सारस्वतोपाख्याने
पंचाशत्तमोऽध्यायः ॥५०॥

हे राजन ! महात्मा हलधर, बलराम ने यहां भी स्नान आचमन करके ब्राह्मणों को दान दिया। यहां पर धर्म का लाभ करके परमार्थ कर्म करने वाले, बलराम जी, महान् सोम तीर्थ की ओर चले ॥६९॥

इतिश्री महाभारत शल्यपर्वान्तर्गत गदायुद्ध पर्व में सारस्वतोपाख्यान का पचासवां अध्याय समाप्त हुआ।



इक्यावनवां अध्याय

वैशंपायन उवाच— यत्रेजिवानुडुपती राजसूयेन भारत ।

तस्मिंस्तीर्थे महानासीत्संग्रामस्तारकामयः ॥१॥

वैशम्पायन बोले—हे भारत ! इस सोम तीर्थ पर चन्द्रमा ने राजसूय यज्ञ किया था और इसी तीर्थ पर तारकासुर का घोर संग्राम हुआ था ॥१॥

तत्राप्युपस्पृश्य बलो दत्वा दानानि चात्मवान् ।
सारस्वतस्य धर्मात्मा मुनेस्तीर्थं जगाम ह ॥२॥

यहां पर भी आत्मज्ञानी बलराम ने स्नान आचमन किया । इसके अनन्तर धर्मात्मा बलराम, महर्षि सारस्वत के तीर्थ की ओर चले ॥२॥

तत्र द्वादशवार्षिक्यामनावृष्ट्यां द्विजोत्तमान् ।
वेदानध्यापयामास पुरा सारस्वतो मुनिः ॥३॥

इस स्थान पर सारस्वत नामक मुनि ने बारह वर्ष की अनावृष्टि में बड़े २ उत्तम ब्राह्मणों कों यहीं पर वेद का अध्ययन कराया था ॥३॥

जनमेजय उवाच—कथं द्वादशवार्षिक्यामनावृष्ट्यां द्विजोत्तमान्

ऋषीनध्यापयामास पुरा सारस्वतो मुनिः ॥४॥

जनमेजय बोले—हे महाराज ! बारह वर्ष की अनावृष्टि में किस प्रकार से सारस्वत महामुनि ने ब्राह्मणों को वेदाध्ययन कराया ॥

वैशम्पायन उवाच-आसीत्पूर्वं महाराज मुनिर्धीमान्महातपाः

दधीच इति विख्यातो ब्रह्मचारी जितेंद्रियः ॥५॥

तस्यातितपसः शक्रो बिभेति सततं विभो ।

न स लोभयितुं शक्यः फलैर्बहुविधैरपि ॥६॥

प्रलोभनार्थं तस्याथ प्राहिणोत्पाकशासनः ।

दिव्यामप्सरसं पुण्यां दर्शनीयामलंबुपाम् ॥७॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजन् ! एक महातपस्वी बड़े बुद्धिमान् महा ब्रह्मचारी जितेन्द्रिय, दधीच नामक महर्षि थे । उनके तप से सर्वदा इन्द्र को भय खड़ा रहता था । जब पाक शासन इन्द्र बहुत से ऐश्वय युक्त फलों से भी उनको मुग्ध करने में समर्थ नहीं हो सके । तो उसके मोहित करने को उन्होंने अलम्बुषा नामक एक दिव्य अप्सरा को उनके पास भेजा ॥५-७॥

तस्या तर्पयतो देवान् सरस्वत्यां महात्मनः ।

समीपतो महाराज सोपातिष्ठत भाविनि ॥८॥

हे महाराज ! वे ऋषि कभी सरस्वती नदी के तट पर देवों का तर्पण कररहे थे कि उसी समय उनके पास सुन्दरी अलम्बुषा पहुंची ॥८॥

तां दिव्यवपुषं दृष्ट्वा तस्यर्षेर्भावितात्मनः ।

रेतः स्कन्नं सरस्वत्यां तत्सा जग्राह निम्नगा ॥९॥

कुक्षौ चाप्यदधद्दृष्ट्वा तद्रेतः पुरुषर्षभ।
सा दधार च तं गर्भं पुत्रहेतोर्महानदी ॥१०॥

उस दिव्य शरीर धारिणी, अप्सरा को देखकर उस महात्मा दधीच का वीर्य स्खलित होगया-जिस को सरस्वती नदी ने ग्रहण कर लिया। हे पुरुषर्षभ ! बड़ी प्रसन्नता के साथ उस नदी ने उन मुनि के वीर्य को अपनी कुक्षि में रख लिया। उस महानदी ने यह गर्भ, पुत्र उत्पत्ति के हेतु से धारण कर लिया था ॥६-१०॥

सुषुवे चापि समये पुत्रं सा सरितां वरा।
जगाम पुत्रमादाय तमृषिं प्रति च प्रभो ॥११॥

हे राजन् ! समय के आने पर उस महानदी सरस्वती ने पुत्र उत्पन्न किया, हे प्रभो ! फिर वह उस पुत्रको लेकर उस दधीच ऋषि के पास पहुंची ॥११॥

ऋषिसंसदि तं दृष्ट्वा सा नदी मुनिसत्तमम्।
ततः प्रोवाच राजेंद्र ददती पुत्रमस्य तम् ॥१२॥

हे राजेन्द्र ! उस नदी ने उस महर्षि दधीच को ऋषियों की सभा में बैठा देखा। वह उस पुत्र को उसे देती हुई उस मुनि श्रेष्ठ से इस प्रकार बोली ॥१२॥

ब्रह्मर्षे तव पुत्रोऽयं त्वद्भक्त्या धारितो मया।
दृष्ट्वा तेऽप्सरसं रेतो यत्स्कन्नं प्रागलंबुषाम् ॥१३॥

हे ब्रह्मर्षे ! यह आप का पुत्र है, मैंने इसे तुम्हारी भक्ति से धारण किया है। यह पुत्र उसी घटना का परिणाम है, जो अल-

बुषा नामक अप्सरा को देखकर आप का वीर्य स्खलित हो या था ॥१३॥

तत्कुक्षिणा वै ब्रह्मर्षे त्वद्भक्त्या धृतवत्यहम् ।
न विनाशमिदं गच्छेत्त्वत्तेज इति निश्चयात् ॥१४॥

हे ब्रह्मर्षे ! मैंने यह आपकी भक्ति से अपने उदर में इस गर्भ को धारण किया है। मैं चाहती थी, कि तुम्हारा तेज कहीं विनष्ट न होजावे ॥१४॥

प्रतिग्रहृणीष्व पुत्रं स्वं मया दत्तमनिंदितम् ।
इत्युक्तः प्रतिजग्राह प्रीतिं चावाप पुष्कलाम् ॥१५॥

अब तुम अपने पुत्र इस सुन्दर बालक को ग्रहण करो। सरस्वती नदी के ये वचन सुनकर महर्षि ने वह बालक लेलिया और बहुत ही प्रसन्न हुआ ॥१५॥

स्वसुतं चाप्यजिघ्रत्तं मूर्ध्नि प्रेम्णा द्विजोत्तमः ।
परिष्वज्य चिरं कालं तदा भरतसत्तम ॥१६॥
सरस्वत्यै वरं प्रादात्प्रीयमाणो महामुनिः ।
विश्वेदेवाः सपितरो गंधर्वाप्सरसां गणाः ॥१७॥
तृप्तिं यास्यंति सुभगे तर्प्यमाणास्तवांभसा ।

हे भरतसत्तम ! अब द्विजश्रेष्ठ, दधीच ने अपने पुत्र का मस्तक प्रेम से सूंघा और उसका बहुत देर तक आलिङ्गन किया महामुनि ने प्रसन्नता के साथ सरस्वती को वरदान किया। हे सुभगे

विश्वेदेवा, पितर, गन्धर्व अप्सराओं के गण, तुम्हारे जल के तर्पण से बहुत शीघ्र तृप्ति करेंगे ॥१६-१७॥

इत्युक्त्वा स तु तुष्टाव वचोभिर्वै महानदीम् ॥१८॥
प्रीतः परमहृष्टात्मा यथावच्छृणु पार्थिव ।

हे नराधिप ! इतना कहकर अत्यन्त प्रसन्न होकर महर्षि दधीच ने वाणी से महानदी की बड़ी प्रीति से बहुत स्तुति की॥१८॥

प्रसृतासि महाभागे सरसो ब्रह्मणः पुरा ॥१९॥
जानंति त्वां सरिच्छ्रेष्ठे मुनयः संशितव्रताः ।

हे महाभागे ! तुम सर्व प्रथम ब्रह्मा के सरोवर से तेरी उत्पत्ति है । हे नदी श्रेष्ठ ! व्रतशील मुनि तुम्हें अच्छी तरह जानते हैं ॥१९।

मम प्रियकरी चापि सततं प्रियदर्शने ॥२०॥
तस्मात्सारस्वतः पुत्रो महांस्ते वरवर्णिनि ।
तवैव नाम्ना प्रथितः पुत्रस्ते लोकभावनः ॥२१॥
सारस्वत इति ख्यातो भविष्यति महातपाः ।

हे प्रिय दर्शने ! वरवर्णिनि ! तुमने मेरा बहुत प्रिय सम्पादन किया है, इससे यह सारस्वत नामक पुत्र तुम्हारे नाम से विख्यात होगा । जो सारे लोक को पवित्र कर देगा । यह महातपस्वी सारस्वत मुनि सर्वत्र प्रसिद्धि प्राप्त करेगा ॥२०-२१॥

एष द्वादशवार्षिक्यामनावृष्ट्यां द्विजर्षभान् ॥२२॥
सारस्वतो महाभागे वेदानध्यापयिष्यति ।
पुण्याभ्यश्च सरिद्भ्यस्त्वं सदा पुण्यतमा शुभे ॥२३॥
भविष्यसि महाभागे मत्प्रसादात्सरस्वति ।

हे महाभागे ! यही सारस्वत मुनि बारह वर्ष की अनावृष्टि में अच्छे ब्राह्मणों को वेद का अध्ययन करावेगा। हे शुभे ! पवित्र नदियों में तुम बड़ी ही पवित्र नदी मानी जाओगी। हे महाभागे सरस्वती ! यह सब कुछ मेरी कृपा से तुमको प्राप्त होगा ॥२८-२३।

एवं सा संस्तुताऽनेन वरं लब्ध्वा महानदी ॥२४॥
पुत्रमादाय मुदिता जगाम भरतर्षभ ।

हे भरतर्षभ ! जब इस ऋषि दधीच ने महानदी सरस्वती की इस प्रकार स्तुति की तो वह अपने पुत्र को लेकर प्रसन्नता से चल दी ॥२४॥

एतस्मिन्नेवकाले तु विरोधे देवदानवैः ॥२५॥
शक्रः प्रहरणान्वेषी लोकांस्त्रीन्विचचार ह ।
न चोपलेभे भगवान् शक्रः प्रहरणं तदा ॥२६॥
यद्वै तेषां भवेद्योग्यं वधाय विबुधद्विषाम् ।
ततोऽब्रवीत्सुरान् शक्रो न मे शक्या महासुराः ॥२७॥
ऋतेऽस्थिभिर्दधीचस्य निहन्तुं त्रिदशद्विषः ।

इसी समय देव और दानवों का विरोध हो चला था। इन्द्र खोजता हुआ तीनों लोकों में घूम रहा था। भगवान् इन्द्र को कहीं भी दानवों के वध के योग्य कोई शस्त्र न मिला। अब इन्द्र ने, देवों से कहा—दधीच मुनि की हड्डियों के शस्त्र के बिना मैं इन सुरद्वेषी दानवों के मारने में समर्थ नहीं हो सकता हूं ॥२५-२७॥

तस्माद्गत्वा ऋषिश्रेष्ठो याच्यतां सुरसत्तमाः ॥२८॥
दधीचास्थीनि देहीति तैर्वधिष्यामहे रिपून् ।

हे देवों ! तुम जाओ और दधीच ऋषि से उसकी अस्थि मांग लाओ। और कहो—हे महर्षे ! दधीच ! आप हमको अपनी हड्डी शस्त्र बनाने को प्रदान कीजिए हम उन अस्थियों से शत्रु का वध करेंगे ॥२८॥

स च तैर्याचितोऽस्थीनि यत्नादृषिवरस्तदा ॥२९॥
प्राणत्यागं कुरुश्रेष्ठ चकारैवाविचारयन् ।
स लोकानक्षयान्प्राप्तो देवप्रियकरस्तदा ॥३०॥

हे कुरुश्रेष्ठ, जब उन देवों ने प्रयत्न पूर्वक ऋषि से अस्थियां, मांगी—तो ऋषि ने अपनी हड्डियां देकर अपने प्राण नष्ट कर दिए और कुछ विचार नहीं किया। देवों का प्रिय करने में समर्थ दधीच मुनि इस अस्थि दान से अक्षय लोकों को प्राप्त हुआ ॥२९-३०

तस्यास्थिभिरथो शक्रः संप्रहृष्टमनास्तदा ।
कारयामास दिव्यानि नानाप्रहरणानि च ॥३१॥
गदावज्राणि चक्राणि गुरून् दण्डांश्च पुष्कलान् ।

दधीच की अस्थियों से इन्द्र ने प्रसन्नता के साथ गदा, वज्र, चक्र, भारी २ बहुत से दण्ड और अनेक दिव्य अस्त्र बनवाए ॥३१॥

स हि तीव्रेण तपसा सम्भृतः परमर्षिणा ॥३२॥
प्रजापतिसुतेनाथ भृगुणा लोकभावनः ।

अतिकायः स तेजस्वी लोकसारो विनिर्मितः ॥२३॥

जज्ञे शैलगुरुः प्रांशुर्महिम्ना प्रथितः प्रभुः ।

नित्यमुद्विजते चास्य तेजसः पाकशासनः ॥२४॥

महर्षि, प्रजापति पुत्र भृगु ने तीव्र तप के द्वारा लोक को पवित्र करने वाले दधीच मुनि को रचा था। यह महर्षि दधीच, विशाल काय धारी, अत्यन्त तेजस्वी और लोक के सार से रचा था। इन को पर्वत से भारी ऊंचा बनाया था। जो अपनी महिमा से बड़ा प्रसिद्ध होरहा था। इसके तेज से पाक शासन इन्द्र भी डरता रहता था ॥२२-२४॥

तेन वज्रेण भगवान् यन्त्रयुक्तेन भारत ।

भृशन्क्रोधविसृष्टेन ब्रह्मतेजोद्भवेन च ॥२५॥

दैत्यदानववीराणां जघान नवतीर्नव ।

हे भारत ! भगवान इन्द्र ने, अपने वज्र को यन्त्र पर लगाया और ब्रह्म तेज से उत्पन्न उस वज्र को बड़े क्रोध के साथ छोड़ा। उस वज्र से दैत्य और दानवों के निन्यानवें सहस्र वीर मारडाले ॥

अथ काले व्यतिक्रान्ते महत्यतिभयङ्करे ॥२६॥

अनावृष्टिरनुप्राप्ता राजन् द्वादशवार्षिकी ।

तस्यां द्वादशवार्षिक्यामनावृष्ट्यां महर्षयः ॥२७॥

वृत्त्यर्थं प्राद्रवन् राजन् क्षुधार्ताः सर्वतो दिशम् ।

हे राजन् ! जब यह अत्यन्त भयङ्कर समय निकल गया-तो फेर बारह वर्ष की अनावृष्टि उत्पन्न हुई। हे राजेन्द्र ! जब यह बारह वर्ष की अनावृष्टि सामने आई-तो बहुत से महर्षि भूख से व्याकुल होकर वृत्ति के निमित्त सब दिशाओं को भाग निकले ॥

दिग्भ्यस्तान् प्रद्रुतान् दृष्ट्वा मुनिः सारस्वतस्तदा ॥
गमनाय मतिं चक्रे तं प्रोवाच सरस्वती ।

सारस्वत मुनि ने जब उन मुनियों को अनेक दिशाओं में भागते देखा-तो सारस्वत मुनि भी वहां से चलने को उद्यत हुए। उस समय उनसे सरस्वती ने कहा ॥३८॥

न गन्तव्यमितः पुत्र तवाहारमहं सदा ॥३९॥
दास्यामि मत्स्यप्रवरानुष्यतामिह भारत ।
इत्युक्तस्तर्पयामास स पितॄन् देवतास्तथा ॥४०॥
आहारमकरोन्नित्यं प्राणान्वेदांश्च धारयन् ।

हे पुत्र ! तुमको यहां से नहीं जाना चाहिए। तुम्हारे आहार का कारण तो मैं बैठी हूँ। मैं तुमको अच्छे २ मत्स्य प्रदान करूंगी तुम यहीं पर निवास करते रहो। हे भारत ! इतना कहने पर वह सारस्वत मुनि पितर और देवों के तर्पण करने लगा। वह वेद और प्राणों को धारण करके मत्स्याहार करता था ॥३९-४०॥

अथ तस्यामनावृष्ट्यामतीतायां महर्षयः ॥४१॥
अन्योन्यं परिपप्रच्छुः पुनः स्वाध्यायकारणात् ।
तेषां क्षुधापरीतानां नष्टा वेदाऽभिधावताम् ॥४२॥
सर्वेषामेव राजेन्द्र न कश्चित्प्रतिभानवान् ।

हे राजन्! जब वह अनावृष्टि समाप्त होगई-तो महर्षि लोग, लौट कर आए और वे वेद के स्वाध्याय के विषय में पूछने लगे। वे लोग जब भागे थे, तो भूख से व्याकुल थे, इससे उनके सारे वेद नष्ट होगए थे। हे राजेन्द्र! उनमें से किसी को भी वेद का प्रकाश नहीं होरहा था ॥४१-४२॥

अथ कश्चिदृषिस्तेषां सारस्वतमुपेयिवान् ॥४३॥
कुर्वाणं संशितात्मानं स्वाध्यायमृषिसत्तमम्।
स गत्वाऽचष्ट तेभ्यश्च सारस्वतमतिप्रभम् ॥४४॥
स्वाध्यायममराख्यं कुर्वाणं विजने वने।

इसके अनन्तर किसी ऋषि ने, व्रतशाली वेद का स्वाध्याय करते हुए ऋषि श्रेष्ठ सारस्वत मुनि को देखा। उस ऋषि ने वहां जाकर देखे हुए अत्यन्त कान्तिमान् सारस्वत मुनि की बात उन अन्य ऋषियों को सुनाई कि निर्जन वन में सारस्वत नामक कोई मुनि, स्वाध्याय कर रहे हैं। और उनकी कान्ति देवों के समान देदीप्यमान होरही है ॥४३-४४॥

ततः सर्वे समाजग्मुस्तत्र राजन्महर्षयः ॥४५॥
सारस्वतं मुनिश्रेष्ठमिदमूचुः समागताः।
अस्मानध्यापयस्वेति तानुवाच ततो मुनिः ॥४६॥

हे राजन! वहां पर सारे महर्षि पहुंचे और वहां जाकर उन्होंने मुनिश्रेष्ठ सारस्वत से यह वचन कहा कि आप हमको वेदाध्ययन कराइए। सारस्वत मुनि ने उनसे यह वचन कहा ॥४५-४६॥

शिष्यत्वमुपगच्छध्वं विधिवद्धि ममेत्युत ।
तत्राब्रुवन्मुनिगणा बालस्त्वमसि पुत्रक ॥४७॥
स तानाह न मे धर्मो नश्येदिति पुनर्मुनीन् ।
यो ह्यधर्मेण वै ब्रूयाद् गृह्णीयाद्योऽप्यधर्मतः ॥४८॥
हीयेतां तावुभौ क्षिप्रं स्यातां वा वैरिणावुभौ ।

हे ऋषियों! तुम लोग प्रथम मेरे विधि-पूर्वक शिष्य बनो । पीछे वेदाध्ययन कराऊंगा। उन मुनियों ने कहा—हे पुत्र ! तुम अभी बच्चे हो। गुरु कैसे बन सकते हो। उसने फिर मुनियों से कहा–कि गुरु शिष्य प्रणाली से वेदाध्ययन कराने से मेरा धर्म नष्ट नहीं होगा। जो मनुष्य अधर्म विधि से पढ़ाता है, और जो इस तरह पढ़ता है, वे दोनों ही शीघ्र धर्म से पतित होजाते हैं, और उनके चित्त में वैर का बीज बो दिया जाता है ॥४७-४८॥

न हायनैर्न पलितैर्न वित्तेन न बन्धुभिः ॥४९॥
ऋषयश्चक्रिरे धर्मं योऽनूचानः स नो महान् ।

ब्राह्मणों में वर्षों की अधिकता या श्वेत बाल होने एवं धन बन्धु आदि से अधिक होने पर बड़प्पन नहीं है, इनमें तो जो वेद का अध्ययन करने वाला है, वही महान माना गया है ॥४९॥

एतच्छ्रुत्वा वचस्तस्य मुनयस्ते विधानतः ॥५०॥
तस्माद्वेदाननुप्राप्य पुनर्धर्मं प्रचक्रिरे ।

उस सारस्वत मुनि के ये वचन सुनकर उन मुनियों ने उसे विधि पूर्वक गुरु बना लिया। वे लोग फिर उससे वेद पढ़कर फिर धर्म चर्चा करने लगे ॥५०॥

षष्टिमुनिसहस्राणि शिष्यत्वं प्रतिपेदिरे ॥५१॥
सारस्वतस्य विप्रर्षेर्वेदस्वाध्यायकारणात् ।
मुष्टिं मुष्टिं ततः सर्वे दर्भाणां ते ह्युपाहरन् ।
तस्यासनार्थं विप्रर्षेर्बालस्यापि वशे स्थिताः ॥५२॥

सारस्वत मुनि के इस समय साठ सहस्र मुनि वेद पढ़ने के निमित्त शिष्य हुए । वे मुनि एक एक मुट्ठी कुशा उन सारस्वत मुनि के आसन के लिए लेकर उपस्थित हुए यद्यपि सारस्वत मुनि छोटी आयु के थे-तो भी वे लोग उसकी आज्ञा में स्थित होगए ॥

तत्रापि दत्त्वा वसु रौहिणेयो महाबलः केशवपूर्वजोऽथ ।
जगाम तीर्थं मुदितः क्रमेण ख्यातं महद् वृद्धकन्या स्म यत्र

रोहिणी पुत्र महाबली, श्रीकृष्ण के ज्येष्ठ भ्राता, बलराम जी ने वहां भी बहुत से द्रव्य का दान किया । इसके बाद वे बड़ी प्रसन्नता से एक बहुत प्रसिद्ध तीर्थ पर पहुंचे जहां पर एक वृद्ध कन्या रहती थी ॥५३॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्रयां संहितायां वैयासिक्यां शल्यपर्वांतर्गतगदापर्वणि बलदेवतीर्थ० सारस्वतो० एकपंचाशत्तमोऽध्यायः ॥४६॥

इति श्री महाभारत शल्यपर्वान्तर्गत गदापर्व में सारस्वतोपाख्यान में इक्यावनवां अध्याय समाप्त हुआ ।



बावनवां अध्याय

जनमेजय उवाच—कथं कुमारी भगवन्तपोयुक्ता ह्यभूत्पुरा।

किमर्थं च तपस्तेपे को वाऽस्या नियमोऽभवत् ॥१॥

सुदुष्करमिदं ब्रह्म स्त्वत्तः श्रुतमनुत्तमम्।

आख्याहि तत्त्वमखिलं यथा तपसि सा स्थिता ॥२॥

जनमेजय बोले—हे भगवन्! यह कुमारी थी, जो पूर्वकाल में तप कर रही थी। उसने किस लिए तप किया और इसका क्या नियम था। हे ब्रह्मन्! मैंने आपसे यह दुष्कर तप का समाचार सुना है। अब तुम सारे इस उपाख्यान को बताओ कि इसने क्यों तप का आरम्भ किया था ॥१-२॥

वैशम्पायन उवाच—ऋषिरासीन्महावीर्यः कुणिर्गर्गो महायशाः

स तप्त्वा विपुलं राजंस्तपो वै तपतां वरः ॥३॥

वैशम्पायन बोले—हे राजन्! एक महा शक्ति शाली महायशस्वी कुणी गर्ग नामक मुनि थे। उस महा तपस्वी ने एक बार बड़ा घोर तप किया ॥३॥

मनसाऽथ सुतां सुभ्रूं समुत्पादितवान्विभुः।

तां च दृष्ट्वा मुनिः प्रीतः कुणिर्गर्गो महायशाः ॥४॥

उस महात्मा ने अपने मानसिक बल से एक उत्पन्न की। उस को देखकर महायशस्वी मुनि कुणिगर्ग बड़े ही प्रसन्न हुए ॥४॥

जगाम त्रिदिवं राजन्सन्त्यज्येह कलेवरम् ।
सुभ्रूः सा ह्यथ कल्याणी पुण्डरीकनिभेक्षणा ॥५॥
महता तपसोग्रेण कृत्वाऽऽश्रममनिन्दिता ।
उपवासैः पूजयन्ती पितृन्देवांश्च सा पुरा ॥६॥
तस्यास्तु तपसोग्रेण महान्कालोऽत्यगान्नृप ।
सा पित्रा दीयमानापि तत्र नैच्छदनिन्दिता ॥७॥
आत्मनः सदृशं सा तु भर्तारं नान्वपश्यत ।

हे राजन् ! कुछ दिन बाद मुनि शरीर छोड़ कर स्वर्ग लोक को गए। अब वह सुन्दरी कल्याण युक्त, कमल लोचनी कन्या, आश्रम बनाकर महान् उग्र तप करने लगी। उसने उपवास आदि धारण करके पितर और देवों की पूजा की। हे नृप ! उस कन्या को तप करते २ बहुत समय व्यतीत होगया। यद्यपि उस कन्या को उसका पिता दान में देना चाह रहा था तो भी वह सुन्दरी कन्या विवाह करना नहीं चाहती थी, क्योंकि उसको अपने योग्य कोई भर्त्ता नहीं मिलता था ॥५-७॥

ततः सा तपसोग्रेण पीडयित्वाऽऽत्मनस्तनुम् ॥८॥
पितृदेवार्चनरता बभूव विजने वने ।

उसने अपने शरीर को उग्र तप द्वारा सुखा डाला। तथा वह एकान्त निर्जन वन में पितर और देवों को पूजा करती रही ॥८॥

साऽऽत्मानं मन्यमानाऽपि कृतकृत्यं श्रमान्विता ॥९॥
वार्धकेन च राजेन्द्र तपसा चैव कर्शिता ।

हे राजेन्द्र ! उसने इतना श्रम किया। कि वह कृतकृत्य होगई इस समय वह बुढ़ापे और तप से अत्यन्त दुर्बल होरही थी ॥९॥

सा नाशकद्यदा गन्तुं पदात्पदमपि स्वयम् ॥१०॥

चकार गमने बुद्धिं परलोकाय वै तदा ।

मोक्तुकामां तु तां दृष्ट्वा शरीरं नारदोऽब्रवीत् ॥११॥

असंस्कृतायाः कन्यायाः कुतो लोकास्तवानघे ।

जब इस दशा में वह एक पैर भी आगे न बढ़ा सकी-तो उस ने अब परलोक के जाने का खयाल किया। जब नारद मुनि ने उसे अपना शरीर छोड़ते देखा-तो कहा- हे अनघे ! विना विवाह के कन्या की मृत्यु होजाना लोक प्राप्ति का हेतु नहीं है ॥१०-११॥

एवं तु श्रुतमस्माभिर्देवलोके महाव्रते ॥१२॥

तपः परमकं प्राप्तं न तु लोकास्त्वया जिताः ।

हे महाव्रते ! हमने तो देवलोक में यही सुना था, कि तुमने तप तो बहुत लम्बा कर डाला, परन्तु अभी तक उनसे किसी लोक के प्राप्त करने की आशा नहीं है ॥१२॥

तन्नारदवचः श्रुत्वा साऽब्रवीदृषिसंसदि ॥१३॥

तपसोऽर्धं प्रयच्छामि पाणिग्राहस्य सत्तम ।

हे राजन् ! नारद जी के ये वचन सुनकर वह ऋषि सभा में इस तरह कहने लगी। हे मुनि सत्तम ! जो मुझ से विवाह करेगा मैं उसे अपने तप का आधा भाग देदूंगी ॥१३॥

इत्युक्ते चास्या जग्राह पाणिं गालवसंभवः ॥१४॥
ऋषिः प्राक् शृंगवान्नाम समयं चेममब्रवीत् ।
समयेन तवाद्याहं पाणिं स्प्रक्ष्यामि शोभने ॥१५॥
यद्येकरात्रं वस्तव्यं त्वया सह मयेति ह ।

जब उस वृद्ध कन्या ने इतना कहा—तो गालव नामक किसी ऋषि के पुत्र ने उससे विवाह करने का निश्चय किया। उस ऋषि का नाम शृङ्गवान् था। उसने उससे एक समय (शर्त) के लिए कहा-हे शोभने ! एक शर्त है, जिसके द्वारा हम तुम्हारा पाणि ग्रहण कर सकते हैं। कि मैं तेरे साथ एक रात ही रह सकूंगा ॥

तथेति सा प्रतिश्रुत्य तस्मै पाणिं ददौ तदा ॥१६॥
यथा दृष्टेन विधिना हुत्वा चाग्निं विधानतः ।
चक्रे च पाणिग्रहणं तस्योद्वाहं च गालविः ॥१७॥

उस वृद्ध कन्या ने यह स्वीकार करके उससे अपना पाणिग्रहण निश्चित कर लिया। शास्त्रानुसार विधि पूर्वक अग्नि में हवन करके गालव पुत्र शृङ्गवान् ने उसका पाणि ग्रहण और उसके साथ विवाह मन्जूर कर लिया ॥१६-१७॥

सा रात्रावभवद्राजंस्तरुणी वरवर्णिनी ।
दिव्याभरणवस्त्रा च दिव्यगंधानुलेपना ॥१८॥

हे राजन् ! वह वृद्ध कन्या उस रात में बड़ी सुन्दर युवति बन गई। उसके पास दिव्य आभूषण और वस्त्र होगए और दिव्य गन्ध लेपन और माला आदि पदार्थ दिखाई देने लगे ॥१८॥

तां दृष्ट्वा गालविः प्रीतो दीपयंतीमिव श्रिया ।
उवास च क्षपामेकां प्रभाते साऽब्रवीच्च तम् ॥१६॥
यस्त्वया समयो विप्र कृतो मे तपतां वर ।
तेनोषिताऽस्मि भद्रं ते स्वस्ति तेऽस्तु व्रजाम्यहम् ॥
सा निर्गताब्रवीद्भूयोऽस्मिंस्तीर्थे समाहितः ।
वसते रजनीमेकां तर्पयित्वा दिवौकसः ॥२१॥
चत्वारिंशतमष्टौ च द्वौ चाष्टौ सम्यगाचरेत् ।
यो ब्रह्मचर्यं वर्षाणि फलं तस्य लभेत सः ॥२२॥

हे नृप ! कान्ति से देदीप्यमान उस अपनी भार्या को देखक गालव पुत्र शृङ्गवान् बड़े प्रसन्न हुए। उसने एक रात उस कन्य के साथ बिताई। अब प्रातःकाल कन्या ने उससे कहा—हे तपस्वियं में श्रेष्ठ ब्रह्मन् ! तुमने जो मुझ से समय (शर्त) किया था, व पूरा होचुका। मैं उतने समय तक तुम्हारे पास रह चुकी अब तुम्हारा कल्याण हो—मैं जाती हूँ। जो मनुष्य एक रात भ इस तीर्थ पर निवास करेगा और देवों की तृप्ति का कार्य करेग वह चौसठ वर्ष तक ब्रह्मचर्य व्रत करने का फल पावेगा ॥१६-२२

एवमुक्त्वा ततः साध्वी देहं त्यक्त्वा दिवं गता ।
ऋषिरप्यभवद्दीनस्तस्या रूपं विचिन्तयन् ॥२३॥

हे राजन् ! इतना कहकर वह साध्वी कन्या, देह छोड़ स्वर्ग चली गई। उसके रूप का स्मरण करके ऋषि, बड़ा उदास होगया ॥२३॥

समयेन तपोऽर्धं च कृच्छ्रात्प्रतिगृहीतवान् ।
साधयित्वा तदात्मानं तस्याः स गतिमन्वियात् ॥२४॥
दुःखितो भरतश्रेष्ठ तस्या रूपबलात्कृतः ।

उसको अपने निश्चय के अनुसार उस कन्या के तप का आधा भाग मिला । वह भी उस तप के द्वारा अपनी आत्मा को सिद्ध करके उस कन्या के पीछे हो लिया । हे भरतश्रेष्ठ ! वह ब्राह्मण बड़ा ही दुःखी हुआ और उसके रूप से खैंचा चला गया ॥२४॥

एतत्ते वृद्धकन्याया व्याख्यातं चरितं महत् ॥२५॥
तथैव ब्रह्मचर्यं च स्वर्गस्य च गतिः शुभा ।
तत्रस्थश्चापि शुश्राव हतं शल्यं हलायुधः ॥२६॥

हे राजन ! हमने आपको वृद्ध कन्या के चरित का श्रवण करा दिया है । उसके ब्रह्मचर्य और स्वर्ग की गति भी सुनाई, वहां पर हलधर बलराम ने शल्य की मृत्यु के समाचार सुने थे ॥२५-२६॥

तत्रापि दत्वा दानानि द्विजातिभ्यः परंतपः ।
शुश्राव शल्यं संग्रामे निहतं पांडवैस्तदा ॥२७॥

यहां पर भी शत्रुतापी बलराम ने, ब्राह्मणों को बहुत से दान दिए । दान के अनन्तर ही यह सुना था, कि पाण्डवों ने आज शल्य को भी मार लिया ॥२७॥

समंतपंचकद्वारात्ततो निष्क्रम्य माधवः ।
पप्रच्छर्षिगणान् रामः कुरुक्षेत्रस्य यत्फलम् ॥२८॥

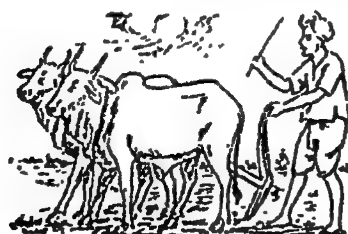
इसके अनन्तर वृष्णि वंशोद्भव बलराम, समन्त पञ्चक तीर्थ के द्वार से निकले और वहां ऋषियों से कुरुक्षेत्र तीर्थ के फल को पूछा ॥२८॥

ते पृष्टा यदुसिंहेन कुरुक्षेत्रफलं विभो ।
समाचख्युर्महात्मानस्तस्मै सर्वं यथातथम् ॥२९॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां शल्यपर्वान्तर्गतगदापर्वणि बलदेवतीर्थ० सारस्वतो० द्विपंचाशत्तमोऽध्यायः ॥५२॥

हे विभो ! जब यदुवंश के सिंह बलराम ने, उन ऋषियों से कुरुक्षेत्र का फल पूछा-तो उन महात्माओं ने उनको सारा ठीक २ फल बता दिया ॥२९॥

इतिश्री महाभारत शल्यपर्वान्तर्गत गदापर्व में बलदेव तीर्थ यात्रा के प्रसङ्ग में सारस्वतोपाख्यान का बावनवां अध्याय समाप्त हुआ ।



तरेपनवां अध्याय

ऋषय ऊचुः-प्रजापतेरुत्तरवेदिरुच्यते सनातनं राम समन्तपंचकम्
समीजिरे यत्र पुरा दिवौकसो वरेण सत्रेण महावरप्रदाः ॥१॥

ऋषि बोले—हे राम! यह समन्त पञ्चक तीर्थ, बड़ा प्राचीन और प्रजापति की उत्तर वेदी कहाता है। बड़े २ वरदान देते हुए देवों ने पूर्वकाल में इस स्थान पर बड़ा उत्तम यज्ञ किया था॥१॥

पुरा च राजर्षिवरेण धीमता बहूनि वर्षाण्यमितेन तेजसा।
प्रकृष्टमेतत्कुरुणा महात्मना ततः कुरुक्षेत्रमितीह पप्रथे ॥२॥

पूर्वकाल में बुद्धिमान् अत्यन्त तेजस्वी महात्मा राजा कुरु ने बहुत वर्षोंतक इसे जोता था। इसी से इसका नाम कुरुक्षेत्र प्रसिद्ध हुआ है॥२॥

राम उवाच—किमर्थं कुरुणा कृष्टं क्षेत्रमेतन्महात्मना।
एतदिच्छाम्यहं श्रोतुं कथ्यमानं तपोधनाः ॥३॥

बलरामजी कहने लगे-हे तपोधनो! महावीर राजा कुरु ने पूर्वकाल में किस प्रयोजन से इस स्थान पर हल चलाया था, मुझे आप यह बताओ-मैं सुनना चाहता हूँ॥३॥

ऋषय ऊचुः—पुरा किल कुरुं राम कर्षन्तं सततोत्थितम्।
अभ्येत्य शक्रस्त्रिदिवात्पर्यपृच्छत कारणम् ॥४॥

ऋषि बोले-हे राम! पूर्वकाल में, जब राजा कुरु इस स्थान पर हल चला कर इसे जोत रहे थे तो उस समय उसके पास

इन्द्र आए और पूछने लगे कि तुम इस स्थान को क्यों जोत रहे हो ॥४॥

इन्द्र उवाच—किमिदं वर्तते राजन्प्रयत्नेन परेण च ।
राजर्षे किमभिप्रेत्य येनेयं कृष्यते क्षितिः ॥५॥

इन्द्र ने कहा-हे राजन् ! यह बड़े भारी परिश्रम के साथ तुम क्या कर रहे हो । हे राजर्षे ! तुम इस भूमि को क्यों जोतते हो । इस परिश्रम का कारण बताओ ॥५॥

कुरुरुवाच—इह ये पुरुषाः क्षेत्रे मरिष्यन्ति शतक्रतो ।
ते गमिष्यन्ति सुकृताँल्लोकान्पापविवर्जितान् ॥६॥

राजा कुरु ने कहा—हे शतक्रतो ! इस क्षेत्र में जो मनुष्य मृत्यु को प्राप्त होंगे वे पाप वर्जित पुण्य लोकों को अवश्य प्राप्त करेंगे ॥६॥

अवहस्य ततः शक्रो जगाम त्रिदिवं पुनः ।
राजर्षिरप्यनिर्विण्णः कर्षत्येव वसुन्धराम् ॥७॥

देवराज इन्द्र ! यह सुनकर मुसकुराकर वहां से चल दिए। राजा कुरु भी बिना उदासीनता के उस भूमि को जोतते ही रहे ॥

आगम्यागम्य चैवैनं भूयो भूयोऽवहस्य च ।
शतक्रतुरनिर्विण्णं पृष्ट्वा पृष्ट्वा जगाम ह ॥८॥

इन्द्र बार २ वहां आते थे और बार २ उनकी हंसी करके चल देते थे। वे जब आते तब यही देखते थे, कि राजा कुरु बिना किसी उदासी के भूमि जोतते रहते हैं ॥८॥

यदा तु तपसोग्रेण चकर्ष वसुधां नृपः ।
ततः शक्रोऽब्रवीद्देवान् राजर्षेर्यच्चिकीर्षितम् ॥९॥

जब राजा कुरु ने बड़े भारी तप के साथ भूमि को जोत डाला-तो इन्द्र ने देवों को राजर्षि कुरु की चेष्टा का वृत्तान्त सुनाया ॥९॥

एतच्छ्रुत्वाऽब्रुवन् देवाः सहस्राक्षमिदं वचः ।
वरेण च्छंद्यतां शक्र राजर्षिर्यदि शक्यते ॥१०॥

सहस्र नेत्रधारी इन्द्र के वचन सुनकर देवों ने उनसे कहा-हे शक्र ! यदि हो सके-तो राजर्षि कुरु को वरदान देना चाहिए। जिससे वह इस प्रयत्न से पृथक् हो जावे ॥१०॥

यदि ह्यत्र प्रमीता वै स्वर्गं गच्छन्ति मानवाः ।
अस्मानिष्ट्वा क्रतुभिर्भागो नो न भविष्यति ॥११॥

यदि इस स्थान पर मरने से ही मनुष्य, यज्ञों से हमारी पूजा न करके ही स्वर्ग पहुंच जावेंगे तो हमारी पूजा कौन करेगा। कौन हमको यज्ञ में भाग देगा ॥११॥

आगम्य च ततः शक्रस्तदा राजर्षिमब्रवीत् ।
अलं खेदेन भवतः क्रियतां वचनं मम ॥१२॥
मानवा ये निराहारा देहं त्यक्ष्यन्त्यतन्द्रिताः ।
युधि वा निहताः सम्यगपि तिर्यग्गता नृप ॥१३॥
ते स्वर्गभाजो राजेन्द्र भविष्यन्ति महामते ।
तथाऽस्त्विति ततो राजा कुरुः शक्रमुवाच ह ॥१४॥

हे राजन्! अब इन्द्र राजा कुरु के पास आया और आकर कहने लगा—हे राजन! तुम अधिक क्लेश न उठाओ—मेरा कथन स्वीकार करो, कि जो मनुष्य यम नियमादि सेवन करते हुए निराहार रहकर यहां शरीर छोड़ेंगे-या धर्मयुद्ध में मनुष्य हाथी, घोड़े आदि मारे जावेंगे-हे महामते! राजेन्द्र! वे स्वर्ग को प्राप्त होंगे। राजा कुरु ने कहा-अच्छी बात है, यही सही? ॥

ततस्तमभ्यनुज्ञाप्य प्रहृष्टेनान्तरात्मना।

जगाम त्रिदिवं भूयः क्षिप्रं बलनिषूदनः ॥१५॥

हे जनाधिप! इसके अनन्तर बलदैत्यनाशक, इन्द्र, राजा कुरु को घर जाने की आज्ञा देकर, फिर आप भी झटपट स्वर्ग-लोक को चला गया ॥१५॥

एवमेतद्यदुश्रेष्ठ कृष्टं राजर्षिणा पुरा।

शक्रेण चाभ्यनुज्ञातं ब्रह्माद्यैश्च सुरैस्तथा ॥१६॥

नातः परतरं पुण्यं भूमेः स्थानं भविष्यति।

इह तप्स्यन्ति ये कश्चित्तपः परमकं नराः ॥१७॥

देहत्यागेन ते सर्वे यास्यन्ति ब्रह्मणः क्षयम्।

हे यदु श्रेष्ठ! राजा कुरु के इस स्थान के जोतने की यह कथा है। इन्द्र और ब्रह्मादि देवों ने राजा कुरु को इसके जोतने से वरदान दिया है कि इस भूमि से अधिक कोई भूमि, का स्थान पवित्र नहीं माना जावेगा। जो मनुष्य इस स्थान पर परम तप करेंगे। वे देह त्याग के अनन्तर अवश्य ब्रह्मलोक को जावेंगे॥

ये पुनः पुण्यभाजो वै दानं दास्यंति मानवाः॥१८॥
तेषां सहस्रगुणितं भविष्यत्यचिरेण वै।

जो पुण्यवान् मनुष्य, इस स्थान पर दान देंगे। उनको शीघ्र ही सहस्र गुणा होकर वह दान प्राप्त होगा ॥१८॥

ये चेह नित्यं मनुजा निवत्स्यन्ति शुभैषिणः ॥१६॥
यमस्य विषयं ते तु न द्रक्ष्यंति कदाचन।

जो कल्याण की कामना करने वाले मनुष्य, यहां निवास करते हैं, उनको कभी यमराज के स्थान के दर्शन नहीं करने पड़ेंगे ॥१६॥

यक्ष्यंति ये च क्रतुभिर्महद्भिर्मनुजेश्वराः ॥२०॥
तेषां त्रिविष्टपे वासो यावद्भूमिर्धरिष्यति।

जो उत्तम मनुष्य यहां पर महान् यज्ञ का आरम्भ करेंगे वे जब तक भूमि रहेगी-तब तक स्वर्ग में निवास करते रहेंगे॥

अपि चात्र स्वयं शक्रो जगौ गाथां सुराधिपः ॥२१॥
कुरुक्षेत्रनिबद्धां वै तां शृणुष्व हलायुध।
पांसवोऽपि कुरुक्षेत्राद्वायुना समुदीरिताः।
अपि दुष्कृतकर्माणं नयन्ति परमां गतिम् ॥२२॥

हे बलराम! देवराज इन्द्र ने कुरुक्षेत्र के सम्बन्ध में यह गाथा स्वयं वर्णन की है, तुम उसे सुनो, कि वायु द्वारा उड़ाई हुई कुरुक्षेत्र की धूलि भी दुष्कर्म करने वाले पापी के शरीर में लग कर उसे परम गति में ले जाती है ॥२१-२२॥

सुरर्षभा ब्राह्मणसत्तमाश्च तथा नृगाद्या नरदेवमुख्याः।
इष्ट्वा महार्हैः क्रतुभिर्नृसिंह सन्त्यज्य देहान् सुगतिं प्रपन्नाः

हे नर श्रेष्ठ! उत्तम देवता, उत्तम २ ब्राह्मण नृग आदि उत्तम २ राजा, बड़ी २ दक्षिणा वाले यज्ञों से यजन करने के अनन्तर यहां देह छोड़ने पर सुगति को प्राप्त होते आए हैं ॥२३॥

तरंतुकारंतुकयोर्यदन्तरं रामह्रदानां च मचक्रुकस्य च
एतत्कुरुक्षेत्र समन्तपञ्चकं प्रजापतेरुत्तरवेदिरुच्यते ॥

तरन्तुक, अरन्तुक, रामह्रद, मचक्रुक, इन तीर्थों की बीच की भूमि का नाम कुरुक्षेत्र है। यही समन्त पञ्चक तीर्थ और और यही प्रजापति की उत्तर वेदि कहाती है ॥२४॥

शिवं महापुण्यमिदं दिवौकसां सुसम्मतं सर्वगुणैः समन्वितम्
अतश्च सर्वे निहता नृपा रणे यास्यन्ति पुण्यां गतिमक्षयां सदा

हे महाभाग? यह स्थान बड़ा कल्याणकारी, महापवित्र, देवों से सुसम्मत है और सर्व गुण सम्पन्न है। यहां पर रण में मृत हुए सारे राजा, पुण्य युक्त उत्तम गति को अवश्य प्राप्त होंगे॥

इत्युवाच स्वयं शक्रः सहब्रह्मादिभिस्तथा।
तच्चानुमोदितं सर्वं ब्रह्मविष्णुमहेश्वरैः ॥२६॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां शल्यपर्वणि० गदापर्व० बलदेवतीर्थ० सारस्वतोपाख्याने कुरुक्षेत्रकथने त्रिपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥५३॥

हे राजन् इस तरह ब्रह्मादि देवों के साथ इन्द्र ने स्वयं कहा है, जिसका ज्यों का त्यों अनुमोदन ब्रह्मा विष्णु और महेश्वर ने किया है ॥२६॥

इतिश्री महाभारत शल्यपर्वान्तर्गत गदापर्व में श्रीबलदेव जी की तीर्थ-यात्रा के प्रसङ्ग में कुरुक्षेत्र की महिमा का तिरेपनवां अध्याय समाप्त हुआ।



चौवनवां अध्याय

वैशम्पायन उवाच—कुरुक्षेत्रं ततो दृष्ट्वा दत्वा दायांश्च सात्वतः

आश्रमं सुमहद्दिव्यमगमज्जनमेजय ॥१॥

मधूकाम्रवणोपेतं प्लक्षन्यग्रोधसंकुलम् ।

चिरबिल्वयुतं पुण्यं पनसार्जुनसंकुलम् ॥२॥

वैशम्पायन बोले—हे जनमेजय ! सात्वत वंशश्रेष्ठ, बलराम ने कुरुक्षेत्र में जाकर बहुत से दान दिए। और फिर वे वहां महुवे, आम्र, पिलखन, बड़, चिर बिल्व, (करञ्जुवा) कटहल, और अर्जुन वृक्षों से व्याप्त एक विशाल और दिव्य आश्रम में पहुंचे ॥१-२॥

तं दृष्ट्वा यादवश्रेष्ठः प्रवरं पुण्यलक्षणम् ।

पप्रच्छ तानृषीन्सर्वान्कस्याश्रमवरस्त्वयम् ॥३॥

यदुवंशश्रेष्ठ, बलराम पुण्य लक्षणों से युक्त उस आश्रम को देखकर सारे ऋषियों से पूछने लगा, कि यह किसका उत्तम आश्रम है ॥३॥

ते तु सर्वे महात्मानमूचू राजन् हलायुधम् ।

शृणु विस्तरशो राम यस्यायं पूर्वमाश्रमः ॥४॥

हे राजन् ! इस सारे ऋषियों ने महात्मा बलराम से कहा–हे राम ! यह पूर्वकाल में जिसका आश्रम था, तुम इसको ध्यान से सुनो ॥४॥

अत्र विष्णुः पुरा देवस्तप्तवांस्तप उत्तमम् ।

अत्रास्य विधिवद्यज्ञाः सर्वे वृत्ताः सनातनाः ॥५॥

यहीं पर पूर्वकाल में भगवान् विष्णु ने बड़ा उत्तम तप किया था और यहीं पर उन्होंने उत्तम २ सनातन यज्ञ विधिपूर्वक समाप्त किए थे ॥५॥

अत्रैव ब्राह्मणी सिद्धा कौमारब्रह्मचारिणी ।

योगयुक्ता दिवं याता तपःसिद्धा तपस्विनी ॥६॥

यहीं पर कुमार अवस्था से ब्रह्मचर्य व्रत धारण करने वाली ब्राह्मणी, सिद्ध बन गई, जिस तपस्विनी ने यहां घोर तप करके योग सिद्धि पाई और फिर स्वर्ग चली गई ॥६॥

बभूव श्रीमती राजन् शांडिल्यस्य महात्मनः ।

सुता धृतव्रता साध्वी नियता ब्रह्मचारिणी ॥७॥

हे राजन्! महात्मा शाण्डिल्य की वह कन्या थी। वह साध्वी कन्या नियम पूर्वक ब्रह्मचर्य व्रत धारण करके अत्यन्त तेज से युक्त होगई ॥७॥

सा तु तप्त्वा तपो घोरं दुश्चरं स्त्रीजनेन ह।
गता स्वर्गं महाभागा देवब्राह्मणपूजिता ॥८॥

स्त्रियों से जिस तप का होना बहुत दुःसाध्य है, उस तप को इस महाभागा, कन्या ने धारण किया। अन्त में यह स्वर्ग को गई देव और ब्राह्मणों ने इस कन्या की बड़ी पूजा की ॥८॥

श्रुत्वा ऋषीणां वचनमाश्रमं तं जगाम ह।
ऋषींस्तानभिवाद्याथ पार्श्वे हिमवतोऽच्युतः ॥९॥
संध्याकार्याणि सर्वाणि निर्वर्त्यारुरुहेऽचलम्।

ऋषियों के वचन सुनकर महाबली बलराम जी उस आश्रम में पहुंचे, जो हिमालय की तलेटी में था उसमें रहने वाले ऋषियों को प्रणाम करके बलराम जी पर्वत पर चढ़ गए ॥९॥

नातिदूरं ततो गत्वा नगं तालध्वजो बली ॥१०॥
पुण्यं तीर्थवरं दृष्ट्वा विस्मयं परमं गतः।

महाबली ताल ध्वजा धारी बलराम जी, इस पर्वत पर बहुत अधिक दूर नहीं गए होंगे, कि वहां एक पवित्र तीर्थ देखा, जिसको देखकर उनको बड़ा ही विस्मय हुआ ॥१०॥

प्रभावं च सरस्वत्याः प्लक्षप्रस्रवणं बलः ॥११॥
संप्राप्तः कारपवनं प्रवरं तीर्थमुत्तमम्।

सरस्वती नदी के प्रभाव से वहां एक प्लक्ष के वृक्ष के नीचे स्रोत निकल रहा था वहां कारपवन में पहुंचे जो बड़ा उत्तम तीर्थ माना गया था ॥११॥

हलायुधस्तत्र चापि दत्त्वा दानं महाबलः ॥१२॥
आप्लुतः सलिले पुण्ये सुशीते विमले शुचौ ।
सन्तर्पयामास पितॄन् देवांश्च रणदुर्मदः ॥१३॥
तत्रोष्यैकां तु रजनीं यतिभिर्ब्राह्मणैः सह ।
मित्रावरुणयोः पुण्यं जगामाश्रममच्युतः ॥१४॥
इन्द्रोऽग्निरर्यमा चैव यत्र प्राक् प्रीतिमाप्नुवन् ।
तं देशं कारपवनाद्यमुनायां जगाम ह ॥१५॥
स्नात्वा तत्र च धर्मात्मा परां प्रीतिमवाप्य च ।

महाबली रण दुर्मद हलायुध ने वहां भी बहुत से दान दिये और उसके पवित्र, शीतल, निर्मल जल में स्नान किया। वहीं पर देव और पितरों के तर्पण किए। इसके बाद बलराम जी ने वहां एक रात निवास किया और फिर वे यति और ब्राह्मणों के साथ, मित्र वरुण के पवित्र आश्रम में पहुंचे। इसी स्थान पर इन्द्र, अग्नि और अर्यमा ने, पूर्वकाल में प्रीति प्राप्त की थी। इस कारण वन से धर्मात्मा बलदेव जी यमुना की ओर चले। वहां पर भी स्नान करके बड़े आनन्दित हुए ॥१२-१५॥

ऋषिभिश्चैव सिद्धैश्च सहितो वै महाबलः ॥१६॥
उपविष्टः कथाः शुभ्राः शुश्राव यदुपुंगवः ।

तथा तु तिष्ठतां तेषां नारदो भगवानृषिः ॥१७॥

आजगामाथ तं देशं यत्र रामो व्यवस्थितः ।

यदुवंश श्रेष्ठ, महाबली बलरामजी ऋषि और सिद्धों के साथ वहां बैठ गए और दिव्य कथा सुनने लगे। जब वे लोग वहां बैठे थे, तो महर्षि भगवान् नारद उसी समय वहां आए-जहां बलराम जी सुशोभित थे ॥१६-१७॥

जटामण्डलसंवीतः स्वर्णचीरो महातपाः ॥१८॥

हेमदण्डधरो राजन् कमण्डलुधरस्तथा ।

कच्छपीं सुखशब्दां तां गृह्य वीणां मनोरमाम् ॥१६॥

नृत्ये गीते च कुशलो देवब्राह्मणपूजितः ।

प्रकर्ता कलहानां च नित्यं च कलहप्रियः ॥२०॥

तं देशमगमद्यत्र श्रीमान् रामो व्यवस्थितः ।

हे राजन्! नारद जी के शिर पर जटा मण्डल सुशोभित हो रहा था। उनके सुवर्ण के समान पीत वस्त्र थे। महातपस्वी नारद ने सुवर्णोज्ज्वल दण्ड और कमण्डलु भी धारण कर रखे थे। इनके हाथ बड़ी सुन्दर कच्छपी नामक वीणा थी, जिसमें से सुखपूर्वक शब्द निकलते थे। ये मुनि नृत्य और गान में कुशल और देव तथा ब्राह्मणों से पूजित थे। ये नित्य की कलह खड़ी करवाते थे, इससे इनका तो नाम ही कलह प्रिय पड़ गया था। ये उसी स्थान पर आए-जहां बलराम स्थित थे ॥१८-२०॥

प्रत्युत्थाय च तां सम्यक् पूजयित्वा यतव्रतम् ॥२१॥
देवर्षिं पर्यपृच्छत्स यथावृत्तं कुरून्प्रति ।

बलराम जी खड़े होगए और उन्होंने व्रतचारी नारद जी की बड़ी पूजा की। उन्होंने देवर्षि नारद से कौरवों के युद्ध की घटना पूछी ॥२१॥

ततोऽस्याकथयद्राजन् नारदः सर्वधर्मवित् ॥२२॥
सर्वमेतद्यथा वृत्तमतीव कुरुसंक्षयम् ।

धर्मज्ञाता नारद ने उनको सारा वृत्तान्त सुना दिया, जिस तरह कुरुवंश का युद्ध में विनाश हुआ था ॥२२॥

ततोऽब्रवीद्रौहिणेयो नारदं दीनया गिरा ॥२३॥
किमवस्थं तु तत्क्षत्रं ये तु तत्रा भवन्नृपाः ।
श्रुतमेतन्मया पूर्वं सर्वमेव तपोधन ॥२४॥
विस्तरश्रवणे जातं कौतूहलमतीव मे ।

रोहिणी पुत्र नारद ने दीन वाणी से कहा—कि जो राजा इस युद्ध में पहुंचे, उनकी क्या २ दशा हुई। हे तपोधन ! यद्यपि पूर्व में भी मैंने कुछ सुना है, परन्तु आपसे विस्तारके साथ सुनना चाहता हूँ, क्योंकि इसके सुनने में मेरी बहुत उत्कण्ठा है ॥२३-२४॥

नारद उवाच-पूर्वमेव हतो भीष्मो द्रोणः सिंधुपतिस्तथा ॥
हतो वैकर्तनः कर्णः पुत्राश्चास्य महारथाः ।
भूरिश्रवा रौहिणेय मद्रराजश्च वीर्यवान् ॥२६॥

एते चान्ये च बहवस्तत्र तत्र महाबलाः ।
प्रियान्प्राणान्परित्यज्य जयार्थं कौरवस्य वै ॥२७॥
राजानो राजपुत्राश्च समरेष्वनिवर्तिनः ।

नारद जी बोले—हे रौहिणेय! सबसे प्रथम तो भीष्म रणभूमि में गिरे, उसके अनन्तर राजा जयद्रथ, द्रोणाचार्य, सूर्य पुत्र कर्ण, इसके महारथी पुत्र, भूरिश्रवा, वीर्यवान् राजा शल्य, आदि बहुत से महाबली कौरव पक्ष के राजा मारे गए। ये राजा और राजपुत्र, कौरवों की विजय के निमित्त अपने प्रिय प्राणों का मोह छोड़कर युद्ध में आए थे, जो कभी पीछे हटने वाले नहीं थे ॥२५-२७॥

अहतांस्तु महाबाहो शृणु मे तत्र माधव ॥२८॥
धार्तराष्ट्रबले शेषास्त्रयः समितिमर्दनाः ।
कृपश्च कृतवर्मा च द्रोणपुत्रश्च वीर्यवान् ॥२९॥
तेऽपि वै विद्रुता राम दिशो दश भयात्तदा ।

हे महाबाहो! माधव! अब आप उनको सुनलें—जो अभी तक नहीं मारे गए हैं। धृतराष्ट्र पुत्र दुर्योधन की सेना में तो युद्ध में शत्रु मर्दन करने वाले तीन वीर कृपाचार्य कृतवर्मा और महाबली अश्वत्थामा बचे हैं। हे राम! परन्तु वे भी अब भयातुर होकर अपनी इच्छानुकूल दशों दिशा में भागे फिरते हैं ॥

दुर्योधनो हते शल्ये विद्रुतेषु कृपादिषु ॥३०॥
ह्रदं द्वैपायनं नाम विवेश भृशदुःखितः ।

अब राजा शल्य मारे गए और कृप आदि भाग गए तो अत्यन्त दुखी होकर राजा दुर्योधन द्वैपायन नामक ह्रद में जा छुपा ॥२०॥

शयानं धार्त्तराष्ट्रं तु सलिले स्तम्भिते तदा ॥२१॥
पाण्डवाः सह कृष्णेन वाग्भिरुग्राभिरार्दयन् ।

राजा दुर्योधन, जल को स्तम्भित करके उस पानी में सो रहा था, कि पाण्डवों ने कृष्ण के सहित वहां पहुंच कर उनको उग्र वाणी से अर्दित किया ॥२१॥

स तुद्यमानो बलवान्वाग्मी राम समन्ततः ॥२२॥
उत्थितः स ह्रदाद्वीरः प्रगृह्य महतीं गदाम् ।

हे राम ! उनकी कटुवाणी से अत्यन्त झल्लाया हुआ वीर राजा दुर्योधन, अपनी भारी गदा को उठा कर उस ह्रद से बाहर निकल आया ॥२२॥

स चाप्युपगतो योद्धुं भीमेन सह साम्प्रतम् ॥२३॥
भविष्यति तयोरद्य युद्धं राम सुदारुणम् ।

हे राम ! अब भीमसेन युद्ध के लिए डटा हुआ है। आज उन दोनों वीर भीमसेन और दुर्योधन का घोर युद्ध होने वाला है ॥२३॥

यदि कौतूहलं तेऽस्ति व्रज माधव मा चिरम् ॥२४॥
पश्य युद्धं महाघोरं शिष्ययोर्यदि मन्यसे ।

हे माधव ! यदि इस युद्ध के देखने की आपकी अभिलाषा हो तो आप शीघ्र चले जावें, आपको रुचिकर हो तो अपने दोनों शिष्यों के इस महाघोर गदा युद्ध का अवलोकन करो ॥३४॥

वैशंपायन उवाच—नारदस्य वचः श्रुत्वा तानभ्यर्च्य द्विजर्षभान्

सर्वान्विसर्जयामास ये तेनाभ्यागताः सह ।
गम्यतां द्वारकां चेति सोन्वशादनुयायिनः ॥३६॥
सोऽवतीर्याचलश्रेष्ठात्प्लक्षप्रस्रवणाच्छुभात् ।
ततः प्रीतमना रामः श्रुत्वा तीर्थफलं महत् ।
विप्राणां सन्निधौ श्लोकमगायदिममच्युतः ॥३७॥

वैशम्पायन बोले—हे राजन् ! नारद जी के वचन सुनकर बलराम ने उन द्विज श्रेष्ठों की पूजा की और जो ऋषि मुनि, उनके साथ आए थे, उन सबको उन्होंने विदा कर दिया। उन्होंने अपने अनुचरों से कहा-तुम लोग भी द्वारका को जाओ। अब वे उस पर्वत और प्लक्ष स्रोत के पास से नीचे उतरे। बलराम जी अत्यन्त प्रसन्न थे। उन्होंने तीर्थों का महत्व सुन लिया था। अब उन्होंने ब्राह्मणों के समीप यह श्लोक गाया ॥३५-३७

सरस्वतीवाससमा कुतो रतिः सरस्वतीवाससमाः कुतो गुणाः
सरस्वतीं प्राप्य दिवं गता जनाः सदा स्मरिष्यंति नदीं सरस्वतीम्

हे विप्रो ! सरस्वती तट के निवास के सदृश आनन्द कहा मिल सकता है। सरस्वती नदी के तट के वास की बराबर

किसमें गुण हैं। सरस्वती पर निवास करने वाले मुनिगण स्वर्ग लोक पहुंचे। महात्मा लोग सदा सरस्वती की प्रशंसा करते रहेंगे ॥३८॥

सरस्वती सर्वनदीषु पुण्या सरस्वती लोकशुभावहा सदा।
सरस्वतीं प्राप्य जनाः सुदुष्कृतं सदा न शोचन्ति परत्र चेह च।

सरस्वती सारी नदियों में पवित्र है। इस नदी में स्नान करने से बड़ा ही मङ्गल होता है। सरस्वती के तट का सेवन करने वाले मनुष्य को दुष्कर्म प्राप्त नहीं होता और वह इस लोक तथा परलोक में शोक नहीं कर पाता है ॥३६॥

ततो मुहुर्मुहुः प्रीत्या प्रेक्षमाणः सरस्वतीम्।
हयैर्युक्तं रथं शुभ्रमातिष्ठत परन्तपः ॥४०॥

हे राजन्! इस प्रकार परन्तप बलराम जी, बार २ सरस्वती नदी की ओर प्रीति से देखते हुए अश्वों से युक्त अपने दिव्य रथ में बैठ गए ॥४०॥

स शीघ्रगामिना तेन रथेन यदुपुङ्गवः।
दिदृक्षुरभिसंप्राप्तः शिष्ययुद्धमुपस्थितम् ॥४१॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां
शल्यपर्वान्तर्गतगदा० बलदेवती० सारस्वतोपाख्याने
चतुष्पञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥५४॥

यदुवंश श्रेष्ठ बलराम, उस तीव्रगामी रथ से अपने शिष्यों दुर्योधन और भीमसेन के युद्ध के देखने को शीघ्रता से चल दिए ॥४१॥

इति श्रीमहाभारत शल्यपर्वान्तर्गत गदायुद्धपर्व में बलदेवतीर्थ-यात्रा के प्रसङ्ग में सारस्वतोपाख्यान का चौवनवां अध्याय समाप्त हुआ।



पचपनवां अध्याय

वैशम्पायन उवाच—एवं तदभवद्युद्धं तुमुलं जनमेजय ।
यत्र दुःखान्वितो राजा धृतराष्ट्रोऽब्रवीदिदम् ॥१॥

वैशम्पायन बोले—हे जनमेजय ! इस प्रकार घोर युद्ध की कथा का जब प्रसङ्ग आया—तो अत्यन्त क्लेशित होकर राजा धृतराष्ट्र ने सञ्जय से कहा ॥१॥

धृतराष्ट्र उवाच—रामं संनिहितं दृष्ट्वा गदायुद्ध उपस्थिते ।
मम पुत्रः कथं भीमं प्रत्ययुध्यत सञ्जय ॥२॥

धृतराष्ट्र बोले—हे सञ्जय ! जब बलराम युद्ध भूमि में पहुंच गए। और गदायुद्ध उपस्थित होगया-तो मेरे पुत्र दुर्योधन ने किस प्रकार का युद्ध किया ॥२॥

सञ्जय उवाच-रामसान्निध्यमासाद्य पुत्रो दुर्योधनस्तव ।
युद्धकामो महाबाहुः समहृष्यत वीर्यवान् ॥३॥

दृष्ट्वा लाङ्गलिनं राजा प्रत्युत्थाय च भारत ।

प्रीत्या परमया युक्तः समभ्यर्च्य यथाविधि ॥४॥

आसनं च ददौ तस्मै पर्यपृच्छदनामयम् ।

सञ्जय कहने लगे—हे भारत ज्योंही बलराम वहां आए-त्योंहीं तुम्हारा पुत्र महाबाहु, अत्यन्त पराक्रमी राजा दुर्योधन बड़ा प्रसन्न हुआ, क्योंकि वह युद्ध के लिए बड़ा उत्सुक था। बलराम को देख कर राजा युधिष्ठिर खड़े होगये-और उन्होंने परमप्रीति के साथ हलधारी बलराम को विधि पूर्वक पूजा की, इनको आसन अर्पित किया और उनसे कुशल पूछी ॥३-४॥

ततो युधिष्ठिरं रामो वाक्यमेतदुवाच ह ॥५॥

मधुरं धर्मसंयुक्तं शूराणां हितमेव च ।

इसके अनन्तर बलराम ने राजा युधिष्ठिर से धर्म संयुक्त, शूरवीरों को हितकारी यह मधुर वचन कहा ॥५॥

मया श्रुतं कथयतामृषीणां राजसत्तम ॥६॥

कुरुक्षेत्रं परं पुण्यं पावनं स्वर्ग्यमेव च ।

दैवतैर्ऋषिभिर्जुष्टं ब्राह्मणैश्च महात्मभिः ॥७॥

तत्र वै योत्स्यमाना ये देहं त्यक्ष्यन्ति मानवाः ।

तेषां स्वर्गे ध्रुवो वासः शक्रेण सह मारिष ॥८॥

हे राजसत्तम! मैंने ऋषियों के उपदेशों में यह सुना कि कुरुक्षेत्र बड़ा पवित्र तीर्थ और स्वर्ग देने वाला है। इस पर बड़े २

देवता, ऋषि और महात्मा ब्राह्मण रहते आए हैं कि इस क्षेत्र में जो मनुष्य, युद्ध करते हुए प्राण छोड़ेगा, उनका स्वर्ग में निश्चय इन्द्र के साथ वास होगा। ॥६-८॥

तस्मात्समन्तपञ्चकमितो याम द्रुतं नृप ।
प्रथितोत्तरवेदी सा देवलोके प्रजापतेः ॥९॥

हे आर्य ! नृप ! मैं उसी समन्तपञ्चक तीर्थ से यहां आया हूं। यही स्थान देवलोक में प्रजापति की उत्तरवेदि के नाम से प्रसिद्ध है॥

तस्मिन्महापुण्यतमे त्रैलोक्यस्य सनातने ।
संग्रामे निधनं प्राप्य ध्रुवं स्वर्गो भविष्यति ॥१०॥

वह बड़ा पवित्र और त्रिलोकी में सनातन तीर्थ है। वहां पर जो संग्राम में शरीर छोड़ता है उसे अवश्य स्वर्ग की प्राप्ति होती है॥

तथेत्युक्त्वा महाराज कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ।
समन्तपञ्चकं वीरः प्रायादभिमुखः प्रभुः ॥११॥

हे महाराज ! बलराम के वचन सुनकर कुन्ती पुत्र युधिष्ठिर ने कहा—अच्छी बात है, वह शक्तिशाली वीर धर्मराज सबके आगे उस तीर्थ की ओर चल दिए ॥११॥

ततो दुर्योधनो राजा प्रगृह्य महतीं गदाम् ।
पद्भ्याममर्षी द्युतिमानगच्छत्पाण्डवैः सह ॥१२॥

महाद्युतिमान् ! राजा दुर्योधन भी अपनी भारी गदा लिए हुए और आवेश में भरे हुए पैदल ही पाण्डवों के साथ उधर चल दिए ॥१२॥

तथा यान्तं गदाहस्तं वर्मणा चापि दंशितम् ।
अन्तरिक्षचरा देवा साधु साध्वित्यपूजयन् ॥१३॥

गदा हाथ में लेकर कवच से सुसज्जित राजा दुर्योधन को एक ढंग के साथ जाते देखकर आकाशचारी देव उनका धन्य ! धन्य ! की ध्वनि से स्वागत करने लगे ॥१३॥

वातिकाश्चारणा ये तु दृष्ट्वा ते हर्षमागताः ।
स पाण्डवैः परिवृतः कुरुराजस्तवात्मजः ॥१४॥
मत्तस्येव गजेन्द्रस्य गतिमास्थाय सोऽव्रजत् ।

वायु में घूमने वाले चारण देव भी उनको देखकर बड़े प्रफुल्लित हुए । हे राजन् ! पाण्डवों से घिरे हुए तुम्हारे पुत्र कुरुराज, इस समय महोद्धत हाथी गति से चल रहे थे ॥१४॥

ततः शङ्खनिनादेन भेरीणां च महास्वनैः ॥१५॥
सिंहनादैश्च शूराणां दिशः सर्वाः प्रपूरिताः ।

अब शङ्ख की ध्वनि और भेरी का निनाद और शूरवीरों के सिंहनाद से सारी दिशा भरती चली गई ॥१५॥

ततस्ते तु कुरुक्षेत्रं प्राप्ता नरवरोत्तमाः ॥१६॥
प्रतीच्यभिमुखं देशं यथोद्दिष्टं सुतेन ते ।
दक्षिणेन सरस्वत्याः स्वयनं तीर्थमुत्तमम् ॥१७॥
तस्मिन्देशे त्वनिरिणे ते तु युद्धमरोचयन् ।

हे नृप! इसके अनन्तर वे वीर श्रेष्ठ, कुरुक्षेत्र में पहुंचे। तुम्हारे पुत्र राजा दुर्योधन के सूचित करने पर पश्चिम दिशा में सरस्वती के दक्षिण की ओर सुन्दर स्थानों से सुशोभित उत्तम तीर्थ था, उस तृण लता रहित स्थान में उन्होंने युद्ध करना पसन्द किया ॥१६-१७॥

ततो भीमो महाकोटिं गदां गृह्याथ वर्मभृत् ॥१८॥
बिभ्रद्रूपं महाराज सदृशं हि गरुत्मतः।

अब कवच धारी भीमसेन ने उत्तम बड़े २ किनारों वाली गदा को लेकर रण स्थल में आए। हे महाराज! इस समय भीमसेन का आकार वेगशाली गरुड़ के तुल्य प्रतीत होता था ॥१८॥

अवबद्धशिरस्त्राणः संख्ये काञ्चनवर्मभृत् ॥१९॥
रराज राजन्पुत्रस्ते काञ्चनः शैलराडिव।

भीमसेन ने अपने मस्तक पर शिरस्त्राण (टोप) और शरीर में सुवर्ण का पर्वत सा दिखाई देता था ॥१९॥

वर्मभ्यां संयतौ वीरौ भीमदुर्योधनावुभौ ॥२०॥
संयुगे च प्रकाशेते संरब्धाविव कुञ्जरौ।

भीमसेन और दुर्योधन दोनों ही तो कवचों से सुसज्जित थे। वे इस युद्ध में आवेश में भरे हुए दो गजों के समान प्रतीत होते थे ॥२०॥

रणमण्डलमध्यस्थौ भ्रातरौ तौ नरर्षभौ ॥२१॥
अशोभेतां महाराज चन्द्रसूर्याविवोदितौ।

हे महाराज! रण मण्डल के मध्य में स्थित पुरुष प्रवीर वे दोनों भ्राता उदय को प्राप्त हुए चन्द्र और सूर्य के सदृश सुशोभित होरहे थे ॥२१॥

तावन्योऽन्यं निरीक्षेतां क्रुद्धाविव महाद्विपौ ॥२२॥
दहन्तौ लोचनै राजन्परस्परवधैषिणौ।

हे राजन्! इन कुपित हाथियों के समान महोद्धत भीम और दुर्योधन ने एक दूसरे को देखा। इन परस्पर वध के अभिलाषी वीरों के नेत्र एक दूसरे पर इस तरह पड़े जैसे नेत्रों की ज्वाला से ही ये एक दूसरे को भस्म करदेंगे ॥२२॥

सम्प्रहृष्टमना राजन् गदामादाय कौरवः ॥२३॥
सृक्किणी संलिहन् क्रोधरक्तेक्षणः राजन् श्वसन्।

हे राजन! कुरुवंश श्रेष्ठ राजा दुर्योधन गदा लिये हुए, बड़े, ही प्रसन्न दिखाई देते थे। उसकी क्रोध से आंखें लाल होरही थी और लम्बी श्वास मारकर अपने होठों को चबा रहा था ॥२३॥

ततो दुर्योधनो राजन् गदामादाय वीर्यवान् ॥२४॥
भीमसेनमभिप्रेक्ष्य गजो गजमिवाह्वयत्।

हे राज सत्तम! अब महा पराक्रमी राजा दुर्योधन ने गदा उठाई और भीमसेन की ओर देखकर उसका एक गज को दूसरे गज की तरह युद्ध के निमित्त आह्वान किया ॥२४॥

अद्रिसारमयीं भीमस्तथैवादाय वीर्यवान् ॥२५॥
आह्वयामास नृपतिं सिंहं सिंहो यथा वने।

महा शक्तिशाली भीमसेन ने भी पर्वत के सार लोह से बनी हुई गदा लेकर राजा दुर्योधन का इस तरह आह्वान किया, जैसे एक सिंह दूसरे सिंह को ललकारता है ॥२५॥

तावुद्यतगदापाणी दुर्योधनवृकोदरौ ॥२६॥
संयुगे च प्रकाशेतां गिरी सशिखराविव ।

राजा दुर्योधन और भीमसेन ने अपने २ गदा युक्त हाथ ऊपर उठा लिए। इस युद्ध में वे दोनों शिखर धारी पर्वत के समान प्रतीत होते थे ॥२६॥

तावुभौ समतिक्रुद्धावुभौ भीमपराक्रमौ ॥२७॥
उभौ शिष्यौ गदायुद्धे रौहिणेयस्य धीमतः ।

ये दोनों अत्यन्त क्रोध में भर गए और दोनों ही भयानक पराक्रम कर दिखाने वाले थे। गदा युद्ध के महाविद्वान रोहिणी पुत्र बलराम के ये दोनों ही शिष्य थे ॥२७॥

उभौ सदृशकर्माणौ मयवासवयोरिव ॥२८॥
तथा सदृशकर्माणौ वरुणस्य महाबलौ ।

इन दोनों वीरों के मय और इन्द्र तथा वरुण के सदृश पराक्रम शाली कार्य थे ॥२८॥

वासुदेवस्य रामस्य तथा वैश्रवणस्य च ॥२६॥
सदृशौ तौ महाराज मधुकैटभयोर्युधि ।

हे महाराज ! वसुदेव पुत्र श्रीकृष्ण ! बलराम कुबेर, मधु और कैटभ के बल के सदृश इन दोनों महारथियों में बल था ॥२६॥

उभौ सदृशकर्माणौ तथा सुन्दोपसुन्दयोः ॥३०॥
रामरावणयोश्चैव वालिसुग्रीवयोस्तथा ।
तथैव कालस्य समौ मृत्योश्चैव परन्तपौ ॥३१॥

इनके वीर कर्म सुन्द और उपसुन्द राम और रावण तथा वालि और सुग्रीव के सदृश थे। ये शत्रुतापी काल और मृत्यु की समानता कर रहे थे ॥३०-३१॥

अन्योन्यमभिधावन्तौ मत्ताविव महाद्विपौ ।
वासितासङ्गमे दृप्तौ शरदीव मदोत्कटौ ॥३२॥

शरद् ऋतु में गर्भ धारण के निमित्त कामातुर हथिनी के उद्देश्य से जिस तरह दो मदोन्मत्त हाथी टकराते हैं, उसी तरह ये दोनों वीर एक दूसरे पर झपटे ॥३२॥

उभौ क्रोधविषं दीप्तं वमन्तावुरगाविव ।
अन्योन्यमभिसंरब्धौ प्रेक्षमाणावरिन्दमौ ॥३३॥

ये दोनों ही वीर क्रोध रूपी विष को सर्प के समान भीषणता से छोड़ रहे थे। अत्यन्त आवेग में भरे हुए, ये अरिमर्दन भीम और दुर्योधन एक दूसरे की ओर देखने लगे ॥३३॥

उभौ भरतशार्दूलौ विक्रमेण समन्वितौ ।
सिंहाविव दुराधर्षौ गदायुद्धविशारदौ ॥३४॥
नखदंष्ट्रायुधौ वीरौ व्याघ्राविव दुरुत्सहौ ।
प्रजासंहरणे क्षुब्धौ समुद्राविव दुस्तरौ ॥३५॥

ये दोनों ही वीर भरतवंश के शार्दूल और पराक्रम से समन्वित थे। ये सिंह के समान दुर्धर्ष, और गदा युद्ध में विशारद थे। नख और दंष्ट्राओं के आयुधों से सुसम्पन्न व्याघ्र की भांति इन दोनों को कोई सह नहीं सकता था। ये प्रलय काल में प्रजा संहार के निमित्त दुस्तर समुद्र की भांति चञ्चल रहे थे ॥३४-३५॥

लोहिताङ्गाविव क्रुद्धौ प्रतपन्तौ महारथौ।
पूर्वपश्चिमजौ मेघौ प्रेक्षमाणावरिन्दमौ ॥३६॥
गर्जमानौ सुविषमं क्षरन्तौ प्रावृषीव ह।

महारथी भीमसेन और दुर्योधन क्रोध में भरे हुए लोहित अङ्ग धारी मङ्गलग्रह की भांति सन्दीप्त होरहे थे और ये अरिमर्दन पूर्व और पश्चिम में उत्पन्न वर्षाऋतु में वेग से बरसने वाले भीषण रूप में गरजते हुए मेघों की भांति दिखाई देने लगे ॥३६॥

रश्मियुक्तौ महात्मानौ दीप्तिमन्तौ महाबली ॥३७॥
ददृशाते कुरुश्रेष्ठौ कालसूर्याविवोदितौ।

ये दोनों ही कुरुवंश में श्रेष्ठ थे। अब तो अपनी किरणों से प्रकाशमान सन्दीप्त, महाबली ये भीम और दुर्योधन प्रलयकाल के सर्प के सदृश चमक रहे थे ॥३७॥

व्याघ्राविव सुसंरब्धौ गर्जन्ताविव तोयदौ ॥३८॥
जहृषाते महाबाहू सिंहकेसरिणाविव।

ये दोनों ही इस समय व्याघ्र की भांति गुर्राते हुए और मेघ की भांति गरजते दिखाई दिए और ये दोनों ही महाबाहु, सिंह और केसरी की भांति बड़े ही उत्साहित थे ॥३८॥

गजाविव सुसंरब्धौ ज्वलिताविव पावकौ ॥३९॥
ददृशाते महात्मानौ सशृङ्गाविव पर्वतौ ।

ये गजों की भांति आवेश में भरे हुए जलते हुए अग्नि के सदृश थे। ये महावीर शृङ्गधारी पर्वतों के समान दिखाई देते थे ॥

रोषात्प्रस्फुरमाणोष्ठौ निरीक्षन्तौ परस्परम् ॥४०॥
तौ समेतौ महात्मानौ गदाहस्तौ नरोत्तमौ ।

इनके ओष्ठ क्रोध से फड़क रहे थे। और ये परस्पर एक दूसरे की ओर देखते जाते थे। ये महाबली नरश्रेष्ठ, गदा हाथ में लेकर आपने सामने खड़े हुए ॥४०॥

उभौ परमसंहृष्टावुभौ परमसम्मतौ ॥४१॥
सदश्वाविव हेषन्तौ बृंहन्ताविव कुञ्जरौ ।
वृषभाविव गर्जन्तौ दुर्योधनवृकोदरौ ॥४२॥
दैत्याविव बलोन्मत्तौ रेजतुस्तौ नरोत्तमौ ।

इन दोनों को बहुत ही उत्साह होरहा था। ये दोनों भीम और दुर्योधन परमसम्मत वीर अश्वों की भांति हिनहिनाते हाथी की भांति चिंघाड़ते थे, और वृषभ की भांति ताड़ते थे। पुरुष प्रवीर ये दोनों ही वीर, बलोन्मत्त दैत्यों की भांति भयङ्कर दिखाई देते थे ॥४१-४२॥

ततो दुर्योधनो राजन्निदमाह युधिष्ठिरम् ॥४३॥
भ्रातृभिः सहितं चैव कृष्णेन च महात्मना ।

रामेणामितवीर्येण वाक्यं शौटीर्यसम्मतम् ॥४४॥
केकयैः सृञ्जयैर्दृप्तं पञ्चालैश्च महात्मभिः ।

हे राजन ! अब राजा दुर्योधन ने भीम आदि भ्राता, महात्मा कृष्ण अत्यन्त पराक्रमी बलराम, केकय सृञ्जय वीर और महाबली पाञ्चालों के साथ उपस्थित धर्मराज युधिष्ठिर से बुद्धिमानों के योग्य उद्धत ये वचन कहे ॥४३-४४॥

इदं व्यवसितं युद्धं मम भीमस्य चोभयोः ॥४५॥
उपोपविष्टाः पश्यध्वं सहितैर्नृपपुंगवैः ।

हे महाभागे ! यह मेरा और भीमसेन का युद्ध जुट गया है । अब राजाओं में श्रेष्ठ तुम लोग, समीप में बैठे हुए, इसको देखो ॥

श्रुत्वा दुर्योधनवचः प्रत्यपद्यन्त तत्तथा ॥४६॥
ततः समुपविष्टं तत्सुमहद्राजमण्डलम् ।
विराजमानं ददृशे दिवीवादित्यमन्डलम् ॥४७॥

राजा दुर्योधन के वचन को सुनकर सबने स्वीकार कर लिया और यह सारा ही राज मण्डल वहां बैठ गया । यह वहां विराजमान राजसमूह आकाश में आदित्य मन्डल की भांति दिखाई देने लगा ॥४६-४७॥

तेषां मध्ये महाबाहुः श्रीमान् केशवपूर्वजः ।
उपविष्टो महाराज पूज्यमानः समन्ततः ॥४८॥

हे महाराज ! उनके मध्य में महाबाहु, श्रीकृष्ण के ज्येष्ठ भ्राता सबके अनुमोदन पर सबसे आगे बैठे ॥४८॥

शुशुभे राजमध्यस्थो नीलवासाः सितप्रभः ।
नक्षत्रैरिव संपूर्णो वृतो निशि निशाकरः ॥४६॥

राजाओं के मध्य में नील वस्त्र धारी श्वेत कान्ति से सुशोभित, बलराम, इस तरह सुशोभित हुए, जैसे नक्षत्रों से घिरे हुए रात में चन्द्रमा दिखाई देते हैं ॥४६॥

तौ तथा तु महाराज गदाहस्तौ सुदुःसहौ ।
अन्योन्यं वाग्भिरुग्राभिस्तक्षमाणौ व्यवस्थितौ ॥५०॥

हे महाराज ! इन दोनों को कोई सह नहीं सकता था। दोनों के हाथ में गदाएँ थीं। ये दोनों ही परस्पर कटु वचन कहते हुए एक दूसरे को छेदते जाते हुए उपस्थित थे ॥५०॥

अप्रियाणि ततोऽन्योन्यमुक्त्वा तौ कुरुसत्तमौ ।
उदीक्षन्तौ स्थितौ तत्र वृत्रशक्रौ तथाऽऽहवे ॥५१॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां शल्यपर्वान्तर्गतगदायुद्धारंभे पञ्चपंचाशत्तमोऽध्यायः ॥५५॥

हे राजन् ! इस समय इस युद्ध में ये दोनों कुरुवंश के वीर एक दूसरे को अप्रिय वचन सुनाकर वृत्रासुर और इन्द्र की भांति परस्पर देखने लगे ॥५१॥

इतिश्री महाभारत शल्यपर्वान्तर्गत गदा युद्ध पर्व में गदा युद्ध के आरम्भ का पचपनवां अध्याय समाप्त हुआ

छप्पनवां अध्याय

वैशम्पायन उवाच-ततो वाग्युद्धमभवत्तुमुलं जनमेजय ।

यत्र दुःखान्वितो राजा धृतराष्ट्रोऽब्रवीदिदम् ॥१॥

वैशम्पायन बोले—हे जनमेजय ! जब भीमसेन और दुर्योधन के दुर्वचनों का वृत्तान्त राजा धृतराष्ट्र ने सुना-तो वह बड़ा दुःखी हुआ और यह वचन कहने लगा ॥१॥

धिगस्तु खलु मानुष्यं यस्य निष्ठेयमीदृशी ।

एकादशचमूभर्ता यत्र पुत्रो ममानघ ॥२॥

आज्ञाप्य सर्वान्नृपतीन् भुक्त्वा चेमां वसुंधराम् ।

गदामादाय वेगेन पदातिः प्रस्थितो रणे ॥३॥

हे अनघ ! उस मनुष्य को धिक्कार है, जिसकी इस प्रकार की स्थिति है। मेरा पुत्र दुर्योधन ग्यारह अक्षौहिणी सेना का पति था। वह सारे राजाओं पर आज्ञा चलाता था। इस सारी पृथिवी का उसने उपभोग किया। वह भी आज गदा लेकर पैदल ही रण में पाण्डवों के साथ दौड़ा २ चला गया ॥२-३॥

भूत्वा हि जगतो नाथो ह्यनाथ इव मे सुतः ।

गदामुद्यम्य यो याति किमन्यद्भागधेयतः ॥४॥

कहां तो मेरा पुत्र जगत् का स्वामी था और कहां आज अनाथ की भांति गदा उठाए हुए पैदल जा रहा है, इसमें भाग्य के सिवा क्या माना जा सकता है ॥४॥

अहो दुःखं महत्प्राप्तं पुत्रेण मम संजय ।
एवमुक्त्वा स दुःखार्तो विरराम जनाधिपः ॥५॥

हे सञ्जय ! मेरे पुत्र दुर्योधन ने बड़ा ही दुःख उठाया । हे राजन् ! इतना कहकर दुःखातुर राजा धृतराष्ट्र बिल्कुल चुप हो गया ॥५॥

सञ्जय उवाच—स मेघनिनदो हर्षान्निनदन्निव गोवृषः ।
आजुहाव तदा पार्थं युद्धाय युधि वीर्यवान् ॥६॥

सञ्जय ने कहा—हे राजन् ! इसके अनन्तर महाशक्तिशाली राजा दुर्योधन मेघ की भांति गर्जना करके बड़े हर्ष के साथ कुन्ती पुत्र भीमसेन के युद्ध को लिए ललकारने लगा ॥६॥

भीममाह्वयमाने तु कुरुराजे महात्मनि ।
प्रादुरासन्सुघोराणि रूपाणि विविधान्युत ॥७॥
ववुर्वाताः सनिर्घाताः पांसुवर्षं पपात च ।
बभूवुश्च दिशः सर्वास्तिमिरेण समावृताः ॥८॥
महास्वनाः सुनिर्घातास्तुमुला लोमहर्षणाः ।
पेतुस्तथोल्काः शतशः स्फोटयन्त्यो नभस्तलात् ॥९॥

हे राजन् ! जब महाबली कुरुराज दुर्योधन ने भीम का युद्ध में आह्वान किया, तो उस समय अनेक घोर रूप प्रादुर्भूत हुए वायु बिजली के साथ चलने लगी, मिट्टी धूलि की वर्षा का आरम्भ हुआ और सारी दिशाएँ अन्धकार से आवृत होगई बड़ी भारी

ध्वनि करती हुई, घोर, विद्युत युक्त लोम हर्षण करने वाला, सैंकड़ों उल्का टूट २ कर आकाश से गिरने लगी ॥७-६॥

राहुश्चाग्रसदादित्यमपर्वणि विशाम्पते ।
चकंपे च महाकंपं पृथिवी सवनद्रुमा ॥१०॥
दीप्ताश्च वाताः प्रववुर्नीचैः शर्करकर्षिणः ।
गिरीणां शिखराण्येव न्यपतन्त महीतले ॥११॥
मृगा बहुविधाकारा संपतन्ति दिशो दश ।
दीप्ताः शिवाश्चाप्यनदन् घोररूपाः सुदारुणाः ॥१२॥

हे विशाम्पते ! एक ओर असमय में ही राहु सूर्य को ग्रसने लगा। और वन वृक्षों के सहित सारी पृथिवी बड़े कंप के साथ कांपने लगी। अत्यन्त वेग से वायु, नीचे मिट्टी धूलि बरसाती हुई चलने लगी और पृथिवी पर पर्वतों के शिखर टूट २ कर गिर गए। अनेक आकार धारी वन के जन्तु, दशों दिशाओं में भागने लगे और मुख में से आग उगलने वाली लोमड़ी घोर और दारुण रूप में भीषण चीत्कार करने लगी ॥१०-१२॥

निर्घाताश्च महाघोरा बभूवुर्लोमहर्षणाः ।
दीप्तायां दिशि राजेन्द्र मृगाश्चाशुभवेदिनः ॥१३॥

लोमों को खड़े कर देने वाली बिजली टूट २ कर गिरने लगी। हे राजेन्द्र ! इस प्रकार विद्युत से सब दिशाएँ प्रदीप्त हो उठी-तो अशुभ सूचक मृगों के दर्शन होने लगे ॥१३॥

उदपानगताश्चापो व्यवर्धन्त समन्ततः ।
अशरीरा महा नादाः श्रूयन्ते स्म तदा नृप ॥१४॥

हे नृप ! कूप के भीतर से पानी उबल निकला । और विना शरीर के अनेक ध्वनियां सुनी जाने लगी ॥१४॥

एवमादीनि दृष्ट्वाऽथ निमित्तानि वृकोदरः ।
उवाच भ्रातरं ज्येष्ठं धर्मराजं युधिष्ठिरम् ॥१५॥

हे राजन् ! इस प्रकार के अशुभ सूचक, शकुनों को देखकर वृकोदर भीमसेन ने अपने ज्येष्ठ भ्राता धर्मराज युधिष्ठिर से कहा ।

नैष शक्तो रणे जेतुं मन्दात्मा मां सुयोधनः ।
अद्य क्रोधं विमोक्ष्यामि निगूढं हृदये चिरम् ॥१६॥
सुयोधने कौरवेन्द्रे खाण्डवे पावको यथा ।
शल्यमद्योद्धरिष्यामि तव पांडव हृच्छयम् ॥१७॥

हे धर्मराज ! यह शक्ति हीन दुर्योधन मुझे जीतने में समर्थ नहीं हो सकता है । मेरे हृदय में जो बहुत दिन का क्रोध छुपा हुआ बैठा है, मैं आज उसे इस कुरुराज दुर्योधन पर इस तरह छोड़ूंगा, जैसे अर्जुनने खाण्डव वन में आग छोड़ कर दिखाई थी हे पाण्डव ! आज मैं आपके हृदय में गड़े हुए कांटे को अच्छी तरह से उखाड़ दूंगा ॥१६-१७॥

निहत्य गदया पापमिमं कुरुकुलाधमम् ।
अद्य कीर्तिमयीं मालां प्रतिमोक्ष्याम्यहं त्वयि ॥१८॥
हत्वेमं पापकर्माणं गदया रणमूर्धनि ।

हे नृप! आज इस गदा से इस कुरुकुलोत्पन्न पापी नीच पुरुष दुर्योधन को मार कर तुम्हारे गले में प्रीति पूर्वक कीर्ति की माला डालूंगा। इस रणक्षेत्र में गदा द्वारा इस पाप कर्मा दुर्योधन को मारने से ही सब कुछ कल्याण की प्राप्ति होगी ॥१८॥

अद्यास्य शतधा देहं भिनद्मि गदयाऽनया ॥१९॥
नायं प्रवेष्टा नगरं पुनर्वारणसाह्वयम् ।

आज मैं इस गदा से इसके सैंकड़ों टुकड़े करदूंगा जिससे यह फिर हस्तिनापुर में प्रवेश नहीं कर पावेगा ॥१९॥

सर्पोत्सर्गस्य शयने विषदानस्य भोजने ॥२०॥
प्रमाणकोट्यां पातस्य दाहस्य जतुवेश्मनि ।
सभायामवहासस्य सर्वस्वहरणस्य च ॥२१॥
वर्षमज्ञातवासस्य वनवासस्य चानघ ।
अद्यांतमेषां दुःखानां गन्ताऽहं भरतर्षभ ॥२२॥
एकाह्ना विनिहत्येमं भविष्याम्यात्मनोऽनृणः ।

इसने ही मेरी शय्या में सर्प छोड़ा था। इसी ने भोजन में विष प्रदान किया। इसी दुष्ट ने नदी में फैंक दिया। और लाक्षा गृह में जला डाला। इसीने सर्वस्व अपहरण करके हमारा सभा में उपहास किया। हे अनघ! बारह वर्ष तक वनवास और एक वर्ष तक अज्ञात वास किया। हे भरतर्षभ! उन सारे दुःखों का आज अन्त कर डालूंगा। मैं आज एक दिन में इसे मार कर उऋण होना चाहता हूँ ।२०-२२॥

अद्यायुर्धार्तराष्ट्रस्य दुर्मतेरकृतात्मनः ।।२३।।
समाप्तं भरतश्रेष्ठ मातापित्रोश्च दर्शनम् ।

हे भरतश्रेष्ठ! आज इस दुर्मति, असफल धृतराष्ट्र पुत्र दुर्योधन की आयु की समाप्ति समझो। और आज ही इसके माता पिता के दर्शनों की समाप्ति है ।।२३।।

अद्य सौख्यं तु राजेन्द्र कुरुराजस्य दुर्मतेः ।।२४।।
समाप्तं च महाराज नारीणां दर्शनं पुनः ।

हे राजेन्द्र! आज दुर्मति कुरुराज का सुख समाप्त होरहा है। हे महाराज! अब इसको फिर अपनी स्त्रियों के दर्शन का अवसर नहीं मिलेगा।।२४।।

अद्यायं कुरुराजस्य शांतनोः कुलपांसनः ।।२५।।
प्राणान् श्रियं च राज्यं च त्यक्त्वा शेष्यति भूतले ।

कुरुराज शान्तनु के कुल का कलङ्क यह दुर्योधन आज अपने सारे ऐश्वर्य, राज्य और प्राणों को छोड़कर रणाङ्गण में सदा को सो जावेगा।।२५।।

राजा च धृतराष्ट्रोऽद्य श्रुत्वा पुत्रं निपातितम् ।।२६।।
स्मरिष्यत्यशुभं कर्म यत्तच्छकुनिबुद्धिजम् ।

राजा धृतराष्ट्र भी अपने पुत्र का रणभूमि से गिर जाना सुनकर शकुनि की सम्मतिसे किए गए अपने अशुभ कर्मों का आज स्मरण करेगा।।२६।।

इत्युक्त्वा राजशार्दूल गदामादाय वीर्यवान् ॥२७॥
अभ्यतिष्ठत युद्धाय शक्रो वृत्रमिवाह्वयन् ।

हे राज शार्दूल ! इतना कह कर महापराक्रमी, भीमसेन ने गदा उठाई और वह वृत्रासुर को आह्वान करने वाले इन्द्र की भांति दुर्योधन को ललकार कर उससे युद्ध के लिए सीधा तन कर खड़ा हो गया ॥२७॥

तमुद्यतगदं दृष्ट्वा कैलासमिव शृङ्गिणम् ॥२८॥
भीमसेनः पुनः क्रुद्धो दुर्योधनमुवाच ह ।

शिखरधारी कैलास की भांति उद्यत गदा धारी, राजा दुर्योधन को देखकर क्रोधातुर भीमसेन, फिर दुर्योधन से यह वचन बोले

राज्ञश्च धृतराष्ट्रस्य तथा त्वमपि चात्मनः ॥२९॥
स्मर तद्दुष्कृतं कर्म यद्वृत्तं वारणावते ।

हे दुर्योधन ! अब तुम राजा धृतराष्ट्र तथा अपने भी दुष्कर्मों का स्मरण करो, जिनको तुमने वारणावत नगर में हमारे साथ किया था ॥२९॥

द्रौपदी च परिक्लिष्टा सभामध्ये रजस्वला ॥३०॥
द्यूते च वञ्चितो राजा यत्त्वया सौबलेन च ।

हे राजन् ! सभा के मध्य में रजस्वला द्रौपदी को भी तुमने बड़ा ही क्लेशित किया, और सुबल पुत्र शकुनि द्वारा द्यूत में राजा युधिष्ठिर को भी ठग लिया ॥३०॥

वने दुःखं च यत्प्राप्तमस्माभिस्त्वत्कृतं महत् ॥२१॥
विराटनगरे चैव योन्यंतरगतैरिव ।
तत्सर्वं पातयाम्यद्य दिष्ट्या दृष्टोऽसि दुर्मते ॥२२॥

हे दुर्मते! हमने वन में जो तुम्हारे निमित्त से महान् दुःख उठाए तथा, अन्य योनि में जाने के समान विराट नगर में जो क्लेश सहे, मैं आज उन सबका बदला निकालने वाला हूं। यह बड़े आनन्द की बात है, कि आज तू मेरे दृष्टि गोचर होगया है ॥

त्वत्कृतेऽसौ हतः शेते शरतल्पे प्रतापवान् ।
गाङ्गेयो रथिनां श्रेष्ठो निहतो याज्ञसेनिना ॥२३॥

हे दुर्मति! तेरे कारण से ही महाप्रतापी, रथियों में श्रेष्ठ, गङ्गा पुत्र भीष्म, यज्ञसेन पुत्र शिखण्डी द्वारा आहत किया गया, जो आज बाण शय्या पर पड़ा हुआ मृत्यु की बाट जोह रहा है ॥२३॥

हतो द्रोणश्च कर्णश्च तथा शल्यः प्रतापवान् ।
वैराग्नेरादिकर्ताऽसौ शकुनिः सौबलो हतः ॥२४॥
प्रातिकामी ततः पापो द्रौपद्याः क्लेशकृद्धतः ।
भ्रातरस्ते हताः सर्वे शूरा विक्रान्तयोधिनः ॥२५॥
एते चान्ये च बहवो निहतास्त्वत्कृते नृपाः ।
त्वामद्य निहनिष्यामि गदया नात्र संशयः ॥२६॥

द्रोणाचार्य, कर्ण, प्रतापशाली शल्य, वैर के प्रथम बीज का बोने वाला, सुबल पुत्र शकुनि, मारा गया। द्रौपदी के क्लेश का

कर्ता, पापी राजा जयद्रथ भी मारा गया। अत्यन्त पराक्रम के साथ युद्ध करने वाले, सारे शूरवीर तुम्हारे भ्राता भी मारे जा चुके। हे दुर्योधन ! ये उपर्युक्त तथा अन्य बहुत से राजा, तुम्हारे निमित्त ही मारे गए हैं। अब मैं आज इस गदा से तुम्हारा भी अन्त किए देता हूँ। इसमें कुछ संशय न समझना ॥३४-३६॥

इत्येवमुच्चै राजेन्द्र भाषमाणं वृकोदरम् ।

उवाच गतभी राजन् पुत्रस्ते सत्यविक्रमः ॥३७॥

हे राजेन्द्र ! इस प्रकार जब उद्धतता के साथ भीमसेन ने कहा तो सत्य पराक्रमी निर्भीक तुम्हारा पुत्र राजा दुर्योधन वृकोदर भीमसेन से कहने लगा ॥३७॥

किं कत्थनेन बहुना युध्यस्व त्वं वृकोदर ।

अद्य तेऽहं विनेष्यामि युद्धश्रद्धां कुलाधम ॥३८॥

हे कुलाधम ! वृकोदर ! अधिक आत्म प्रशंसा करने से क्या लाभ है। अब तू युद्ध को तय्यार होजा। तू जो युद्ध का बड़ा घमण्ड करता है मैं उसे आज चूर २ कर डालूंगा ॥३८॥

न हि दुर्योधनः क्षुद्र केनचित्त्वद्विधेन वै ।

शक्यस्त्रासयितुं वाचा यथाऽन्यः प्राकृतो नरः ॥३९॥

हे क्षुद्र ! तुझ जैसे वृथा पुष्ट मनुष्य की डींगों से मुझ दुर्योधन जैसा मनुष्य वाणी मात्र से भयभीत नहीं किया जा सकता। वह तो कोई अन्य, साधारण मनुष्य देखा होगा ॥३९॥

चिरकालेप्सितं दिष्ट्या हृदयस्थमिदं मम।

त्वया सह गदायुद्धं त्रिदशैरुपपादितम् ॥४०॥

मैं तो चिरकाल से यह मनोरथ लगाए बैठा था, कि किसी दिन तेरे साथ गदा युद्ध का अवसर आवे। आज देवों ने वह अवसर उपस्थित किया है। यह बड़े ही आनन्द की बात है ॥४०॥

किं वाचा बहुनोक्तेन कत्थितेन च दुर्मते।

वाणी संपद्यतामेषा कर्मणा मा चिरं कृथाः ॥४१॥

हे दुर्मते ! वचन मात्र से बहुत आत्मश्लाघा करने से क्या मिल सकता है। अब तुम अपनी इस वाणी को कर्म में परिणत करके दिखाओ ॥४१॥

तस्य तद्वचनं श्रुत्वा सर्वे एवाभ्यपूजयन्।

राजानः सोमकाश्चैव ये तत्रासन् समागताः ॥४२॥

राजा दुर्योधन के इस वचन को सुनकर जितने राजा या सोमक वंशी वीर वहां उपस्थित थे, उन सबने कुरुराज दुर्योधन की बड़ी प्रशंसा की ॥४२॥

ततः संपूजितः सर्वैः संप्रहृष्टतनूरुहः।

भूयो धीरां मतिं चक्रे युद्धाय कुरुनन्दनः ॥४३॥

जब सब लोगों ने राजा दुर्योधन की प्रशंसा की, तो आनन्द से उसके शरीर में रोमाञ्च खड़े होगए। इसके अनन्तर फिर कुरु-वंश श्रेष्ठ, दुर्योधन, युद्ध के लिए डटकर खड़ा होगया ॥४३॥

उन्मत्तमिव मातङ्गं तलशब्दैर्नराधिपाः ।
भूयः संहर्षयांचक्रुर्दुर्योधनममर्षणम् ॥४४॥

राजा दुर्योधन के युद्ध मुद्रा से आगे बढ़ते ही राजाओं ने ताली बजाकर असहिष्णु राजा दुर्योधन को इस तरह प्रदर्षित किया, जैसे महोद्धत हाथी को ताली से प्रफुल्लित करते हैं ॥४४॥

तं महात्मा महात्मानं गदामुद्यम्य पाण्डवः ।
अभिदुद्राव वेगेन धार्तराष्ट्रं वृकोदरः ॥४५॥

बृंहन्ति कुंजरास्तत्र हया हेषन्ति चासकृत् ।
शस्त्राणि चाप्यदीप्यन्त पाण्डवानां जयैषिणाम् ॥४६॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां शल्यपर्वांतर्गतगदापर्वणि गदायुद्धारंभे षट्पंचाशत्तमोऽध्यायः॥

हे राजन्! महाबली धृतराष्ट्र पुत्र राजा दुर्योधन पर अब महावीर पाण्डु पुत्र भीमसेन, गदा उठा कर बड़े वेग से झपटा । हे हे नराधिप ! इस समय विजयाभिलाषी, पाण्डवों के हाथी चिंघाड़ रहे थे, घोड़े बार २ हिनहिनाते थे, और शस्त्र चमक रहे थे ॥

इतिश्री महाभारत शल्यपर्वान्तर्गत गदापर्व में भीम दुर्योधन युद्ध के आरम्भ का छप्पनवां अध्याय समाप्त हुआ



सत्तावनवां अध्याय

सञ्जय उवाच—ततो दुर्योधनो दृष्ट्वा भीमसेनं तथागतम् ।
प्रत्युद्ययावदीनात्मा वेगेन महता नदन् ॥१॥

सञ्जय ने कहा—हे राजसत्तम ! जब दुर्योधन ने भीमसेन को इस तरह झपटते देखा-तो वह भी बड़ी वीरता के साथ गर्जना करता हुआ भीमसेन के सन्मुख बढ़ा ॥१॥

समापेततुरन्योन्यं शृङ्गिणौ वृषभाविव ।
महानिर्घातघोषश्च प्रहाराणामजायत ॥२॥

इसी समय इन दोनों में दो सांडों की तरह टक्कर होने लगी इनकी गदा के आघातों से बिजली सी चमकती थी और गर्जना सी होती थी ॥२॥

अभवच्च तयोर्युद्धं तुमुलं लोमहर्षणम् ।
जिगीषतोर्यथाऽन्योन्यमिन्द्रप्रह्लादयोरिव ॥३॥

हे राजन् ! अब इन दोनों का बड़ा ही घोर लोम हर्षणकारी गदा युद्ध इस तरह चल पड़ा जैसे परस्पर एक दूसरे को जीतने के लिए इन्द्र और प्रह्लाद का युद्ध हुआ था ॥३॥

रुधिरोक्षितसर्वाङ्गौ गदाहस्तौ मनस्विनौ ।
ददृशाते महात्मानौ पुष्पिताविव किंशुकौ ॥४॥

ये मनस्वी गदा धारी भीम और दुर्योधन, थोड़ी ही देर में रक्त से भीग गए। इस समय ये वीर पुष्पों से लदे हुए किंशुक (ढाक) के वृक्ष के सदृश दिखलाई देने लगे ॥४॥

तथा तस्मिन्महायुद्धे वर्तमाने सुदारुणे ।
खद्योतसंघैरिव खं दर्शनीयं व्यरोचत ॥५॥

जब इस प्रकार महा दारुण युद्ध चल पड़ा तो गदाओं से उछटती हुई चिनगारियों से आकाश इस तरह व्याप्त होगया, जैसे खद्योत (जुगनूं) संघ से भर गया हो, जो दृश्य बड़ा ही सुन्दर दिखाई देता था ॥५॥

तथा तस्मिन्वर्तमाने संकुले तुमुले भृशम् ।
उभावपि परिश्रान्तौ युध्यमानावरिन्दमौ ॥६॥

जब यह घोर घमसान युद्ध प्रवृत्त हुआ-तो दोनों ही अरिमर्दन, वीर भीमसेन और दुर्योधन युद्ध करते २ थक गए ॥६॥

तौ मुहूर्तं समाश्वस्य पुनरेव परन्तपौ ।
अभ्यहारयतान्योऽन्यं संप्रगृह्य गदे शुभे ॥७॥

थोड़ी देर इन दोनों शत्रुतापी भीम दुर्योधन ने श्वास लिया और फिर अपनी २ सुन्दर गदा उठाकर एक दूसरे पर प्रहार करना आरम्भ किया ॥७॥

तौ तु दृष्ट्वा महावीर्यौ समाश्वस्तौ नरर्षभौ ।
बलिनौ वारणौ यद्वद्वासितार्थे मदोत्कटौ ॥८॥
समानवीर्यौ संप्रेक्ष्य प्रगृहीतगदावुभौ ।
विस्मयं परमं जग्मुर्देवगन्धर्वमानवाः ॥९॥

हे राजन ! जब देव, गन्धर्व और मनुष्यों ने महापराक्रमी नरश्रेष्ठ, भीम और दुर्योधन को कुछ आश्वासित देखा तो ये दोनों

ही वीर गर्भ धारण को आई हुई हथिनी के निमित्त युद्ध करते हुए दो गजराज से दिखाई देरहे थे। इन में समान ही बल और पराक्रम था। तथा दोनों ने एक सी गदा उठा रखी थी। इस तरह इनको देखकर उन्हें बड़ा ही विस्मय हुआ ॥८-९॥

प्रगृहीतगदौ दृष्ट्वा दुर्योधनवृकोदरौ।
संशयः सर्वभूतानां विजये समपद्यत ॥१०॥

इन दोनों वृकोदर भीम और राजा दुर्योधन को गदा धारण किए हुए देखा-तो सारे प्राणियों को इनकी विजय के विषय में सन्देह होगया, कि न जाने कौन विजयी होगा ॥१०॥

समागम्य ततो भूयो भ्रातरौ बलिनां वरौ।
अन्योन्यस्यान्तरप्रेप्सू प्रचक्रातेऽन्तरं प्रति ॥११॥

अब ये फिर दोनों भ्राता महाबली भीम और दुर्योधन टकरा गए और एक दूसरे के छिद्र को देखते हुए प्रहार की घात में अवसर ताकने लगे ॥११॥

यमदण्डोपमां गुर्वीमिन्द्राशनिमिवोद्यताम्।
ददृशुः प्रेक्षका राजन् रौद्रीं विशसनीं गदाम् ॥१२॥
आविद्धयतो गदां तस्य भीमसेनस्य संयुगे।
शब्दः सुतुमुलो घोरो मुहूर्तं समपद्यत ॥१३॥
आविद्धयन्तमरिं प्रेक्ष्य धार्त्तराष्ट्रोऽथ पाण्डवम्।
गदामतुलवेगां तां विस्मितः संबभूव ह ॥१४॥

हे राजन ! भीमसेन की गदा, यमदण्ड के तुल्य भारी और इन्द्र के वज्र के समान उठी हुई थी। देखने वालों ने उस नाश-कारिणी गदा का बड़ा भीषण स्वरूप देखा। जब भीमसेन उस गदा से प्रहार करता था तो थोड़ी देर तक उसके प्रहार के साथ ही बड़ा घोर शब्द उठाता था। इस प्रकार पाण्डु पुत्र भीमसेन को प्रहार करते तथा उसकी अतुल वेग वाली गदा को देखकर धृतराष्ट्र पुत्र राजा दुर्योधन को बड़ा ही विस्मय हुआ ॥१२-१४॥

चरंश्च विविधान्मार्गान्मण्डलानि च भारत।
अशोभत तदा वीरो भूय एव वृकोदरः ॥१५॥

हे भारत ! अब भीमसेन, अनेक मण्डल और मार्ग (पैंतरे) बनाता था, जिससे वह बड़ी ही शोभा को प्राप्त होरहा था ॥१५॥

तौ परस्परमासाद्य यत्तावन्योन्यरक्षणे।
मार्जाराविव भक्षार्थे ततक्षाते मुहुर्मुहुः ॥१६॥

ये दोनों युद्ध करते हुए एक दूसरे से अपनी बड़ी सावधानी से रक्षा करते जाते थे और अपने भोजन के लिए लड़ते हुए बिलावों की भांति, परस्पर नोच रहे थे ॥१६॥

अचरद्भीमसेनस्तु मार्गान्बहुविधांस्तथा।
मण्डलानि विचित्राणि गतप्रत्यागतानि च ॥१७॥
अस्त्रयन्त्राणि चित्राणि स्थानानि विविधानि च।
परिमोक्षं प्रहाराणां वर्जनं परिधावनम् ॥१८॥

अभिद्रवणमाक्षेपमवस्थानं सविग्रहम् ।
परिवर्तनसंवर्तमवप्लुतमुपप्लुतम् ॥१९॥
उपन्यस्तमपन्यस्तं गदायुद्धविशारदौ ।
एवं तौ विचरन्तौ तु न्यघ्नतां वै परस्परम् ॥२०॥
वञ्चयानौ पुनश्चैव चेरतुः कुरुसत्तमौ ।
विक्रीडन्तौ सुबलिनौ मण्डलानि विचेरतुः ॥२१॥

भीमसेन ने बहुत प्रकारके गदा के मार्ग स्वीकार किए, अनेक विचित्र मण्डल बांधे और अनेक तरह से आगे पीछे गमन किया अनेक प्रहार के घात लगाए और विविध भांति से मर्म स्थानों की ओर ताक लगाई। उसने प्रहारों से अपने को बचा लेना, शत्रु के प्रहार को वृथा कर देना, दौड़ निकलना, लपक कर बढ़ जाना प्रहार कर देना, शरीर को साव कर खड़े रह जाना, लौट पड़ना चक्कर देना, कूदना, उछटना, नीचे होकर बच निकलना, पास आकर मारना, फिर पीछे से मारना ये सारे प्रहार बड़ी सावधानी से किए। ये दोनों गदा युद्ध में विशारद वीर परस्पर प्रहार करते हुए घूमने, लगे। फिर उन्होंने एक दूसरे को प्रतारित करना चाहा ये महाबली कुरुवंश वीर, युद्ध क्रीड़ा करते हुए बड़े उत्तम ढंग से मण्डल बांध रहे थे ॥१९-२१॥

तौ दर्शयन्तौ समरे युद्धक्रीडां समन्ततः ।
गदाभ्यां सहसान्योन्यमाजघ्नतुररिन्दमौ ॥२२॥

इन अरिमर्दन ! वीर भीमसेन और दुर्योधन ने, युद्ध में अनेक मार्ग दिखाए और अपनी २ गदा से एक दम एक दूसरे पर प्रहार किया ॥२२॥

परस्परं समासाद्य दंष्ट्राभ्यां द्विरदौ यथा ।
अशोभेतां महाराज शोणितेन परिप्लुतौ ॥२३॥

हे महाराज ! ये परस्पर एक दूसरे से इस तरह भिड़ रहे थे, जैसे अपने २ दांतों से दो हाथी रक्त में भीगे हुए टकराते हुए सुशोभित होरहे हों ॥२३॥

एवं तदभवद्युद्धं घोररूपं परन्तप ।
परिवृत्तेऽहनि क्रूरं वृत्रवासवयोरिव ॥२४॥

हे परन्तप ! इस प्रकार यह घोर रूप धारी घोर युद्ध, इन्द्र और वृत्रासुर के युद्ध के समान हो रहा था, कि दिन ढलते चल दिया ॥२४॥

गदाहस्तौ ततस्तौ तु मण्डलावस्थितौ बली ।
दक्षिणं मण्डलं राजन् धार्तराष्ट्रोऽभ्यवर्तत ॥२५॥
सव्यं तु मण्डलं तत्र भीमसेनोऽभ्यवर्तत ।
तथा तु चरतस्तस्य भीमस्य रणमूर्धनि ॥२६॥
दुर्योधनो महाराज पार्श्वदेऽशेऽभ्यताडयत् ।

हे राजन् ! इन दोनों ने गदा हाथ में लेरखी थी, और मण्डल बना रखे थे । इस समय महाबली दुर्योधन मार्ग बदल कर दांयी ओर आगये और भीमसेन बांयी ओर स्थित हुए । हे महाराज !

इस तरह गदा युद्ध चल रहा था कि तुम्हारे पुत्र राजा दुर्योधन ने भीमसेन की पसली में गदा का प्रहार किया ॥२५-२६॥

आहतस्तु ततो भीमः पुत्रेण तव भारत ॥२७॥
आविद्ध्यत गदां गुर्वीं प्रहारं तमचिन्तयन् ।

हे भारत ! तुम्हारे पुत्र राजा दुर्योधन द्वारा आहत हुए भीमसेन ने भी प्रहार करने के निमित्त, भारी गदा सम्हाली और प्रहार करना चाहा ॥२७॥

इन्द्राशनिसमां घोरां यमदण्डमिवोद्यताम् ॥२८॥
ददृशुस्ते महाराज भीमसेनस्य तां गदाम् ।

हे महाराज ! यह गदा इन्द्र के वज्र के समान घोर और यमदण्ड के तुल्य, भीषण थी। सब लोगों ने अब भीमसेन की इस गदा पर दृष्टि गड़ाई ॥२८॥

आविध्यन्तं गदां दृष्ट्वा भीमसेनं तवात्मजः ॥२९॥
समुद्यम्य गदां घोरां प्रत्यविध्यत्परंतपः ।

हे राजन् ! तुम्हारे पुत्र परन्तप दुर्योधन ने जब भीमसेन को गदा के प्रहार करने में उद्यत देखा-तो उसने अपनी घोर गदा उठाकर उसके प्रहार को टकराकर वहीं रोक दिया ॥२९॥

गदा मारुतवेगेन तव पुत्रस्य भारत ॥३०॥
शब्द आसीत्सुतुमुलस्तेजश्च समजायत ।

हे भरतर्षभ ! तुम्हारे पुत्र की गदा के वेग के वायु के सन्नाटे ने बड़ा घोर शब्द हुआ और गदा से तेज की चिनगारी निकलने लगी ॥३०॥

स चरन्विविधान्मार्गान् मण्डलानि च भागशः॥३१॥
समशोभत तेजस्वी भूयो भीमात्सुयोधनः ।

हे भारत ! राजा दुर्योधन ने अब अनेक मार्ग और मण्डल बांधे, जिनसे वह भीमसेन भी अधिक सुशोभित दिखाई देने लगा ॥

आविद्धा सर्ववेगेन भीमेन महती गदा ॥३२॥
सधूमं सार्चिषं चाग्निं मुमोचोग्रमहास्वना ।

अब भीमसेन ने अपनी गदा को सारा वेग लगा कर घुमाया उस गदा से बड़े भारी शब्द के साथ धूम्र और ज्वाला सहित अग्नि निकलने लगी ॥३२॥

आधूतां भीमसेनेन गदां दृष्ट्वा सुयोधनः ॥३३॥
अद्रिसारमयीं गुर्वीमाविध्यन् बह्वशोभत ।

जब राजा दुर्योधन ने भीमसेन द्वारा फिराई हुई गदा को देखा-तो उसने भी लोह निर्मित अपनी भारी गदा को बड़े वेग से घुमाया-जिससे वह बहुत सुशोभित हुआ ॥३३॥

गदामारुतवेगं हि दृष्ट्वा तस्य महात्मनः ॥३४॥
भयं विवेश पाण्डूंस्तु सर्वानेव ससोमकान् ।

महा शक्तिशाली राजा दुर्योधन की गदा के वायु के वेग को देखकर पाण्डव और सारे सोमवंशी क्षत्रियों के चित्त में भय आविष्ट होगया ॥३४॥

ता दर्शयन्तौ समरे युद्धक्रीडां समन्ततः ॥३५॥
गदाभ्यां सहसाऽन्योन्यमाजघ्नतुररिन्दमौ ।

अब ये दोनों ही वीर रण में युद्ध क्रीड़ा का प्रदर्शन करने लगे। इन शत्रु मर्दन करने वाले भीम और दुर्योधन ने, अपनी २ गदा से एक दम एक दूसरे पर आक्रमण करना आरम्भ कर दिया ॥३५॥

तौ परस्परमासाद्य दंष्ट्राभ्यां द्विरदौ यथा ॥३६॥
अशोभेतां महाराज शोणितेन परिप्लुतौ ।

हे महाराज! दांतों से सुशोभित दो गजराजों की भांति, रक्त में भीगे हुए भीम दुर्योधन, एक दूसरे के टक्कर लगाते हुए बड़े ही सुशोभित होरहे थे ॥३६॥

एवं तदभवद्युद्धं घोररूपमसंवृतम् ॥३७॥
परिवृत्तेऽहनि क्रूरं वृत्रवासवयोरिव ।

हे राजन्! इस दिन के पिछले भाग में इन दोनों वीरों का प्रकट रूप में महा घोर युद्ध हुआ जो वृत्रासुर और इन्द्र के युद्ध के समान महा भीषण था ॥३७॥

दृष्ट्वा व्यवस्थितं भीमं तव पुत्रो महाबलः ॥३८॥
चरंश्चित्रतरान्मार्गान् कौन्तेयमभिदुद्रुवे ।

हे नृप ! महाबली तुम्हारे पुत्र राजा दुर्योधन ने कुन्ती पुत्र भीमसेन को जब सन्मुख डटा हुआ देखा-तो वह विचित्र मार्गों का अवलम्बन करके उसपर वेग से झपटा ॥३८॥

तस्य भीमो महावेगां जाम्बूनदपरिष्कृताम् ॥३९॥
अतिक्रुद्धस्य क्रुद्धस्तु ताडयामास तां गदाम् ।
सविस्फुलिङ्गो निर्हादस्तयोस्तत्राभिघातजः ॥४०॥
प्रादुरासीन्महाराज सृष्टयोर्वज्रयोरिव ।

हे महाराज ! सुवर्ण से उज्ज्वल महावेगशाली अत्यन्त कुपित दुर्योधन की गदा को क्रोधातुर भीमसेन ने अपनी गदा से टकरा दिया उनके परस्पर आघात से चिनगारी और बिजली की सी कड़क इस तरह निकली जैसे दो छोड़े हुए वज्रों से वे उत्पन्न हुई हों ॥३९-४०॥

वेगवत्या तया तत्र भीमसेनप्रमुक्तया ॥४१॥
निपतन्त्या महाराज पृथिवी समकम्पत ।

हे राजेन्द्र ! भीमसेन की छोड़ी हुई वेगशालिनी गिरती हुई गदा से पृथिवी कांपने लगी ॥४१॥

तां नामृष्यत कौरव्यो गदां प्रतिहतां रणे ॥४२॥
मत्तो द्विप इव क्रुद्धः प्रतिकुंजरदर्शनात् ।

भीमसेन द्वारा अपनी गदा पर किए गए आघात को दुर्योधन क्षमा नहीं कर सका । अब वह दूसरे हाथी को देखकर महोद्धत हाथी की भांति कुपित होउठा ॥४२॥

स सव्यं मण्डलं राजा उद्भ्रम्य कृतनिश्चयः ॥४३॥
आजघ्ने मूर्ध्नि कौन्तेयं गदया भीमवेगया ।

राजा दुर्योधन ने अपने मन में निश्चय करके बांयी ओर को उछल कर गमन किया और अपनी भीम वेग वाली गदा से भीमसेन के शिर पर प्रहार किया ॥४३॥

तया त्वभिहतो भीमः पुत्रेण तव पाण्डवः ॥४४॥
नाकम्पत महाराज तदद्भुतमिवाभवत् ।

हे महाराज ! यह तुम्हारे पुत्र का किया हुआ गदा का आघात बड़ा ही तीव्र था, परन्तु भीमसेन उससे भी कुछ विचलित नहीं हुआ । इस बात को सबने बड़े ही आश्चर्य से देखा ॥४४॥

आश्चर्यं चापि तद्राजन्सर्वसैन्यान्यपूजयन् ॥४५॥
यद्गदाभिहतो भीमो नाकंपत पदात्पदम् ।
ततो गुरुतरां दीप्तां गदां हेमपरिष्कृताम् ॥४६॥

हे राजन्! सारी सेना आश्चर्य करती हुई भीमसेन की प्रशंसा करने लगी, कि इस प्रकार वेग से आहत होने पर भी भीमसेन एक पग भी अपने स्थान से पीछे नहीं हटा और न कम्पित हीहुआ ॥

दुर्योधनाय व्यसृजद्भीमो भीमपराक्रमः ।
तं प्रहारमसंभ्रान्तो लाघवेन महाबलः ॥४७॥
मोघं दुर्योधनश्चक्रे तत्राभूद्विस्मयो महान् ।

अब महा पराक्रमी भीमसेन ने अपनी प्रदीप्त, बहुत विशाल सुवर्णोज्ज्वल गदा को दुर्योधन पर छोड़ा, परन्तु महाबली दुर्योधन

ने, विना किसी घवराहट के अपने लाघव द्वारा भीमसेन के इस प्रहार को निरर्थक कर दिया, जिसका सारी सेना को बड़ा ही आश्चर्य हुआ ॥

सा तु मोघा गदा राजन्पतन्ती भीमचोदिता ॥४८॥
चालयामास पृथिवीं महानिर्घातनिःस्वना ।

हे राजन्! भीम से फेंकी हुई वह गदा पृथिवी में जाकर टकराई, जिस से वहुत सी कड़क निकली और सारी पृथिवी कांप उठी ॥४८॥

आस्थाय कौशिकान्मार्गानुत्पतन्स पुनः पुनः ॥४९॥
गदानिपातं प्रज्ञाय भीमसेनं च वंचितम् ।

जब राजा दुर्योधन ने देखा, कि भीमसेन का प्रहार खाली गया और भीमसेन धोखा खा गया तो वह कौशिक नामक मार्गों का अवलम्बन करके वार २ उछटने लगा ॥४९॥

वंचयित्वा तदा भीमं गदया कुरुसत्तमः ॥५०॥
ताडयामास संक्रुद्धो वक्षो देशे महावलः ।

महावली कुरु वंश श्रेष्ठ राजा दुर्योधन ने भीमसेन को प्रताड़ित करके क्रोधाविष्ट गदा द्वारा प्रहार किया ॥५०॥

गदया निहतो भीमो मुह्यमानो महारणे ॥५१॥
नाभ्यमन्यत कर्त्तव्यं पुत्रेणाभ्याहतस्तव ।

हे राजन ! अबकी बार तुम्हारे पुत्र की गदा की चोट से आहत हुआ भीमसेन इस महा युद्ध में मोहित हो गया और उसे कुछ भी कर्तव्य नहीं सूझ पड़ा ॥५१॥

तस्मिंस्तथा वर्तमाने राजन्सोमकपाण्डवाः ॥५२॥
भृशोपहतसंकल्पा न हृष्टमनसोभवन् ।

हे राजन् ! इस अवस्था के उत्पन्न होने पर सोमक और पाण्डव वीरों के सारे मनोरथ ढीले पड़ गए और उनके मुखपर उदासी छा गई ॥५२॥

स तु तेन प्रहारेण मातंग इव रोषितः ॥५३॥
हस्तिवद्धस्तिसंकाशमभिदुद्राव ते सुतम् ।

अब दुर्योधन के प्रहार से भीमसेन, हाथी की भांति बिगड़ बैठा, और गजराज की भांति स्थित तुम्हारे पुत्र पर गजराज की भांति झपटा ॥५३॥

ततस्तु तरसा भीमो गदया तनयं तव ॥५४॥
अभिदुद्राव वेगेन सिंहो वनगजं यथा।

इसके अनन्तर भीमसेन, बड़े वेग से गदा लेकर राजा दुर्योधन की ओर इस तरह झपटा, जैसे वन के हाथी पर वन का हाथी झपटता है ॥५४॥

उपसृत्य तु राजानं गदामोक्षविशारदः ॥५५॥
आविध्यत गदां राजन्समुद्दिश्य सुतं तव ।

हे राजन् ! गदा के प्रहार करने में कुशल, भीमसेन, तुम्हारे पुत्र राजा दुर्योधन के समीप पहुंचा, और उनको अभिलक्षित करके गदा का प्रहार किया ॥५५॥

अताडयद्भीमसेनः पार्श्वे दुर्योधनं तदा ॥५६॥
स विह्वलः प्रहारेण जानुभ्यामगमन्महीम् ।

भीमसेन, राजा दुर्योधन की कुक्षि में गदा का आघात किया, जिससे, वह विकल होकर पृथिवी में गोड़ों के बल घुसता चला गया ॥५६॥

तस्मिन्कुरुकुलश्रेष्ठे जानुभ्यामवनीं गते ॥५७॥
उदतिष्ठत्ततो नादः सृञ्जयानां जगत्पते ।

हे जगत्पते ! ज्योंही भीमसेन के प्रहार से कुरुवंश श्रेष्ठ दुर्योधन अपने गोड़ों के बल भूमि की ओर झुका-त्योंही सृञ्जय वीरों में महान् हर्षनाद उठ खड़ा हुआ ॥५७॥

तेषां तु निनदं श्रुत्वा सृ जयानां नरर्षभः ॥५८॥
अमर्षाद्भरतश्रेष्ठ पुत्रस्ते समकुप्यत ।

हे भरतश्रेष्ठ ! नरश्रेष्ठ राजा दुर्योधन सृञ्जय वीरों की इस हर्ष ध्वनि को सुनकर और आवेश में भर कर क्रोध से कांप उठा ॥

उत्थाय तु महाबाहुर्महानाग इव श्वसन् ॥५९॥
दिधक्षन्निव नेत्राभ्यां भीमसेनमवैक्षत ।

अब महाबाहु दुर्योधन उठा और महानाग की तरह श्वास लेने लगा। वह नेत्रों से भीमसेन को दग्ध सा करता हुआ देखने लगा ॥५६॥

तत: स भरतश्रेष्ठो गदापाणिरभिद्रवन् ॥६०॥
प्रमथिष्यन्निव शिरो भीमसेनस्य संयुगे।

अब भरत वंश श्रेष्ठ राजा दुर्योधन गदा हाथ में लेकर झपटा और इस युद्ध में उसने भीमसेन का शिर चूर्णित कर देना चाहा।

स महात्मा महात्मानं भीमं भीमपराक्रमः ॥६१॥
अताडयच्छंखदेशे न चचालाचलोपमः।

भयानक पराक्रमी, महाबली दुर्योधन ने, महावीर भीमसेन की कनपटी पर गदा का प्रहार किया, परन्तु इस गहरी चोट से भी भीमसेन पर्वत के समान ही डटा रहा ॥६१॥

स भूयः शुशुभे पार्थस्ताडितो गदया रणे।
उद्भिन्नरुधिरो राजन्प्रभिन्न इव कुञ्जरः ॥६२॥

हे राजन्! इस गदा की चोट से रण में भीमसेन के शरीर से रक्त की धारा बह निकली, जिससे वह मदस्रावी हाथी की भांति सुशोभित दिखाई देने लगा ॥६२॥

ततो गदां वीरहणीमयोमयीं प्रगृह्य वज्राशनितुल्यनिःस्वनाम्
अताडयच्छत्रुममित्रकर्षणो बलेन विक्रम्य धनंजयाग्रजः ॥

इसके अनन्तर वज्राशनि के तुल्य शब्द करने वाली, वीर घातिनी, लोह निर्मित गदा को उत्ताडित करके शत्रु नाशक,

अर्जुन के ज्येष्ठ भ्राता भीमसेन ने, बलपूर्वक आक्रमण करके शत्रुभूत राजा दुर्योधन के ऊपर प्रहार किया ॥६३॥

स भीमसेनाभिहतस्तवात्मजः पपात संकंपितदेहबन्धनः ।
सुपुष्पितो मारुतवेगताडितो वने यथा शाल इवावघूर्णितः ।

हे राजन ! भीमसेन के आघात से तुम्हारे पुत्र की देह के बन्धन कांप उठे और वह वन में वायु के वेग से ताड़ित खिले हुए शाल वृक्ष की भांति, रणभूमि में गिर गया ॥६४॥

ततः प्रणेदुर्जहृषुश्च पांडवाः समीक्ष्य पुत्रं पतितं क्षितौ तव
ततः सुतस्ते प्रतिलभ्य चेतनां समुत्पपात द्विरदो यथा ह्रदात्

हे राजेन्द्र ! आपके पुत्र राजा दुर्योधन को रणभूमि में गिरा हुआ देखकर सारे पाण्डव, बड़े प्रसन्न हुए । क्षण भर में ही तुम्हारे पुत्र को फिर चेतना प्राप्त होगई और वह इस तरह उठा जैसे किसी जलाशय से हाथी निकल रहा हो ॥६५॥

स पार्थिवो नित्यममर्षितस्तदा महारथः शिक्षितवत्परिभ्रमन् ।
अताडयत्पाण्डवमग्रतः स्थितं स विह्वलाङ्गो जगतीमुपास्पृशत्

वह महारथी, राजा दुर्योधन, युद्ध शिक्षा से युद्ध हुआ आवेशातुर होकर वहां घूमने लगा. उसने अपने आगे स्थित भीमसेन पर चोट चलाई, जिससे वह व्याकुल होकर भूमि में गिर गया ॥

स सिंहनादं विननाद कौरवो निपात्य भूमौ युधि भीममोजसा
बिभेद चैवाशनितुल्यमोजसा गदानिपातेन शरीरत्राणम् ॥

कुरुराज, दुर्योधन ने इस युद्ध में अपने ओज द्वारा भीमसेन को रणभूमि में गिरा कर सिंहनाद किया। तथा बलपूर्वक कीगई गदा की चोट से वज्र के तुल्य, भीमसेन के कवच को छिन्न भिन्न कर डाला ॥६ ॥

ततोऽन्तरिक्षे निनदो महान् भूद्दिवौकसामप्सरसां च नेदुषाम्
पपात चोच्चैरमरप्रवेरितं विचित्रपुष्पोत्करवर्षमुत्तमम् ॥६८॥

अब देवता और हर्ष ध्वनि करती हुई अप्सराओं की ध्वनि से आकाश गूंज उठा। तथा देवों द्वारा की गई विचित्र, पुष्पों की उत्तम वर्षा, आकाश से होने लगी ॥६८॥

ततः परानाविशदुत्तमं भयं समीक्ष्य भूमौ पतितं नरोत्तमम्
अहीयमानं च बलेन कौरवं निशाम्य भेदं सुदृढस्य वर्मणः

हे राजन्! कुरुवंश श्रेष्ठ, दुर्योधन का बल अभी क्षीण नहीं हुआ और भीमसेन का दृढ़ कवच भी कट चुका-यह देखकर और साथ ही भीमसेन को भी रणभूमि में पतित देखकर पाण्डवों के हृदय में भय का सञ्चार होने लगा ॥६६॥

ततो मुहूर्तादुपलभ्य चेतनां प्रमृज्य वक्त्रं रुधिराक्तमात्मनः।
धृतिं समालम्ब्य विवृत्य लोचने बलेन संस्तभ्य वृकोदरः स्थितः

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्रयां संहितायां वैयासिक्यां
शल्यपर्वान्तर्गतगदापर्वणि गदायुद्धे सप्तपंचाशत्तमोऽध्यायः

इसके अनन्तर थोड़ी ही देर में भीमसेन को चेत होगया, उसने रुधिर में भीगा हुआ अपना मुख पोंछा, आंखें खोली, धैर्य

का अवलम्बन किया। वह बल का आश्रय लेकर फिर अकड़ कर खड़ा होगया ॥७०॥

इतिश्री महाभारत शल्यपर्वान्तर्गत गदापर्व में दुर्योधन और भीमसेन के मूर्च्छित होनेके वर्णनका सत्तावनवां अध्याय समाप्त हुआ।

अट्ठावनवां अध्याय

सञ्जय उवाच—समुदीर्णं ततो दृष्ट्वा संग्रामं कुरुमुख्ययोः

अथाब्रवीदर्जुनस्तु वासुदेवं यशस्विनम् ॥१॥

सञ्जय ने कहा—हे भरतर्षभ! इस समय दो कुरुवंश के वीरो के इस घोर संग्राम को धाराविरूढ़ चढ़ा हुआ देखा-तो अर्जुन ने महायशस्वी वसुदेव पुत्र श्रीकृष्ण से यह वचन कहा ॥१॥

अनयोर्वीरयोर्युद्धे को ज्यायान् भवतो मतः।

कस्य वा को गुणो भूयानेतद्वद जनार्दन ॥२॥

हे जनार्दन! इन दोनों वीरों में युद्ध में कौन अधिक कौशल दिखा रहा है, कौन आपके मत में अधिक शक्तिशाली है। इनमें किस वीर में कौनसा गुण अधिक श्रेष्ठ, है आप मुझे यह बताओ ॥

वासुदेव उवाच—उपदेशोऽनयोस्तुल्यो भीमस्तु बलवत्तरः।

कृती यत्नपरस्त्वेष धार्तराष्ट्रो वृकोदरात् ॥३॥

श्रीकृष्ण ने कहा—हे अर्जुन ! इनकी युद्ध शिक्षा तो समान ही है परन्तु बल में भीमसेन अधिक है। धृतराष्ट्र पुत्र दुर्योधन ने इस शिक्षा का अभ्यास अधिक किया है, इससे यह भीमसेन की अपेक्षा दाव पेच अच्छा जानता है ॥३॥

भीमसेनस्तु धर्मेण युध्यमानो न जेष्यति ।
अन्यायेन तु युध्यन्वै हन्यादेव सुयोधनम् ॥४॥

यदि भीमसेन, दुर्योधन से धर्म युद्ध करता रहा-तो विजयी नहीं हो सकेगा। यदि युद्ध की नीति का उल्लंघन करके युद्ध करे तो यह राजा दुर्योधन को भी मार लेगा ॥४॥

मायया निर्जिता देवैरसुरा इति नः श्रुतम् ।
विरोचनस्तु शक्रेण मायया निर्जितः स वै ॥५॥

देवों ने असुरों को माया से ही जीता है, ऐसा हमने सुना है। विरोचन दैत्य को इन्द्र ने माया से ही जीता था। ॥५॥

मायया चाक्षिपत्तेजो वृत्रस्य बलसूदनः ।
तस्मान्मायामयं भीम आतिष्ठतु पराक्रमम् ॥६॥

बल-तेज नाशक इन्द्र ने माया से ही वृत्रासुर के तेज को क्षीण किया, इससे भीमसेन को भी अब किसी छल नीति का अवलम्बन कर लेना चाहिए ॥६॥

प्रतिज्ञातं च भीमेन द्यूतकाले धनंजय ।
ऊरू भेत्स्यामि ते संख्ये गदयेति सुयोधनम् ॥७॥

सोऽयं प्रतिज्ञां तां चापि पालयत्वरिकर्षणः ।
मायाविनं तु राजानं माययैव निकृन्ततु ॥८॥

हे धनञ्जय ! भीमसेन ने द्यूत के समय दुर्योधन से यह प्रतिज्ञा की थी, कि मैं तेरी गदा युद्ध में जंघाएँ तोड़ डालूंगा। अब इस अरिसूदन भीम को अपनी वही प्रतिज्ञा पूर्ण करनी चाहिए। इस छली मायावी राजा दुर्योधन को छल से ही मारना उचित है ॥८॥

यद्येष बलमास्थाय न्यायेन प्रहरिष्यति ।
विषमस्थस्ततो राजा भविष्यति युधिष्ठिरः ॥९॥

यदि भीमसेन, अपने बल के भरोसे पर न्यायपूर्वक ही प्रहार करता रहेगा, तो राजा युधिष्ठिर को बड़े संकट में पड़ना पड़ेगा ॥९॥

पुनरेव तु वक्ष्यामि पांडवेय निबोध मे ।
धर्मराजापराधेन भयं नः पुनरागतम् ॥१०॥

हे धनञ्जय ! मैं तुमसे फिर एक बात कह रहा हूँ, तुम उसे ध्यान से सुनो, कि धर्मराज के अपराध से हमको फिर यह भय उपस्थित होगया है ॥१०॥

कृत्वा हि सुमहत्कर्म हत्वा भीष्ममुखान्कुरून् ।
जयः प्राप्तो यशः प्राप्यं वैरं च प्रतियातितम् ॥११॥
तदेवं विजयः प्राप्तः पुनः संशयितः कृतः ।

अबुद्धिरेषा महती धर्मराजस्य पाण्डव ॥१२॥
यदेकविजये युद्धं पाणितं घोरमीदृशम् ।
सुयोधनः कृती वीर एकायनगतस्तथा ॥१३॥

यह बड़ा भारी महान् कर्म किया गया, भीष्म आदि कौरव महारथी मार लिए गए। विजय प्राप्त की, बहुत अधिक यश का उपार्जन किया और सारे वैर का बदला चुका लिया। जो विजय प्राप्त की थी, वह आज फिर संशय में पड़गई। हे पाण्डव ! यह धर्मराज युधिष्ठिर की बड़ी भारी भूल हुई-जो उसने एक पाण्डव से अकेले दुर्योधन को युद्ध स्वीकार कर लिया। इस पर भी यह कह दिया, कि यदि तुमने हममें से एक को भी मार लिया-तो तुम्हारा ही विजय समझा जावेगा। इस प्रकार का घोर दाव फिर लगा देना कितनी भूल है। राजा दुर्योधन बड़ा वीर, युद्ध-कुशल तथा मृत्यु अथवा विजय एक का निश्चय कर चुका है॥

अपि चोशनसा गीतः श्रूयतेऽयं पुरातनः ।
श्लोकस्तत्त्वार्थसहितस्तन्मे निगदतः शृणु ॥१४॥

इस विषय में शुक्राचार्य ने, बहुत प्राचीन श्लोक कहा है-मैं तत्त्वार्थ के साथ तुमको उसे सुनाता हूं तुम ध्यान से सुनो ॥१४॥

पुनरावर्तमानानां भग्नानां जीवितैषिणाम् ।
भेतव्यमरिशेषाणामेकायनगता हि ते ॥१५॥

हे धनञ्जय ! जो शत्रु भाग कर फिर युद्ध में लौट कर आवें, अपने प्राण बचाने की इच्छा में व्यग्र हो, ऐसे बचे हुए शत्रु से

डरना ही चाहिए क्योंकि वे मृत्यु या विजय इनमें से एक का वरण किए होते हैं ॥१५॥

साहसोत्पतितानां च निराशानां च जीविते ।
न शक्यमग्रतः स्थातुं शक्रेणापि धनंजय ॥१६॥

हे अर्जुन ! जो साहस में उतर पड़े और जीवन में निराश होचुके उन वीरों के सन्मुख इन्द्र भी स्थिर नहीं हो चुका है ॥१६॥

सुयोधनमिमं भग्नं हतसैन्यं ह्रदं गतम् ।
पराजितं वनप्रेप्सुं निराशं राज्यलंभने ॥१७॥
को न्वेष संयुगे प्राज्ञः पुनर्द्वंद्वे समाह्वयेत् ।
अपि नो निर्जितं राज्यं न हरेत सुयोधनः ॥१८॥

यह राजा सुयोधन भी भागा हुआ है । इसकी सारी सेना मारी गई है इस ह्रद में आकर यह छुप गया था । यह पराजित होकर वन में जाने को उद्यत था, राज्य की प्राप्ति में यह निराश होचुका है । अब कौन बुद्धिमान् होगा, जो इसको रणमें द्वन्द युद्ध के लिए आह्वायित करे । क्या यह अपने हारे हुए राज्य को फिर नहीं लेना चाहता है ॥१७-१८॥

यस्त्रयोदशवर्षाणि गदया कृतनिश्रमः ।
चरत्यूर्ध्वं च तिर्यक् भीमसेनजिघांसया ॥१६॥

यह तेरह वर्ष तक गदा युद्ध में परिश्रम करता रहा । इसी से यह ऊपर नीचे तीखा, टेढ़ा उछल रहा है, और भीमसेन को मार देना चाहता है ॥१६॥

एवं चेन्न महाबाहुरन्यायेन हनिष्यति ।
एष वः कौरवो राजा धार्तराष्ट्रो भविष्यति ॥२०॥

यदि महाबाहु भीमसेन राजा दुर्योधन को अनीति से नहीं मारेगा-तो बस समझलो, कि फिर तुम्हारा राजा यही धृतराष्ट्र पुत्र दुर्योधन बन जावेगा ॥२०॥

धनंजयस्तु श्रुत्वैतत्केशवस्य महात्मनः ।
प्रेक्षतो भीमसेनस्य सव्यमूरुमताडयत् ॥२१॥

महात्मा श्रीकृष्ण के ये वचन सुनकर अर्जुन ने भीमसेन को दिखा कर अपनी बांयी जंघा में धीरे से ताल फटकारी ॥२१॥

गृह्य संज्ञां ततो भीमो गदया व्यचरद्रणे ।
मंडलानि विचित्राणि यमकानीतराणि च ॥२२॥
दक्षिणं मण्डलं सव्यं गोमूत्रकमथापि च ।
व्यचरत्पाण्डवो राजन्नरिं संमोहयन्निव ॥२३॥

भीमसेन इस संकेत को समझ गया और गदा लेकर रण में घूमने लगा। उसने यमक आदि तथा उनसे भिन्न भी अनेक गदा युद्ध के मण्डल बनाए। जिन में दांये बांयें गोमूत्र आदि मण्डल भी थे। हे राजन्! इन मण्डलों को दिखाते हुए भीमसेन रणाङ्गण में उछलने लगा, जिन को देखकर शत्रुभूत राजा दुर्योधन मोहित हो गया ॥२२-२३॥

तथैव तव पुत्रोऽपि गदामार्गविशारदः ।
व्यचरल्लघु चित्रं च भीमसेनजिघांसया ॥२४॥

हे राजन ! इसी तरह फिर अब तुम्हारा पुत्र दुर्योधन भी तीव्रता और विचित्रता से कूदने लगा, क्योंकि वह गदा युद्ध में बड़ा कुशल था और भीमसेन के मार देने की ताक में था ॥२४॥

आधुन्वन्तौ गदे घोरे चन्दनागुरुरूषिते ।
वैरस्यान्तं परीप्सन्तौ रणे क्रुद्धाविवान्तकौ ॥२५॥

इस समय ये दोनों महावीर, भीमसेन और दुर्योधन, अपनी २ घोर गदा घुमा रहे थे। उनकी विशाल भुजा चन्दन से चर्चित थी। ये रथ में काल की तरह क्रुद्ध हुए एक दूसरे किसी को मार कर वैर का अन्त कर देना चाहते थे ॥२५॥

अन्योन्यं तौ जिघांसन्तौ प्रवीरौ पुरुषर्षभौ ।
युयुधाते गरुत्मन्तौ यथा नागामिषैषिणौ ॥२६॥

ये पुरुष प्रवीर नरश्रेष्ठ, भीम और दुर्योधन एक दूसरे को मारना चाहते थे, जो सर्प के मांस के लोभी को गरुड़ पक्षियों की भांति बड़े कला कौशल (कला बाजी) से लड़रहे थे ॥२६॥

मण्डलानि विचित्राणि चरतोर्नृपभीमयोः ।
गदासम्पातजास्तत्र प्रजज्ञः पावकार्चिषः ॥२७॥

राजा दुर्योधन और भीमसेन ये दोनों विचित्र मण्डल बांध रहे थे। इस समय इनकी गदाओं की टक्कर से आग की लपटें निकल रहीं थी ॥२७॥

समं प्रहरतोस्तत्र शूरयोर्बलिनोर्मृधे ।
क्षुब्धयोर्वायुना राजन् द्वयोरिव समुद्रयोः ॥२८॥

हे राजन् ! ये दोनो महाबली शूर बड़ी समानता से प्रहार कर रहे थे, जिनकी दशा वायु से उछाले हुए समुद्र के समान भीषण दिखाई देरही थी ॥२८॥

तयोः प्रहरतोस्तुल्यं मत्तकुंजरयोरिव ।
गदानिर्घातसंहादः प्रहाराणामजायत ॥२६॥

हे राजन् ! अब मदोन्मत्त हाथो की भांति बराबरी से प्रहार करते हुए उन दोनों को गदा के प्रहार से उत्पन्न बड़ा भारी बिजली का सा शब्द सुनाई देने लगा ॥२६॥

तस्मिंस्तदा संप्रहारे दारुणे संकुले भृशम् !
उभावपि परिश्रान्तौ युध्यमानावरिन्दमौ ॥३०॥

इस महान् दारुण, युद्ध के समय युद्ध करते २ दोनों ही अरि-मर्दन शूरवीर भीम और दुर्योधन थक गए ॥३०॥

तौ मुहूर्तं समाश्वस्य पुनरेव परन्तप ।
अभ्यहारयतां क्रुद्धौ प्रगृह्य महती गदे ॥३१॥

हे परन्तप ! अब उन्होंने थोड़ी देर तक फिर श्वास लिया । और फिर अपनी २ गदा उठाकर क्रोध-पूर्वक फिर प्रहार करने लगे ॥३१॥

तयोः समभवद्युद्धं घोररूपमसंवृतम् ।
गदानिपाते राजेन्द्र तक्षतो वै परस्परम् ॥३२॥

हे राजेन्द्र! इन दोनों का घोर युद्ध खुलम खुल्ला चल रहा था। ये अपनी २ गदा के प्रहार से परस्पर एक दूसरे पर चोट पहुंचा रहे थे ॥३२॥

समरे प्रद्रुतौ तौ तु वृषभाक्षौ तरस्विनौ ।
अन्योन्यं जघ्नतुर्वीरौ पङ्कस्थौ महिषाविव ॥३३॥

ये वृषभ के समान आंखों वाले महावेग शाली, वीर, एक दूसरे पर टूट पड़े और कीचड़ में सने हुए भैंसों के समान एक दूसरे को मारने लगे ॥३३॥

जर्जरीकृतसर्वाङ्गौ रुधिरेणाभिसंप्लुतौ ।
ददृशाते हिमवति पुष्पिताविव किंशुकौ ॥३४॥

इनके सारे शरीर जर्जर होगए, और रक्त में भीग गए ये हिमालय में पुष्पों से लदे हुए किंशुक वृक्ष के सदृश दिखाई देने लगे ॥३४॥

दुर्योधनस्तु पार्थेन विवरे संप्रदर्शिते ।
ईषदुन्मिषमाणस्तु सहसा प्रससार ह ॥३५॥

हे राजन्! कुन्ती पुत्र भीमसेन ने कुछ ही छिद्र दिया था, कि ां बहुत ही थोड़ा अवसर था, परन्तु फिर भी राजा दुर्योधन ने एक ने दम आक्रमण कर दिया । ॥३५॥

तमभ्याशगतं प्राज्ञो रणे प्रेक्ष्य वृकोदरः ।
अवाक्षिपद्गदां तस्मिन्वेगेन महता बली ॥३६॥

हे नृप ! युद्ध कुशल वृकोदर भीमसेनने ज्योंही राजा दुर्योधन को अपने समीप देखा-त्योंही उस बलवान् ने बड़े वेग से उसपर गदा का प्रहार किया ॥३६॥

आक्षिपन्तं तु तं दृष्ट्वा पुत्रस्तव विशाम्पते ।

अवासर्पत्ततः स्थानात्सा मोघा न्यपतद्भुवि ॥३७॥

हे विशाम्पते ! जब तुम्हारे पुत्र राजा दुर्योधन ने भीमसेन को गदा के प्रहार करने को झपटते देखा-तो वह अपने स्थान से उछट कर दूर निकल गया, जिससे वह गदा व्यर्थ होकर पृथिवी में जा टकराई ॥३७॥

मोक्षयित्वा प्रहारं तं सुतस्तव सुसंभ्रमात् ।

भीमसेनं च गदया प्राहरत्कुरुसत्तम ॥३८॥

तस्य विस्यन्दमानेन रुधिरेणामितौजसः ।

प्रहारगुरुपाताच्च मूर्छेव समजायत ॥३९॥

दुर्योधनो न तं वेद पीडितं पाण्डवं रणे ।

धारयामास भीमोऽपि शरीरमतिपीडितम् ॥४०॥

हे कुरुसत्तम ! आपके पुत्र कुरुराज दुर्योधन ने अपने ऊपर होने वाले उस प्रहार को बचा कर बड़े आवेग में भीमसेन पर गदा का प्रहार किया। उस प्रहार से फटे हुए भीम के शरीर से रुधिर धारा वह निकली। रक्त के निकल जाने और इस प्रहार की अधिक वेदना से भीमसेन को एक दम मूर्च्छा सी आगई,

परन्तु इस मूर्च्छा को दुर्योधन समझ न सका, कि पाण्डु पुत्र भीमसेन इतना पीड़ित होगया है। भीमसेन ने भी अपना अत्यन्त पीड़ित शरीर को धैर्य से गिरने से बचाए रखा ॥३८-४०॥

अमन्यत स्थितं ह्येनं प्रहरिष्यन्तमाहवे ।
अतो न प्राहरत्तस्मै पुनरेव तवात्मजः ॥४१॥

हे राजन्! आपके पुत्र राजा दुर्योधन ने रणाङ्गण में उसे इस तरह डटे खड़े देखा, कि यह फिर प्रहार करना चाहता है, इससे उन्होंने प्रहार बचाने की ताक में दूसरा प्रहार नहीं किया ॥

ततो मुहूर्तमाश्वस्य दुर्योधनमुपस्थितम् ।
वेगेनाभ्यपतद्राजन् भीमसेनः प्रतापवान् ॥४२॥

हे राजन्! भीमसेन ने थोड़ी देर तक आश्वासन लिया, फिर अपने सन्मुख भीमसेन को उपस्थित देखकर महा प्रतापी भीमसेन पर वेग से झपटा ॥४२॥

तमापतन्तं संप्रेक्ष्य संरब्धममितौजसम् ।
मोघमस्य प्रहारन्तं चिकीर्षुर्भरतर्षभ ॥४३॥
अवस्थाने मतिं कृत्वा पुत्रस्तव महामनाः ।
इयेषोत्पतितुं राजञ्छलयिष्यन् वृकोदरम् ॥४४॥
अबुद्ध्यद्भीमसेनस्तु राज्ञस्तस्य चिकीर्षितम् ।

हे भरतर्षभ! अत्यन्त आवेश में भरे हुए महा ओजस्वी झपटते हुए भीमसेन को देखकर उसके प्रहार के निष्फल करने

के निमित्त तुम्हारे महामनस्वी पुत्र दुर्योधन ने, एक ओर ठहरने का ढंग किया, परन्तु मन में उछलने की इच्छा थी। वह इस तरह भीमसेन का चक्कर में डालना चाह रहा था। भीमसेन भी राजा दुर्योधन के इस अभिप्राय को समझ गया ॥४३-४४॥

अथास्य समभिद्रुत्य समुत्क्रुश्य च सिंहवत् ॥४५॥
सृत्या वञ्चयतो राजन्पुनरेवोत्पतिष्यतः।
ऊरुभ्यां प्राहिणोद्राजन् गदां वेगेन पांडवः ॥४६॥

हे राजन! अब भीमसेन राजा दुर्योधन पर झपटा और सिंह की भांति गरज उठा वह अपने मार्गों से भीमसेन को प्रताडित करना चाहता था, और पीछे से उछल जाने की घात में था। हे राजन्! इसी समय पाण्डु पुत्र भीमसेन ने वेग पूर्वक अपनी गदा राजा दुर्योधन की जंघाओं की ओर चलाई ॥४५-४६॥

सा वज्रनिष्पेषसमा प्रहिता भीमकर्मणा।
ऊरू दुर्योधनस्याथ बभञ्ज प्रियदर्शनौ ॥४७॥

भीमकर्मा भीमसेन द्वारा फैंकी हुई वज्र के चूर्ण से बनी हुई गदा ने, राजा दुर्योधन की बड़ी सुन्दर दोनों जांघें तोड़डाली॥

स पपात नरव्याघ्रो वसुधामनुनादयन्।
भग्नोरुर्भीमसेनेन पुत्रस्तव महीपते ॥४८॥

हे महीपते! भीमसेन द्वारा जंघा के तोड़ देते ही, तुम्हारा पुत्र राजा दुर्योधन पृथिवी को शब्दायमान करता हुआ पृथिवी में गिर गया ॥४८॥

ववुर्वाताः सनिर्घाताः पांशुवर्षं पपात च ।
चचाल पृथिवी चापि सवृक्षक्षुपपर्वता ॥४६॥
तस्मिन्निपतिते वीरे पत्यौ सर्वमहीक्षिताम् ।

हे राजन् ! सारे राजाओं के स्वामी राजा दुर्योधन के गिरते ही बिजली कड़की और वेग से वायु चल पड़ा । धूलि कंकड़ बरस पड़े । तथा पर्वत वृक्ष और झाड़ियों के साथ सारी पृथिवी कांपने लगी ॥४६॥

महास्वना पुनर्दीप्ता सनिर्घाता भयंकरी ॥५०॥
पपात चोल्का महती पतिते पृथिवीपतौ ।

राजा दुर्योधन के गिरते ही बहुत बड़ा उल्कापात हुआ जिस में बड़ी भारी गर्जना चमक और कड़क थी जो बड़ा ही भयङ्कर प्रतीत हुआ ॥५०॥

तथा शोणितवर्षं च पांशुवर्षं च भारत ॥५१॥
ववर्ष मघवांस्तत्र तव पुत्रे निपातिते ।

हे भारत ! आपके पुत्र के गिरते ही इन्द्र ने रक्त मिश्रित मिट्टी धूलि की वर्षा, करना आरम्भ कर दिया ॥५१॥

यक्षाणां राक्षसानां च पिशाचानां तथैव च ॥५२॥
अन्तरिक्षे महानादः श्रूयते भरतर्षभ ।

हे भरतर्षभ ! इस समय यक्ष, राक्षस और पिशाचों का भी अन्तरिक्ष में महान् कोलाहल सुनाई पड़ा ॥५२॥

तेन शब्देन घोरेण मृगाणामथ पक्षिणाम् ॥५३॥
जज्ञे घोरतरः शब्दो बहूनां सर्वतो दिशम् ।

इस भयङ्कर शब्द से वन के जन्तु और पक्षियों की भी घोर ध्वनि सारी दिशाओं में उठ खड़ी हुई ॥५३॥

ये तत्र वाजिनः शेषा गजाश्च मनुजैः सह ॥५४॥
मुमुचुस्ते महानादं तव पुत्रे निपातिते ।

हे राजन् ! तुम्हारे पुत्र के गिरते ही वहां पर जो बचे हुए अश्व, हाथी और मनुष्य थे, वे भी चीत्कार और हाय ? हाय ? करने लगे ॥५४॥

भेरीशङ्खमृदङ्गानामभवच्च स्वनो महान् ॥५५॥
अन्तर्भूमिगतश्चैव तव पुत्रे निपातिते ।

हे नृपते ! अब भेरी शङ्ख और मृदङ्गों का भी महान् शब्द उठ खड़ा हुआ, जो भूमि के भीतर भी व्याप्त होगया ॥५५॥

बहुपादैर्बहुभुजैः कबन्धैर्घोरदर्शनैः ॥५६॥
नृत्यद्भिर्भयदैर्व्याप्ता दिशस्तत्राभवन्नृप ।

हे नराधिप ! बहुत से पाद, बहुत सी भुजा भयानक आकार धारी नांचते हुए भयदायी कवचों से सारी दिशा व्याप्त होगई ॥

ध्वजवन्तोऽस्त्रवन्तश्च शस्त्रवन्तस्तथैव च ॥५७॥
प्राकम्पन्त ततो राजंस्तव पुत्रे निपातिते ।

हे राजन्! तुम्हारे पुत्र के गिरते ही वहां पर ध्वजाधारी, अस्त्रधारी, शस्त्र वाले सारे वीर कांप उठे ॥५७॥

ह्रदाः कूपाश्च रुधिरमुद्वेमुर्नृपसत्तम ॥५८॥

नद्यश्च सुमहावेगाः प्रतिस्रोतोवहाऽभवन् ।

हे नृप सत्तम! बहुत से तालाब और कूप, रक्त धारा बहाने लगे और महावेग के साथ नदियां उलटी बह चली ॥५८॥

पुल्लिंगा इव नार्यस्तु स्त्रीलिङ्गाः पुरुषाऽभवन् ॥५९॥

दुर्योधने तदा राजन्पतिते तनये तव ।

हे राजन्! जब तुम्हारा पुत्र दुर्योधन, रणभूमि में गिरा-तो स्त्रियां पुरुष और पुरुष स्त्री लिङ्गधारी होगए अर्थात् सारा संसार ही उलट पलट होगया ॥५९॥

दृष्ट्वा तानद्भुतोत्पातान् पञ्चालाः पाण्डवैः सह ॥

आविग्नमनसः सर्वे बभूवुर्भरतर्षभ ।

हे भरतर्षभ! जब पाण्डवों ने ये अद्भुत उत्पात देखे-तो वे पञ्चालों के साथ बड़े ही उद्विग्न होगए ॥६०॥

ययुर्देवा यथाकामं गन्धर्वाप्सरसस्तथा ॥६१॥

कथयन्तोऽद्भुतं युद्धं सुतयोस्तव भारत ।

हे भारत, तुम्हारे दोनों पुत्रों के इस अद्भुत युद्ध की चर्चा करते हुए, अपनी २ इच्छा के अनुसार गन्धर्व और अप्सराएँ अपने अपने लोकों को चली गई ॥६१॥

तथैव सिद्धा राजेन्द्र तथा वातिकचारणाः ॥६२॥
नरसिंहौ प्रशंसन्तौ विप्रजग्मुर्यथागताम् ॥६३॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्रयां संहितायां वैयासिक्यां
शल्यपर्वान्तर्गतगदापर्वणि दुर्योधनवधे
अष्टपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥५८॥

हे राजेन्द्र ! इसी तरह सिद्ध, और वायु में घूमने वाले चारण नामक देव भो इन दोनों नरश्रेष्ठ भीमसेन और दुर्योधन की प्रशंसा करते हुए अपनी इच्छानुसार चलते बने ॥६२-६३॥

इतिश्री महाभारत शल्यपर्वान्तर्गत गदायुद्ध पर्व में राजा दुर्योधन के वध का अट्ठावनवां अध्याय समाप्त हुआ।



उनसठवां अध्याय

सञ्जय उवाच—तं पातितं ततो दृष्ट्वा महाशालमिवोद्गतम्
प्रहृष्टमनसः सर्वे ददृशुस्तत्र पांडवाः ॥१॥

सञ्जय ने कहा—हे राजन् ! बहुत विशाल शाल के वृक्ष के तुल्य महा आकारधारी राजा दुर्योधन को इस तरह गिरा देने पर सारे पाण्डव, प्रसन्न चित्त होकर वहां देखने लगे ॥१॥

उन्मत्तमिव मातङ्गं सिंहेन विनिपातितम् ।
ददृशुर्हृष्टरोमाणः सर्वे ते चापि सोमकाः ॥२॥

हे नृपते ! इसी तरह सोमक वंश के वीरों को भी, सिंह द्वारा पछाड़े हुए उन्मत्त हाथीके तुल्य राजा दुर्योधन को देखकर बड़े ही प्रफुल्लित हुए ॥२॥

ततो दुर्योधनं हत्वा भीमसेनः प्रतापवान् ।
पातितं कौरवेन्द्रं तमुपगम्येदमब्रवीत् ॥३॥

गौर्गौरिति पुरा मन्द द्रौपदीमेकवाससम् ।
यत्सभायां हसन्नस्मांस्तदा वदसि दुर्मते ॥४॥

तस्यावहासस्य फलमद्य त्वं समवाप्नुहि ।

महाप्रतापी, भीमसेन, राजा दुर्योधन को मार कर और उसे रणाङ्गण में गिराकर कहने लगा-हे दुर्मते ! तूने एक वस्त्रधारिणी द्रौपदी को सभा में लाकर उसका उपहास किया और हमको कोरे बैल हैं-ऐसा कहकर अपमानित किया, आज तू उस उपहास का फल प्राप्त कर ॥३-४॥

एवमुक्त्वा स वामेन पादेन मौलिमुपास्पृशत् ॥५॥
शिरश्च राजसिंहस्य पादेन समलोडयत् ।

हे राजन् ! इतना कहकर भीमसेन ने राजा दुर्योधन के शिर पर ठोकर लगाई और राजसिंह दुर्योधन के मस्तक को भी अपने पैर से खूब रगड़ा ॥५॥

तथैव क्रोधसंरक्तो भीमः परबलार्दनः ॥६॥
पुनरेवाब्रवीद्वाक्यं यत्तच्छृणु नराधिप ।

हे नराधिप ! शत्रु दल नाशक, क्रोध में भरे हुए भीमसेन ने जो वचन कहा—वह आप को सुनाता हूँ—तुम ध्यान से सुनो ॥

येऽस्मान्पुरोपनृत्यन्त मूढा गौरिति गौरिति ॥७॥
तान्वयं प्रतिनृत्यामः पुनर्गौरिति गौरिति ।
नास्माकं निकृतिर्वह्निर्नाक्षद्यूतं न वञ्चना ।
स्वबाहुबलमाश्रित्य प्रबाधामो वयं रिपून् ॥८॥

भीमसेन ने कहा—जिन्होंने प्रथम बैल बैल कहकर अपमानित करके नृत्य किया, आज हम उनको बैल बताकर नाच रहे हैं हम किसी को छल, अग्नि दाह, जुआ में पासों से नहीं ठग रहे हैं। हम तो आज अपनी भुजाओं का आश्रय लेकर शत्रुओं को बाधा पहुंचा रहे हैं ॥७-८॥

सोऽवाप्य वैरस्य परस्य पारं वृकोदरः प्राह शनैः प्रहस्य ।
युधिष्ठिरं केशवसृञ्जयांश्च धनञ्जयं माद्रवतीसुतौ च ॥९॥
रजस्वलां द्रौपदीमानयन्ये ये चाप्यकुर्वन्त सदस्यवस्त्राम् ।
तान् पश्यध्वं पाण्डवैर्धार्तराष्ट्रान् रणे हतांस्तपसा याज्ञसेन्याः

हे राजन ! वृकोदर भीमसेन, अपने वैर का अन्त पाकर हंसता हुआ धीरे २ राजा युधिष्ठिर, श्रीकृष्ण, सृञ्जय, धनञ्जय और माद्री सुत, नकुल सहदेव से यह वचन कहने लगा ॥ हे महानुभावो ! जो दुष्ट, रजस्वला द्रौपदी को सभा में लाए और जिन्होंने उसे वस्त्र हीन बना देना चाहा, उनको देखलो, आज

उसी यज्ञसेन पुत्री द्रौपदी के तप के प्रभाव से मैंने उन धृतराष्ट्र पुत्रों को रण में मार गिराया है ॥१०॥

ये नः पुरा षंढतिलानवोचन् क्रूरा राज्ञो धृतराष्ट्रस्य पुत्राः
ते नो हताः सगणाः सानुबन्धाः कामं स्वर्गं नरकं वा पतामः

महादुष्ट, राजा धृतराष्ट्र के पुत्रों ने हमको नपुंसक कहकर अपमानित किया था, आज हमने उनको सेना और सारथियों के साथ रणभूमि में मार गिराए हैं। अब चाहे हमें नरक की प्राप्ति हो या हम लोग स्वर्ग में जावें ॥११॥

पुनश्च राज्ञः पतितस्य भूमौ स तां गदां स्कन्धगतां प्रगृह्य ।
वामेन पादेन शिरः प्रमृद्य दुर्योधनं नैकृतिकं न्यवोचत् ॥

हे राजन्! फिर पृथिवी में पड़े हुए राजा दुर्योधन की उसके कन्धे पर पड़ी हुई गदा को उसने छीन लिया। भीमसेन ने बांये चरण से उसके शिर को कुचल कर राजा दुर्योधन को कटु वचन सुनाए ॥१२॥

हृष्टेन राजन्कुरुसत्तमस्य क्षुद्रात्मना भीमसेनेन पादम् ।
दृष्ट्वा कृतं मूर्धनि नाभ्यनन्दन् धर्मात्मानः सोमकानां प्रबर्हाः

हे राजन्! कुरुवंश श्रेष्ठ, राजा दुर्योधन के शिर पर क्षुद्र भीमसेन द्वारा लात मारने को सोमक वंश के उत्तम धर्मात्मा क्षत्रियों ने बड़ी निन्दा की ॥१३॥

तव पुत्रं तथा हत्वा कत्थमानं वृकोदरम् ।
नृत्यमानं च बहुशो धर्मराजोऽब्रवीदिदम् ॥१४॥

हे महीपते ! जब तुम्हारे पुत्र को मार कर वृकोदर भीमसेन बहुत तरह से नाच रहा था, तो उस समय धर्मराज यह वचन कहने लगा ॥१४॥

गतोऽसि वैरस्यानृण्यं प्रतिज्ञा पूरिता त्वया ।
शुभेनाथाशुभेनैव कर्मणा विरमाधुना ॥१५॥

हे भीम ! अब तुम तुम अपना वैर पूरा कर चुके । तुम्हारी प्रतिज्ञा पूर्ण हुई जो कुछ शुभ या अशुभ कर्म द्वारा, जो हुआ सो हो चुका अब तुम चुप होजाओ ॥१५॥

मा शिरोऽस्य पदा मर्दीर्माधर्मस्तेऽतिगो भवेत् ।
राजा ज्ञातिर्हतश्चायं नैतन्न्याय्यं तवानघ ॥१६॥

हे अनघ ! तुम इनके शिर को पैर से न कुचलो । तुम धर्म मर्यादा का उल्लंघन करके अधर्म में मत फंसो । यह दुर्योधन राजा ही नहीं हमारा बन्धु भी था । अब यह मारा जा चुका । इस दशा में तुमको ऐसा करना उचित नहीं है ॥१६॥

एकादशचमूनाथं कुरूणामधिपं तथा ।
मा स्प्राक्षीर्भीम पादेन राजानं ज्ञातिमेव च ॥१७॥

हे भीम ! यह राजा दुर्योधन गयारह अक्षौहिणी सेना का पति होकर कौरवों पर शासन कर चुका है । तुम इनको पैर से न छूओ । यह राजा क्या-अपना ही तो बन्धु है ॥१७॥

हतबंधुर्हतामात्यो भ्रष्टसैन्यो हतो मृधे ।
सर्वाकारेण शोच्योऽयं नावहास्योऽयमीश्वरः ॥१८॥

आज रण में राजा दुर्योधन के बन्धु मारे गए। मन्त्री अमात्य नष्ट भ्रष्ट होचुके इसकी सेना भाग गई या मर चुकी। यह स्वयं भी मृत्यु के मुख में पड़ा है। अब तो इसका शोक करना चाहिए इसकी हंसी करना किसी भी तरह योग्य नहीं है ॥१८॥

विध्वस्तोऽयं हतामात्यो हतभ्राता हतप्रजः ।
उत्सन्नपिण्डो भ्राता च नैतन्न्याय्यं कृतं त्वया ॥

इसका शरीर चकना चूर होरहा है, इसके अमात्य मन्त्री मारे जाचुके। इसके सारे भ्राता और पुत्र भी मर चुके। अब तो कोई कुल में पिण्ड देने वाला भी नहीं बचा। इस दशा में तुमको ऐसा करना उचित नहीं है ॥१९॥

धार्मिको भीमसेनोऽसावित्याहुस्त्वां पुरा जनाः ।
स कस्माद्भीमसेन त्वं राजानमधितिष्ठसि ॥२०॥

पूर्वकाल में सारे लोग, यही कहा करते थे कि भीमसेन बड़ा धार्मिक है। हे भीमसेन ! आज तुम कैसे अधर्मी बन कर राजा दुर्योधन का इस तरह अपमान करने पर उतर पड़े हो ॥२०॥

इत्युक्त्वा भीमसेनं तु साश्रुकंठो युधिष्ठिरः ।
उपसृत्याब्रवीद्दीनो दुर्योधनमरिन्दमम् ॥२१॥

हे राजन् ! भीमसेन से इतना कहकर राजा युधिष्ठिर का कण्ठ आसुंओं से भर गया। वह बड़ी कातरता से अरिमर्दन दुर्योधन के पास पहुंचा और कहने लगा ॥२१॥

तात मन्युर्न ते कार्यो नात्मा शोच्यस्त्वया तथा ।
नूनं पूर्वकृतं कर्म सुघोरमनुभूयते ॥२२॥

हे तात ! तुम कोई शोक न करना। तुम कोई शोक करने योग्य व्यक्ति नहीं हो। यह जो होना था, यह तो अपने ही घोर कर्मों का परिणाम है ॥२२॥

धात्रोपदिष्टं विषमं नूनं फलमसंस्कृतम् ।
यद्वयं त्वां जिघांसामस्त्वं चास्मान्कुरुसत्तम ॥२३॥

हे कुरुसत्तम ! यह यह बहुत अनुचित कर्म फल हमारे भाग्य में विधाता ने लिख दिया, कि जो हम तुम लोगों को और तुम हमको मारने के लिए उद्यत होगए ॥२३॥

आत्मनो ह्यपराधेन महद्व्यसनमीदृशम् ।
प्राप्तवानसि यल्लोभान्मदाद्बाल्याच्च भारत ॥२४॥

हे भारत ! अपने ही अपराध लोभ, मोह और चपलता से तुमने यह महान् संकट प्राप्त किया है-इसमें अन्य का क्या दोष है ॥

घातयित्वा वयस्यांश्च भ्रातॄनथ पितॄंस्तथा ।
पुत्रान्पौत्रांस्तथा चान्यांस्ततोऽसि निधनं गतः ॥२५॥

हे राजन ! तुमने अपने मित्र भ्राता, पितर, पुत्र, पौत्र, तथा अन्य वीरों का नाश करवा डाला और अब फिर स्वयं भी नष्ट हो गए ॥२५॥

तवापराधादस्माभिर्भ्रातरस्ते निपातिताः ।
निहता ज्ञातयश्चापि दिष्टं मन्ये दुरत्ययम् ॥२६॥

तुम्हारे अपराधसे हमने भी तुम्हारे भ्राताओं को मार गिराया इसी तरह अन्य जाति बन्धु बान्धव भी मारे गए। यह सब कुछ न टलने वाली होनहार ही थी ॥२६॥

आत्मा न शोचनीयस्ते श्लाघ्या मृत्युस्तवानघ।
वयमेवाधुना शोच्याः सर्वावस्थासु कौरव ॥२७॥

हे अनघ ! तुम अपनी चिन्ता नहीं करना-तुम्हारी मृत्यु बड़ी प्रशंसनीय हुई है। हे कौरव ! अब तो वह दशा उपस्थित होगई जिसमें सब तरह हमही निन्दित होगए ॥२७॥

कृपणं वर्तयिष्यामस्तैर्हीना बंधुभिः प्रियैः।
भ्रातॄणां चैव पुत्राणां तथा वै शोकविह्वलाः ॥२८॥
कथं द्रक्ष्यामि विधवा वधूः शोकपरिप्लुताः।

अब हम लोग, हमारे बन्धु बान्धवों से हीन होकर बड़ी ह. दुर्दशा में जीवन धारण करेंगे। हम अपने भ्राता पुत्र तथा अन्य बान्धवों की शोक से व्याप्त विधवा वधुओं को कैसे देख सकेंगे ॥

त्वमेकः सुस्थितो राजन् स्वर्गे ते निलयो ध्रुवः ॥
वयं नरकसंज्ञं वै दुःखं प्राप्स्याम दारुणम्।

हे राजन् ! तुम तो अकेले अब अवश्य स्वर्ग में पहुंच ही जाओगे। तुम्हारा वहां निवास होगा-यह आवश्यक है, परन्तु हम तो नरक के दुःखों से भी अधिक दारुण दुःख यहां भोगते ही रहेंगे ॥२९॥

स्नुषाश्च प्रस्नुषाश्चैव धृतराष्ट्रस्य विह्वलाः ।
गर्हयिष्यंति नो नूनं विधवाः शोककर्शिताः ॥२०॥

राजा धृतराष्ट्र की पुत्र वधू पौत्र वधू बड़ी व्याकुल होंगी । वे विधवा और शोक से व्याप्त होकर हमारी सर्वदा निन्दा करती रहेंगी ॥२०॥

सञ्जय उवाच—एवमुक्त्वा सुदुःखार्तो निशश्वास स पार्थिवः
विललाप चिरं ध्यापिं धर्मपुत्रो युधिष्ठिरः ॥२१॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्त्र्यां संहितायां वैयासिक्यां
शल्यपर्वान्तर्गतगदापर्वणि युधिष्ठिरविलापे
एकोनषष्टितमोऽध्यायः ॥५९॥

सञ्जय ने कहा—हे राजन् ! इतना कहकर धर्म पुत्र राजा युधिष्ठिर बड़ा दुःखी होकर लम्बी २ श्वास लेने लगा और वह देर तक विलाप करता रहा ॥२१॥

इतिश्री महाभारत शल्यपर्वान्तर्गत गदा युद्ध पर्व में राजा
युधिष्ठिर के विलाप का उनसठवां अध्याय सम्पूर्ण हुआ



साठवां अध्याय

धृतराष्ट्र उवाच—अधर्मेण हतं दृष्ट्वा राजानं माधवोत्तमः ।

किमब्रवीत्तदा सूत बलदेवो महाबलः ॥१॥

धृतराष्ट्र ने कहा—हे सञ्जय ! अधर्म द्वारा राजा दुर्योधन के मारे जाने पर वृष्णि वंश श्रेष्ठ श्रीकृष्ण और महाबली बलराम ने क्या कहा-तुम मुझको यह सुनाओ ॥१॥

गदायुद्धविशेषज्ञो गदायुद्धविशारदः ।

कृतवान् रौहिणेयो यत्तन्ममाचक्ष्व संजय ॥२॥

हे सञ्जय ! रोहिणी पुत्र बलराम तो गदा युद्ध के विशेष नियम और विधियों का जानने वाला तथा गदा युद्ध का विद्वान् है। उसने जो कुछ कहा हो-वह तुम मुझे शीघ्र सुनाओ ॥२॥

सञ्जय उवाच—शिरस्यभिहतं दृष्ट्वा भीमसेनेन ते सुतम् ।

रामः प्रहरतां श्रेष्ठश्चुक्रोध बलवद्बली ॥३॥

सञ्जय कहने लगे—हे राजन ! जब भीमसेन ने राजा दुर्योधन के शिर पर जब पैर की ठोकर लगाई और इसको शस्त्र धारियोंमें श्रेष्ठ बलराम ने देखा-तो वह बहुत ही कुपित होउठा ॥३॥

ततो मध्ये नरेन्द्राणामूर्ध्वबाहुर्हलायुधः ।

कुर्वन्नार्तस्वरं घोरं धिग्धिग्भीमेत्युवाच ह ॥४॥

हे राजन्! अब हलधर ऊपर को भुजा उठाकर राजाओं के मध्य खड़े होगए और आर्तनाद करते हुए कहने लगे, कि भीमसेन को धिक्कार है ॥४॥

अहो धिग्यदधो नाभेः प्रहृतं धर्मविग्रहे ।
नैतद्दृष्टं गदायुद्धे कृतवान्यद्वृकोदरः ॥५॥

भीमसेन का यह भी बड़ा अपराध है, कि उसने इस धर्मयुद्ध में दुर्योधन की नाभि से नीचे गदा का प्रहार किया। जो कुछ आज भीमसेन ने नीचता का कर्म किया है वह आज तक गदा युद्ध में नहीं देखा गया ॥५॥

अधो नाभ्या न हन्तव्यमिति शास्त्रस्य निश्चयः ।
अयं त्वशास्त्रविन्मूढः स्वच्छन्दात्संप्रवर्तते ॥६॥

नाभि के नीचे गदायुद्ध में प्रहार नहीं करना चाहिए-यह शास्त्र का निश्चय है, परन्तु यह मूर्ख भीमसेन शास्त्र तो पढ़ा नहीं गँवारपने से उच्छृङ्खल होकर आचरण करता रहता है ॥६॥

तस्य तत्तद् ब्रुवाणस्य रोषः समभवन्महान् ।
ततो राजानमालोक्य रोषसंरक्तलोचनः ॥७॥
बलदेवो महाराज ततो वचनमब्रवीत् ।

हे राजन्! इस तरह टेढ़ी सीधी वाणी बोलते हुए बलराम के चित्त में बहुत ही क्रोध चढ़ आया! इनकी आंखें क्रोध से लाल होरही थी। यह धर्मराज की ओर देखकर इस तरह कहने लगा॥

न चैष पतितः कृष्ण केवलं मत्समोऽसमः ॥८॥

आश्रितस्य तु दौर्बल्यादाश्रयः परिभत्स्यते ।

हे कृष्ण ! आज राजा दुर्योधन नहीं गिरा-हम लोग गिरे हैं। यह तो मेरे समान गदा युद्ध में कुशल था, इसके समान अन्य कौन है, जो गदा युद्ध करसके। जो आश्रम में रहने वाले पर चोट होजावे, तो इसमें आश्रय दाता की भी निन्दा है ॥८॥

ततो लाङ्गलमुद्यम्य भीममभ्यद्रवद्बली ॥९॥

तस्योर्ध्वबाहोः सदृशं रूपमासीन्महात्मनः ।

बहुधातुविचित्रस्य श्वेतस्येव महागिरेः ॥१०॥

इसके अनन्तर बलराम अपना हल उठा कर भीमसेन पर झपटे। ऊपर को भुजा दौड़ते हुए महावीर बलदेव का ऐसा आकार प्रतीत हुआ जैसे अनेक धातुओं से विचित्र श्वेत पर्वत का हो ॥

तमुत्पतन्तं जग्राह केशवो विनयान्वितः ।

बाहुभ्यां पीनवृत्ताभ्यां प्रयत्नाद्बलवद्बली ॥११॥

बलराम, ज्योंही वेग से दौड़े, लपक कर महाबलवान श्रीकृष्ण ने बड़ी विनय के साथ, अपनी पुष्ट और गोल भुजाओं से प्रयत्न-पूर्वक पकड़ लिया ॥११॥

सितासितौ यदुवरौ शुशुभातेऽधिकं तदा ।

नभोगतौ यथा राजंश्चन्द्रसूर्यौ दिनक्षये ॥१२॥

उवाच चैनं संरब्धं शमयन्निव केशवः ।

हे राजन् ! श्वेत और कृष्ण रूप धारी यदुवंशश्रेष्ठ, श्रीकृष्ण और बलराम सायङ्काल में आकाश चारी चन्द्रमा और सूर्य की भांति दिखाई देने लगे। बलराम आवेश में भरे हुए थे श्रीकृष्ण उनको शान्त करते हुए यह वचन बोले ॥१२॥

आत्मवृद्धिर्मित्रवृद्धिर्मित्रमित्रोदयस्तथा ॥१३॥
विपरीतं द्विपत्स्वेतत् षड्विधा वृद्धिरात्मनः।
आत्मन्यपि च मित्रे च विपरीतं यदा भवेत् ॥१४॥
तदा विद्यान्मनोग्लानिमाशु शान्तिकरो भवेत्।

हे पुरुष सिंह ! आत्मवृद्धि, मित्रवृद्धि, मित्र के मित्र की वृद्धि शत्रु की हानि, शत्रु के मित्र की हानि इस प्रकार छः तरह की अपनी ही वृद्धि मानी गई है। जब इन छःओं प्रकारों में अपना या अपने मित्र की हानि हो, तब अपने मित्र को दुःख होना चाहिए और शीघ्र उसके प्रतीकार के लिए प्रयत्न करना उचित है १३-१४॥

अस्माकं सहजं मित्रं पाण्डवाः शुद्धपौरुषाः ॥१५॥
स्वकाः पितृष्वसुः पुत्रास्ते परैर्निकृता भृशम्।

पाण्डव, हमारे स्वाभाविक मित्र हैं क्योंकि अपने पिता की बहन (भूआ) के पुत्र और विशुद्ध पराक्रमी है। इनको कौरवों ने बहुत ही तिरस्कृत कर रखा था ॥१५॥

प्रतिज्ञापालनं धर्मः क्षत्रियस्येह वेद्म्यहम् ॥१६॥
सुयोधनस्य गदया भंक्ताऽस्म्यूरू महाहवे।
इति पूर्वं प्रतिज्ञातं भीमेन हि सभातले ॥१७॥

मैत्रेयेणाभिशप्तश्च पूर्वमेव महर्षिणा ।
उरू ते भेत्स्यते भीमो गदयेति परन्तप ॥१८॥
अतो दोषं न पश्यामि मा क्रुद्धयस्व प्रलम्बहन् ।

प्रतिज्ञा का पालन करना तो मेरी सम्मति में क्षत्रिय का परम धर्म है। भीमसेन ने सभा में यह प्रतीज्ञा की थी, कि मैं संग्राम में गदा द्वारा दुर्योधन की जंघा तोड़ूंगा । हे परन्तप! महर्षि मैत्रेय ने दुर्योधन को प्रथम ही यह शाप दे रखा था, कि भीमसेन गदा द्वारा तेरी जंघा को खण्डित करेगा। हे पुलम्बासुर घातक! इन सब कारणों से मुझे तो कुछ भी बुराई दिखाई देती नहीं है। तुम्हें इस विषय में क्रोध नहीं करना चाहिए ॥१६-१८॥

यौनः स्वैः सुखहार्दैश्च सम्बन्धः सह पाण्डवैः ॥१९॥
तेषां वृद्ध्या हि वृद्धिर्नो मा क्रुधः पुरुषर्षभ ।

हे पुरुषर्षभ! हमारा और पाण्डवों का योनि सम्बन्ध एक ही है। हमारे पितामह और पाण्डवों का मातामह एक ही तो थे। पाण्डवों की वृद्धि से हमको अपनी ही वृद्धि माननी चाहिए आप अब क्रोध न करें ॥१९॥

वासुदेववचः श्रुत्वा सीरभृत्प्राह धर्मवित् ॥२०॥
धर्मः सुचरितः सद्भिः स च द्वाभ्यां नियच्छति ।
अर्थश्चात्यर्थलुब्धस्य कामश्चाति प्रसङ्गिणः ॥२१॥
धर्मार्थौ धर्मकामौ च कामार्थौ चाप्यपीडयन् ।
धर्मार्थकामान्योऽभ्येति सोऽत्यन्तं सुखमश्नुते ॥२२॥

श्रीकृष्ण के वचन सुनकर धर्मात्मा हलधर कहने लगे-इस धर्म का महात्मा लोगों ने सदा आचरण किया है, जिसका अर्थ और काम से नाश होता आया है। अत्यन्त लोभी का धन, धर्म का नाश करता है और अत्यन्त कामातुर काम धर्म का घातक है। धर्म-अर्थ, धर्म-काम, काम-अर्थ इन सब का ठीक २ सेवन करना चाहिए। जो नियमानुसार धर्म, अर्थ और काम का सेवन करता है, वह अत्यन्त सुख प्राप्त करता है ॥२०-२२॥

तदिदं व्याकुलं सर्वं कृतं धर्मस्य पीडनात् ।
भीमसेनेन गोविन्द कामं त्वं तु यथाऽऽत्थ माम् ॥

हे गोविन्द! भीमसेन ने, धर्म को बाधा पहुंचाई है, जिससे यह सारी धर्म की हानि हुई है। अब तुम चाहे जिस तरह मुझे दबाते रहो ॥२३॥

कृष्ण उवाच—अरोषणो हि धर्मात्मा सततं धर्मवत्सलः ।
भवान्प्रख्यायते लोके तस्मात्संशाम्य मा क्रुधः ॥

श्रीकृष्ण बोले—हे महाभाग! आप तो धर्म के रक्षक धर्मात्मा और क्रोध हीन प्रसिद्ध होरहे हो। आपको इस पर विचार करके अपने क्रोधको शान्त करना चाहिए ॥२४॥

प्राप्तं कलियुगं विद्धि प्रतिज्ञां पाण्डवस्य च ।
आनृण्यं यातु वैरस्य प्रतिज्ञायाश्च पाण्डवः ॥२५॥

हे बलराम ! तुम जानते हो-अब कलियुग आगया है और भीमसेन की यह प्रतिज्ञा थी। अब तो पाण्डु पुत्र भीमसेन को वैर का बदला और प्रतिज्ञा की पूर्ति होने दो ॥२५॥

सञ्जय उवाच—धर्मच्छलमपि श्रुत्वा केशवात्स विशाम्पते ।
नैव प्रीतमना रामो वचनं प्राह संसदि ॥२६॥
हत्वाऽधर्मेण राजानं धर्मात्मानं सुयोधनम् ।
जिह्मयोधीति लोकेऽस्मिन् ख्यातिं यास्यति पाण्डवः
दुर्योधनोऽपि धर्मात्मा गतिं यास्यति शाश्वतीम् ।
ऋजुयोधी हतो राजा धार्तराष्ट्रो नराधिपः ॥२८॥

सञ्जय बोले—हे विशाम्पते ! श्रीकृष्ण के मुख से छलपूर्वक धर्म का विवेचन सुनकर बलराम प्रसन्न नहीं हुए और सभा के मध्य में यह वचन कहने लगे कि भीमसेन ने अधर्म से धर्मात्मा राजा दुर्योधन को मारा है। अब तो पाण्डु पुत्र भीमसेन, संसार में कूटयोधा कहलाकर निन्दित होकर रहेगा ! धर्मात्मा राजा दुर्योधन सनातन लोक को प्राप्त करेगा-क्योंकि उसने छल छोड़कर युद्ध किया है इसी से वह आज मार भी लिया गया॥ २६-२८॥

युद्धदीक्षां प्रविश्याजौ रणयज्ञं वितत्य च ।
हुत्वाऽऽत्मानममित्राग्नौ प्राप चावभृथं यशः ॥२९॥

आज राजा दुर्योधन ने युद्ध दीक्षा में प्रवेश किया और युद्ध रूपी यज्ञ का विस्तार किया। उसने शत्रु रूपी अग्नि में अपने आप को हवन कर दिया जिससे उसे यज्ञ का यश प्राप्त हुआ है॥

इत्युक्त्वा रथमास्थाय रौहिणेयः प्रतापवान् ।
श्वेताभ्रशिखराकारः प्रययौ द्वारकां प्रति ॥३०॥

हे राजन्! रोहिणी पुत्र महाप्रतापी, श्वेतपर्वताकारधारी, बलराम, इतना कहकर क्रोधपूर्वक रथ में बैठ गया और द्वारका की ओर चल दिया ॥३०॥

पञ्चालाश्च सवार्ष्णेयाः पाण्डवाश्च विशाम्पते ।
रामे द्वारावतीं याते नातिप्रमनसोऽभवन् ॥३१॥

हे विशाम्पते! अब पञ्चाल वार्ष्णेय और पाण्डु वीर, बलराम के इस तरह द्वारका चले जाने पर उदास हो गए ॥३१॥

ततो युधिष्ठिरं दीनं चिन्तापरमधोमुखम् ।
शोकोपहतसङ्कल्पं वासुदेवोऽब्रवीदिदम् ॥३२॥

इस घटना से धर्मराज युधिष्ठिर ने बहुत दीन और चिन्तातुर होकर अपना मुख नीचा कर लिया। उसके शोक से सारे सङ्कल्प क्षीण हो गए तो उस समय उससे श्रीकृष्ण कहने लगे ॥३२॥

वासुदेव उवाच-धर्मराज किमर्थं त्वमधर्ममनुमन्यसे ।
हतबन्धोर्यदेतस्य पतितस्य विचेतसः ॥३३॥
दुर्योधनस्य भीमेन मृद्यमानं शिरः पदा ।
उपप्रेक्षसि कस्मात्त्वं धर्मज्ञः सन्नराधिप ।३४॥

हे धर्मराज! तुम किस कारण से अधर्म का अनुमोदन करते हो। हे नराधिप! यद्यपि दुर्योधन के सारे बन्धु मारे गये। यह

अचेत अवस्था में भीमसेन ने इसके शिर में ठोकर मार दी-तो तुम धर्म के ज्ञाता होकर भी इसको क्यों अधर्म समझ बैठे हो ॥

युधिष्ठिर उवाच—न ममैतत्प्रियं कृष्ण यद्राजानं वृकोदरः ।
पदा मूर्ध्न्यस्पृशत्क्रोधान्न च हृष्ये कुलक्षये ॥२५॥

युधिष्ठिर बोले—हे कृष्ण ! मुझे यह अच्छा नहीं लगा-जो भीमसेन ने राजा दुर्योधन के मस्तक पर पैर की ठोकर लगाई और न मैं कुल क्षय से ही प्रसन्न हूं ॥२५॥

निकृत्या निकृता नित्यं धृतराष्ट्रसुतैर्वयम् ।
बहूनि परुषाण्युक्त्वा वनं प्रस्थापिताः स्म ह ॥२६॥
भीमसेनस्य तद् दुःखमतीव हृदि वर्तते ।
इति संचिन्त्य वार्ष्णेय मयैतत्समुपेक्षितम् ॥२७॥
तस्माद्धत्वाऽकृतप्रज्ञं लुब्धं कामवशानुगम् ।
लभतां पाण्डवः कामं धर्मेऽधर्मे च वा कृते ॥२८॥

हे वार्ष्णेय ! धृतराष्ट्र पुत्र दुर्योधन ने हम लोगों पर छल पूर्वक बहुत अन्याय किए हैं; बड़े २ कठोर वचन कहकर हम को वन में निकाल दिया । भीमसेन के हृदय में यही दुःख घूम रहा था । यही सोचकर मैं सब कुछ देखता रहा । नीच बुद्धि लालची कामनाओं के पीछे घूमने वाले दुर्योधन को मार कर अपने धर्म और अधर्म का फल आप भोगे-हमको क्या है ॥२६-२८॥

सञ्जय उवाच—इत्युक्ते धर्मराजेन वासुदेवोऽब्रवीदिदम् ।
काममस्त्वेतदिति वै कृच्छ्राद्यदुकुलोद्वहः ॥२९॥

इत्युक्तो वासुदेवेन भीमप्रियहितैषिणा ।
अन्वमोदत तत्सर्वं यद्भीमेन कृतं युधि ॥४०॥

सञ्जयने कहा-जब धर्मराजने इतना कहा तो यदुकुल वंशश्रेष्ठ वसुदेव पुत्र श्रीकृष्ण कहने लगे—अच्छी बात है-आप ऐसे ही मानते रहें, परन्तु भीमसेन पर अनुग्रह करें ! जब भीमसेन के प्रिय चाहने वाले श्रीकृष्ण ने इतना कहा-तो धर्मराज ने भी भीमसेन द्वारा किया गया अनुचित कर्म का समाधान करना आरम्भ कर दिया ॥३९-४०॥

भीमसेनोऽपि हत्वाजौ तव पुत्रममर्षणः ।
अभिवाद्याग्रतः स्थित्वा संप्रहृष्टः कृताञ्जलिः ॥४१॥

असहिष्णु भीमसेन ने भी तुम्हारे पुत्र को रण में मार कर धर्मराज को प्रणाम किया और हाथ जोड़ कर प्रसन्नता के साथ सन्मुख आकर स्थित होगया ॥४१॥

प्रोवाच सुमहातेजा धर्मराजं युधिष्ठिरम् ।
हर्षादुत्फुल्लनयनो जितकाशी विशाम्पते ॥४२॥

हे विशाम्पते ! विजयोन्मत्त भीमसेन की आंखें हर्ष से फट रही थीं । वह महातेजस्वी, धर्मराज युधिष्ठिर से यह वचन कहने लगा ।

तवाद्य पृथिवी सर्वा क्षेमा निहतकण्टका ।
तां प्रशाधि महाराज स्वधर्ममनुपालय ॥४३॥

हे महाराज ! अब आपके सारे शत्रु मारे गए । आपके वश में सारी पृथ्वी होगई है, जो सब तरह से कल्याण युक्त है। अब आप इसकी रक्षा करके अपने राजोचित धर्म का पालन करो ४३॥

यस्तु कर्त्ताऽस्य वैरस्य निकृत्या निकृतिप्रियः।
सोऽयं विनिहतः शेते पृथिव्यां पृथिवीपते ॥४४॥
दुःशासनप्रभृतयः सर्वे ते चोग्रवादिनः।
राधेयः शकुनिश्चैव हताश्च तव शत्रवः ॥४५॥
सेयं रत्नसमाकीर्णा मही सवनपर्वता।
उपावृत्ता महाराज त्वामद्य निहतद्विषम् ॥४६॥

हे पृथिवीपते ! जो कपटी छल के साथ तुमसे वैर निकालने के दाव में था-वह आज मृतक होकर पृथिवी में सो रहा है। दुःशासन, कर्ण, शकुनि आदि कटु भाषण करने वाले, सारे शत्रु भी मारे गए। हे महाराज ! रत्नों से भरी हुई, वन पर्वतों से युक्त, यह पृथिवी आपके पास फिर लौट आई है और आपके सारे शत्रु मारे जाचुके ॥४४-४६॥

युधिष्ठिर उवाच-गतो वैरस्य निधनं हतो राजा सुयोधनः।
कृष्णस्य मतमास्थाय विजितेयं वसुन्धरा ॥४७॥
दिष्टया गतस्त्वमानृण्यं मातुः कोपस्य चोभयोः।
दिष्टया जयसि दुर्धर्ष दिष्टया शत्रुर्निपातितः ॥४८॥

इति श्रीमहा० शतसाहस्र्यां० शल्यपर्वांतर्गतगदापर्वणि बलदेवसान्त्वने षष्टितमोऽध्यायः ॥६०॥

धर्मराज बोले—हे भीम ! वैर का प्रतिशोध होचुका। राजा सुयोधन मारा गया। श्रीकृष्ण की बुद्धि के अवलम्बन से यह सारी पृथिवी जीत ली गई है। तुम अपनी माता के ऋण और क्रोध से उद्धार पाचुके। हे दुर्धर्ष ! तुम विजयी हुए और शत्रु मारे गए इसका बड़ा ही हर्ष है ॥४७-४८॥

इतिश्री महाभारत शल्यपर्वान्तर्गत गदायुद्ध पर्व में बलदेव के समझाने का साठवां अध्याय समाप्त हुआ।



इकसठवां अध्याय

युधिष्ठिर उवाच-हतं दुर्योधनं दृष्ट्वा भीमसेनेन संयुगे।
पाण्डवाः सृञ्जयाश्चैव किमकुर्वत सञ्जय ॥१॥

धृतराष्ट्र बोले—हे सञ्जय ! भीमसेन द्वारा रण में दुर्योधन का मारा जाना देखकर फिर पाण्डव और सृञ्जय वीरों ने क्या किया ॥

सञ्जय उवाच-हतं दुर्योधनं दृष्ट्वा भीमसेनेन संयुगे।
सिंहेनेव महाराज मत्तं वनगजं यथा ॥२॥

प्रहृष्टमनसस्तत्र कृष्णेन सह पाण्डवाः।
पञ्चालाः सृञ्जयाश्चैव निहते कुरुनन्दने ॥३॥

आविध्यन्नुत्तरीयाणि सिंहनादांश्च नेदिरे ।
नैतान्हर्षसमाविष्टानियं सेहे वसुन्धरा ॥४॥

सञ्जय ने कहा—हे महाराज ! सिंह द्वारा वन का मदोन्मत्त हाथी जिस तरह मार डाला गया हो उसी तरह जब रण में भीमसेन द्वारा राजा दुर्योधन मार लिया गया-तो श्रीकृष्ण सहित सारे पाण्डव और सृञ्जय वीर प्रसन्न हो उठे । वे कुरुनन्दन राजा दुर्योधन के मरते ही अपने उत्तरीय वस्त्रों को हर्ष से ऊपर उछालने लगे और सिंहनाद करने लगे । इन हर्षाविष्ट पाण्डव वीरों को यह पृथिवी भी नहीं सह सकी ॥२-४॥

धनूंष्यन्ये व्याक्षिपन्त ज्याश्चाप्यन्ये तथाऽक्षिपन् ।
दध्मुरन्ये महाशङ्खानन्ये जघ्नुश्च दुन्दुभीन् ॥५॥
चिक्रीडुश्च तथैवान्ये जहसुश्च तवाहिताः ।
अब्रुवंश्चासकृद्वीरा भीमसेनमिदं वचः ॥६॥

कुछ वीर धनुष खैंचने लगे, कुछ प्रत्यञ्चा बजाने लगे कोई बड़े २ नगाड़े बजाने में प्रवृत्त हुए । हे राजन् ! तुम्हारे शत्रु वीर, कहीं कुछ उछल कूद रहे थे और कहीं अट्टहास से हंस रहे थे । ये वीर, बार २ भीमसेन से यह वचन कहते जाते थे ॥५-६॥

दुष्करं भवता कर्म रणेऽद्य सुमहत्कृतम् ।
कौरवेन्द्रं रणे हत्वा गदयाऽतिकृतश्रमम् ॥७॥

हे भीमसेन! आपने आज रण में यह बहुत दुष्कर कर्म कर डाला, जो गदा युद्ध में बड़े अभ्यासी राजा दुर्योधन को भी रण में मार लिया ॥७॥

इन्द्रेणेव हि वृत्रस्य वधं परम संयुगे।
त्वया कृतममन्यन्त शत्रोर्वधमिमं जनाः ॥८॥

आज सारे मनुष्य तुम्हारे इस बल को इस तरह मानते हैं, जैसे इन्द्र ने वृत्रासुर का वध कर डाला हो ॥८॥

चरन्तं विविधान्मार्गान्मण्डलानि च सर्वशः।
दुर्योधनमिमं शूरं कोऽन्यो हन्याद्वृकोदरात ॥९॥

राजा दुर्योधन बड़े २ महायुद्ध के मार्ग निकाल रहा था, और अच्छी तरह मण्डल बांधता था, आज उसको वृकोदर भीमसेन के सिवा अन्य कौन मार सकता था ॥९॥

वैरस्य च गतः पारं त्वमिहान्यैः सुदुर्गमम्।
अशक्यमेतदन्येन सम्पादयितुमीदृशम् ॥१०॥

तुम इस दुर्गम वैरे से पार हो गये, जिसके पार अन्य मनुष्य नही जा सकता था। इस प्रकार का वीर कर्म, अन्य कोई व्यक्ति नहीं दिखा सकता था-यह निश्चय है। ॥१०॥

कुञ्जरेणेव मत्तेन वीर संग्राममूर्धनि।
दुर्योधनशिरो दिष्टया पादेन मृदितं त्वया ॥११॥

हे वीर ! तुमने भीषण संग्राम में मदोन्मत्त हाथी की तरह अपने पैर से दुर्योधन के शिर को पैर से कुचल डाला यह कितने हर्ष की बात हुई है ॥११॥

सिंहेन महिषस्येव कृत्वा सङ्गरमुत्तमम् ।

दुःशासनस्य रुधिरं दिष्टया पीतं त्वयाऽनघ ॥१२॥

हे अनघ ! तुम्हारा युद्ध भैंसे से सिंह के समान दुःशासन से युद्ध हुआ और हर्ष की बात है कि तुमने उस दुष्ट का भी रक्त पीकर ही छोड़ा ॥१२॥

ये विप्रकुर्वन् राजानं धर्मात्मानं युधिष्ठिरम् ।

मूर्ध्नि तेषां कृतः पादो दिष्टया ते स्वेन कर्मणा ॥१३॥

जिन २ मनुष्यों ने धर्मात्मा राजा युधिष्ठिर के साथ बुराई की, तुमने अपना पराक्रम दिखा कर उन सबके मस्तकों पर पैर रखा यह कितने आनन्द की बात हुई है ॥१३॥

अमित्राणामधिष्ठानाद्वधाद् दुर्योधनस्य च ।

भीम दिष्टया पृथिव्यां ते प्रथितं सुमहद्यशः ॥१४॥

हे भीमसेन ! शत्रुओं के आश्रयभूत राजा दुर्योधन के वध से पृथिवी मात्र पर तुम्हारा महान् यश विख्यात हो गया है यह कितने आनन्द की बात है ॥१४॥

एवं नूनं हते वृत्रे शक्रं नन्दन्ति बन्दिनः ।

तथा त्वां निहतामित्रं वयं नन्दाम भारत ॥१५॥

हे भारत ! वृत्रासुर के वध कर लेने पर जिस तरह स्वर्ग के वन्दीगणों ने इन्द्र की स्तुति की, आज हम भी शत्रु के वध से प्रशंनीय आपकी प्रशंसा में परायण हो रहे हैं ॥१५॥

दुर्योधनवधे यानि रोमाणि हृषितानि नः ।
अद्यापि न विहृष्यन्ते तानि तद्विद्धि भारत ॥१६॥
इत्यब्रुवन् भीमसेनं वातिकास्तत्र सङ्गताः ।

हे भारत ! राजा दुर्योधन के मारे जाने पर जो हर्ष के रोमाञ्च हमारे शरीर में खड़े हो गए-वे अभी तक नहीं बैठ पाए हैं, आप उन्हें देख सकते हैं। सैनिक दूल इकट्ठे होकर भीमसेन से इस तरह की बातें कर रहे थे ॥१५॥

तान् हृष्टान्पुरुषव्याघ्रान् पञ्चालान्पाण्डवैः सह ॥१७
ब्रुवतोऽसदृशं तत्र प्रोवाच मधुसूदनः ।

इस अनन्तर पाण्डवों के साथ प्रसन्नता में भरे हुए पुरुष, प्रवीर पञ्चाल वीरों को अनुचित वचन कहते देखकर श्रीकृष्ण, इस प्रकार वचन बोले-॥१७॥

न न्याय्यं निहतं शत्रुं भूयो हन्तुं नराधिपाः ॥१८॥
असकृद्वाग्भिरुग्राभिर्निहतो ह्येष मन्दधीः ।
तदैवैष हतः पापो यदैव निरपत्रपः ॥१९॥
लुब्धः पापसहायश्च सुहृदां शासनातिगः ।

हे नराधिपो ! मारे हुए शत्रु को फिर बार २ वचनों के उग्र बाणों से नहीं मारना चाहिए। यह दुराचारी दुर्योधन भी मारा जा चुका है। यह पापी जब ही मारा जाचुका था, जब यह निर्लज्ज होकर किसी की कुछ सुनता न था। और लालच में भर कर पापियों को साथ लेकर हितकारी व्यक्तियों के वचन का उलंघन करने लग गया था ॥१८-१६॥

बहुशो विदुरद्रोणकृपगाङ्गेयसृञ्जयैः ॥२०॥
पाण्डुभ्यः प्रार्थ्यमानोऽपि पित्र्यमंशं न दत्तवान् ।

राजा दुर्योधन से विदुर, द्रोण, कृप, भीष्म तथा अन्य सृञ्जय वीरों ने पाण्डवों के निमित्त प्रार्थना की, परन्तु इसने उनके पिता का अंश उन्हें प्रदान नहीं किया ॥२०॥

नैष योग्योऽद्य मित्रं वा शत्रुर्वा पुरुषाधमः ॥२१॥
किमनेनातिसुग्नेन वाग्भिः काष्ठसधर्मणा ।

अब यह नीच पुरुष मित्र था या शत्रु-मारा जाचुका। काष्ठ के समान अत्यन्त मुड़े हुए मृत दुर्योधन से अब वाणी से कुछ कहने से क्या लाभ है ॥२१॥

रथेष्वारोहत क्षिप्रं गच्छामो वसुधाधिपाः ॥२२॥
दिष्ट्या हतोऽयं पापात्मा सामात्यज्ञातिबांधवः ।

हे नराधिप ! अब तुम, शीघ्र रथों पर चढ जाओ। हम सब लोग यहां से चल रहे हैं, यह पापी दुष्ट अमात्य, बन्धु बान्धवों सहित मारा गया, यह बहुत ही अच्छी बात हुई ॥२२॥

इति श्रुत्वा त्वधिक्षेपं कृष्णाद् दुर्योधनो नृपः ॥२३॥
अमर्षवशमापन्न उदतिष्ठद्विशाम्पते ।
स्फिग्देशेनोपविष्टः स दोर्भ्यां विष्टभ्य मेदिनीम् ॥२४॥
दृष्टिं भ्रूसंकटां कृत्वा वासुदेवे न्यपातयत् ।

हे विशाम्पते ! राजा दुर्योधन ने ज्योंही अपने ऊपर होने वाले श्रीकृष्ण के आक्षेप पूर्ण वचन सुने-तो वह क्रोध से जल उठा और कुछ उठने लगा। वह अपनी भुजाओं का सहारा लेकर नितम्बों के पास की हड्डी के सहारे से बैठ गया। उसने अपनी भौंहे टेढी करके श्रीकृष्ण पर डाली ॥२३-२४॥

अर्धोन्नतशरीरस्य रूपमासीन्नृपस्य तु ॥२५।
क्रुद्धस्याशीविषस्येव च्छिन्नपुच्छस्य भारत ।
प्राणान्तकरिणीं घोरां वेदनामप्यचिन्तयन् ॥२६॥

हे भारत ! आधे शरीर के भाग से उठे हुए राजा दुर्योधन का रूप, पूंछ कटे हुए टुंडे विषैले सर्प के समान प्रतीत होता था, इस समय प्राणों को अन्त करने वाली वेदना की भी इसे कुछ परवा न थी ॥२५-२६॥

दुर्योधनो वासुदेवं वाग्भिरुग्राभिरार्दयत् ।
कंसदासस्य दायाद न ते लज्जास्त्यनेन वै ॥२७॥
अधर्मेण गदायुद्धे यदहं विनिपातितः ।
ऊरू भिन्धीति भीमस्य स्मृतिं मिथ्याप्रयच्छता ॥२८॥

राजा दुर्योधन ने श्रीकृष्ण को कटु वचनों से पीड़ित करते हुए यह वचन कहा हे कंस के दास के पुत्र ! क्या तुमको यह कहते लज्जा नहीं आती, कि इस गदा युद्ध में मुझे अधर्म से तुमने गिरवा दिया है। तुमने, भीमसेन को अन्याय पूर्ण यह स्मृति दिलाई, कि तुम दुर्योधन की जंघा का मर्दन करो ॥२७-२८॥

किं न विज्ञातमेतन्मे यदर्जुनमवोचथाः ।
घातयित्वा महीपालानृजुयुद्धयान्सहस्रशः ॥२९॥
जिह्मैरुपायैर्बहुभिर्न ते लज्जा न ते घृणा ।

हे कृष्ण ! क्या मुझे यह पता नहीं है, कि तुमने ही यह बात अर्जुन को कही थी। धर्म से युद्ध करने वाले सहस्रों राजाओं को तुमने कुटिल उपायों से मरवा डाला, इससे तुमको न तो कोई लज्जा है और न तुमको कोई घृणा ही है ॥२९॥

अहन्यहनि शूराणां कुर्वाणः कदनं महत् ॥३०॥
शिखण्डिनं पुरस्कृत्य घातितस्ते पितामहः ।

तुमने प्रतिदिन शूरवीरों का नाश करवाया, और शिखण्डी को आगे करके पितामह भीष्म को मरवाया ॥३०॥

अश्वत्थाम्नः स नामानं हत्वा नागं सुदुर्मते ॥३१॥
आचार्यो न्यासितः शस्त्रं किं तन्न विदितं मया ।

हे दुर्मते ! तुमने ही अश्वत्थामा हाथी मरवाया और आचार्य को अश्वत्थामा पुत्र की मृत्यु का समाचार दिलवा कर उनसे शस्त्रों का त्याग करवा दिया-क्या यह मुझे ज्ञात नहीं है ॥३१॥

स चानेन नृशंसेन धृष्टद्युम्नेन वीर्यवान् ॥३२॥
पात्यमानस्त्वया दृष्टो न चैनं त्वमवारयः ।

इस नीच धृष्टद्युम्न ने महा वीर्यवान् द्रोणाचार्य को मार गिराया परन्तु तुमने इसे मारते नहीं रोका ॥३२॥

वधार्थं पाण्डुपुत्रस्य याचितां शक्तिमेव च ॥३३॥
घटोत्कचे व्यंसयतः कस्त्वत्तः पापकृत्तमः ।

पाण्डु पुत्र अर्जुन के वध के निमित्त इन्द्र से एक शक्ति कर्ण ने मांग रखी थी उसको तुमने घटोत्कच पर समाप्त करवा दी क्या इससे अधिक छल पूर्ण कोई पाप होगा ॥३३॥

छिन्नहस्तः प्रायगतस्तथा भूरिश्रवा बली ॥३४॥
त्वयाऽभिसृष्टेन हतः शैनेयेन महात्मना ।

महाबली भूरिश्रवा का अर्जुन ने अनीति से हाथ काट डाला और फिर तुम्हारी ही प्रेरणा से उसको महावीर सात्यकि ने मार गिराया ॥३४॥

कुर्वाणश्चोत्तमं कर्म कर्णः पार्थजिगीषया ॥३५॥
व्यंसनेनाश्वसेनस्य पन्नगेन्द्रस्य वै पुनः ।
पुनश्च पतिते चक्रे व्यसनार्तः पराजितः ॥३६॥

अर्जुन के जीतने के निमित्त कर्ण बड़ा उत्तम युद्ध कर रहा था। प्रथम अश्वसेन सर्प का वध करवाया। फिर जब कर्ण के चक्र फंस गए-तो उसे अधर्म पूर्वक मरवा डाला ॥३५-३६॥

पातितः समरे कर्णश्चक्रव्यग्रोऽग्रणीर्नृणाम् ।
यदि मां चापि कर्णं च भीष्मद्रोणौ च संयुतौ ॥३७

ऋजुना प्रतियुध्येथा न ते स्याद्विजयो ध्रुवम् ।

कर्ण सारे योद्धाओं में श्रेष्ठ था, वह पहिए निकालने के समय में ही मारा गया-नहीं तो उसे कौन मार सकता था। यदि मुझसे तथा कर्ण, भीष्म और द्रोण से धर्म पूर्वक युद्ध किया जाय-तो यह निश्चय है, कि तुम्हारी विजय नहीं होती ॥३७॥

त्वया पुनरनार्येण जिह्ममार्गेण पार्थिवाः ॥३८॥
स्वधर्ममनुतिष्ठन्तो वयं चान्ये च घातिताः ।

एक तुमही ऐसे अनार्य निकले, जिन्होंने अधर्म का मार्ग स्वीकार किया। और अपने धर्म का अनुष्ठान करते हुए सारे राजाओं को अधर्म पूर्वक मरवा डाला ॥३८॥

वासुदेव उवाच—हतस्त्वमसि गान्धारे सभ्रातृसुतबान्धवः ॥
सगणः ससुहृच्चैव पापं मार्गमनुष्ठितः ।
तवैव दुष्कृतैर्वीरौ भीष्मद्रोणौ निपातितौ ॥४०॥
कर्णश्च निहतः संख्ये तव शीलानुवर्तकः ।

श्रीकृष्ण ने कहा— हे गान्धारी पुत्र ! दुर्योधन ! आज तुम अपने भ्राता, सुत और बान्धवों तथा सेना और मित्रों के सहित मारे गए-इसका एक ही कारण था कि तुमने पाप मार्ग का अवलम्बन कर रखा था तेरे पाप से ही दोनों भीष्म और द्रोण भी मारे

गए। तेरे पाप के पीछे चलने से ही कर्ण भी रणाङ्गण में मारा जा सका है ॥३६-४०॥

याच्यमानं मया मूढ पित्र्यमंशं न दित्ससि ॥४१॥
पाण्डवेभ्यः स्वराज्यं च लोभाच्छकुनिनिश्चयात् ।

हे मूढ़! मैंने बार २ तुझे समझाया, परन्तु तूने पाण्डवों को उनके पिता का भाग देना नहीं चाहा। यह तेरा लोभ ही था, जिसका बनाने वाला तेरा सारथी शकुनि था ॥४१॥

विषं ते भीमसेनाय दत्तं सर्वे च पाण्डवाः ।४२॥
प्रदीपिता जतुगृहे मात्रा सह सुदुर्मते ।

हे दुर्मते! तूने भीमसेन को विष दिलाया, और लाक्षागृह में माता कुन्ती के साथ पाण्डवों को जला देना चाहा ॥४२॥

सभायां याज्ञसेनी च कृष्टा द्यूते रजस्वला ॥४३॥
तदैव तावद् दुष्टात्मन्वध्यस्त्वं निरपत्रप ।

हे निर्लज्ज! दुष्ट! तूने सभा में द्यूत रचाया और रजस्वला द्रौपदी को सभा में खैंचा। तुझे उसी समय मार लेना चाहिए था ॥

अनक्षज्ञं च धर्मज्ञं सौबलेनाक्षवेदिना ॥४४॥
निकृत्या यत्पराजैषीस्तस्मादसि हतो रणे ।

धर्मराज कोई पासे खेलना थोड़े जानते थे और शकुनि जुआ खेलने में कुशल था। छल से तुमने धर्मराज को पराजित किया, इसीसे आज तू रण में मारा गया है ॥४४॥

जयद्रथेन पापेन यत्कृष्णा क्लेशिता वने ॥४५॥
यातेषु मृगयां चैव तृणबिन्दोरथाश्रमम् ।

जब पाण्डव तृण बिन्दु के आश्रम में रहते हुए मृगया को गए थे, उस समय (तेरी ही प्रेरणा से) जयद्रथ ने द्रौपदी को वन में क्लेशित किया ॥४५॥

अभिमन्युश्च यद्बाल एको बहुभिराहवे ॥४६॥
त्वद्दोषैर्निहतः पाप तस्मादसि हतो रणे ।

अभिमन्यु बालक था, उस अकेले को रण में तुम बहुत से महारथियों ने मिलकर मार गिराया । हे पापी ! वह सब तेरे ही पाप से मारा गया इसीसे आज तू रण में मारा गया है ॥४६॥

यान्यकार्याणि चास्माकं कृतानीति प्रभाषसे ॥४७॥
वैगुण्येन तवात्यर्थं सर्वं हि तदनुष्ठितम् ।

जो कुछ अधर्म के कार्य तुमने हमारे ऊपर आरोपित किए गए हैं, वे सारे तुम्हारे अधर्म के उत्तर में किए गए हैं इससे उन में दोष नहीं है ॥४७॥

बृहस्पतेरुशनसो नोपदेशः श्रुतस्त्वया ॥४८॥
वृद्धा नोपासिताश्चैव हितं वाक्यं न ते श्रुतम् ।
लोभेनातिबलेन त्वं तृष्णया च वशीकृतः ॥४९॥
कृतवानस्यकार्याणि विपाकस्तस्य भुज्यताम् ।

मैंने बृहस्पति अथवा शुक्र नीति का उपदेश नहीं सुना और न वृद्धों की सङ्गति की, इसीसे हितकारी वाक्य तुमने नहीं सुने

तुमने तो अत्यन्त लोभ और तृष्णा के वश में होकर ये अकर्म कर डाले-अब तुमको उनका फल भोगना ही पड़ा ॥४८-४९॥

दुर्योधन उवाच—अधीतं विधिवद्दत्तं भूः प्रशास्ताससागरा॥

मूर्ध्नि स्थितममित्राणां को नु स्वन्ततरो मया।

दुर्योधन बोले—हमने विधि पूर्वक बहुत कुछ पढ़ा, दान दिया और समुद्र पर्यन्त पृथिवी का शासन किया। शत्रुओं के मस्तक पर स्थित रहे-बताओ हमसे अधिक कौन भाग्यवान् होगा ॥५०॥

यदिष्टं क्षत्रबन्धूनां स्वधर्ममनुपश्यताम् ॥५१॥

तदिदं निधनं प्राप्तं को नु स्वन्ततरो मया।

उत्तम क्षत्रियों को जो अपने धर्म के अनुसार युद्ध में मरना चाहिए वह मृत्यु हमने प्राप्त की-बताओ हम से अधिक कौन श्रेष्ठ होगा ॥५१॥

देवार्हा मानुषा भोगाः प्राप्ता असुलभा नृपैः ॥५२॥

ऐश्वर्यं चोत्तमं प्राप्तं को नु स्वन्ततरो मया।

हमने देवों के योग्य मनुष्य योनि में ही भोग भोगे जो अन्य राजाओं को प्राप्त नहीं हो सकते थे इस प्रकार उत्तम ऐश्वर्य पाया फिर बताओ हमारी बराबर कौन भाग्यवान माना जा सकेगा ॥५२॥

ससुहृत्सानुगश्चैव स्वर्गं गंताऽहमच्युत ॥५३॥

यूयं निहतसंकल्पाः शोचन्तो वर्तयिष्यथ।

आज मैं अपने साथी और मित्रों के साथ स्वर्ग जा रहा हूं और तुम लोग इस वीर हीन वसुन्धरा पर दुःख भोगते हुए जीवित रहोगे ॥५३॥

सञ्जय उवाच—अस्य वाक्यस्य निधने कुरुराजस्य धीमतः ॥

अपतत्सुमहद्वर्षं पुष्पाणां पुण्यगन्धिनाम् ।

अवादयन्त गन्धर्वा वादित्रं सुमनोहरम् ॥५५॥

जगुश्चाप्सरसो राज्ञो यशः सम्बद्धमेव च ।

सिद्धाश्च मुमुचुर्वाचः साधुसाध्विति पार्थिव ॥५६॥

ववौ च सुरभिर्वायुः पुण्यगन्धो मृदुः सुखः ।

व्यराजंश्च दिशः सर्वा नभो वैदूर्यसन्निभम् ॥५७॥

सञ्जय बोले—हे राजन्! कुरुराज महाबुद्धिमान् राजा दुर्योधन ने इतना कहा था, कि इसके वाक्य की समाप्ति होते ही पुण्य गन्धी पुष्पों की वर्षा उसके मस्तक पर होने लगी। गन्धर्व मनोहर बाजे बजाने लगे-अप्सराएँ राजा दुर्योधन के यश गान सम्बन्धी गान गाने लगी। हे राजन्! सिद्धगण भी राजा दुर्योधन को धन्यवाद की ध्वनि से हर्षित करने में तत्पर हुए। सुगन्धित वायु बड़ा सुखकारी और धीरे २ चल पड़ा। दिशाएँ चमकने लगी और आकाश वैदूर्य मणि के समान नीला निकल पड़ा ॥५४-५७॥

अत्यद्भुतानि ते दृष्ट्वा वासुदेवपुरोगमाः ।

दुर्योधनस्य पूजां तु दृष्ट्वा व्रीडामुपागमन् ॥५८॥

हतांश्चाधर्मतः श्रुत्वा शोकार्त्ताः शुशुचुर्हि ते ।
भीष्मं द्रोणं तथा कर्णं भूरिश्रवसमेव च ॥५६॥

श्रीकृष्ण आदि वीर, इस अद्भुत कर्म और दुर्योधन की पूजा को देखकर बड़े ही लज्जित हुए। जब इनको निश्चय हुआ कि भीष्म, द्रोण, कर्ण और भूरिश्रवा आदि वीर अधर्म से ही मारे गए-यह निश्चय हो गया जिससे पाण्डव पक्ष को बड़ा सोच हुआ और वे खेद प्रकट करने लगे ॥५८-५६॥

तांस्तु चिन्तापरान् दृष्ट्वा पाण्डवान् दीनचेतसः ।
प्रोवाचेदं वचः कृष्णो मेघदुन्दुभिनिःस्वनः ॥६०॥

नैष शक्योऽतिशीघ्रास्त्रस्ते च सर्वे महारथाः ।
ऋजुयुद्धेन विक्रान्ता हन्तुं युष्माभिराहवे ॥६१॥

पाण्डवों को चिन्तातुर और उदास मुख देखकर मेघ गर्जना और दुन्दुभि शब्द के समान स्वर के साथ श्री कृष्ण यह वचन बोले—हे वीरो। यह कुरुराज शीघ्र अस्त्र फैंकने वाला वीर था और ऐसे ही भीष्म आदि महारथी थे। ये पराक्रमी वीर सोधे युद्ध से वश में आने वाले नहीं थे ॥६०-६१॥

नैष शक्यः कदाचित्तु हन्तुं धर्मेण पार्थिवः ।
ते वा भीष्ममुखाः सर्वे महेष्वासा महारथाः ॥६२॥

मयानेकैरुपायैस्तु मायायोगेन चासकृत् ।
हतास्ते सर्व एवाजौ भवतां हितमिच्छता ॥६३॥

यदि नैवं विधं जातु कुर्यां जिह्ममहं रणे ।
कुतो वो विजयो भूयः कुतो राज्यं कुतो धनम् ॥६४॥

धर्म पूर्वक कौन राजा दुर्योधन के मारने में समर्थ हो सकता था। इसी तरह भीष्म आदि महारथी भी बड़े भारी धनुर्धर थे। मैंने तुम लोगों का हित ध्यान में रखकर ही अनेक उपायों से और बार २ माया का योग कर के इन सबको मरवाया है। यदि में इस तरह छलपूर्वक कूट युद्ध नहीं करवाता-तो तुम्हारी विजय कहां होती फिर यह राज्य कहां से प्राप्त होता और धन ऐश्वर्य कहां मिलता ॥६२-६४॥

ते हि सर्वे महात्मानश्चत्वारोऽतिरथा भुवि ।
न शक्या धर्मतो हन्तुं लोकपालैरपि स्वयम् ॥६५॥

भीष्म, द्रोण, कर्ण और दुर्योधन ये चारों ही बड़े महारथी वीर थे। इनको धर्म पूर्वक मारने में स्वयं इन्द्रादि देव भी समर्थ नहीं हो सकते थे ॥६५॥

तथैवायं गदापाणिर्धार्तराष्ट्रो गतक्लमः ।
न शक्यो धर्मतो हन्तुं कालेनापीह दण्डिना ॥६६॥

इसी तरह गदा हाथ में लेकर जब यह धृतराष्ट्र पुत्र दुर्योधन युद्ध में जुट जाता था, तो दण्डधारी काल भी इसके सम्मुख कुछ नहीं कर सकता था, क्योंकि इसको युद्ध करते २ थकान होती ही न थी ॥६६॥

न च वो हृदि कर्त्तव्यं यदयं घातितो रिपुः ।
मिथ्यावध्यास्तथोपायैर्बहवः शत्रवोऽधिकाः ॥६७॥

तुम लोग इसकी चिन्ता मत करो, कि यह शत्रु अधर्म पूर्वक मारा गया। जो शत्रु अधिक होते हैं उनको मिथ्या उपायों से ही मारा जाया करता है। ६७॥

पूर्वैरनुगतो मार्गो देवैरसुरघातिभिः ।
सद्भिश्चानुगतः पन्थाः स सर्वैरनुगम्यते ॥६८॥

असुरघाती देवों ने यह मार्ग पूर्व से ही चला रखा है। सज्जन भी इसी के अनुसार चलते आए हैं। अब भी सब लोग इसी मार्ग पर चलते हैं ॥६८॥

कृतकृत्याश्च सायाह्ने निवासं रोचयामहे ।
साश्वनागरथाः सर्वे विश्रमामो नराधिपाः ॥६९॥

हे नराधिपो! अब हम कृतार्थ हो चुके, और सायङ्काल होने पर आराम करना चाहते हैं। अश्व, हाथी रथोंके घोड़े पैदल इन सबको ही अब विश्राम करने दो ॥६९॥

वासुदेववचः श्रुत्वा तदानीं पाण्डवैः सह ।
पञ्चाला भृशसंहृष्टा विनेदुः सिंहसङ्घवत् ॥७०॥

श्रीकृष्ण के ये वचन सुनकर पाण्डवों के साथ सारे पञ्चाल अत्यन्त प्रसन्न हुए और सिंह के समूह की भांति गर्जना करने लगे ॥७०॥

ततः प्राध्मापयन् शङ्खान् पाञ्चजन्यं च माधवः ।
हृष्टा दुर्योधनं दृष्ट्वा निहतं पुरुषर्षभ ॥७१॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां शल्यपर्वांतर्गतगदापर्वणि कृष्णपाण्डवदुर्योधन-संवादे एकषष्टितमोऽध्यायः ॥६१॥

हे पुरुषर्षभ ! राजा दुर्योधन को मृत देख कर सारे वीर शंख बजाने लगे और श्रीकृष्ण ने भी अपना पाञ्चजन्य शङ्ख बजाया ॥

इतिश्री महाभारते शल्यपर्वान्तर्गत गदायुद्ध पर्व में श्रीकृष्ण, पाण्डव और दुर्योधन सम्वाद का इकसठवां अध्याय समाप्त हुआ ।



बासठवां अध्याय

सञ्जय उवाच—ततस्ते प्रययुः सर्वे निवासाय महीक्षितः
शङ्खान्प्रध्मापयन्तो वै हृष्टाः परिघबाहवः ॥१॥

सञ्जय बोले—हे राजन् ! इसके अनन्तर परिघ के सम बाहु वाले, राजा लोग, बड़े उल्लास में भरे हुए, अपने २ शङ्ख बजाते हुए सारे रात्रि में विश्राम करने के चल दिए ॥१॥

पाण्डवान् गच्छतश्चापि शिबिरं नो विशाम्पते ।
महेष्वासोऽन्वगात्पश्चाद्युयुत्सुः सात्यकिस्तथा ॥२॥

धृष्टद्युम्नः शिखण्डी च द्रौपदेयाश्च सर्वशः ।
सर्वे चान्ये महेष्वासा ययुः स्वशिबिराण्युत ॥३॥

हे विशाम्पते ! हमारे शिविरों को जाते हुए पाण्डवों के पीछे पीछे महाधनुर्धर युयुत्सु, सात्यकि, धृष्टद्युम्न, शिखण्डी और द्रौपदी पुत्र चले। इसी तरह अन्य भी महाधनुर्धर वीर अपने २ शिविरों को चल दिए ॥२-३॥

ततस्ते प्राविशन्पार्था हतत्विट्कं हतेश्वरम् ।
दुर्योधनस्य शिविरं रङ्गवद्विसृते जने ॥४॥

अब पाण्डव, अपने स्वामी के मारे जाने से कान्ति हीन, लोगों के चले जाने पर सुनसान रङ्ग स्थली के सदृश राजा दुर्योधन के शिविर में पहुंचे ॥४॥

गतोत्सवं पुरमिव हतनागमिव ह्रदम् ।
स्त्रीवर्षवरभूयिष्ठं वृद्धामात्यैरधिष्ठितम् ॥५॥

यह शिविर व्यतीत उत्सव वाले, नगर और हाथी से हीन ह्रद के समान था। उसमें स्त्री और वर्षवर (नपुंसक) आदि की अधिकता दिखाई पड़ रही थी। वृद्ध २ अमात्य जहां तहां दिखाई पड़ रहे थे ॥५॥

तत्रैतान्पर्युपातिष्ठन् दुर्योधनपुरःसराः ।
कृताञ्जलिपुटा राजन्काषायमलिनाम्बराः ॥६॥

शिबिरं समनुप्राप्य कुरुराजस्य पाण्डवाः ।
अवतेरुर्महाराज रथेभ्यो रथसत्तमाः ॥७॥

हे राजन ! इन पाण्डव की सेनामें सबसे प्रथम राजा दुर्योधन के आगे घूमने वाले सेवक पहुंचे, जिन्होंने हाथ जोड़ रखे थे और काषाय तथा मलिन वस्त्र धारण कर रखे थे। हे महाराज ! महारथी पाण्डव लोग, कुरुराज के शिविर में पहुंच कर अपने २ रथों से उतर पड़े ॥६-७॥

ततो गाण्डीवधन्वानमभ्यभाषत केशवः ।
स्थितः प्रियहिते नित्यमतीव भरतर्षभ ॥८॥

हे भरतर्षभ ! सर्वदा पाण्डवों के हित में अत्यन्त तत्पर श्रीकृष्ण, अब गाण्डीव धारी अर्जुन से इस प्रकार कहने लगे ॥८॥

अवरोपय गाण्डीवमक्षयौ च महेषुधी ।
अथाहमवरोक्ष्यामि पश्चाद्भरतसत्तम ॥९॥

हे भरतसत्तम ! अब तुम अपना गाण्डीव धनुष उतार लो और अक्षय तूणीर खोल दो। इसके पीछे मैं रथ से नीचे कूद पड़ूंगा ॥९॥

स्वयं चैवावरोह त्वमेतच्छ्रेयस्तवानघ ।
तच्चाकरोत्तथा वीरः पाण्डुपुत्रो धनञ्जयः ॥१०॥

हे अनघ ! तुम स्वयं रथसे उतरो। इसमें तुम्हारा बड़ा कल्याण है। श्रीकृष्ण के कथनानुसार पाण्डु पुत्र अर्जुन ने वैसा ही किया ॥

अथ पश्चात्ततः कृष्णो रश्मीनुत्सृज्य वाजिनाम् ।
अवारोहत मेधावी रथाद्गाण्डीवधन्वनः ॥११॥

इसके बाद श्रीकृष्ण ने अपने रथ के अश्वों की रास छोड़ी और स्वयं गाण्डीव धारी अर्जुन के रथ से कूद पड़े ॥११॥

अथावतीर्णे भूतानामीश्वरे सुमहात्मनि ।

कपिरन्तर्दधे दिव्यो ध्वजो गाण्डीवधन्वनः ॥१२॥

महावीर सारे भूतों के स्वामी श्रीकृष्ण के उतर जाने पर गाण्डीव धारी अर्जुन की ध्वजा में लीन होकर अन्तर्हित हुआ दिव्य कपि भी अन्तर्हित होगया ॥१२॥

स दग्धो द्रोणकर्णाभ्यां दिव्यैरस्त्रैर्महारथः ।

अनादीप्तोऽग्निना ह्याशु प्रजज्वाल महीपते ॥१३॥

हे महीपते ! वह महान रथ द्रोण और कर्ण के दिव्य बाणोंसे दग्ध किया जाचुका था, इससे बिना अग्नि लगाए ही वह प्रज्वलित हो उठा ॥१३॥

सोपासङ्गः सरश्मिश्च साश्वः सयुगबन्धुरः ।

भस्मीभूतोऽपतद् भूमौ रथो गाण्डीवधन्वनः ॥१४॥

उस अर्जुन के रथ के उपासङ्ग, रास, अश्व, जूड़े, बन्धुर, सब क्षण भर में भस्म होकर भूमि में गिर गए ॥१४॥

तं तथा भस्मभूतं तु दृष्ट्वा पाण्डुसुताः प्रभो ।

अभवन्विस्मिता राजन्नर्जुनश्चेदमब्रवीत् ॥१५॥

कृताञ्जलिः सप्रणयं प्रणिपत्याभिवाद्य ह ।

गोविन्द कस्माद्भगवन् रथो दग्धोऽयमग्निना ॥१६॥

किमेतन्महदाश्चर्यमभवद्यदुनन्दन ।

तन्मे ब्रूहि महाबाहो श्रोतव्यं यदि मन्यसे ॥१७॥

हे प्रभो ! जब पाण्डु पुत्रों ने अर्जुन के रथ को इस तरह भस्म होता देखा- तो वे बड़े चकित हुए। हे राजन् ! अब अर्जुन ने प्रणाम और अभिवादन करके हाथ जोड़कर वह वचन कहा—हे भगवन् गोबिन्द ! यह रथ अग्नि से अकस्मात् कैसे दग्ध होगया हे यदुनन्दन ! यह महान् आश्चर्य कैसे उत्पन्न हुआ। हे महाबाहो आप हमको इस बात को बताओ, यदि इसके बताने में आप कोई हानि न मानते हों ॥१५-१७॥

वासुदेव उवाच—अस्त्रैर्बहुविधैर्दग्धः पूर्वमेवायमर्जुन ।

मदधिष्ठितत्वात्समरे न विशीर्णः परन्तप ॥१८॥

इदानीं तु विशीर्णोऽयं दग्धो ब्रह्मास्त्रतेजसा ।

मया विमुक्तः कौन्तेय त्वय्यद्य कृतकर्मणि ॥१९॥

श्रीकृष्ण ने कहा—हे अर्जुन ! यह रथ तो पूर्व में अनेक अस्त्र शस्त्रों से दग्ध हो चुका था। हे परन्तप ! यह तो मेरे बैठे रहने के कारण अब तक जलकर भस्मीभूत नहीं हुआ था। हे कौन्तेय ! ज्योंही कार्य समाप्त करके तुमने और मैंने इसे छोड़ा-त्योंही यह ब्रह्मास्त्र के तेज से जलकर राख होगया ॥१८-१९॥

ईषदुत्स्मयमानस्तु भगवान्केशवोऽरिहा ।

परिष्वज्य च राजानं युधिष्ठिरमभाषत ॥२०॥

दिष्ट्या जयसि कौन्तेय दिष्ट्या ते शत्रवो जिताः ।
दिष्ट्या गाण्डीवधन्वा च भीमसेनश्च पाण्डवः ॥२१॥
त्वं चापि कुशली राजन्माद्रीपुत्रौ च पाण्डवौ ।
मुक्ता वीरक्षयादस्मात्संग्रामान्निहतद्विषः ॥२२॥
क्षिप्रमुत्तरकालानि कुरु कार्याणि भारत ।

शत्रु विजयी भगवान् कृष्ण कुछ मुसकुराकर और राजा युधिष्ठिर का आलिङ्गन करके यह वचन बोले—हे कौन्तेय ! तुमने शत्रुओं को जीत कर अपनी विजय का डंका बजवा दिया-यह बड़े ही आनन्द की बात हुई। हे राजन ! गाण्डीवधारी अर्जुन, पाण्डु पुत्र भीमसेन, तुम धर्मराज और माद्री पुत्र नकुल सहदेव जीवित बच रहे हो यह बड़े ही आनन्द की बात होरही हैं। हे भारत ! तुम लोग, वीरों के नाशक इस संग्राममसे बच निकले और शत्रु मारे गए-यह कितनी उत्तम बात हुई है। अब तुम इससे आगे करने योग्य कर्म का शीघ्र विचार करो ॥२०-२२॥

उपयातमुपप्लव्यं सह गाण्डीवधन्वना ॥२३॥
आनीय मधुपर्कं मां यत्पुरा त्वमवोचथाः ।
एष भ्राता सखा चैव तव कृष्ण धनञ्जयः ॥२४॥
रक्षितव्यो महाबाहो सर्वास्वापत्स्विति प्रभो ।
तव चैव ब्रुवाणस्य तथेत्येवाहमब्रुवम् ॥२५॥
स सव्यसाची गुप्तस्ते विजयी च जनेश्वर ।

भ्रातृभिः सह राजेन्द्र शूरः सत्यपराक्रमः ॥२६॥
मुक्तो वीरक्षयादस्मात्संग्रामाल्लोमहर्षणात् ।

जब मैं उपलव्थ नगर में पहुंचा और तुमने गाण्डवीधारी अर्जुन को साथ लेकर मधुपर्क से मेरा स्वागत करके कहा था-हे कृष्ण ! यह अर्जुन तुम्हारा भ्राता और सखा है। हे महाबाहो तुम इसकी सारी आपत्तियों में रक्षा करना। हे प्रभो ! जब तुमने ऐसा कहा—तो मैंने भी कहा—अच्छी बात है। हे जनेश्वर ! उस सव्यसाची अर्जुन की मैंने रक्षा कर दी है और यह विजयी हो गया है। हे राजेन्द्र ! यह सत्य पराक्रमी शूरवीर अर्जुन अपने भ्राताओं के साथ इस लोमहर्षण कारी वीर नाशक महा संग्राम से बच गया है ॥२३-२६॥

एवमुक्तस्तु कृष्णेन धर्मराजो युधिष्ठिरः ॥२७॥
हृष्टरोमा महाराज प्रत्युवाच जनार्दनम् ।

हे महाराज ! जब श्रीकृष्ण ने धर्मराज युधिष्ठिर से इतना कहा-तो उनके रोमाञ्च खड़े होगए और वे जनार्दन कृष्ण से इस प्रकार कहने लगे ॥२७॥

युधिष्ठिर उवाच—प्रमुक्तं द्रोणकर्णाभ्यां ब्रह्मास्त्रमरिमर्दन ॥
कस्त्वदन्यः सहेत्साक्षादपि वज्री पुरन्दरः ।
भवतस्तु प्रसादेन संशप्तकगणा जिताः ॥२८॥
महारणगतः पार्थो यच्च नासीत्पराङ्मुखः ।

धर्मराज बोले- हे अरिमर्दन! द्रोण और कर्ण के छोड़े हुए अस्त्रों को आपके सिवा कौन सहने में समर्थ हो सकता था। साक्षात् वज्रधारी इन्द्र भी इसके सहन में समर्थ नहीं हो सकते थे। आपके अनुग्रह से संशप्तक गण जीत लिए गए यही तो कारण है कि संशप्तक गणों के साथ महाघोर संग्राम के उपस्थित होने पर भी अर्जुन युद्ध से पराङ्मुख नहीं हुआ ॥२८-२६॥

तथैव च महावाहो पर्यायैर्वहुभिर्मया ॥३०॥
कर्मणामनुसन्तानं तेजसश्च गतीः शुभाः।
उपप्लव्ये महर्षिर्मे कृष्णद्वैपायनोऽब्रवीत् ॥३१॥

हे महाबाहो! इसी तरह आपकी कृपा से ही हमने अनेक ढंग से युद्ध में कर्म, प्रताप, और सुन्दर गतियां सिद्ध कर दिखाई उपलव्यनगर में महर्षि कृष्णद्वैपायनव्यास ने मुझसे कहा था, कि जिधर धर्म होता है, उधर ही कृष्ण होते हैं और जिधर कृष्ण होगए उधर विजय ही समझो। ॥३०-३१॥

यतो धर्मस्ततः कृष्णो यतः कृष्णस्ततो जयः।
इत्येवमुक्ते ते वीराः शिबिरं तव भारत ॥३२॥
प्रविश्य प्रत्यपद्यन्त कोशरत्नर्धिसंचयान्।
रजतं जातरूपं च मणीनथ च मौक्तिकान् ॥३३॥
भूषणान्यथ मुख्यानि कंबलान्यजिनानि च।
दासीदासमसंख्येयं राज्योपकरणानि च ॥३४॥

ते प्राप्य धनमक्षय्यं त्वदीयं भरतर्षभ ।
उदक्रोशन्महाभागा नरेन्द्र विजितारयः ॥२५॥

हे भारत ! इतना कहने के अनन्तर वे वीर तुम्हारे शिविर में घुसे और वहां पर जो कोश, रत्न, ऋद्धि, और धन राशि प्राप्त हुई उसे अपने अधिकार में किया। हे भरतर्षभ ! वहां पर चांदी, सुवर्ण, मणि, मौक्तिक, उत्तम २ भूषण, कम्बल, सिंह आदि के चर्मे की ढ़ेरी, अगनित दासी दास, राज्य के उपयोगी उपकरन (फर्नीचर) बहुत सा मिला। हे नरेन्द्र ! इस प्रकार तुम्हारे शिविर से अक्षयधन राशि को पाकर शत्रु विजय महाबली पाण्डव, हर्ष में गर्ज उठे ॥२ -२५॥

ते तु वीराः समाश्वस्य वाहनान्यवमुच्य च ।
अतिष्ठन्त मुहुः सर्वे पाण्डवाः सात्यकिस्तथा ॥२६॥

अब उन वीरों ने थोड़ी देर वहां विश्राम किया और वाहन भी खोल दिये। थोड़ी देर तक पाण्डव और सात्यकि वहीं डटे रहे ॥२६॥

अथाब्रवीन्महाराज वासुदेवो महायशाः ।
अस्माभिर्मंगलार्थाय वस्तव्यं शिविराद्बहिः ॥२७॥
तथेत्युक्त्वा हि ते सर्वे पाण्डवाः सात्यकिस्तथा ।
वासुदेवेन सहिता मंगलार्थं बहिर्ययुः ॥२८॥

हे महाराज ! इसके अनन्तर महायशस्वी श्रीकृष्ण, बोले-कि आज हम लोग शिविर से बाहर रहेंगे, क्योंकि इस तरह

प्रथम दिन शिबिर से बाहर रहना ही मङ्गलाचार होता है। सब ने कहा-अच्छी बात है और सारे पाण्डव तथा सात्यकि श्रीकृष्ण के साथ मङ्गलाचार करने शिबिर से बाहर चले गए॥३७-३ ॥

ते समासाद्य सरितं पुण्या मोघवतीं नृप।

न्यवसन्नथ तां रात्रिं पाण्डवा हतशत्रवः ॥३६॥

हे नृप ! वे लोग, पवित्र सरस्वती नदी के तट पर चले गए। और शत्रुनाशक पाण्डव उस रात में वहीं पर रहे ॥३६॥

युधिष्ठिरस्ततो राजा प्राप्तकालमचिंतयत्।

तत्र ते गमनं प्राप्तं रोचते तव माधव ॥४०॥

गांधार्याः क्रोधदीप्तायाः प्रशमार्थमरिन्दम।

वहां पर इस समय के अनुसार धर्मराज ने विचार कर करके श्रीकृष्ण से कहा—हे माधव! आपका अब गान्धारी के समीप गमन करना उचित है। हे अरिमर्दन! क्रोध में भरी हुई गान्धारी का क्रोध शोक दोनों की शान्ति करनी योग्य है ॥४०॥

हेतुकारणयुक्तैश्च वाक्यैः कालसमीरितैः ॥४१॥

क्षिप्रमेव महाभाग गांधारीं प्रशमिष्यसि।

पितामहश्च भगवान् व्यासस्तत्र भविष्यति ॥४२॥

हे महाराज ! आप कालानुसार हेतु युक्ति आदि से युक्त वचन कह कर शीघ्र गान्धारी क चित्र को शान्त कर सकेंगे। वहां पर पितामह भगवान वेदव्यास भी उपस्थित होंगे ॥४१-४२॥

ततः संप्रेषयामासुर्यादवं नागसाह्वयम् ।
स च प्रायाज्जवेनाशु वासुदेवः प्रतापवान् ॥४३॥
दारुकं रथमारोप्य येन राजांबिकासुतः ।

इसके अनन्तर सबने एक सम्मति होकर महाप्रतापी श्रीकृष्ण को हस्तिनापुर में भेजा। श्रीकृष्ण भी दारुक सारथि को रथमें बैठाकर उधर चल दिए, जिधर अम्बिका पुत्र राजा धृतराष्ट्र थे ॥

तमूचुः सम्प्रयास्यन्तं शैब्यसुग्रीववाहनम् ॥४४॥
प्रत्याश्वासय गांधारीं हतपुत्रां यशस्विनीम् ;

जब श्रीकृष्ण हस्तिनापुर को चले-तो उन्होंने अपने रथमें शैब्य और सुग्रीव नामक दोनों अश्व जोड़ लिए। उनसे पाण्डवों ने कहा—आप सर्व प्रथम पुत्र नाश से सन्तप्त यशस्विनी गान्धारी को सान्त्वना देना ॥४४॥

स प्रायात्पांडवैरुक्तस्तत्पुरं सात्वतां वरः ॥४५॥
आससाद ततः क्षिप्रं गान्धारीं निहतात्मजाम् ।४६॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्रयां संहितायां वैयासिक्यां
शल्यपर्वांतर्गतगदापर्वणि वासुदेवप्रेषणे
द्विषष्टितमोऽध्यायः ॥६२।

जब पाण्डवों ने इस प्रकार उनको भेजा तो सात्वत वंश श्रेष्ठ श्रीकृष्ण उनके कथनानुसार हस्तिनापुर को चल दिए और पुत्रों की मृत्यु से व्याकुल गान्धारी के पास वे कालानुसार शीघ्र ही पहुंच गए ॥४५-४६॥

इतिश्री महाभारत शल्य पर्वान्तर्गत गदा युद्ध पर्व में श्रीकृष्ण को गान्धारी के पास भेजने के वर्णन का बासठवां अध्याय समाप्त हुआ।

तरेसठवां अध्याय

जनमेजय उवाच-किमर्थं द्विजशार्दूल धर्मराजो युधिष्ठिरः।
गान्धार्याः प्रेषयामास वासुदेवं परन्तपम् ॥१॥
यदा पूर्वं गतः कृष्णः शमार्थं कौरवान्प्रति।
न च तं लब्धवान्कामं ततो युद्धमभूदिदम् ॥२॥

जनमेजय ने कहा—हे द्विज शार्दूल! धर्मराज युधिष्ठिर ने सर्व प्रथम गान्धारी के शत्रुतापी श्रीकृष्ण को किस लिए भेजा। कौरवों के पास तो श्रीकृष्ण सन्धि के लिए प्रथम ही भेजे गए थे और उनकी इच्छा पूर्ण नहीं हुई और सन्धि न हो सकी इसी से तो यह युद्ध हुआ ॥१-२॥

निहतेषु तु योधेषु हते दुर्योधने तदा।
पृथिव्यां पाण्डवेयस्य निःसपत्ने कृते युधि ॥३॥
विद्रुते शिबिरे शून्ये प्राप्ते यशसि चोत्तमे।
किं नु तत्कारणं ब्रह्मन् येन कृष्णो गतः पुनः ॥४॥

हे ब्रह्मन्! सारे कौरव योद्धा मारे गए। राजा दुर्योधन भी मारे जाचुके। पृथिवी पाण्डुपुत्र धर्मराज के सारे शत्रुनष्ट हो

गए। सारे लोग भाग गए। शिविर शून्य पड़े थे। इनको उत्तम यश मिल चुका था,। फिर इतनी क्या शीघ्रता पड़ी-जो श्रीकृष्ण फिर हस्तिनापुर इतनी शीघ्र भेजे गए ॥३-४॥

न चैतत्कारणं ब्रह्मन्नल्पं विप्रतिभाति मे।
यत्रागमदमेयात्मा स्वयमेव जनार्दनः ॥५॥

हे ब्रह्मन! इस बात का कोई छोटा कारण नहीं होगा, जो अपरिमित बलशाली भगवान जनार्दन कृष्ण स्वयं ही गान्धारी के समीप पहुंचे ॥५॥

तत्त्वतो वै समाचक्ष्व सर्वमध्वर्यु सत्तम।
यच्चात्र कारणं ब्रह्मन् कार्यस्यास्य विनिश्चये ॥६॥

हे अध्वर्यु सत्तम! ब्रह्मन्! इस कार्य के निश्चय में जो कारण विद्यमान है, उसे आप तत्त्व पूर्वक सुनाए ॥६॥

वैशम्पायन उवाच-त्वद्युक्तोऽयमनुप्रश्नो यन्मां पृच्छसि पार्थिव
तत्तेऽहं सम्प्रवक्ष्यामि यथावद्भरतर्षभ ॥७॥

वैशम्पायन बोले-हे भरतर्षभ! राजन! आपने जो प्रश्न किया-वह ठीक ही है। मै तुमको इसका यथावत उत्तर प्रदान करता हूं ॥ ॥

हतं दुर्योधनं दृष्ट्वा भीमसेनेन संयुगे।
व्युत्क्रम्य समयं राजन् धार्तराष्ट्रं महाबलम् ॥८॥

अन्यायेन हतं दृष्ट्वा गदायुद्धेन भारत ।
युधिष्ठिरं महाराज महद्भयमथाविशत् ॥९॥

हे महाराज ! जब युधिष्ठिर ने युद्ध नियम के विरुद्ध धृतराष्ट्र पुत्र महारथी दुर्योधन को भीमसेन द्वारा रण में अन्याय पूर्ण गदा युद्ध से मार दिया-तो उन्हें बड़ा भय उपस्थित हुआ ॥

चिंतयानो महाभागां गांधारीं तपसान्विताम् ।
घोरेण तपसा युक्तां त्रैलोक्यमपि सा दहेत् ॥१०॥

उस समय उनके चित्त पर गान्धारी का प्रश्न उपस्थित हुआ । जो महाप्रभाव वाली तपस्विनी स्त्री थी ; वह अपने थोड़े तप से त्रिलोकी को भी दग्ध करने में समर्थ थी ॥१०॥

तस्य चिंतयमानस्य बुद्धिः समभवत्तदा ।
गांधार्याः क्रोधदीप्तायाः पूर्वं प्रशमनं भवेत् ॥११॥
सा हि पुत्रवधं श्रुत्वा कृतमस्माभिरीदृशम् ।
मानसेनाग्निना क्रुद्धा भस्मसान्नः करिष्यति ॥१२॥

अब राजा युधिष्ठिर ने यही सोचा, कि सर्व प्रथम क्रोध सन्तप्त गान्धारी के चित्त को शान्त करना चाहिए । वह जब अन्याय पूर्वक अपने पुत्र का वध सुनेगी, तो प्रज्वलित हो उठेगी और मानसिक अग्नि से हम सब को भस्मसात् कर देगी ॥ ११-१२॥

कथं दुःखमिदं तीव्रं गांधारी सम्प्रशाम्यति ।
श्रुत्वा विनिहतं पुत्रं छलेनाजिह्मयोधिनम् ॥१३॥

गान्धारी इस तीव्र दुःख को कैसे सह सकेगी, जो धर्म पूर्वक युद्ध करने वाला उसका पुत्र छल के द्वारा मार लिया गया ॥१३॥

एवं विचिन्त्य बहुधा भयशोकसमन्वितः ।
वासुदेवमिदं वाक्यं धर्मराजोऽभ्यभाषत ॥१४॥

इस तरह भय शोक से युक्त होकर धर्मराज ने बहुतसा विचार किया और फिर कुछ सोच कर वसुदेव श्रीकृष्ण से यह वचन कहा ॥१४॥

तव प्रसादाद्गोविन्द राज्यं निहतकण्टकम् ।
अप्राप्यं मनसाऽपीदं प्राप्तमस्माभिरच्युत ॥१५॥

हे महाबाहो ! अच्युत ! गोविन्द ! हमने आपके अनुग्रह से उस विशाल राज्य को प्राप्त कर लिया है, जिसको हम मन से भी नहीं पा सकते थे। अब राज्य शत्रु आदि के भय से नितान्त मुक्त है ॥१५॥

प्रत्यक्षं मे महाबाहो संग्रामे लोमहर्षणे ।
विमर्दः सुमहान्प्राप्तस्त्वया यादवनन्दन ॥१६॥

हे भारतनन्दन ! महाबाहो ! मैंने यह प्रत्यक्ष देखा है, कि लोम हर्षण संग्राम में आप लोगों ने बड़ा ही घोर संघर्ष प्राप्त किया था ॥१६॥

त्वया देवासुरे युद्धे वधार्थममरद्विषाम् ।
यथा साह्यं पुरा दत्तं हताश्च विबुधद्विषः ॥१७॥

साह्यं तथा महाबाहो दत्तमस्माकमच्युत ।
सारथ्येन च वार्ष्णेय भवता हि धृता वयम् ॥१८॥

हे अच्युत ! तुमने देवासुर संग्राम में दैत्यों के वध के निमित्त देवताओं को बड़ी सहायता की थी, उसी तरह की हम को आज सहायता की है। हे वार्ष्णेय ! आपने अर्जुन का सारथि बन कर हमको बहुत ही अनुगृहीत किया है ॥१७ १८॥

यदि न त्वं भवेन्नाथः फाल्गुनस्य महारणे ।
कथं शक्यो रणे जेतुं भवेदेष बलार्णवः ॥१९॥

हे महाबाहो ! यदि आप इस महारण में अर्जुन के रक्षक न बने होते, तो यह बलवान् भी इस घोर युद्ध के जीतने में समर्थ नहीं हो सकता था ॥१९॥

गदाप्रहारा विपुलाः परिघैश्चापि ताडनम् ।
शक्तिभिर्भिन्दिपालैश्च तोमरैः सपरश्वधैः ॥२०॥
अस्मत्कृते त्वया कृष्ण वाचः सुपरुषाः श्रुताः ।
शस्त्राणां च निपाता वै वज्रस्पर्शोपमा रणे ॥२१॥
ते च ते सफला जाता हते दुर्योधनेऽच्युत ।
तत्सर्वं न यथा नश्येत्पुनः कृष्ण तथा कुरु ॥२२॥

हे कृष्ण ! आपने बहुत सी गदाओं की चोटें, परिघाओं के आघात, शक्ति, भिन्दिपाल, तोमर, परश्वध आदि शस्त्रों के प्रहार हमारे निमित्त सहन किए। बहुत सी कटूक्तियों का श्रवण किया। रण में अन्य भी अनेक वज्र के स्पर्श के समान शस्त्रों की चोटें

ली। हे अच्युत! आज दुर्योधन के मारे जाने पर वे सब सफल
गए। हे कृष्ण! अब अन्त में सब कुछ गुड़ गोबर न हो जावे,
ही तुम उपाय करो ॥२०-२२॥

सन्देहदोलां प्राप्तं नश्चेतः कृष्णजये सति।
गान्धार्या हि महाबाहो क्रोधं बुद्ध्यस्व माधव ॥२३॥

हे माधव! यद्यपि हमारी विजय हो चुकी-तथापि मेरा चित्त
ड़े सन्देह के झूले में झूल रहा है। हे महाबाहो! तुम गान्धारी
क्रोध के प्रभाव को स्वयं समझते ही होगे ॥२३॥

सा हि नित्यं महाभागा तपसोग्रेण कर्शिता।
पुत्रपौत्रवधं श्रुत्वा ध्रुवं नः संप्रधक्ष्यति ॥२४॥

वह महाभागा गान्धारी सर्वदा तप में परायण रहती है। उस
उग्र तप से अपना शरीर सुखा डाला है। वह अपने पुत्र और
त्रों के वध की जब सुनेगी-तो अवश्य हमको दग्ध कर डालेगी ॥

तस्याः प्रसादनं वीरः प्राप्तकालं मतं मम।
कश्च तां क्रोधताम्राक्षीं पुत्रव्यसनकर्शिताम् ॥२५॥
वीक्षितुं पुरुषः शक्तस्त्वामृते पुरुषोत्तम।

हे वीर! अब तो उसका प्रसन्न करना सर्व प्रथम कर्तव्य है
पुरुषोत्तम! पुत्र के विनाश से क्लेशित, क्रोध में भरी हुई,
ल आंखों वाली गान्धारी को तुम्हारे सिवा तो कोई देखने में
। समर्थ नहीं है ॥२४-२५॥

तत्र मे गमनं प्राप्तं रोचते तत्र माधव ॥२६॥
गान्धार्या क्रोधदीप्तायाः प्रशमार्थमरिन्दम ।
त्वं हि कर्ता विकर्ता च लोकानां प्रभवाप्ययः । २
हेतुकारणसंयुक्तैर्वाक्यैः कालसमीरितैः ।
क्षिप्रमेव महाबाहो गान्धारीं शमयिष्यसि ॥२८॥
पितामहश्च भगवान् कृष्णस्तत्र भविष्यति ।
सर्वथा ते महाबाहो गान्धार्याः क्रोधनाशनम् ॥२९॥
कर्तव्यं सात्वतां श्रेष्ठ पाण्डवानां हितार्थिना ।

हे अरिमर्दन ! माधव ! क्रोध से प्रदीप्त, गान्धारी की शान्ति के लिए सबसे प्रथम तुमको जाना चाहिए । मुझे अब यही कर्तव्य दिखाई दे रहा है । हे महाबाहो ! तुम सृष्टि कर्ता और प्रलयकारक हो । जगत् के उत्पादक और विनाशक हो । समयानुसार हेतु कारण से युक्त वचन कहकर शीघ्र ही गान्धारी को शान्त कर सकते हो । भगवान् कृष्ण द्वैपायन महर्षि भी वहां प्रथम से ही पहुंच चुके होंगे । हे यदुवंश श्रेष्ठ ! कृष्ण ! सब तरह से तुमको प्रथम गान्धारी का क्रोध शान्त करना उचित है, क्योंकि पाण्डवों का हित इसी में गुप्त है ॥२६-२९॥

धर्मराजस्य वचनं श्रुत्वा यदुकुलोद्वहः ॥ ३० ॥
आमंत्र्य दारुकं प्राह रथः सज्जो विधीयताम् ।

हे राजन् ! यदुकुल वंशश्रेष्ठ, श्रीकृष्णने जब धर्मराज के ये वचन सुने तो उन्होंने दारुक सारथि को बुलाया और रथ के तय्यार करके लाने की आज्ञा दी ॥३०॥

केशवस्य वचः श्रुत्वा त्वरमाणोऽथ दारुकः ॥३१॥
न्यवेदयद्रथं सज्जं केशवाय महात्मने ।

श्रीकृष्ण के वचन सुनकर दारुक ने बड़ी शीघ्रता की और रथ को सुसज्जित करके महा शक्तिशाली श्रीकृष्ण के सन्मुख लाकर खड़ा कर दिया ॥ १॥

तं रथं यादवश्रेष्ठः समारुह्य परन्तपः ॥३२॥
जगाम हास्तिनपुरं त्वरितः केशवो विभुः ।

यदुकुल भूषण, शत्रुतापी, भगवान श्रीकृष्ण उस रथ में चढ़ गए और बड़ी शीघ्रता से हस्तिनापुर की ओर चले ॥३२॥

ततः प्रायान्महाराज माधवो भगवान् रथी ॥३३॥
नागसाह्वयमासाद्य प्रविवेश च वीर्यवान् ।
प्रविश्य नगरं वीरो रथघोषेण नादयन् ॥३४॥

हे महाराज ! वीर्यवान् भगवान् श्रीकृष्ण, रथ में बैठकर शीघ्रता से चले और बहुत शीघ्र हस्तिनापुर पहुंचकर उसमें प्रविष्ट हुए श्रीकृष्ण ने ज्योंही नगर में प्रवेश किया अपने रथ की ध्वनि से उसे निनादित कर दिया ॥३३-३४॥

विदितं धृतराष्ट्रस्य सोऽवतीर्य रथोत्तमात् ।
अभ्यगच्छददीनात्मा धृतराष्ट्रनिवेशनम् ॥३५॥

जब राजा धृतराष्ट्र को विदित हुआ, कि श्रीकृष्ण आपसे मिलने को पैदल ही आ रहे हैं। अपरिमित बलशाली श्रीकृष्ण, रथ से उतर कर राजा धृतराष्ट्र के महलों में प्रविष्ट हुए ॥३५॥

पूर्वं चाभिगतं तत्र सोऽपश्यदृषिसत्तमम् ।
पादौ प्रपीड्य कृष्णस्य राज्ञश्चापि जनार्दनः ॥३६॥
अभ्यवादयदव्यग्रो गान्धारीं चापि केशवः ।

जनार्दन श्रीकृष्ण ने वहां पूर्व से ही उपस्थित भगवान् वेद-व्यास को देखा। उन्होंने, वेदव्यास जी के चरणों का स्पर्श करके राजा धृतराष्ट्र के चरण छूए। और उसी शीघ्रता से गान्धारी के चरणों में अभिवादन किया ॥३६॥

ततस्तु यादवश्रेष्ठो धृतराष्ट्रमधोक्षजः ॥३७॥
पाणिमालम्ब्य राजेन्द्र सुस्वरं प्ररुरोद ह ।
समुहूर्तादिवोत्सृज्य बाष्पं शोकसमुद्भवम् ॥३८॥
प्रक्षाल्य वारिणा नेत्रे ह्याचम्य च यथाविधि ।
उवाच प्रस्तुतं वाक्यं धृतराष्ट्रमरिन्दमः ॥३९॥

हे राजेन्द्र ! इसके अनन्तर यदुकुल भूषण, भगवान् श्रीकृष्ण राजा धृतराष्ट्र के दोनों हाथों से लिपट गए और बड़े ऊंचे स्वर में जोरसे रोने लगे। इस प्रकार शोकसे उत्पन्न आंसुओंका थोड़ी देर तक प्रवाह बहता रहा। फिर जल से नेत्र धोए और विधि पूर्वक आचमन किया। इसके बाद अरिमर्दन कृष्ण ने धृतराष्ट्र से यह वचन कहा ॥३७-३९॥

न तेऽस्त्यविदितं किञ्चिद्वृद्धस्य तव भारत ।
कालस्य च यथा वृत्तं तत्ते सुविदितं प्रभो ॥४०॥

हे भारत! आप वृद्ध पुरुष हैं, आपको कुछ अविदित नहीं हैं। हे प्रभो! काल की जो महिमा हैं, वह आपसे छुपी हुई नहीं है ॥४०॥

यदिदं पाण्डवैः सर्वैस्तव चित्तानुरोधिभिः ।
कथं कुलक्षयो न स्यात्तथा क्षत्रस्य भारत ॥४१॥

हे भरतर्षभ! तुम्हारे चित्त के अनुकूल चलने वाले, पाण्डवों के साथ जो व्यवहार हुआ वह बड़ा ही अनुचित था इस दशा में सारे क्षत्रिय वंश का विनाश क्यों न होता ॥४१॥

भ्रातृभिः समयं कृत्वा क्षान्तवान् धर्मवत्सलः ।
द्यूतच्छलजितैः शुद्धैर्वनवासो ह्युपागतः ॥४२॥

धर्मराज युधिष्ठिर ने अपने भाई कौरवों के साथ समय निर्धारित करके बहुत ही क्षमा की। उनको द्यूत में छल से जीता गया और वे शुद्ध हृदय धारी पाण्डव अन्त में वन में चले गए ॥४२॥

अज्ञातवासचर्या च नानावेषसमावृतैः ।
अन्ये च बहवः क्लेशास्त्वशक्तैरिव सर्वदा ॥४३॥

पाण्डवों ने, अनेक पृथक् २ रूप धारण करके अज्ञात वास किया। इसी तरह इन्होंने अशक्तों की भांति बहुत से क्लेशों का सहन किया ॥४३॥

मया च स्वयमागम्य युद्धकाल उपस्थिते ।
सर्वलोकस्य सान्निध्ये ग्रामांस्त्वं पञ्च याचितः ॥४४॥
त्वया कालोपसृष्टेन लोभता नापवर्जिताः ।
तवापराधान्नृपते सर्वं क्षत्रं क्षयं गतम् ॥४५॥

हे राजन् ! जब युद्ध का बहुत ही समीप समय उपस्थित हुआ तो मैंने स्वयं आकर सब लोगों के सन्मुख पांच गांवों की याचना की थी । तुम भी काल की प्रेरणा से बंधे हुए थे, अतएव लोभ के कारण तुमने वे पांच गांव भी नहीं दिए । हे नृपते ! आपके अपराध से ही यह सारे क्षत्रिय वंश का विनाश हुआ है ॥४४-४५॥

भीष्मेण सोमदत्तेन बाल्हीकेन कृपेण च ।
द्रोणेन च सपुत्रेण विदुरेण च धीमता ॥४६॥
याचितस्त्वं शमं नित्यं न च तत्कृतवानसि ।
कालोपहतचित्ता हि सर्वे मुह्यन्ति भारत ॥४७॥

भीष्म, सोमदत्त, बाल्हीक, कृपाचार्य, द्रोण, अश्वत्थामा, बुद्धिमान् विदुर आदि ने भी तुमसे सन्धि करने की प्रार्थना की, परन्तु तुमने स्वीकार नहीं किया । हे भारत ! इसमें तुम्हारा क्या दोष है काल के मारे हुए मनुष्य इसी तरह मोहित हो जाते हैं ॥४६-४७

यथा मूढो भवान्पूर्वमस्मिन्नर्थे समुद्यते ।
किमन्यत्कालयोगाद्धि दिष्टमेव परायणम् ॥४८॥

जब यह घटनाचक्र पूर्वकाल में उपस्थित हुआ तो तुम भी इसी तरह मोहित होगए। इसमें भवितव्यता के सिवा अन्य क्या हो सकता है। इसमें भाग्य ही सबसे प्रधान कारण हैं ॥४८॥

मा च दोषान्महाप्राज्ञ पाण्डवेषु निवेशय ।
अल्पोऽप्यतिक्रमो नास्ति पाण्डवानां महात्मनाम् ॥
धर्मतो न्यायतश्चैव स्नेहतश्च परन्त ।

हे महाप्राज्ञ ! तुमको इन सारी बातों का दोष पाण्डवों पर नहीं डालना चाहिए। महारथी पाण्डवों का तो इसमें थोड़ा सा भी अपराध नहीं है। हे परन्तप ! इसे आप धर्म न्याय और स्नेह पूर्वक विचार करके देख लो ॥४९॥

एतत्सर्वं तु विज्ञाय ह्यात्मदोषकृतं फलम् ॥५०॥
असूयां पाण्डुपुत्रेषु न भवान्कर्तुमर्हति ।

इस तरह सब कुछ अच्छी तरह जान कर सब कुछ अपना ही दोष समझो। पाण्डु पुत्र धर्मराज आदि के शिर पर इसका दोष डालना आप जैसे समझदार व्यक्ति को उचित नहीं है ॥५०॥

कुलं वंशश्च पिण्डाश्च यच्च पुत्रकृतं फलम् ॥५१॥
गान्धार्यास्तव वै नाथ पाण्डवेषु प्रतिष्ठितम् ।

हे नाथ ! अब तो कुलवंश, पिण्ड, पुत्र का फल आपका और गान्धारी का पाण्डवों के अधीन ही समझो ॥५१॥

त्वं चैव कुरुशार्दूल गान्धारी च यशस्विनी ॥५२॥
मा शुचो नरशार्दूल पाण्डवान्प्रति किल्बिषम् ।

हे नरशार्दूल ! तुम और यशस्विनी गान्धारी को पाण्डवों के प्रति किसी प्रकार की दोष-कल्पना करनी उचित नहीं है ॥५२॥

एतत्सर्वमनुध्याय आत्मनश्च व्यतिक्रमम् ॥५३॥
शिवेन पाण्डवान्पाहि नमस्ते भरतर्षभ ।

यह सब कुछ सोचकर और अपनी उलटी चाल का विचार करके अपनी आशीषों से पाण्डवों की रक्षा करो। हे भरतर्षभ ! आपको नमस्कार है ॥५३॥

जानासि च महाबाहो धर्मराजस्य या त्वयि ॥५४॥
भक्तिर्भरतशार्दूल स्नेहश्चापि स्वभावतः ।

हे महाबाहो ! भरतवंश शार्दूल ! आप यह जानते हो, कि धर्मराज की आपके विषय में कितनी तीव्र भक्ति है। और उन का आप में कितना स्वाभाविक प्रेम है ॥५४॥

एतच्च कदनं कृत्वा शत्रूणामपकारिणाम् ॥५५॥
दह्यते स दिवारात्रौ न च शर्माधिगच्छति ।

अपने अपकारी शत्रुभूत भ्राताओं के इस महान् विनाश को करके धर्मराज रात दिन सन्तापित हो रहे हैं और उन्हें तनक भी कल्याण प्राप्ति नहीं होती है ॥५५॥

त्वां चैव नरशार्दूल गान्धारीं च यशस्विनीम् ॥५६॥
स शोचन्नरशार्दूलः शान्तिं नैवाधिगच्छति ।

हे नरशार्दूल ! नर श्रेष्ठ धर्मराज तो तुम्हारी और यशस्विनी गान्धारी की ही रात दिन चिन्ता करते रहते हैं। तुम्हारी चिन्ता में उनको किसी तरह भी शान्ति नहीं मिल रही है ॥५६॥

ह्रिया च परयाऽऽविष्टो भवन्तं नाधिगच्छति ॥५७॥
पुत्रशोकाभिसन्तप्तं बुद्धिव्याकुलितेन्द्रियम् ।

आप पुत्र के शोक से सन्तप्त होंगे और सारी बुद्धि तथा इन्द्रियां व्याकुल होंगी-यह सोचकर ही बहुत लज्जा से व्याकुल हुए धर्मराज आपके सन्मुख भी नहीं आसके हैं ॥५७॥

एवमुक्त्वा महाराज धृतराष्ट्रं यदूत्तमः ॥५८॥
उवाच परमं वाक्यं गान्धारीं शोककर्शिताम् ।

हे महाराज ! यदुवंश श्रेष्ठ, श्रीकृष्ण, राजा धृतराष्ट्र से इतना कहकर शोकातुर यशस्विनी गान्धारी से इस प्रकार उत्तम वाक्य बोले ॥५८॥

सौबलेयि निबोध त्वं यत्त्वां वक्ष्यामि तच्छृणु ॥५९॥
त्वत्समा नास्ति लोकेऽस्मिन्नद्य सीमन्तिनी शुभे ।

हे सुबल पुत्रि ! मैं जो तुमसे कहता हूँ तुम उसको ध्यान से सुनो। हे भद्रे ! तुम्हारे समान कल्याणकारिणी कोई अन्य स्त्री संसार में नहीं है ॥५९॥

जानासि च यथा राज्ञि सभायां मम सन्निधौ ॥६०॥
धर्मार्थसहितं वाक्यमुभयोः पक्षयोर्हितम् ।
उक्तवत्यसि कल्याणि न च ते तनयैः कृतम् ॥६१॥

हे राज्ञी ! तुमको याद होगा-जो तुमने मेरे सन्मुख सभा में वचन कहा था-वह वचन धर्म और नीति से पूर्ण तथा दोनों पक्ष का हितकारी था, परन्तु तुम्हारे पुत्रों ने उस वचन को नहीं माना॥

दुर्योधनस्त्वया चोक्तो जयार्थी परुषं वचः ।
शृणु मूढ वचो मह्यं यतो धर्मस्ततो जयः ॥६२॥

जब राजा दुर्योधन ने विजय के आशीर्वाद के लिए तुमसे कहा था-तब तुम को याद होगा, कि तुमने स्पष्ट कह दिया था, कि भूल भूलैय्यां में पड़े हुए दुर्योधन तू मेरे वचन सुनले, कि जिधर धर्म होगा-उधर को ही विजय होगी ॥६२॥

तदिदं समनुप्राप्तं तव वाक्यं नृपात्मजे ।
एवं विदित्वा कल्याणि मा स्म शोके मनः कृथाः ॥

हे राज पुत्रि ! आज तुम्हारा वचन सत्य होगया । हे कल्याणि ? तुम इस बात को समझ कर अपने मनको शोक में नहीं डालोगी ॥

पाण्डवानां विनाशाय मा ते बुद्धिः कदाचन ।
शक्ता चासि महाभागे पृथिवीं सचराचराम् ॥६४॥
चक्षुषा क्रोधदीप्तेन निर्दग्धुं तपसो बलात् ।

हे महाभागे ! तुम अपनी बुद्धि को पाण्डवों के विनाश के निमित्त प्रेरित न करो । हे महाभागे ! तुम अपने तप के बल से जब क्रोध प्रदीप्त नेत्रों से देखने लगोगी-तो इस चराचर जगत से युक्त सारी पृथिवी के भस्म कर देने में समर्थ हो सकेगी ॥६४॥

वासुदेववचः श्रुत्वा गान्धारी वाक्यमब्रवीत् ॥६५॥
एवमेतन्महाबाहो यथा वदसि केशव ।
आधिभिर्दह्यमानाया मतिः सञ्चलिता मम ॥६६॥
सा मे व्यवस्थिता श्रुत्वा तव वाक्यं जनार्दन ।

वसुदेव पुत्र श्रीकृष्ण के वचन सुनकर गान्धारी यह वचन कहने लगी हे महाबाहो ! केशव ! जो तुम कह रहे हो यह ठीक है। मन के आवेश से सन्तप्त मुझ दुखिया का चित्त बड़ा ही डांवा डोल होरहा है। हे जनार्दन ! वह कुछ आपके वचन से शान्त होना चाहता है ॥६५-६६॥

राज्ञस्त्वंधस्य वृद्धस्य हतपुत्रस्य केशव ॥६७॥
त्वं गतिः सहितैर्वीरैः पाण्डवैर्द्विपदां वर ।
एतावदुक्त्वा वचनं मुखं प्रच्छाद्य वाससा ॥६८॥
पुत्रशोकाभिसन्तप्ता गान्धारी प्ररुरोद ह ।

हे केशव ! आप मनुष्यों में सब श्रेष्ठ हैं, इससे पुत्र विहीन अन्धे वृद्ध राजा धृतराष्ट्र के पाण्डवों के सहित तुम ही एक रक्षक हो। हे राजन् ! बस ? इतना कहकर गान्धारी ने अपने मुख को वस्त्र से ढक कर पुत्र के शोक से व्याकुल होउठी और बड़े जोर से रोने लगी ॥६७-६८॥

तत एनां महाबाहुः केशवः शोककर्शिताम् ॥६९॥
हेतुकारणसंयुक्तैर्वाक्यैराश्वासयत्प्रभुः ।

अब शोक से व्याकुल गान्धारी को महाबाहुधारी, भगवान् श्रीकृष्ण ने, हेतु और कारणों से युक्त वचन कहकर बहुत कुछ समझाया ॥६९॥

समाश्वास्य च गान्धारीं धृतराष्ट्रं च माधवः ॥७०॥
द्रौणिसङ्कल्पितं भावमवबुद्धयत केशवः ।

श्रीकृष्ण ने राजा धृतराष्ट्र और गान्धारी को बहुत कुछ समझाया वृष्णि वंशश्रेष्ठ, श्रीकृष्णने, जब राजा धृतराष्ट्र और गान्धारी को समझा लिया तो उनके चित्त में सहसा अश्वत्थामा के रात के आक्रमण करदेने की स्कीम ध्यान में आई ॥७०॥

ततस्त्वरित उत्थाय पादौ मूर्ध्ना प्रणम्य च ॥७१॥
द्वैपायनस्य राजेन्द्र ततः कौरवमब्रवीत् ।

हे राजेन्द्र ! अब वे झटपट उठे, और उन्होंने कृष्ण द्वैपायन व्यास के चरणों में मस्तक टेक कर प्रणाम किया। और इसके अनन्तर राजा धृतराष्ट्र से कहा ॥७१॥

आपृच्छे त्वां कुरुश्रेष्ठ मा च शोके मनः कृथाः ॥७२॥
द्रौणेः पापोऽस्त्यभिप्रायस्तेनास्मि सहसोत्थितः ।
पाण्डवानां वधे रात्रौ बुद्धिस्तेन प्रदर्शिता ॥७३॥

हे कुरुवंश श्रेष्ठ! अब मैं आप से विदा होना चाहता हूँ। तुम अपने मन को शोक में निमग्न न करना। द्रोण पुत्र अश्वत्थामा के चित्त में पापी अभिप्राय घर किए हुए हैं इससे मैं एक दम खड़ा होगयाहूँ उसने पाण्डवों के वध करने की रात में युक्ति सोची है ॥७२-७३॥

एतच्छ्रुत्वा तु वचनं गान्धार्या सहितोऽब्रवीत् ।
धृतराष्ट्रो महाबाहुः केशवं केशिसूदनम् ॥७४॥

हे राजन् ! इतना वचन सुनकर गान्धारी के सहित महाबाहु राजा धृतराष्ट्र केशिनाशक श्रीकृष्ण से यह वचन कहने लगे ।।७४।।

शीघ्रं गच्छ महाबाहो पाण्डवान्परिपालय ।
भूयस्त्वया समेष्यामि क्षिप्रमेव जनार्दन ।।७५।।
प्रायात्ततस्तु त्वरितो दारुकेण सहाच्युतः ।

हे महाबाहो ! तुम शीघ्र जाओ और पाण्डवों की परिपालना करो । हे जनार्दन ! मैं शीघ्र ही तुमसे फिर मिलने की इच्छा करता हूँ । अब भगवान कृष्ण, अपने दारुक सारथि को साथ लेकर बड़ी शीघ्रता से चल दिए ।।७५।।

वासुदेवे गते राजन् धृतराष्ट्रं जनेश्वरम् ।।७६।।
आश्वासयदमेयात्मा व्यासो लोकनमस्कृतः ।

हे राजन ! श्रीकृष्ण के चले जाने पर राजा धृतराष्ट्र को लोकपूज्य अपरिमित-शक्तिशाली भगवान् वेदव्यास ने बहुत कुछ समझाया ।।७६।।

वासुदेवोऽपि धर्मात्मा कृतकृत्यो जगाम ह ।।७७।।
शिबिरं हास्तिनपुराद्दिदृक्षुः पाण्डवान्नृप ।
आगम्य शिबिरं रात्रौ सोऽभ्यगच्छत पाण्डवान् ।
तच्च तेभ्यः समाख्याय सहितस्तैः समाहितः ।।७८।

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्रयां संहितायां वैयासिक्यां शल्यपर्वांतर्गतगदापर्वणि धृतराष्ट्रगांधारीसमाश्वासने त्रिषष्टितमोऽध्यायः ।।६३।।

हे नृप! धर्मात्मा वसुदेव पुत्र श्रीकृष्ण भी कृतार्थ होकर हस्तिनापुर से चल दिए और वे बहुत शीघ्र अपने शिविर को देखना चाहते थे। महात्मा कृष्ण रात को अपने शिविर में आ पहुंचे, और पाण्डवों के पास पहुंचे वहां का सारा वृत्तान्त पाण्डवों को कह सुनाया और आप बड़ी सावधानी से उनके साथ वहीं सोगए ॥७४-८८॥

इतिश्री महाभारत शल्यपर्वान्तर्गत गदापर्व में धृतराष्ट्र गान्धारी समाश्वासन का तरेसठवां अध्याय समाप्त हुआ



चौसठवां अध्याय

धृतराष्ट्र उवाच-अधिष्ठितः पदा मूर्ध्नि भग्नसक्थो महीं गतः।
शौटीर्यमानी पुत्रो मे किमभाषत संजय ॥१॥

धृतराष्ट्र कहने लगे—हे सञ्जय! जब भीमसेन ने अपने चरण की ठोकर राजा दुर्योधन के मस्तक में मारी और दुर्योधन जांघ टूटने पर पृथिवी में गिर गया-तो अपने अभिमान में चूर रहने वाले, मेरे पुत्र ने क्या वचन कहा ॥१॥

अत्यर्थं कोपनो राजा जातवैरश्च पाण्डुषु।
व्यसनं परमं प्राप्तः किमाह परमाहवे ॥२॥

राजा दुर्योधन बड़ा कोप करने वाला था। वह पाण्डवों से सर्वदा वैर रखता था, इस महाघोर युद्ध में अत्यन्त संकटापन्न अवस्था को प्राप्त होकर क्या बोला ॥२॥

सञ्जय उवाच-शृणु राजन्प्रवक्ष्यामि यथावृत्तं नराधिप।

राज्ञा यदुक्तं भग्नेन तस्मिन्व्यसन आगते ॥३॥

सञ्जय ने कहा—हे नराधिप! जब राजा दुर्योधन की टांग टूट गई और महा विपत्ति उपस्थित हुई-तो उस समय राजा दुर्योधन ने जो कुछ कहा-वह मैं तुमको सुनाता हूं-तुम ध्यान से सुनो ॥

भग्नसक्थो नृपो राजन्पांसुना सोऽवगुण्ठितः।

यमयन्मूर्धजांस्तत्र वीक्ष्य चैव दिशो दश ॥४॥

हे राजन्! राजा दुर्योधन की जंघा टूट चुकी थी और वह मिट्टी में पड़ा था। अब उसने अपने बालों को सम्हाला और दशों दिशाओं की ओर दृष्टि उठाई ॥४॥

केशान्नियम्य यत्नेन निःश्वसन्नुरगो यथा।

संरम्भाश्रुपरीताभ्यां नेत्राभ्यामभिवीक्ष्य माम् ॥५॥

उसने बड़े प्रयत्न से अपने बाल बांध लिए और सर्प के समान श्वास मारी। उसकी आंखों में क्रोध के अश्रु भरे हुए थे। उनही नेत्रों से उसने मेरी ओर देखा ॥५॥

बाहू धरण्यां निष्पिष्य मुहुर्मत्त इव द्विपः।

प्रकीर्णान्मूर्धजान्धुन्वन् दन्तैर्दन्तानुपस्पृशन् ॥६॥

गर्हयन्पांडवं ज्येष्ठं निःश्वस्येदमथाब्रवीत्।

उसने बिगाड़े हुए हाथी की भांति अपनी भुजा भूमि पर पटकी। उसने अपने बिखरे हुए कंपाए और दांतों से दांतों को

पीसा। वह धर्मराज युधिष्ठिर की निन्दा करता हुआ श्वास मार कर यह वचन कहने लगा ॥६॥

भीष्मे शांतनवे नाथे कर्णे शस्त्रभृतां वरे ॥७॥
गौतमे शकुनौ चापि द्रोणे चास्त्रभृतां वरे।
अश्वत्थाम्नि तथा शल्ये शूरे च कृतवर्मणि ॥८॥
इमामवस्थां प्राप्तोऽस्मि कालो हि दुरतिक्रमः।
एकादशचमूभर्ता सोऽहमेतां दशां गतः ॥९॥
कालं प्राप्य महाबाहो न कश्चिदतिवर्तते।

शान्तनु पुत्र भीष्म, शस्त्र धारियों में श्रेष्ठ कर्ण, कृपाचार्य, शकुनि, अस्त्र धारियों में उत्तम द्रोणाचार्य, अश्वत्थामा, राजा शल्य, शूरवीर कृतवर्मा आदि के होने पर भी मेरी यह दशा हुई यह काल की दुरतिक्रमणीय गति का परिणाम है। मैं ग्यारह अक्षौहिणी सेना का स्वामी होकर भी आज इस दशा में पड़ा हूं। हे,महाबाहो! जब समय आता है, तब उसको कोई भी नहीं उलांघ सकता है ॥७-९॥

आख्यातव्यं मदीयानां येऽस्मिन्जीवंति संयुगे ॥१०
यथाऽहं भीमसेनेन व्युत्क्रम्य समयं हतः।

हे सञ्जय! अब इस युद्धमें जो मेरे पक्षके लोग बचे हों उनसे तुम कह देना कि युद्ध के नियम का भङ्ग करके भीमसेन ने राजा दुर्योधन को मारा है ॥१०॥

बहूनि सुनृशंसानि कृतानि खलु पाण्डवैः ॥११॥
भूरिश्रवसि कर्णे च भीष्मे द्रोणे च श्रीमति ।

पाण्डवों ने भूरिश्रवा, महारथी कर्ण, भीष्म पितामह और महाबलवान् द्रोणाचार्य सबके साथ अनुचित प्रकार से युद्ध करके उनको मार गिराया है ॥११॥

इदं चाकीर्तिजं कर्म नृशंसैः पाण्डवैः कृतम् ॥१२॥
येन ते सत्सु निर्वेदं गमिष्यंति हि मे मतिः ।

मेरे साथ गदायुद्ध में तो जो पाण्डु पुत्र भीम ने किया, यह उनके बहुत ही अपयश को बढ़ाने वाला है - इस कुकृत्य से तो सज्जनों की सभा में उनपर घृणा के प्रस्ताव स्वीकृत हुए बिना न रहेंगे । यह मुझे निश्चय है ॥१२॥

का प्रीतिः सत्वयुक्तस्य कृत्वोपाधिकृतं जयम् ॥१३॥
को वा समयभेत्तारं बुधः संमन्तुमर्हति ।

किसी धर्मात्मा सरल प्रकृति पुरुष को छल से जीत लेने में गौरव ही क्या है ! जो नियमों का भङ्ग करके विजयी होता है उसकी बुद्धिमान् मनुष्य कैसे प्रशंसा कर सकते हैं ॥१३॥

अधर्मेण जयं लब्ध्वा को नु हृष्येत पण्डितः ॥१४॥
यथा संहृष्यते पापः पाण्डुपुत्रो वृकोदरः ।

अधर्म के द्वारा विजय प्राप्त करने में समझदार मनुष्य को कैसे हर्ष हो सकता है परन्तु पापी वृकोदर भीम तो अपने इस अधर्म पूर्ण विजय पर भी गर्व कर रहा है ॥१४॥

किन्नु चित्रमितस्त्वद्य भग्नसक्थस्य यन्मम ॥१५॥
क्रुद्धेन भीमसेनेन पादेन मृदितं शिरः ।

इससे अधिक अन्य क्या नीचता पूर्ण विचित्र बात होगी, जो अधर्म पूर्वक मेरी जंघा तोड़ी जाने पर क्रोध के साथ भीमसेन ने मेरे शिर पर ठोकर मारी ॥१५॥

प्रतपन्तं श्रिया जुष्टं वर्तमानं च बन्धुषु ॥१६॥
एवं कुर्यान्नरो यो हि स वै संजय पूजितः ।

हे सञ्जय ! जो मनुष्य, अपने बान्धवों में शुभ कर्म से ऐश्वर्य प्राप्त करके देदीप्यमान होता है, वही संसार में महिमा को प्राप्त होसकता है-भीमसेन सदृश पुरुष नहीं पासकता ॥१६॥

अभिज्ञौ युद्धधर्मस्य मम माता पिता च मे ॥१७॥
तौ हि संजय दुःखार्तौ विज्ञाप्यौ वचनाद्धि मे ।
इष्टं भृत्या भृताः सम्यग्भूः प्रशास्ता ससागरा ॥१८॥
मूर्ध्नि स्थितममित्राणां जीवतामेव सञ्जय ।
दत्ता दाया यथा शक्ति मित्राणां च प्रियं कृतम् ॥
अमित्रा बाधिताः सर्वे को नु स्वंततरो मया ।

हे सञ्जय ! मेरे माता और पिता दोनों ही युद्ध के नियमों को जानते हैं और वे दोनों ही इस दुष्ट नीति से दुःखी होंगे । हे सञ्जय उनसे मेरी ओर से यह कह देना कि हमने बहुत से यज्ञ किए, सेवकों की अभिलाषा पूर्ण की, समुद्र सहित पृथिवी धर्मपूर्वक शासन की, जब तक जीवित रहे, शत्रुओं के मस्तक पर स्थित रहे-शक्ति के अनुसार अच्छी तरह दान किया, मित्रों का हित

सम्पादन किया- सारे शत्रुओं को सीधा कर दिया-अब बताओ तुम्हारे पुत्र दुर्योधन से अधिक कौन कृतार्थ होगा ॥१८-१९॥

मानिता बांधवाः सर्वे वश्यः संपूजितो जनः ॥२०॥
त्रितयं सेवितं सर्वं को नु स्वन्ततरो मया ।

मैंने अपने सारे बान्धवों का मान किया, वशवर्ती सेवक जन को सब तरह से सन्तुष्ट किया, अर्थ, धर्म और काम का जैसा सेवन होना चाहिए-वह सब कुछ किया अब बताओ-मुझसे अधिक कौन धन्य होगा ॥२०॥

आज्ञप्तं नृपमुख्येषु मानः प्राप्तः सुदुर्लभः ॥२१॥
आजानेयैस्तथा यातं को नु स्वन्ततरो मया ।

मैंने सारे राजाओं पर आज्ञा की जो अत्यन्त दुर्लभ मान था उसको प्राप्त किया। बड़े २ उत्तम आजानेय (अरबी) अश्वों पर सवारी की, फिर मुझ से अधिक किसका ऐश्वर्य प्राप्त हुआ माना जावेगा ॥२१॥

यातानि परराष्ट्राणि नृपा भुक्ताश्च दासवत् ॥२२॥
प्रियेभ्यः प्रकृतं साधु को नु स्वन्ततरो मया ।

मैं शत्रुओं के राज्य में घुसा चला गया। राजा लोग, दास की भांति सेवा करते रहे। अपने प्रिय मित्रों का सब कुछ कल्याण किया, फिर मुझ सा कृतकृत्य कौन व्यक्ति हो सकेगा ॥२२॥

अधीतं विधिवद्दत्तं प्राप्तमायुर्निरामयम् ॥२३॥
स्वधर्मेण जिता लोकाः को नु स्वन्ततरो मया ।

मैंने सब कुछ पढ़ा, विधि पूर्वक दान किया, निरामय आयु पाई तथा अन्त में क्षत्रिय धर्मानुसार स्वर्ग भी पा लिया अब मुझ से अधिक कौन गौरव शाली माना जा सकेगा ॥२३॥

दिष्ट्या नाहं जितः संख्ये परान्प्रेष्यवदाश्रितः ॥२४॥
दिष्ट्या मे विपुला लक्ष्मीर्मृते त्वन्यगता विभो ॥

यह कितने हर्ष की बात है, कि मैं पराजित होकर भी शत्रुओं का दास नहीं बन रहा हूँ। हे विभो ! मुझे तो यह बहुत गर्व की बात ज्ञात होती है, मेरी राज्य लक्ष्मी के कोई जीते जी हाथ नहीं लगा सका। अब मृत होने पर ही शत्रु इसपर अधिकार करसकें हैं ॥२४॥

यदिष्टं क्षत्रबन्धूनां स्वधर्ममनुतिष्ठताम् ॥२५॥
निधनं तन्मया प्राप्तं को नु स्वन्ततरो मया ।

उत्तम क्षत्रियों को अपने धर्म (युद्ध) का आचरण करते हुए जो मृत्यु अभीष्ट होती है, वह आज मुझे मिल रही है-इससे अधिक मेरा क्या महत्व होगा ॥२५॥

दिष्ट्या नाहं परावृत्तो वैरात्प्राकृतवज्जितः ॥२६॥
दिष्ट्या न विमतिं कांचिद्भजित्वा तु पराजितः ।

मुझे इस बात का अभिमान है, कि मैं साधारण मनुष्य की भांति वैर करके उससे पीछे नहीं हटा। मुझे कोई दुर्बुद्धि द्वारा कायरता नहीं उत्पन्न हुई जिसके साथ में पराजित होऊं-यह कितने गौरव की बात है ॥२६॥

सुप्तं वाथ प्रमत्तं वा यथा हन्याद्विषेण वा ॥२७॥
एवं व्युत्क्रांतधर्मेण व्युत्क्रम्य समयं हतः ।

सोते हुए, मद में हुए पुरुष को जैसे कोई विष देकर मार डाले, इसी तरह धर्म हीन भीम ने, युद्ध के नियमों को भङ्ग करके मुझे मार गिराया है ॥२७॥

अश्वत्थामा महाभागः कृतवर्मा च सात्वतः ॥२८॥
कृपः शारद्वतश्चैव वक्तव्या वचनान्मम ।
अधर्मेण प्रवृत्तानां पाण्डवानामनेकशः ॥२९॥
विश्वासं समयघ्नानां न यूयं गन्तुमर्हथ ।

हे सञ्जय ! महाबली अश्वत्थामा, सात्वत वंशश्रेष्ठ कृतवर्मा और शारद्वान् पुत्र कृपाचार्य से मेरी ओर से यह वचन कहदेना कि पाण्डवो ने बार २ अधर्म पूर्वक प्रवृत्ति दिखाई है। इन धर्म के नियमों के भङ्ग करने वाले पाण्डवों के विश्वास में तुम लोग कभी न आना ॥२८-२९॥

वार्तिकांश्चाब्रवीद्राजा पुत्रस्ते सत्यविक्रमः ॥३०॥
अधर्माद्भीमसेनेन निहतोऽहं यथा रणे ।

हे राजन ! तुम्हारे पुत्र राजा दुर्योधन ने इधर उधर समाचार पहुंचाने वाले व्यक्तियों को सूचित कर दिया है, भीमसेन ने अधर्म पूर्वक हमारा वध किया है ॥३०॥

सोऽहं द्रोणं स्वर्गगतं कर्णशल्यावुभौ तथा ॥३१॥
वृषसेनं महावीर्यं शकुनिं चापि सौवलम् ।
जलसंघं महावीर्यं भगदत्तं च पार्थिवम् ॥३२॥
सोमदत्तं महेष्वासं सैन्धवं च जयद्रथम् ।
दुःशासनपुरोगांश्च भ्रातॄनात्मसमांस्तथा ॥३३॥
दौःशासनिं च विक्रान्तं लक्ष्मणं चात्मजावुभौ ।
एतांश्चान्यांश्च सुबहून् मदीयांश्च सहस्रशः ॥३४॥
पृष्ठतोऽनुगमिष्यामि सार्थहीनो यथाऽध्वगः ।

द्रोणाचार्य, महारथी कर्ण, राजा शल्य, महापराक्रमी जलसन्ध सुबल पुत्र शकुनि, महाबली वृषसेन, राजा भगदत्त, महाधनुर्धर सोमदत्त, सिन्धुराज जयद्रथ, दुःशासन आदि प्राण प्रिय सारे भ्राता दुःशासन पुत्र विक्रान्त, और मेरे पुत्र लक्ष्मण, तथा अन्य कई सहस्र संख्या में गिने जाने वाले मेरे सुहृद स्वर्ग पहुंच चुके हैं। अब मैं तो उनके पीछे इस तरह दौड़कर जा रहा हूं जैसे अपने साथ से बिछुड़ा हुआ उसका स्वामी उसके पीछे दौड़ता है ॥३१-३४

कथं भ्रातॄन् हतान् श्रुत्वा भर्तारं च स्वसा मम ॥
रोरूयमाणा दुःखार्ता दुःशला सा भविष्यति ।

मेरी भगिनी दुःशला अपने भ्राता और पति की मृत्यु के जब समाचार सुनेगी-तो उसकी क्या दशा होगी। वह दुःख से व्याकुल होकर रो २ कर पछाड़ खाती रहेगी ॥३५॥

स्नुषाभिः प्रस्नुषाभिश्च वृद्धो राजा पिता मम ॥३६॥
गांधारीसहितश्चैव कां गतिं प्रतिपत्स्यति ।

हे सञ्जय ! अपनी पुत्र और पौत्र वधुओं को देखकर मेरी माता गान्धारी के साथ मेरे पिता राजा धृतराष्ट्र की क्या गति होगी ॥३६॥

नूनं लक्ष्मणमाताऽपि हतपुत्रा हतेश्वरा ॥३७॥
विनाशं यास्यति क्षिप्रं कल्याणी पृथुलोचना ।

यह निश्चय है, कि अपने पति और अपने पुत्र लक्ष्मण के मारे जाने पर विशाल लोचन वाली मेरी सुन्दरी भार्या अवश्य प्राण छोड़ देगी-इसमें सन्देह नहीं है ॥३७॥

यदि जानाति चार्वाकः परिव्राड् वाग्विशारदः ॥३८॥
करिष्यति महाभागो ध्रुवं चापचितिं मम ।

बोलने में कुशल, संन्यासी चार्वाक को इस व्यवहार का पता लगे, तो वह महानुभाव, मेरी इस अत्याचार पीड़ित अवस्था का ज्ञान संसार को अवश्य करा देवे ॥३८॥

समन्तपञ्चके पुण्ये त्रिषु लोकेषु विश्रुते ॥३९॥
अहं निधनमासाद्य लोकान्प्राप्स्यामि शाश्वतान् ।

अब मैं तो त्रिलोकी में प्रसिद्ध इस समन्त पञ्चक नामक तीर्थ पर प्राण छोड़कर सनातन स्वर्ग को ले जा रहा हूं ॥३९॥

ततो जनसहस्राणि बाष्पपूर्णानि मारिष ॥४०॥
प्रलापं नृपतेः श्रुत्वा व्यद्रवन्त दिशो दश ।

हे आर्य ! राजा दुर्योधन के ये करुणापूर्ण वचन सुनकर वहां जो सहस्रों मनुष्य खड़े थे, वे सब आर्तस्वर में रोने लगे । और फिर वे अपनी २ इच्छानुसार दशों दिशाओं को चले गए ॥४१॥

स सागरवना घोरा पृथिवी स चराचरा ॥४१॥
चचालाथ सनिर्हादा दिशश्चैवाविला भवन्।

हे राजन ! इस समय समुद्र, वन, स्थावर जङ्गम जगत् सहित सारी पृथिवी कांप उठी जिससे बड़ी भारी कड़कन हुई और दिशाएँ मलिन होगईं ॥४१॥

ते द्रोणपुत्रमासाद्य यथावृत्तं न्यवेदयन् ॥४२॥
व्यवहारं गदायुद्धे पार्थिवस्य च पातनम् ।

हे राजन् ! अब उन पुरुषों में से कुछ वार्ताहर मनुष्यों ने जा-कर यह सारा समाचार द्रोण पुत्र अश्वत्थामा को सुनाया, कि गदा युद्ध में राजा दुर्योधन के साथ यह व्यवहार किया गया और अधर्म पूर्वक उसे इस तरह रणभूमि में गिरा दिया गया ॥४२॥

तदाख्याय ततः सर्वे द्रोणपुत्रस्य भारत ।
ध्यात्वा च सुचिरं कालं जग्मुरार्ता यथागतम् ॥४३॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां शल्यपर्वांतर्गतगदापर्वणि दुर्योधनविलापे चतुःषष्टितमोऽध्यायः ॥६४॥

हे भारत ! वे पुरुष द्रोण पुत्र अश्वत्थामा को जब सारा वृत्तान्त सुना चुके-तो फिर वे बहुत देर तक चुप चाप बैठे रहे और अन्त में व्याकुल हुए अपनी २ इच्छानुसार अभीष्ट स्थान को चले गए ॥४३॥

इतिश्री महाभारत शल्यपर्वान्तर्गत गदायुद्ध पर्व में राजा दुर्योधन के कथन का चौसठवां अध्याय समाप्त हुआ



पैंसठवां अध्याय

सञ्जय उवाच—वार्तिकाणां सकाशात्तु श्रुत्वा दुर्योधनं हतम्

हतशिष्टास्ततो राजन् कौरवाणां महारथाः ॥१॥

विनिर्भिन्नाः शितैर्बाणैर्गदातोमरशक्तिभिः ।

अश्वत्थामा कृपश्चैव कृतवर्मा च सात्वतः ॥२॥

त्वरिता जवनैरश्वैरायोधनमुपागमन् ।

सञ्जय ने कहा—हे राजन् ! वार्ताहर पुरुषों से कौरवों के मरने से बचे हुए, तीन महारथी, अश्वत्थामा, कृपाचार्य और सात्वत वंशश्रेष्ठ कृतवर्मा इस वृत्तान्त को सुनकर सन्न रह गए। वे तीक्ष्ण बाण और गदा तोमर शक्ति आदि अस्त्रों से छिदे पड़े थे । वे अपने अश्वों को दौड़ाकर उस गदायुद्ध क्षेत्र में पहुंचे ॥१-२॥

तत्रापश्यन्महात्मानं धार्तराष्ट्रं निपातितम् ॥३॥

प्रभग्नं वायुवेगेन महाशालं यथा वने ।

हे भरतर्षभ ! वहां पर उन्होंने महाबली राजा दुर्योधन को इस तरह गिरा हुआ देखा, जैसे वायु के झक्कड़ से कोई विशाल शाल का वृक्ष वन में गिर गया हो ॥३॥

भूमौ विचेष्टमानं तं रुधिरेण समुक्षितम् ॥४॥

महागजमिवारण्ये व्याधेन विनिपातितम् ।

राजा दुर्योधन, रक्त में भीगे हुए थे और पृथिवी में इस तरह छट पटा रहे थे, जैसे वन में किसी महागज को किसी व्याध ने बींध गिराया हो ॥४॥

विवर्तमानं बहुशो रुधिरौघपरिप्लुतम् ॥५॥
यदृच्छया निपतितं चक्रमादित्यगोचरम् ।
महावातसमुत्थेन संशुष्कमिव सागरम् ॥६॥
पूर्णचन्द्रमिव व्योम्नि तुषारावृतमण्डलम् ।

हे राजन् ! रुधिर प्रवाह में भीगे हुए, बार २ छटपटाते हुए राजा दुर्योधन की दशा घूमते हुए आदित्य मण्डल के सदृश प्रतीत होती थी । प्रलय वायु के महान झोंकों से सुखाए हुए समुद्र अथवा तुषार (बर्फ) से ढके हुए चन्द्रमा के सदृश राजा दुर्योधन की दशा दिखाई देरही थी ॥५-६॥

रेणुध्वस्तं दीर्घभुजं मातङ्गमिव विक्रमे ॥७॥
वृतं भूतगणैर्घोरैः क्रव्यादैश्च समन्ततः ।
यथा धनं लिप्समानैर्भृत्यैर्नृपतिसत्तमम् ॥

राजा दुर्योधन का पराक्रम मदोन्मत्त हाथी के सदृश था । उन की लम्बी २ भुजाएँ थीं और ये अब धूलि से आवृत थे । इस समय इनको मांस भोजी घोर प्राणि समूह ने सब ओर से इस तरह घेर रखा था, जैसे धन के लोलुप भृत्य किसी उदार राजा को घेरे रहते हैं ॥७-८॥

भ्रुकुटीकृतवक्त्रान्तं क्रोधादुद्वृत्तचक्षुषम् ।
सामर्षन्तं नरव्याघ्रं व्याघ्रं निपतितं यथा ॥९॥

राजा दुर्योधन के मुख पर उनकी भृकुटी टेढ़ी होरही थी और क्रोध से आंखें चढ़ी हुई थी। आवेश में भरे हुए राजा दुर्योधन को उन लोगों ने पड़े हुए सिंह के सदृश देखा ॥९॥

ते तं दृष्ट्वा महेष्वासं भूतले पतितं नृपम् ।
मोहमभ्यागमन्सर्वे कृपप्रभृतयो रथाः ॥१०॥

अश्वत्थामा आदि कौरव सारे महारथी, महाधनुर्धर राजा दुर्योधन को इस तरह से भूमि में पड़ा हुआ देख कर बड़े ही मोहित हुए ॥१०॥

अवतीर्य रथेभ्यश्च प्राद्रवन् राजसन्निधौ ।
दुर्योधनं च संप्रेक्ष्य सर्वे भूमावुपाविशन् ॥११॥

ये लोग, अपने २ रथों से कूद पड़े और राजा दुर्योधन के पास दौड़कर पहुचे। राजा दुर्योधन को देखकर वे सारे भूमि में बैठ गए ॥११॥

ततो द्रौणिर्महाराज बाष्पपूर्णेक्षणः श्वसन् ।
उवाच भरतश्रेष्ठं सर्वलोकेश्वरेश्वरम् ॥१२॥

हे महाराज ! अब द्रोण पुत्र अश्वत्थामा की आंखों में आंसू भर आए। और वह बार२ श्वास लेने लगा। इसके बाद उन्होंने

सब लोक के स्वामी भरतवंश श्रेष्ठ, राजा दुर्योधन से यह वचन कहा ॥१२॥

न नूनं विद्यते सत्यं मानुषे किंचिदेव हि ।
यत्र त्वं पुरुषव्याघ्र शेषे पांसुषु रूषितः ॥१३॥

हे पुरुष व्याघ्र ! आज हमको पता लगा, कि इस मनुष्य लोक में कोई वस्तु सत्य (स्थायी) नही है। देखो ? आप संसार के चक्रवर्ती होकर भी आज मिट्टी में लेट रहे हैं ॥१३॥

भूत्वा हि नृपतिः पूर्वं समाज्ञाप्य च मेदिनीम् ।
कथमेकोऽद्य राजेन्द्र तिष्ठसे निर्जने वने ॥१४॥

हे राजेन्द्र ! आप सर्वोत्तम राजा थे। सारी पृथिवी का शासन करते थे। आप इतने बड़े सम्राट् होकर भी आज इस निर्जन वन में अकेले पड़े हैं ॥१४॥

दुःशासनं न पश्यामि नापि कर्णं महारथम् ।
नापि तान् सुहृदः सर्वान् किमिदं भरतर्षभ ॥१५॥

हे भरतर्षभ ! आज न तो दुःशासन दिखाई देते हैं, न कहीं महारथी कर्ण हैं। न वे सारे सुहृद ही कहीं दिखाई देते हैं, हाय यह क्या होगया ॥१५॥

दुःखं नूनं कृतान्तस्य गतिं ज्ञातुं कथंचन ।
लोकानां च भवान्यत्र शेषे पांसुषु रूषितः ॥१६॥

इस काल की दुरन्त गति का कोई ज्ञान नहीं कर सकता है, और न इन लोकों के चक्कर का कुछ पता लगता है। इसीके वश में हुए आज आप धूलि में लिपटे पड़े हैं ॥१६॥

एष मूर्धाभिषिक्तानामग्रे गत्वा परन्तपः।
सतृणं ग्रसते पांसुं पश्य कालस्य पर्ययम् ॥१७॥

आप शत्रुतापी वीर होकर सारे राजाओं के आगे चला करते थे। आज तुमही घास और धूलि में लिपटे पड़े हो-यह कितनी काल की उलटी गति है ॥१७॥

क्व ते तदमलं छत्रं व्यजनं क्व च पार्थिव।
सा च ते महती सेना क्व गता पार्थिवोत्तम ॥१८॥

हे नृपते! आपका वह निर्मल छत्र कहाँ गया है। और वह विशाल पंखा कहां है। हे महीपते! वह आपकी विपुल सेना भी आज कहां चली गई ॥१८॥

दुर्विज्ञेया गतिर्नूनं कार्याणां कारणान्तरे।
यद्वै लोकगुरुर्भूत्वा भवानेतां दशां गतः ॥१९॥

हे भारत! अनेक कारणों से उत्पन्न होने वाले कर्मों की गति का कौन पता लगा सकता है। यह उसी काल की लीला है कि आप लोक में सर्वश्रेष्ठ राजा होकर भी आज इस दशा को प्राप्त होरहे हो ॥१९॥

अध्रुवा सर्वमर्त्येषु श्रीरुपालक्ष्यते भृशम्।
भवतो व्यसनं दृष्ट्वा शक्रविस्पर्धिनो भृशम् ॥२०॥

हे राजन् ! आपका ऐश्वर्य इन्द्र से बराबरी किया करता था। जब आप ही आज विपत्ति में फंस गए-तो यह निश्चय होगया कि यह लक्ष्मी संसार में बहुत ही क्षणिक है ॥२०॥

तस्य तद्वचनं श्रुत्वा दुःखितस्य विशेषतः ।
उवाच राजन्पुत्रस्ते प्राप्तकालमिदं वचः ॥२१॥
विमृज्य नेत्रे पाणिभ्यां शोकजं बाष्पमुत्सृजन् ।
कृपादीन्स तदा वीरान् सर्वानेव नराधिपः ॥२२॥

हे राजेन्द्र ! अत्यन्त दुःख में व्याप्त हुए महारथी अश्वत्थामा के ये वचन सुनकर राजा दुर्योधन ने अपने हाथों से उनके शोकोत्पन्न आंसू पोंछे और कृपाचार्य आदि उन तीनों महारथियों को सम्बोधित करके समयानुकूल उनसे यह वचन कहे ॥२१-२२॥

ईदृशो लोकधर्मोऽयं धात्रा निर्दिष्ट उच्यते ।
विनाशः सर्व भूतानां कालपर्यायमागतः ॥२३॥
सोऽयं मां समनुप्राप्तः प्रत्यक्षं भवतां हि यः ।
पृथिवीं पालयित्वाऽहमेतां निष्ठामुपागतः ॥२४॥

हे महाभागो ! विधाता ने संसार को इसी तरह का नश्वर बनाया है। सारे प्राणियों का कालक्रम से इसी तरह विनाश होता आया है वही काल की गति का परिणाम आज मुझे प्राप्त हुआ है जिसको आप भी देख रहे हैं, कि जिसने सारी पृथिवी का शासन किया उसकी आज यह दशा होरही है ॥२३-२४॥

दिष्ट्या नाहं परावृत्तो युद्धे कस्याञ्चिदापदि।
दिष्ट्याऽहं निहतः पापैश्छलेनैव विशेषतः ॥२५॥

मुझे तो इस बात का हर्ष है, कि मैं युद्ध में किसी भी आपत्ति में फंस कर जरा भी विचलित नहीं हुआ। दूसरी अभिमान की यह बात है, कि मुझे इन दुष्टों ने विशेष करके छल से मारा है॥

उत्साहश्च कृतो नित्यं मया दिष्टया युयुत्सता।
दिष्ट्या चास्मिन् हतो युद्धे निहतज्ञातिबान्धवः॥२६॥

मैंने तो नित्य युद्ध किया और प्रतिदिन अधिक उत्साह दिखाया अब जब सारे बन्धु बान्धव मारे गए-तो मैं भी युद्ध मे ही मारा गया-यह कितनी उत्तम बात हुई है ॥२६॥

दिष्टया च वोऽहं पश्यामि मुक्तानस्माज्जनक्षयात्।
स्वस्तियुक्तांश्च कल्यांश्च तन्मे प्रियमनुत्तमम् ॥२७॥

सबसे अधिक आनन्द की बात यह देख रहा हूं-कि तुम लोग अभी तक इस जन संहारक युद्ध से बचे हुए हो। तुम कल्याण और आनन्द से युक्त दिखाई पड़े-यह मुझे बहुत ही प्रिय बात दिखाई पड़ी है ॥२८॥

मा भवन्तोऽत्र तप्यन्तां सौहृदान्निधनेन मे।
यदि वेदाः प्रमाणं वो जिता लोका मयाऽक्षयाः।

अब तुम मेरी इस मृत्यु से प्रेम के कारण सन्तापित न होना यदि वेद प्रमाणिक हैं-तो हमने अक्षय लोकों की प्राप्ति करली है ॥

मन्यमानः प्रभावं च कृष्णस्यामिततेजसः ।

तेन न च्यावितश्चाहं क्षत्रधर्मात्स्वनुष्ठितात् ॥२९॥

अत्यन्त तेजस्वी श्रीकृष्ण के प्रभाव को मैं जानता था, उसकी धौंस में भी आकर मैंने अपने अच्छी तरह से अनुष्ठित किए हुए क्षात्र धर्म का परित्याग नहीं किया यह बड़े गर्व की बात हुई है ॥

स मया समनुप्राप्तो नास्मि शोच्यः कथंचन ।

कृतं भवद्भिः सदृशमनुरूपमिवात्मनः ॥३०॥

यतितं विजये नित्यं दैवं तु दुरतिक्रमम् ।

मैंने अपने क्षत्रिय धर्म को प्राप्त किया है, इससे मैं शोक करने योग्य नहीं हूं। आप लोगों ने भी अपने स्वरूप के अनुसार धर्म पूर्वक सब कुछ कर दिखाया तुमने बड़ा ही प्रयत्न किया, परन्तु क्या किया जावे, दैव का तो किसी से उल्लंघन नहीं किया जा सकता है ॥३०॥

एतावदुक्त्वा वचनं बाष्पव्याकुललोचनः ॥३१॥

तूष्णीं बभूव राजेन्द्र रुजाऽसौ विह्वलो भृशम् ।

हे राजन्! इतना कहकर राजा दुर्योधन की आंखें आंसुओं से भर गई। वह पीड़ा से बहुत व्याकुल होरहा था, इससे चुप हो गया ॥३१॥

तथा तु दृष्ट्वा राजानं बाष्पशोकसमन्वितम् ॥३२॥

द्रौणिः क्रोधेन जज्वाल यथा वह्निर्जगत्क्षये ।

हे भरतर्षभ ! जब राजा दुर्योधन को शोक के आंसुओं से व्याप्त देखा-तो द्रोण पुत्र अश्वत्थामा क्रोध से इस तरह प्रज्वलित हो उठा, जैसे प्रलय काल में अग्नि, जल उठता है ॥३२॥

स च क्रोधसमाविष्टः पाणौ पाणिं निपीड्य च ॥३३॥
बाष्पविह्वलया वाचा राजानमिदमब्रवीत् ।

अश्वत्थामा क्रोध में भर गया और हाथ मलने लगा । तथा आंसुओं से गद्गद्वाणी के साथ राजा दुर्योधन से इस प्रकार कहने लगा ॥३३॥

पिता मे निहतः क्षुद्रैः सुनृशंसेन कर्मणा ॥३४॥
न तथा तेन तप्यामि यथा राजंस्त्वयाऽद्य वै ।

हे राजन् ! इस दुष्ट पाण्डवों ने नीच कर्म द्वारा अनीति पूर्वक मेरे पिता का वध कर डाला, परन्तु मैं उससे उतना सन्तापित नहीं हूं, जितना आपकी इस दशा को देखकर क्रोध से कांप उठा हूं ॥३४॥

शृणु चेदं वचो मह्यं सत्येन वदतः प्रभो ॥३५॥
इष्टापूर्तेन दानेन धर्मेण सुकृतेन च ।
अद्याहं सर्वपञ्चालान्वासुदेवस्य पश्यतः ॥३६॥
सर्वोपायैर्हि नेष्यामि प्रेतराजनिवेशनम् ।
अनुज्ञां तु महाराज भवान्मे दातुमर्हति ॥३७॥

हे प्रभो ! अब तुम मेरी सत्य प्रतिज्ञा सुनलो । मैं इष्टापूर्त यज्ञ दान, धर्म, और पुण्य की शपथ खाकर कहता हूं, कि आज वसुदेव

पुत्र श्रीकृष्ण, देखते रहेंगे और मैं सब कुछ उपाय करके सारे पञ्चालों को अवश्य प्रेत राज की पुरी में पहुंचा कर रहूँगा । हे महाराज ! अब आप मुझे जाने की आज्ञा कीजिए ॥३५-३७॥

इति श्रुत्वा तु वचनं द्रोणपुत्रस्य कौरवः ।
मनसः प्रीतिजननं कृपं वचनमब्रवीत् ॥३८॥
आचार्य शीघ्रं कलशं जलपूर्णं समानय ।
स तद्वचनमाज्ञाय राज्ञो ब्राह्मणसत्तमः ॥३९॥
कलशं पूर्णमादाय राज्ञोऽन्तिकमुपागमत् ।

द्रोण पुत्र अश्वत्थामा के मन को प्रसन्न करने वाले-ये वचन सुनकर कुरुराज दुर्योधन ने कृपाचार्य से कहा । हे आचार्य तुम शीघ्र जल पूर्ण कलश लाओ । राजा दुर्योधन के इतने वचन सुनते ही ब्राह्मण श्रेष्ठ, कृपाचार्य, जलपूर्ण कलश लेकर तत्काल ही वहां उपस्थित होगए ॥३८-३९॥

तमब्रवीन्महाराज पुत्रस्तव विशाम्पते ॥४०॥
ममाज्ञया द्विजश्रेष्ठ द्रोणपुत्रोऽभिषिच्यताम् ।
सैनापत्येन भद्रं ते मम चेदिच्छसि प्रियम् ॥४१॥

हे प्रजा पालक ! महाराज ! राजा दुर्योधन नें कृपाचार्य से कहा हे द्विज श्रेष्ठ ! मेरी आज्ञा से तुम अश्वत्थामा को सेनापति पद पर अभिषिक्त करो । आप भी मेरा कल्याण चाहते हैं, आपका भी कल्याण हो ॥४०-४१॥

राज्ञो नियोगाद्योद्धव्यं ब्राह्मणेन विशेषतः ।
वर्तता क्षत्रधर्मेण ह्येवं धर्मविदो विदुः ॥४२॥

राजा की आज्ञा से ब्राह्मण बड़े प्राणपण से लड़ जाता है, क्योंकि वह क्षत्रिय धर्म में प्रवृत्त होता है । यह धर्मात्मा लोग देखते आए हैं ॥४२॥

राज्ञस्तु वचनं श्रुत्वा कृपः शारद्वतस्तथा ।
द्रौणिं राज्ञो नियोगेन सैनापत्येऽभ्यषेचयत् ॥४३॥

राजा के वचनों को सुनकर शारद्वान् पुत्र कृपाचार्य ने, राजा की आज्ञानुसार द्रोण पुत्र अश्वत्थामा को सेनापति पद पर अभिषिक्त कर दिया ॥४३॥

सोऽभिषिक्तो महाराज परिष्वज्य नृपोत्तमम् ।
प्रययौ सिंहनादेन दिशः सर्वा विनादयन् ॥४४॥

हे महाराज ! जब अश्वत्थामा का अभिषेक हो चुका तो उसने राजा दुर्योधन का आलिङ्गन किया । वह सिंहनाद करता हुआ सारी दिशाओं को शब्दायमान करके युद्ध के लिए चल दिया ॥

दुर्योधनोऽपि राजेन्द्र शोणितेन परिप्लुतः ।
तां निशां प्रतिपेदेऽथ सर्वभूतभयावहाम् ॥४५॥

हे राजेन्द्र ! राजा दुर्योधन भी रक्त में लथपथ हुए पड़े थे । उनको वह रात सब प्राणियों से अधिक भयानक प्रतीत हुई ॥४५॥

अपक्रम्य तु ते तूर्णं तस्मादायोधनान्नृप ।
शोकसंविग्नमनसश्चिंताध्यानपराभवन् ॥४६॥

हे नृप ! ये तीनों महारथी झटपट उस गदा युद्ध के स्थान में चल दिए। शोक से इनके मन उद्विग्न होरहे थे। ये चिन्ता में परायण होकर पाण्डवों से प्रति शोध का उपाय सोचने लगे ४६॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां
शल्यपर्वान्तर्गतगदापर्वणि अश्वत्थामसैनापत्याभिषेके
पञ्चषष्टितमोऽध्यायः ॥६५॥
समाप्तं गदापर्व शल्यपर्व च ।
अतः परं सौप्तिकं पर्व भविष्यति ।

इतिश्री महाभारत शल्यपर्वान्तर्गत गदायुद्ध पर्व में अश्वत्थामा के सेनापति बनाने के वर्णन का पैंसठवां अध्याय समाप्त हुआ। और यहीं पर गदायुद्ध पर्व समाप्त होगया। शल्य पर्व भी सम्पूर्ण हुआ। इसके आगे सौप्तिक पर्व चलेगा जिसका सर्व प्रथम यह श्लोक है।

तस्यायमाद्यः श्लोकः—

सञ्जय उवाच-ततस्ते सहिता वीराः प्रयाता दक्षिणामुखाः ।
उपास्तमनवेलायां शिबिराभ्याशमागताः ॥१॥





श्री महर्षिव्यासप्रणीतम् ।

महाभारत

सौप्तिकपर्व

पन्द्रहवाँ भाग

पहिला अध्याय

श्रीगणेशाय नमः । श्रीवेदव्यासाय नमः ।

नारायणं नमस्कृत्य नरं चैव नरोत्तमम् ।

देवीं सरस्वतीं चैव ततो जयमुदीरयेत् ॥

सञ्जय उवाच— ततस्ते सहिता वीराः प्रयाता दक्षिणामुखाः

उपास्तमनवेलायां शिबिराभ्याशमागताः ॥ १ ॥

सञ्जय बोले—हे भरतर्षभ ! इसके अनन्तर अश्वत्थामा, कृपाचार्य और कृतवर्मा-ये तीनों वीर इकट्ठे ही राजा दुर्योधन के समीप से दक्षिण की ओर चल दिए। ये लोग सूर्य अस्त होने के समय अपने शिबिरों के पास में आए ॥१॥

विमुच्य वाहांस्त्वरिता भीताः समभवंस्तदा ।
गहनं देशमासाद्य प्रच्छन्ना न्यविशन्त ते ॥ २ ॥
सेनानिवेशमभितो नातिदूरमवस्थिताः ।
निकृत्ता निशितैः शस्त्रैः समन्तात्क्षतविक्षताः ॥ ३ ॥

इन्होंने झटपट अपने २ अश्व खोल दिए। इस समय ये बड़े ही भयभीत से थे। ये गहन प्रदेश में होकर छुपे २ अपने डेरों में घुसे, जो अपने २ शिविरों के समीप २ में स्थित हुए, तीक्ष्ण शस्त्रों से घायल हुए बड़े ही क्षत-विक्षत हो रहे थे ॥२-३॥

दीर्घमुष्णं च निःश्वस्य पाण्डवानेव चिन्तयन् ।
श्रुत्वा च निनदं घोरं पाण्डवानां जयैषिणाम् ॥ ४ ॥
अनुसारभयाद्भीताः प्राङ्मुखाः प्राद्रवन्पुनः ।
ते मुहूर्त्तात्ततो गत्वा श्रान्तवाहाः पिपासिताः ॥ ५ ॥
नामृष्यन्त महेष्वासाः क्रोधामर्षवशं गताः ।
राज्ञो वधेन सन्तप्ता मुहूर्त्तं समवस्थिताः ॥ ६ ॥

ये दीर्घ और लम्बी श्वासें ले रहे थे और बार २ इन्हें पाण्डवों का ही ध्यान आता था। जब इन्होंने विजयी पाण्डवों का घोर सिंहनाद सुना, तो उन्होंने पाण्डवों का आक्रमण समझा। वे भयभीत होकर पूर्व की ओर भाग निकले। ये बड़ी शीघ्रता से भागे थे, इससे इनके अश्व थक गए और इनका स्वयं प्यास से मुख सूख गया। इन पाण्डव महाधनुर्धरों को क्रोध और आवेश छा रहा था, जिसको ये सह नहीं रहे थे। राजा दुर्योधन के वध से सन्तप्त हुए ये वीर थोड़ी देर तक चुप बैठे रहे ॥४-६॥

धृतराष्ट्र उवाच—अश्रद्धेयमिदं कर्म कृतं भीमेन सञ्जय।
यत्सनागायुतप्राणः पुत्रो मम निपातितः ॥ ७ ॥

धृतराष्ट्र बोले—हे सञ्जय ! भीमसेन ने तो यह इतना भीषण कर्म कर डाला, जिस पर विश्वास भी नहीं किया जा सकता, कि दश सहस्र हाथियों का बलधारी मेरा पुत्र दुर्योधन मार गिराया।

अवध्यः सर्वभूतानां वज्रसंहननो युवा।
पाण्डवैः समरे पुत्रो निहतो मम सञ्जय ॥ ८ ॥

हे सञ्जय ! मेरे पुत्र युवा दुर्योधन का वज्र के समान दृढ़ शरीर था, जो सारे प्राणियों से अवध्य माना जाता था। उसी मेरे पुत्र को पाण्डवों ने रणक्षेत्र में मार गिराया ॥८॥

न दिष्टमभ्यतिक्रान्तं शक्यं गावल्गणे नरैः।
यत्समेत्य रणे पार्थैः पुत्रो मम निपातितः ॥ ९ ॥

हे गावल्गण के पुत्र सञ्जय ! आज रणभूमि में सारे पाण्डवों ने एकत्रित होकर जो मेरे पुत्र राजा दुर्योधन को मार लिया; इससे तो यही कहा जा सकता है, कि मनुष्य दैव का अतिक्रमण करने में समर्थ नहीं है ॥९॥

अद्रिसारमयं नूनं हृदयं मम सञ्जय।
हतं पुत्रशतं श्रुत्वा यन्न दीर्णं सहस्रधा ॥ १० ॥

हे सञ्जय ! मेरा हृदय बड़ा भारी लोहे का बना हुआ है, जो शत पुत्रों की मृत्यु सुनकर भी अभी तक सौ टुकड़ों में नहीं फटता है।

कथं हि वृद्धमिथुनं हतपुत्रं भविष्यति ।
न ह्यहं पाण्डवेयस्य विषये वस्तुमुत्सहे ॥ ११ ॥

अब हमारे पुत्रों का नाश हो चुका। न मालूम पुत्र-विहीन हम वृद्ध स्त्री पुरुषों की क्या गति होगी। अब मैं पाण्डु-पुत्र राजा युधिष्ठिर के राज्य में नहीं रह सकता हूं ॥११॥

कथं राज्ञः पिता भूत्वा स्वयं राजा च सञ्जय ।
प्रेष्यभूतः प्रवर्त्तेयं पाण्डवेयस्य शासनात् ॥ १२ ॥

हे सञ्जय ! मैं, राजा का पिता या स्वयं राजा होकर फिर कैसे दास बनकर धर्मराज की आज्ञा में चलूंगा ॥१२॥

आज्ञाप्य पृथिवीं सर्वां स्थित्वा मूर्द्धनि सञ्जय ।
येन पुत्रशतं पूर्णमेकेन निहतं मम ॥ १३ ॥
कृतं सत्यं वचस्तस्य विदुरस्य महात्मनः ।

हे सञ्जय ! सारी पृथिवी पर शासन करके और सबके मस्तक पर बैठ कर मैं कैसे उनकी आज्ञा मान सकता हूं । अकेले भीमसेन ने ही मेरे पूरे सौ पुत्रों का नाश कर दिया है । उसने महात्मा विदुर के वचनों को आज सत्य कर दिखाया ॥१३॥

अकुर्वता वचस्तेन मम पुत्रेण सञ्जय ॥ १४ ॥
कथमस्य भविष्यामि प्रेष्यभूतो दुरन्तकृत् ।

हे सञ्जय ! मेरे पुत्र दुर्योधन ने मेरे एक भी वचन को नहीं माना। अब मैं दुर्गति को प्राप्त होकर कैसे उनका दास बन सकता हूं ॥१४॥

कथं भीमस्य वाक्यानि श्रोतुं शक्ष्यामि सञ्जय ॥
अधर्मेण हते तात पुत्रे दुर्योधने मम ।
कृतवर्मा कृपो द्रौणिः किमकुर्वत सञ्जय ॥ १६ ॥

हे सञ्जय ! मैं भीमसेन के वचनों को कैसे सहन कर सकूंगा, जिसने मेरे सौ पुत्रों को अधर्म-पूर्वक मार दिया है। हे तात ! अब तो यह बताओ, कि कृतवर्मा, कृपाचार्य और अश्वत्थामा ने क्या किया ॥१५-१६॥

सञ्जय उवाच— गत्वा तु तावका राजन्नातिदूरमवस्थिताः ।
अपश्यन्त वनं घोरं नानाद्रुमलतावृतम् ॥ १७ ॥

हे राजन् ! ये तीनों वीर कुछ दूरी पर जाकर स्थित हो गए। वहां उन्होंने अनेक प्रकार की द्रुमलता से आच्छन्न घोर [वन] देखा ॥१७॥

ते मुहूर्त्तं तु विश्रम्य लब्धतोयैर्हयोत्तमैः ।
सूर्यास्तमनवेलायां समासेदुर्महद्वनम् ॥ १८ ॥
नानामृगगणैर्जुष्टं नानापक्षिगणावृतम् ।
नानाद्रुमलताच्छन्नं नानाव्यालनिषेवितम् ॥ १९ ॥
नानातोयैः समाकीर्णं नानापुष्पोपशोभितम् ।
पद्मिनीशतसंछन्नं नीलोत्पलसमायुतम् ॥ २० ॥
प्रविश्य तद्वनं घोरं वीक्षमाणाः समंततः ।
शाखासहस्रसंछन्नं न्यग्रोधं ददृशुस्ततः ॥ २१ ॥

वहां उन्होंने थोड़ी देर विश्राम किया और स्वयं जल पीकर अश्वों को जल पिलाया। जब सूर्य छुप गया-तो वे उस महावन

में बैठ गए। वह वन अनेक भांति के वनैले जन्तुओं से व्याप्त और पक्षिगण से युक्त था। वहां अनेक प्रकार की लता और द्रुम छा रहे थे और अनेक प्रकार के सर्प आदि भयानक जन्तु थे। उसमें सब ओर झरने झर रहे थे और भांति २ के फूल खिले थे। सैंकड़ों भांति की पद्मिनी और नीले कमलों से भी वन भरा पड़ा था। ये वीर उस घोर वन में घुसे और उसे सब ओर देखते जाते थे। इस समय इन्होंने सहस्रों शाखाओं से व्याप्त एक वट वृक्ष देखा ॥१८-२१॥

उपेत्य तु तदा राजन् न्यग्रोधं ते महारथाः ।
ददृशुर्द्विपदां श्रेष्ठाः श्रेष्ठं तं वै वनस्पतिम् ॥ २२ ॥

हे राजन् ! अब ये तीनों महारथी उस वट वृक्ष के समीप पहुँचे। इन मनुजश्रेष्ठ तीनों वीरों ने उस सर्वश्रेष्ठ वृक्ष को देखा।

तेऽवतीर्य रथेभ्यश्च विप्रमुच्य च वाजिनः ।
उपस्पृश्य यथान्यायं संध्यामन्वासत प्रभो ॥ २३ ॥

हे प्रभो ! वे लोग रथ से उतरे और उन्होंने अपने २ अश्व खोल दिए। ये शास्त्रानुसार आचमन करके प्रथम सन्ध्या करने लगे ॥२३॥

ततोऽस्तं पर्वतश्रेष्ठमनुप्राप्ते दिवाकरे ।
सर्वस्य जगतो धात्री शर्वरी समपद्यत ॥ २४ ॥

अब सूर्य अस्ताचल पर्वत में बिल्कुल छुप चुके थे और सारे जगत को सुला देने वाली रात आकर उपस्थित हो गई थी ॥२४॥

ग्रहनक्षत्रताराभिः संपूर्णाभिरलंकृतम् ।
नभोंशुकमिवाभाति प्रेक्षणीयं समन्ततः ॥ २५ ॥

इस समय ग्रह, नक्षत्र और ताराओं से पूर्ण सुशोभित आकाशतल में सितारों से चमचमाते नीले वस्त्र की भांति सब ओर से सुन्दर दिखाई दे रहा था ॥२५॥

इच्छया ते प्रवल्गन्ति ये सत्वा रात्रिचारिणः ।
दिवाचराश्च ये सत्वास्ते निद्रावशमागताः ॥ २६ ॥

जो जन्तु रात के घूमने वाले थे-वे अपनी इच्छानुसार शब्द करने लगे और जो दिन चर जन्तु थे, वे नींद में सो गए ॥२६॥

रात्रिंचराणां सत्वानां निर्घोषोऽभूत्सुदारुणः ।
क्रव्यादाश्च प्रमुदिता घोरा प्राप्ता च शर्वरी ॥ २७ ॥

रात में फिरने वाले जीवों का बड़ा घोर शब्द हो रहा था। उस समय मांसभोजी जन्तु आनन्दित थे, क्योंकि घोर रात उपस्थित हो गई थी ॥२७॥

तस्मिन्रात्रिमुखे घोरे दुःखशोकसमन्विताः ।
कृतवर्मा कृपो द्रौणिरुपोपविविशुः समम् ॥ २८ ॥

इस रात्रि के प्रथम प्रहर में दुःख और शोक से व्याप्त कृतवर्मा, कृपाचार्य और द्रोण-पुत्र अश्वत्थामा समीप में ही स्थित हो गए ॥२८॥

तत्रोपविष्टाः शोचन्तो न्यग्रोधस्य समीपतः ।
तमेवार्थमतिक्रान्तं कुरुपाण्डवयोः क्षयम् ॥ २९ ॥

ये वट वृक्ष के समीप बैठे हुए-बड़ा सोच करने लगे । इनके चित्त में कौरव और पाण्डवों के भीषण विनाश का चित्र खिचा हुआ था ॥२९॥

निद्रया च परीताङ्गा निपेदुर्धरणीतले ।
श्रमेण सुदृढं युक्ता विक्षता विविधैः शरैः ॥ ३० ॥

ये नींद से बड़े ही आतुर थे, तो भी पृथिवी पर बैठ गए । इनको थकान बहुत हो रही थी और ये भी अनेक बाणों से क्षत विक्षत थे ॥३०॥

ततो निद्रावशं प्राप्तौ कृपभोजौ महारथौ ।
सुखोचितावदुःखार्हौ निपण्णौ धरणीतले ॥ ३१ ॥

अब पृथ्वी में बैठे २ ही सुख के योग्य, दुःख के अयोग्य, कृपाचार्य और कृतवर्मा ये दोनों महारथी नींद के वश में हो गए ।

तौ तु सुप्तौ महाराज श्रमशोकसमन्वितौ ।
महार्हशयनोपेतौ भूमावेव ह्यनाथवत् ॥ ३२ ॥

हे महाराज ! ये दोनो बड़े २ उत्तम पर्यङ्कों पर सोने के योग्य थे, परन्तु आज तो अनाथ की भांति श्रम और शोक से युक्त हुए भूमि में ही सो गए थे ॥३२॥

क्रोधामर्षवशं प्राप्तो द्रोणपुत्रस्तु भारत ।
न वै स्म स जगामाथ निद्रां सर्प इव श्वसन् ॥

हे भारत ! द्रोण-पुत्र, अश्वत्थामा तो क्रोध और आवेश में भरे हुए थे । इससे इस पर निद्रा का आक्रमण नहीं हुआ और यह क्रुद्ध सर्प की भांति श्वास छोड़ता रहा ॥३३॥

न लेभे स तु निद्रां वै दह्यमानो हि मन्युना ।
वीक्षांचक्रे महाबाहुस्तद्वनं घोरदर्शनम् ॥ ३४ ॥

यह क्रोध से इतना जल रहा था, कि उसको बिल्कुल नींद नहीं आई । महाबाहु अश्वत्थामा ने उस घोर भयानक वन की ओर दृष्टि उठाई ॥३४॥

वीक्षमाणो वनोद्देशं नानासत्वैर्निषेवितम् ।
अपश्यत महाबाहुर्न्यग्रोधं वायसैर्युतम् ॥ ३५ ॥

यह वन के प्रदेश को देख रहा था, जो अनेक प्रकार के जन्तुओं से व्याप्त था । इसने इस समय अपने न्यग्रोध वृक्ष को वायसों (कव्वों) से व्याप्त देखा ॥३५॥

तत्र काकसहस्राणि तां निशां पर्यणामयन् ।
सुखं स्वपन्ति कौरव्य पृथक् पृथगुपाश्रयाः ॥ ३६ ॥

हे कुरुवंशश्रेष्ठ ! वहां पर सहस्रों की संख्या में कव्वे उस रात को व्यतीत कर रहे थे । वे पृथक् २ अपना आसन जमाये हुए सुख से सो रहे थे ॥३६॥

सुप्तेषु तेषु काकेषु विश्रब्धेषु समन्ततः ।
सोऽपश्यत्सहसा यान्तमुलूकं घोरदर्शनम् ॥ ३७ ॥

हे राजन् ! सब ओर से निःशङ्क होकर काक सो रहे थे, तो उसी समय अचानक उसने एक घोर दर्शन वाले उलूक को देखा ॥३७॥

महास्वनं महाकायं हर्यक्षं बभ्रुपिंगलम् ।
सुदीर्घघोणानखरं सुपर्णमिव वेगितम् ॥ ३८ ॥

इस उलूक का बड़ा भयानक स्वर और विशाल शरीर था। इसकी आंखें भूरी और रंग भी भूरा तथा पीला सा था। इसकी चोंच और पञ्जे बड़े लम्बे थे। इसका वेग भी गरुड़ के समान तीव्र था ॥३८॥

सोऽथ शब्दं मृदुं कृत्वा लीयमान इवाण्डजः ।
न्यग्रोधस्य ततः शाखां प्रार्थयामास भारत ॥ ३९ ॥

हे भारत ! इसने अपना शब्द कुछ मन्दा कर लिया और यह पक्षी सुकड़ता हुआ उस वट वृक्ष की शाखाओं में घुसने लगा ।

सन्निपत्य तु शाखायां न्यग्रोधस्य विहङ्गमः ।
सुप्ताञ्जघान सुबहून्वायसान्वायसान्तकः ॥ ४० ॥

हे राजन् ! यह काकनाशक उलूक पक्षी वट की शाखा में घुस गया और इसने वहां सोते हुए वायसों को मार २ कर विछा दिया ॥४०॥

केषाञ्चिदच्छिनत्पक्षान् शिरांसि च चकर्त ह ।
चरणांश्चैव केषांचिद्बभञ्ज चरणायुधः ॥ ४१ ॥

इसने कुछ काकों के पक्ष नोंच डाले और कुछ के शिर काट दिए तथा अपने पंजों को आयुध बना कर कुछ काकों के पंजे भी तोड़ डाले ॥४१॥

क्षणेनाहनद्बलवान्येऽस्य दृष्टिपथे स्थिताः ।
तेषां शरीरावयवैः शरीरैश्च विशाम्पते ॥ ४२ ॥
न्यग्रोधमण्डलं सर्वं संछन्नं सर्वतोऽभवत् ।

हे विशाम्पते ! इस बलवान् पक्षी ने क्षण भर में जिन काकों पर दृष्टि पड़ी; उन्हें मार गिराया। इन काकों के शरीर और शरीर के अवयवों से वह सारा न्यग्रोध वृक्ष का मण्डल आच्छादित हो गया ॥४२॥

तांस्तु हत्वा ततः काकान्कौशिको मुदितोऽभवत् ॥
प्रतिकृत्य यथाकामं शत्रूणां शत्रुसूदनः ।

इन बहुत से काकों को मार कर उल्लूक पक्षी बहुत प्रसन्न हुआ। इस शत्रु-नाशक पक्षी ने अपनी इच्छानुसार शत्रुओं का प्रतीकार कर दिया ॥४३॥

तद् दृष्ट्वा सोपधं कर्म कौशिकेन कृतं निशि ॥
तद्भावे कृतसङ्कल्पो द्रौणिरेकोऽन्वचिन्तयत् ।

इस प्रकार छल के साथ अपने कार्य को पूर्ण करते हुए रात में उल्लूक को देखकर उसी तरह अपने कार्य करने का द्रोण-पुत्र अश्वत्थामा ने भी विचार किया ॥४४॥

उपदेशः कृतोऽनेन पक्षिणा मम संयुगे ॥ ४५ ॥
शत्रूणां क्षपणे युक्तः प्राप्तः कालश्च मे मतः ।

अश्वत्थामा ने सोचा, कि इस पक्षी ने इस रण में कृत्य करने का मुझे उपदेश दिया है। इस समय शत्रु के विनाश का मुझे यही ढंग अच्छा प्रतीत होता है ॥४५॥

नाद्य शक्या मया हन्तुं पाण्डवा जितकाशिनः ॥
बलवन्तः कृतोत्साहाः प्राप्तलक्षाः प्रहारिणः ।
राज्ञः सकाशात्तेषां तु प्रतिज्ञातो वधो मया ॥ ४७ ॥

सीधी तरह से तो मैं विजयोन्मत्त, बलवान, उत्साही, लक्ष्य के बींधने में समर्थ, प्रहारकुशल पाण्डवों के जीतने में समर्थ नहीं हूँ। मैंने राजा दुर्योधन के समीप उनके मारने की प्रतिज्ञा की है ॥४६-४७॥

पतङ्गाग्निसमां वृत्तिमास्थायात्मविनाशिनीम् ।
न्यायतो युद्ध्यमानस्य प्राणऽत्यागो न संशयः ॥
छद्मना च भवेत्सिद्धिः शत्रूणां च क्षयो महान् ।

यदि मैंने न्यायानुसार युद्ध किया-तो यह अपने विनाश के लिए अग्नि में गिरने वाले पतङ्ग की सी वृत्ति होगी। इससे तो प्राण-त्याग के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं मिलेगा। यदि मैंने छल का आश्रय लिया-तो मेरे कार्य की सिद्धि होगी, जिससे शत्रुओं का महान् क्षय होगा ॥४८॥

ततः संशयितादर्थाद्योऽर्थो निःसंशयो भवेत् ॥ ४९ ॥
तं जना बहु मन्यन्ते ये च शास्त्रविशारदाः ।

जो शास्त्र के विशारद विद्वान् पुरुष हैं, वे संशय-युक्त कार्य करने की अपेक्षा निःसंशय सिद्ध होने वाले कार्य के करने को नीति मानते हैं ॥४९॥

यच्चाप्यत्र भवेद्वाक्यं गर्हितं लोकनिन्दितम् ॥ ५० ॥
कर्तव्यं तन्मनुष्येण क्षत्रधर्मेण वर्तता ।

जो कुछ भी लोक निन्दित गर्हित कर्म हैं, उसको भी क्षत्र-धर्म के पालन में तत्पर मनुष्य कर सकता है ॥५०॥

निन्दितानि च सर्वाणि कुत्सितानि पदे पदे ॥
सोपधानि कृतान्येव पाण्डवैरकृतात्मभिः ।

इन दुरात्मा पाण्डवों ने भी तो पद २ पर निन्दित, कुत्सित और छल-पूर्ण कर्म किए हैं ॥५१॥

अस्मिन्नर्थे पुरा गीताः श्रूयन्ते धर्मचिन्तकैः ॥ ५२ ॥
श्लोका न्यायमवेक्षद्भिस्तत्त्वार्थास्तत्त्वदर्शिभिः ।

धर्म पर विचार करने वाले, नीति के ज्ञाता, तत्वदर्शी मुनियों ने कुछ श्लोक कहे हैं, जो सब शास्त्रों में विद्यमान हैं ॥५२॥

परिश्रान्ते विदीर्णे वा भुञ्जाने वाऽपि शत्रुभिः ॥
प्रस्थाने वा प्रवेशे वा प्रहर्तव्यं रिपोर्बलम् ।
निद्रार्तमर्धरात्रे च तथा नष्टप्रणायकम् ॥ ५४ ॥
भिन्नयोधं बलं यच्च द्विधायुक्तं च यद्भवेत् ।

थके हुए, घायल, भोजन करते हुए, चलते हुए या कहीं पर प्रवेश करते हुए शत्रुओं की सेना को उनके शत्रु मार सकते हैं। अर्धरात्रि में नींद से आतुर, चुपचाप पड़ी हुई, योद्धाओं में फूट पड़ने पर या दो भागों में बँट जाने पर भी शत्रु, शत्रुसेना का घात कर सकता है ॥५३-५४॥

इत्येवं निश्चयं चक्रे सुप्तानां निशि मारणे ॥ ५५ ॥
पाण्डूनां सहपाञ्चालैर्द्रोणपुत्रः प्रतापवान् ।

हे राजन ! महाप्रतापी, द्रोण-पुत्र अश्वत्थामा ने इस प्रकार रात में सोते हुए पाण्डवों को पांचालों के साथ मार देने का निश्चय किया ॥५५॥

स क्रूरां मतिमास्थाय विनिश्चित्य मुहुर्मुहुः ॥
सुप्तौ प्राबोधयत्तौ तु मातुलं भोजमेव च ।

इसने यह क्रूर बुद्धि बार २ दृढ़ करके, सोते हुए अपने मातुल कृपाचार्य और कृतवर्मा को जगाकर उस बात को समझाया ॥५६॥

तौ प्रबुद्धौ महात्मानौ कृपभोजौ महाबलौ ॥ ५७ ॥
नोत्तरं प्रतिपद्येतां तत्र युक्तं ह्रियावृतौ ।

महाबली, महात्मा कृपाचार्य और कृतवर्मा जाग गए, परन्तु उन्होंने लज्जा से युक्त होकर अश्वत्थामा की बात का ठीक २ कुछ भी उत्तर नहीं दिया ॥५७॥

सुमुहूर्त्तमिव ध्यात्वा बाष्पविह्वलमब्रवीत् ॥ ५८ ॥
हतो दुर्योधनो राजा एकवीरो महाबलः ।
यस्यार्थे वैरमस्माभिरासक्तं पाण्डवैः सह ॥ ५९ ॥

अश्वत्थामा ने थोड़ी देर तक विचार किया और आँसुओं से व्याप्त होकर यह बचन बोला । महाबली, सर्वश्रेष्ठ वीर राजा दुर्योधन मारे जा चुके । इसके निमित्त तो हमने पाण्डवों के साथ वैर किया था ॥५८-५९॥

एकाकी बहुभिः क्षुद्रैराहवे शुद्धविक्रमः।
पातितो भीमसेनेन एकादशचमूपतिः ॥ ६० ॥
वृकोदरेण क्षुद्रेण सुनृशंसमिदं कृतम्।
मूर्धाभिषिक्तस्य शिरः पादेन परिमृद्नता ॥ ६१ ॥

इस युद्ध में शुद्धता के साथ युद्ध करने वाले अकेले वीर राजा ग्यारह अक्षौहिणी के पति दुर्योधन को इन बहुत से क्षुद्र पाण्डव-वीरों के साथ भीमसेन ने मार गिराया। क्षुद्र वीर वृकोदर भीम ने यह बुरा किया, जो सारे संसार के सम्राट् राजा दुर्योधन के शिर पर लात लगाई ॥६०-६१॥

विनर्दन्ति च पाञ्चालाः क्ष्वेलन्ति च हसन्ति च।
धमन्ति शंखान् शतशो हृष्टा घ्नन्ति च दुन्दुभीन् ॥

अब पञ्चालवीर, गर्जना, सिंहनाद, परिहास करके सैकड़ों शंख बजा रहे हैं और आनन्द में भरे हुए नगाड़े बजाते हैं ॥६२॥

वादित्रघोषस्तुमुलो विमिश्रः शंखनिःस्वनैः।
अनिलेनेरितो घोरो दिशः पूरयतीव ह ॥ ६३ ॥

शङ्ख-ध्वनि के साथ २ मिला हुआ बाजों का घोर शब्द वायु से प्रेरित होकर सारी दिशाओं को भर रहा है ॥६३॥

अश्वानां हेषमाणानां गजानां चैव बृंहताम्।
सिंहनादश्च शूराणां श्रूयते सुमहानयम् ॥ ६४ ॥

अब पाण्डवों के अश्वों की हिनहिनाहट, गजों की चिंघाड और शूरवीरों का सिंहनाद सब ओर बढ़ता हुआ सुनाई दे रहा है।

दिशं प्राचीं समाश्रित्य हृष्टानां गच्छतां भृशम् ।
रथनेमिस्वनाश्चैव श्रूयन्ते लोमहर्षणः ॥ ६५ ॥

अत्यन्त प्रसन्न होकर पूर्व दिशा की ओर जाते हुए पाण्डवों के रथों की लोमहर्षक ध्वनि कानों में पड़ रही है ॥६५॥

पाण्डवैर्धार्त्तराष्ट्राणां यदिदं कदनं कृतम् ।
वयमेव त्रयः शिष्टा अस्मिन्महति वैशसे ॥ ६६ ॥

पाण्डवों ने धृतराष्ट्र-पुत्रों का बहुत ही विध्वंस कर दिया· उन घोर विनाश में केवल हम तीन ही महारथी बचे हैं ॥६६॥

केचिन्नागशतप्राणाः केचित्सर्वास्त्रकोविदाः ।
निहताः पाण्डवेयैस्ते मन्ये कालस्य पर्ययम् ॥६७॥

इनमें कुछ वीर तो सौ हाथियों के बल के धारण करने वाले थे और कुछ सारे अस्त्रों के जानने में कुशल थे । उन सब को पाण्डवों ने मार गिराया-यह मैं काल की विपरीत गति ही मानता हूँ ॥६७॥

एवमेतेन भाव्यं हि नूनं कार्येण तत्वतः ।
यथा ह्यस्येदृशी निष्ठा कृतकार्येऽपि दुष्करे ॥६८॥

इस कर्म का यह परिणाम होगा-यह तो तत्व से कोई जानता ही न था । इसका तो काम हो जाने पर भी विश्वास होना दुष्कर हो रहा है ॥६८॥

भवतोऽस्तु यदि प्रज्ञा न मोहादपनीयते ।
व्यापन्नेऽस्मिन्महत्यर्थे यन्नः श्रेयस्तदुच्यताम् ॥६९॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्रयां संहितायां वैयासिक्यां सौप्तिके पर्वणि द्रौणिमन्त्रणायां प्रथमोऽध्यायः ॥१॥

यदि तुम लोगों में बुद्धि शेष है और उसे मोह ने दबा नहीं लिया है, तो इस बिगड़े हुए विपत्तिकाल में तुम मुझे वही बताओ-जिससे हमारा कल्याण होवे ॥६६॥

इति श्रीमहाभारतान्तर्गत सौप्तिकपर्व में अश्वत्थामा के मन्त्रणा करने का पहिला अध्याय समाप्त हुआ।

दूसरा अध्याय

कृप उवाच— श्रुतं ते वचनं सर्वं यद्यदुक्तं त्वया विभो।
ममापि तु वचः किंचिच्छृणुष्वाद्य महाभुज ॥१॥

कृपाचार्य बोले— हे महाबाहो ! जो तुमने कहा है-हमने वह बिल्कुल समझ लिया। अब तुम मेरे भी कुछ वचनों को शान्ति के साथ सुनो ॥१॥

आबद्धा मानुषा सर्वे निबद्धाः कर्मणोर्द्वयोः।
दैवे पुरुषकारे च परं ताभ्यां न विद्यते ॥२॥

हे विभो ! सारे मनुष्य दैव और पुरुषार्थ इन कर्मों में बँधे हैं। इनसे अतिरिक्त बन्धन का अन्य कोई कर्म नहीं है ॥२॥

न हि दैवेन सिध्यन्ति कार्याण्येकेन सत्तम।
न चापि कर्मणैकेन द्वाभ्यां सिद्धिस्तु योगतः ॥३॥

हे सत्तम ! केवल दैव से ही कार्य सिद्ध नहीं हुआ करते और न केवल उद्योग से ही सिद्धि हो सकती है। इन दोनों का जब योग होता है, तभी सिद्धि हुआ करती है ॥३॥

ताभ्यामुभाभ्यां सर्वार्था निबद्धा अधमोत्तमाः ।
प्रवृत्ताश्चैव दृश्यन्ते निवृत्ताश्चैव सर्वशः ॥४॥

इन दोनों दैव और पुरुषार्थ से ही छोटे बड़े सब प्राणी बंधे हैं। इनके वश से ही प्राणी कार्य में प्रवृत्त या निवृत्त हो जाता है ॥४॥

पर्जन्यः पर्वते वर्षन्किन्नु साधयते फलम् ।
कृष्टे क्षेत्रे तथा वर्षन्किन्न साधयते फलम् ॥५॥

जब मेघ पर्वत पर बरसाता है, तो उसका क्या फल सिद्ध होता है और यदि वही वर्षा जुते खेत में हो जावे, तो क्या फल नहीं देती है ? ॥५॥

उत्थानं चापि दैवस्य ह्यनुत्थानं च दैवतम् ।
व्यर्थं भवति सर्वत्र पूर्वस्तत्र विनिश्चयः ॥६॥

दैव का उत्थान बिना उद्योग या दैव के बिना व्यर्थ हो जाते हैं, यह सर्वोत्कृष्ट विनिश्चय है ॥६॥

सुवृष्टे च यथा देवे सम्यक् क्षेत्रे च कर्षिते ।
बीजं महागुणं भूयात्तथा सिद्धिर्हि मानुषी ॥७॥

जब खेत को अच्छी तरह जोत दिया गया और समय पर अच्छी वर्षा हुई-तो बीज भी महागुण उत्पन्न करता है अर्थात्

अच्छी तरह उत्पन्न होता है। इसी तरह मनुष्य के प्रत्येक कार्य की सिद्धि समझो ॥७॥

तयोर्दैवं विनिश्चित्य स्वयं चैव प्रवर्त्तते ।
प्राज्ञाः पुरुषकारे तु वर्तन्ते दाक्ष्यमाश्रिताः ॥८॥

इन कार्यों में दैव पर भरोसा करके बुद्धिमान् उद्योग में प्रवृत्त होवे। समझदार मनुष्य, दैव के भरोसे पर ही चतुराई का आश्रय लेकर पुरुषार्थ में प्रवृत्त होते हैं ॥८॥

ताभ्यां सर्वे हि कार्यार्था मनुष्याणां नरर्षभ ।
विचेष्टन्तः स्म दृश्यन्ते निवृत्तास्तु तथैव च ॥९॥

हे नरर्षभ! दैव और पुरुषार्थ दोनों के अनुकूल होने पर उत्तम सिद्धि मानी गई है। इनके आश्रय पर सारे मनुष्य कार्य में प्रवृत्त और निवृत्त होते देखे गए हैं ॥९॥

कृतः पुरुषकारश्च सोऽपि दैवेन सिध्यति ।
तथाऽस्य कर्मणः कर्त्तुरभिनिर्वर्तते फलम् ॥१०॥

यदि उत्तम रीति से उद्योग किया-तो दैव की अनुकूलता से उसमें अवश्य सिद्धि होती है और कर्ता को उस कर्म का अवश्य फल मिलता है ॥१०॥

उत्थानं च मनुष्याणां दक्षाणां दैववर्जितम् ।
अफलं दृश्यते लोके सम्यगप्युपपादितम् ॥११॥

चतुर पुरुषों का दैव-हीन उद्योग सिद्ध भी हो गया-तो भी उससे फल नहीं निकल सकता है। चाहे उसे कितनी ही उत्तमता से करो-उससे कोई फल नहीं होगा ॥११॥

तत्रालसा मनुष्याणां ये भवन्त्यमनस्विनः ।
उत्थानं ते विगर्हन्ति प्राज्ञानां तन्न रोचते ॥१२॥

जो अमनस्वी, आलसी मनुष्य, दैव को मान कर विद्वानों के उद्योग की निन्दा करते हैं, वे पुरुष विद्वानों की समझ में उत्तम नहीं है ॥१२॥

प्रायशो हि कृतं कर्म नाफलं दृश्यते भुवि ।
अकृत्वा च पुनर्दुःखं कर्म पश्येन्महाफलम् ॥१३॥

जो कर्म कुछ भी पुरुषार्थ से किया जावेगा-वह कभी व्यर्थ नहीं होता। यदि किसी कर्म में महाफल होने वाला हो और उसको नहीं किया गया-तो उससे भी बड़ा दुःख होता है ॥१३॥

चेष्टामकुर्वन् लभते यदि किंचिद्यदृच्छया ।
यो वा न लभते कृत्वा दुर्दशौ तावुभावपि ॥१४॥

यदि उद्योग न करने पर अचानक कुछ प्राप्त हो जाता है या उद्योग करने पर भी कुछ नहीं मिलता है, ऐसे पुरुष बहुत ही थोड़े देखे जाते हैं ॥१४॥

शक्नोति जीवितुं दक्षो नालसः सुखमेधते ।
दृश्यन्ते जीवलोकेऽस्मिन्दक्षाः प्रायो हितैषिणः ॥१५॥

जो चतुर पुरुष उद्योग में कुशल है, वही इस संसार में जीवित रह सकता है। आलसी को तो कुछ भी चैन नहीं मिल सकता। इस संसार में उद्योगी कुशल पुरुष ही प्रायः अपने हितकारी सिद्ध होते हैं ॥१५॥

यदि दक्षः समारम्भात् कर्मणो नाश्नुते फलम् ।
नास्य वाच्यं भवेत्किंचिल्लब्धव्यं वाऽधिगच्छति १६

यदि उद्योगी चतुर पुरुष उद्योग करने पर भी अपने कर्म का फल न पावे-तो उसमें कोई निन्दा की बात नहीं है। बात तो यह है, कि वह अपने प्राप्त करने योग्य वस्तु को एक दिन पा ही लेता है ॥१६॥

अकृत्वा कर्म यो लोके फलं विन्दति धिष्ठितः ।
स तु वक्तव्यतां याति द्वेष्यो भवति भूयशः ॥१७॥

जो आलसी मनुष्य विना कर्म के किसी पदार्थ को पा लेता है, तो लोग उसकी निन्दा करते हैं और प्रायः लोगों का उससे द्वेप हो जाता है ॥१७।

एवमेतदनादृत्य वर्तते यस्त्वतोऽन्यथा ।
स करोत्यात्मनोनर्थानिप बुद्धिमतां नयः ॥१८॥

इस सिद्धान्त का अनादर करके जो मनुष्य कार्य करने में प्रवृत्त होता है अर्थात केवल दैव या उद्योग के भरोसे पर चल पड़ता है, वह अपने कार्य को विगाड़ लेता है, यही बुद्धिमानों की नीति है ॥१८॥

हीनं पुरुषकारेण यदि दैवेन वा पुनः ।
कारणाभ्यामथैताभ्यामुत्थानमफलं भवेत् ॥१६॥

जो मनुष्य, उद्योग से हीन अथवा दैव से हीन है। इनमें से किसी एक से हीन होकर यदि वह उन्नत हो गया-तो उसका उन्नत होना निष्फल ही रहेगा ॥१६॥

हीनं पुरुषकारेण कर्म त्विह न सिध्यति ।
दैवतेभ्यो नमस्कृत्य यस्त्वर्थान्सम्यगीहते ॥२०॥
दक्षो दाक्षिण्यसम्पन्नो न स मोघैर्विहन्यते ।

जो मनुष्य, पुरुषार्थ से वञ्चित है, उसके कार्य कभी सिद्ध नहीं होते । जो दैव को झुककर उद्योग-पूर्वक अपने कर्म को करता है, वह चतुर पुरुष अपनी चतुराई से सफल हो जाता है, विघ्न आकर उसके कार्य का विनाश नहीं कर सकते हैं ॥२०॥

सम्यगीहा पुनरियं यो वृद्धानुपसेवते ॥२१॥
आपृच्छति च यच्छ्रेयः करोति च हितं वचः ।

जो वृद्धों की वा करता है, कर्तव्य के विषय में उनकी अनुमति लेता है और उनके बताए मार्ग पर चलता है-यही अच्छी तरह किया हुआ उद्योग कहाता है ॥२१॥

उत्थायोत्थाय हि सदा प्रष्टव्या वृद्धसम्मताः ॥२२॥
ते स्म योगे परं मूलं तन्मूला सिद्धिरुच्यते ।

मनुष्य को प्रतिदिन उठकर माननीय वृद्ध पुरुषों की अनुमति लेनी ही चाहिये । वे उद्योग के परम मूल हैं । वृद्धों के वचनों पर ही सिद्धि समाश्रित है ॥२२॥

वृद्धानां वचनं श्रुत्वा योऽभ्युत्थानं प्रयोजयेत् ॥२३॥
उत्थानस्य फलं सम्यक् तदा स लभतेऽचिरात् ।

जो पुरुष, वृद्धों की सम्मति मान कर अपनी उन्नति के मार्ग को साफ करता है, वह अपनी उन्नति का फल बहुत शीघ्र ही पा लेता है ॥२३॥

रागात्क्रोधाद्भयाल्लोभाद्योऽर्थानीहति मानवः ॥२४॥
अनीशश्चावमानी च स शीघ्रं भ्रश्यते श्रियः ।

जो मनुष्य राग, क्रोध, भय या लोभ से अपने कामों को सिद्ध करना चाहता है, वह असमर्थ अभिमानी पुरुष शीघ्र ही सम्पत्ति से भ्रष्ट हो जाता है ॥२४॥

सोऽयं दुर्योधनेनार्थो लुब्धेनादीर्घदर्शिना । २५ ।
असमर्थः समारब्धो मूढत्वादविचिन्तितः ।

राजा दुर्योधन ने भी परिणाम न देखकर लोभ के आधार पर अपना काम करना चाहा । उसने असमर्थ होकर कार्य को आरम्भ किया । मूढ़ होने से उससे सिद्धान्त का विचार ही नहीं हो सका ॥२५॥

हितबुद्धीननादृत्य सम्मन्त्र्यासाधुभिः सह ॥२६॥
वार्यमाणोऽकरोद्वैरं पाण्डवैर्गुणवत्तरैः ।

उसने हितोपदेश देने वाले वृद्धों की सम्मति की अवहेलना की और वह दुर्बुद्धि असाधु पुरुषों के साथ मन्त्रणा करता रहा । उसे बहुत ही रोका, परन्तु वीरतादि अनेक गुणों में अधिक पाण्डवों से वह वैर ही करता रहा ॥२६॥

पूर्वमप्यतिदुःशीलो न धैर्यं कर्तुमर्हति ॥२७॥
तपत्यर्थे विपन्ने हि मित्राणां न कृतं वचः ।

वह तो बचपन से ही शीलविहीन था, उसे किसी काम में धैर्य नहीं होता था । जो अर्थ नष्ट हो गया तो वह परिताप करने लगा । उसने तो मित्रों के वचन माने ही नहीं ॥२७॥

अनुवर्तामहे यत्तु तं वयं पापपूरुषम् । २८॥

अस्मानप्यनयस्तस्मात्प्राप्तोऽयं दारुणो महान् ।

हम लोग भी उसी पापी पुरुष दुर्योधन के पीछे चलते रहे, इसी कारण से हम लोगों को भी यह महान् कष्ट प्राप्त हुआ है ।

अनेन तु ममाद्यापि व्यसनेनोपतापिता ॥२९॥

बुद्धिश्चिन्तयते किंचित् स्वं श्रेयो नावबुध्यते ।

इस विपत्ति से मेरी सन्तापित हुई बुद्धि चिन्ता में पड़ी हुई है और उसे कुछ भी कल्याण प्राप्त नहीं हो रहा है ॥२९॥

मुह्यता तु मनुष्येण प्रष्टव्याः सुहृदो जनाः ॥३०॥

तत्रास्य बुद्धिर्विनयस्तत्र श्रेयश्च पश्यति ।

जब मनुष्य को मोह प्राप्त हो-तो अपने हितकारी सुहृदों से पूछना चाहिए। उस समय उसकी बुद्धि और विनय (शिक्षा) कल्याणमार्ग ढूंढ़ निकालती है ॥३०॥

ततोऽस्य मूलं कार्याणां बुद्ध्या निश्चित्य वै बुधाः ॥

तेऽत्र पृष्टा यथाब्रूयुस्तत्कर्तव्यं तथा भवेत् ।

बुद्धिमान लोग, कार्यों के मूल को अपनी बुद्धि से निश्चित कर लेते हैं, जब उनसे पूछा जाता है, तो वे जो समुचित कर्तव्य होता है, उसका उपदेश कर देते हैं ॥३१॥

ते वयं धृतराष्ट्रं च गान्धारीं च समेत्य ह ॥३२॥

उपपृच्छामहे गत्वा विदुरं च महामतिम् ।

ते पृष्टास्तु वदेयुर्यच्छ्रेयो नः समनन्तरम् ॥२३॥
तदस्माभिः पुनः कार्यमिति मे नैष्ठिकी मतिः ।

अब हमको धृतराष्ट्र, गान्धारी और महामति विदुर के समीप चलना चाहिए और वहां पहुँच कर इस विषय में उनसे प्रश्न करना उचित है। इसके अनन्तर जो कल्याण युक्त कर्तव्य होगा-वे हमको उपदेश करेंगे। जो वे बतावेंगे-हमको वही करना चाहिए; ऐसी मेरी निश्चित मति है ॥२२-२३॥

अनारंभात्तु कार्याणां नार्थः संपद्यते क्वचित् ॥२४॥
कृते पुरुषकारे तु येषां कार्यं न सिद्ध्यति ।
दैवेनोपहतास्ते तु नात्र कार्या विचारणा ॥२५॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां सौप्तिके पर्वणि द्रौणिकृपसंवादे द्वितीयोऽध्यायः

काम के प्रारम्भ किये विना कोई कार्य सिद्ध नहीं हुआ करता। यदि कार्य के भली प्रकार करने पर भी उसमें दैव विघ्न कर दे-तो फिर इसकी चिन्ता ही क्या है ॥२४-२५॥

इति श्रीमहाभारतान्तर्गत सौप्तिकपर्व में कृपाचार्य के नीति-वर्णन का दूसरा अध्याय समाप्त हुआ

तीसरा अध्याय

सञ्जय उवाच— कृपस्य वचनं श्रुत्वा धर्मार्थसहितं शुभम् ।
अश्वत्थामा महाराज दुःखशोकसमन्वितः ॥१॥

सञ्जय कहने लगे—हे महाराज ! कृपाचार्य के धर्म और नीति के अनुसार ये वचन सुनकर अश्वत्थामा दुःख और शोक से युक्त हो गया ॥१॥

दह्यमानस्तु शोकेन प्रदीप्तेनाग्निना यथा ।
क्रूरं मनस्ततः कृत्वा तावुभौ प्रत्यभाषत ॥२॥

अश्वत्थामा प्रदीप्त अग्नि के तुल्य शोक या क्रोध से जल रहा था । यह अपने मन को क्रूर बनाकर उन दोनों से कहने लगा ।

पुरुषे पुरुषे बुद्धिर्या या भवति शोभना ।
तुष्यन्ति च पृथक् सर्वे प्रज्ञया ते स्वया स्वया ॥३॥
सर्वो हि मन्यते लोक आत्मानं बुद्धिमत्तरम् ।
सर्वस्यात्मा बहुमतः सर्वाऽऽत्मानं प्रशंसति ॥४॥

हे महाभाग ! हर एक पुरुष में जो अपनी २ शोभन बुद्धि होती है, वे सब अपनी २ बुद्धि से पृथक् २ सन्तुष्ट रहते हैं। सारे मनुष्य, संसार में अपने को सबसे अधिक बुद्धिमान् मानते हैं । सबको अपनी बुद्धि उत्तम प्रतीत होती है और सब अपनी ही प्रशंसा करते हैं ॥३-४॥

सर्वस्य हि स्वका प्रज्ञा साधुवादे प्रतिष्ठिता ।
परबुद्धिं च निन्दन्ति स्वां प्रशंसन्ति चासकृत् ॥५॥

सब मनुष्यों की अपनी बुद्धि, उत्तम मत में स्थित प्रतीत होती है। वे दूसरे की बुद्धि की निन्दा और अपनी बुद्धि की बार २ प्रशंसा करते हैं ॥५॥

कारणान्तरयोगेन योगे येषां समा गतिः ।
अन्योन्येन च तुष्यन्ति बहु मन्यन्ति चासकृत् ॥
तस्यैव तु मनुष्यस्य सा सा बुद्धिस्तदा तदा ।
कालयोगे विपर्यासं प्राप्यान्योन्यं विपद्यते ॥७॥
विचित्रत्वात्तु चित्तानां मनुष्याणां विशेषतः ।
चित्तवैक्लव्यमासाद्य सा सा बुद्धिः प्रजायते ॥८॥

अन्य २ कारणों के योग से अपने २ उद्योग में जिनकी समान गति है, एक दूसरे की सम्मति से भी प्रसन्न होते हैं तथा समय २ पर उनकी सम्मति का मान भी करते हैं। उस मनुष्य की अपने २ कृत्य के समय २ पर वह बुद्धि कर्म करने के समय उलट पलट हो जाती है और एक दूसरे से मत भेद खड़ा हो जाता है। मनुष्यों के चित्त विशेष करके विचित्र होते हैं, इससे प्रत्येक की सम्मति के आदर करने से चित्त घबरा जाता है ॥६-८॥

यथा हि वैद्यः कुशलो ज्ञात्वा व्याधिं यथाविधि ।
भैषज्यं कुरुते योगात्प्रशमार्थमिति प्रभो ॥९॥

एवं कार्यस्य योगार्थं बुद्धिं कुर्वन्ति मानवाः ।
प्रज्ञया हि स्वया युक्तास्तांश्च निन्दन्ति मानवाः ॥

हे प्रभो ! जैसे अकेला कुशल वैद्य, शास्त्रानुसार व्याधि को जान कर औषध करता है, उसी तरह अपने कार्य की सिद्धि के निमित्त मनुष्य को प्रयत्न करना चाहिए। लोग अपनी बुद्धि के अनुसार उसकी निन्दा करने लगते हैं ॥६-१०॥

अन्यया यौवने मर्त्यो बुध्या भवति मोहितः ।
मध्येऽन्यया जरायां तु सोऽन्यां रोचयते मतिम् ॥

हे मातुल ! युवावस्था में मनुष्य अन्य बुद्धि में ही लिपटा रहता है, मध्यावस्था में उसकी बुद्धि और ही हो जाती है और वृद्धावस्था में तो उसे अन्य प्रकार की बुद्धि ही उचित प्रतीत होने लगती है ॥११॥

व्यसनं वा महाघोरं समृद्धिं चापि तादृशीम् ।
अवाप्य पुरुषो भोज कुरुते बुद्धिवैकृतम् ॥१२॥

हे कृतवर्मा ! जब मनुष्य पर घोर विपत्ति आकर गिरती है या बहुत अधिक सम्पत्ति आ जाती है, तो इन दोनों अवस्थाओं को पाकर उसकी प्रायः बुद्धि विकृत हो जाती है ॥१२॥

एकस्मिन्नेव पुरुषे सा सा बुद्धिस्तदा तदा ।
भवत्यकृतधर्मत्वात्सा तस्यैव न रोचते ॥१३॥

एक ही पुरुष की एक ही बुद्धि समय २ पर भिन्न २ होती देखी गई है। उसके अनुभव के परिपक्व न होने के कारण ही वह

बदलती है। अपनी पहली बुद्धि, दूसरी बुद्धि के उदय के समय उसे ही अच्छी नहीं लगती ॥१३॥

निश्चित्य तु यथाप्रज्ञं यां मतिं साधु पश्यति।
तया प्रकुरुते भावं सा तस्योद्योगकारिका ॥१४॥

अपने विचार के अनुसार निश्चय करके मनुष्य, जिस बुद्धि को निश्चित करता है, उसी के अनुसार उसके भाव बन जाते हैं और वही उसके कर्म करने की रेखा बन जाती है ॥१४॥

सर्वो हि पुरुषो भोज साध्वेतदिति निश्चितः।
कर्तुमारभते प्रीतो मरणादिषु कर्मसु ॥१५॥

हे कृतवर्मा! सारे मनुष्य अपने २ काम को ही श्रेष्ठ समझते हैं, वे आमरण तक अपने कर्मों में अपनी बुद्धि के अनुसार कर्म करना ही प्रीति मानते हैं ॥१५॥

सर्वे हि बुद्धिमाज्ञाय प्रज्ञां वापि स्वकां नराः।
चेष्टन्ते विविधां चेष्टां हितमित्येव जानते ॥१६॥

सारे मनुष्य ही अपनी २ बुद्धि और ज्ञान को ठीक मान कर अनेक चेष्टा करते हैं और उसे ही अपना हित समझते हैं ॥१६॥

उपजाता व्यसनजा येयमद्य मतिर्मम।

युवयोस्तां प्रवक्ष्यामि मम शोकविनाशिनीम् ॥१७॥

आज विपत्ति पड़ने पर जो मेरी बुद्धि उत्पन्न हुई है, मैं उसे तुम दोनों को सुनाता हूं, जो मेरे शोक के विनाश करने वाली सिद्ध होगी ॥१७॥

प्रजापतिः प्रजाः सृष्ट्वा कर्म तासु विधाय च ।
वर्णे वर्णे समाधत्ते ह्येकैकं गुणभाग्गुणम् ॥१८॥

प्रजापति ने जब सृष्टि की रचना की, तो प्रजा में उसने कर्म भी रख दिए और प्रत्येक वर्ण में उसी गुणी परमात्मा ने एक २ गुण की स्थापना भी कर दी ॥१८॥

ब्राह्मणे वेदमग्र्यं तु क्षत्रिये तेज उत्तमम् ।
दाक्ष्यं वैश्ये च शूद्रे च सर्ववर्णानुकूलताम् ॥१९॥
अदान्तो ब्राह्मणोऽसाधुर्निस्तेजाः क्षत्रियोऽधमः ।
अदक्षो निन्द्यते वैश्यः शूद्रश्च प्रतिकूलवान् ॥२०॥

ब्राह्मण में वेदाध्ययन, क्षत्रिय में उत्तम तेज, वैश्य में चतुराई और शूद्र में सब वर्णों की अनुकूलता (सेवा) का भाव रख दिया। अब जो ब्राह्मण वेद विहीन अनुदार है और जो क्षत्रिय निस्तेज है, वह अधम माना गया है। जो वैश्य चतुर नहीं है, वह निन्दित होता है और शूद्र द्विजों का विरोध करे तो निन्दा को प्राप्त होगा।

सोऽस्मि जातः कुले श्रेष्ठे ब्राह्मणानां सुपूजिते ।
मन्दभाग्यतयाऽस्म्येतं क्षत्रधर्ममनुष्ठितः ।
क्षत्रधर्मं विदित्वाऽहं यदि ब्राह्मण्यमाश्रितः ।
प्रकुर्यां सुमहत्कर्म न मे तत्साधुसम्मतम् ॥२२॥

मैं भी ब्राह्मणों के पूज्य उत्तम कुल में उत्पन्न हूं परन्तु भाग्य की मन्दता से इस क्षत्रिय धर्म में आ पड़ा। यदि मैं क्षत्रिय धर्म

...के कार्य में संलग्न होकर ब्राह्मणोचित उत्तम कर्म करूं, तो धर्मात्मा मेरी प्रशंसा नहीं करेंगे ॥२१-२२॥

धारयंश्च धनुर्दिव्यं दिव्यान्यस्त्राणि चाहवे ।
पितरं निहतं दृष्ट्वा किं नु वक्ष्यामि संसदि ॥२३॥

मैं भी दिव्य धनुष धारण करता हूं और रण में दिव्य अस्त्रों का प्रयोग करता हूं इस अवस्था में जब कि मेरा पिता मारा गया-तो मैं सभा के मध्य में क्या उत्तर दे सकता हूं ॥२३॥

सोऽहमद्य यथाकामं क्षत्रधर्ममुपास्य तम् ।
गन्ताऽस्मि पदवीं राज्ञः पितुश्चापि महात्मनः ॥२४॥

आज मैं अपनी कामना के अनुसार क्षत्रिय-धर्म का सेवन करके अपने राजा दुर्योधन या महात्मा पिता की गति को प्राप्त करूंगा ॥२४॥

अद्य स्वप्स्यन्ति पाञ्चाला विश्वस्ता जितकाशिनः ।
विमुक्तयुग्यकवचा हर्षेण च समन्विताः ॥२५॥
जयं मत्वाऽऽत्मनश्चैव श्रान्ता व्यायामकर्षिताः ।
तेषां निशि प्रसुप्तानां सुस्थानां शिबिरे स्वके ॥२६॥
अवस्कन्दं करिष्यामि शिबिरस्याद्य दुष्करम् ।

आज विजयोन्मत्त पाञ्चाल बड़े विश्वास के साथ रथ और कवच खोलकर सो रहे हैं और बड़े हर्षित हैं । उन्होंने अपनी विजय निश्चित ही समझ ली है । वे युद्ध के परिश्रम से बहुत ही थके हुए हैं, रात में निश्चिन्तता के साथ अपने शिबिरों में सोते

हुए पाञ्चालों पर मैं आक्रमण करूंगा और उनके शिविर पर दुष्कर घेरा डाल दूंगा ॥२५-२६॥

तानवस्कन्द्य शिबिरे प्रेतभूतानचेतसः ॥२७॥
सूदयिष्यामि विक्रम्य मघवानिव दानवान् ।

मैं शिविरों में अचेत होकर मृतक की तरह सोते हुए, पाञ्चालों को घेर लूंगा और जैसे दानवों को इन्द्र मार लेता है-वैसे ही मैं अपना पराक्रम दिखाकर उन्हें मार लूंगा ॥२७॥

अथ तान्सहितान्सर्वान् धृष्टद्युम्नपुरोगमान् ॥२८॥
सूदयिष्यामि विक्रम्य कक्षं दीप्त इवानलः ।
निहत्य चैव पाञ्चालान् शान्ति लब्धाऽस्मि सत्तम ॥

आज धृष्टद्युम्न के सहित सारे पाञ्चाल आदि इकट्ठे ही वीरों पर आक्रमण करके उन्हें इस तरह दग्ध कर दूंगा-जैसे अग्नि, तृण राशि को भस्म कर देता है। हे महानुभाव ! मैं आज पाञ्चालों को मार कर बड़ी ही शान्ति प्राप्त करूंगा ॥२८-२९॥

पाञ्चालेषु भविष्यामि सूदयन्नद्य संयुगे ।
पिनाकपाणिः संक्रुद्ध स्वयं रुद्रः पशुष्विव ॥३०॥

जिस तरह संसार के प्राणियों का संहार पिनाकपाणि रुद्र करता है, उसी तरह मैं आज रण में सारे पाञ्चालों को मार कर सन्तुष्ट होऊँगा ॥३०॥

अद्याहं सर्वपाञ्चालान्निहत्य च निकृष्य च ।
अर्दयिष्यामि संहृष्टो रणे पाण्डुसुतांस्तथा ॥३१॥

आज प्रथम सारे पञ्चालों को मार कर और घसीट कर, रण में प्रसन्नता के साथ फिर पाण्डवों पर भी आक्रमण कर दूंगा।

अद्याहं सर्वपञ्चालैः कृत्वा भूमिं शरीरिणीम्।
प्रहृत्यैकैकशस्तेषु भविष्याम्यनृणः पितुः ॥३२॥
दुर्योधनस्य कर्णस्य भीष्मसैन्धवयोरपि।
गमयिष्यामि पाञ्चालान्पदवीमद्य दुर्गमाम् ॥३३॥

मैं आज सारे पाञ्चालों से पृथिवी को पुष्ट करके तथा एक २ पर प्रहार करके पिता के ऋण से उऋण हो जाऊंगा। राजा दुर्योधन, कर्ण, भीष्म और जयद्रथ इनसे भी मुझे आज ही उऋण हो जाना है। मैं आज पञ्चालों को बड़ी दुर्गम पदवी पर पहुंचा दूंगा।

अद्य पाञ्चालराजस्य धृष्टद्युम्नस्य वै निशि।
न चिरात्प्रमथिष्यामि पशोरिव शिरो बलात् ॥३४॥

आज मैं पञ्चालराज धृष्टद्युम्न के शिर को बहुत शीघ्र ही बल-पूर्वक पशु के शिर की भांति काट कर दूर फैंक दूंगा ॥३४॥

अद्य पाञ्चालपाण्डूनां शयितानात्मजान्निशि।
खड्गेन निशितेनाजौ प्रमथिष्यामि गौतम ॥३५॥

हे गौतम ! आज रात में पञ्चाल और पाण्डवों के सोते हुए उनके पुत्र पौत्रादिकों को भी तीक्ष्ण खड्ग से रण में मार गिराऊंगा ॥३५॥

अद्य पाञ्चालसेनां तां निहत्य निशि सौप्तिके।
कृतकृत्यः सुखी चैव भविष्यामि महामते ॥३६॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां सौप्तिके पर्वणि द्रौणिमंत्रणायाम् तृतीयोऽध्यायः ॥३॥

हे महामते ! आज रात में सोती हुई पाञ्चालसेना को मार कर मैं कृतकृत्य और सुखी हो जाना चाहता हूं ॥३६॥

इति श्रीमहाभारतान्तर्गत सौप्तिकपर्व में अश्वत्थामा के अपने भाव प्रकट करने के वर्णन का तीसरा अध्याय समाप्त हुआ



चौथा अध्याय

कृप उवाच— दिष्ट्या ते प्रतिकर्तव्ये मतिर्जातियमच्युत ।
न त्वां वारयितुं शक्तो वज्रपाणिरपि स्वयम् ॥१॥

कृपाचार्य बोले—हे वीर ! अपने शत्रु से बदला लेने की जो तुम्हारी इतनी ज्वाला तीव्र हो रही है-यह बड़े आनन्द की बात है। जब तुम किसी कार्य के करने में प्रवृत्त हो जाओगे-तो तुमको रोकने में वज्रपाणि इन्द्र भी समर्थ नहीं है ॥१॥

अनुयास्यावहे त्वां तु प्रभाते सहितावुभौ ।
अद्य रात्रौ विश्रमस्व विमुक्तकवचध्वजः ॥२॥

प्रातःकाल होने पर हम दोनों तुम्हारे साथ चलेंगे-तुम कवच, ध्वजा खोलकर अब रात में विश्राम करो ॥२॥

अहं त्वामनुयास्यामि कृतवर्मा च सात्वतः ।
परानभिमुखं यातं रथावास्थाय दंशितौ ॥३॥

जब तुम शत्रु पर आक्रमण करोगे-तब सात्वतवंशश्रेष्ठ कृतवर्मा और मैं दोनों ही रथ पर चढ़कर तुम्हारे साथ चलेंगे ॥३

आचार्य्यां सहितः शत्रून् श्वो निहन्ता समागमे ।
विक्रम्य रथिनां श्रेष्ठ पाञ्चालान्सपदानुगान् ॥४॥

हे रथिश्रेष्ठ ! हम दोनों को साथ लेकर कल युद्ध में तुम सारे शत्रुओं को मार लोगे और सेना सहित पाञ्चालों को भी पराक्रम के साथ मार गिराओगे ॥४॥

शक्तस्त्वमसि विक्रम्य विश्रमस्व निशामिमाम् ।
चिरं ते जाग्रतस्तात स्वप तावन्निशामिमाम् ॥५॥

तुम पराक्रम कर दिखाने में समर्थ हो । अब तो रात में विश्राम ग्रहण करो । हे तात ! तुमको जागते हुए बहुत देर हो गई । अब तो तुम रात में सो रहो ॥५॥

विश्रान्तश्च विनिद्रश्च स्वस्थचित्तश्च मानद ।
समेत्य समरे शत्रून्वधिष्यासि न संशयः ॥६॥

हे मानद ! जब तुम विश्राम कर लोगे और तुम्हारी नींद भर जावेगी-तो तुम्हारा चित्त भी ठीक हो जावेगा । फिर प्रातःकाल शत्रुओं से भिड़कर उन्हें मार भी गिराओगे-इसमें सन्देह नहीं है।

न हि त्वां रथिनां श्रेष्ठं प्रगृहीतवरायुधम् ।
जेतुमुत्सहते शश्वदपि देवेषु वासवः ॥७॥

तुम इतने श्रेष्ठ महारथी हो, कि जब तुम उत्तम २ आयुधों को उठा लोगे-तो देवों में प्रसिद्ध इन्द्र भी तुमको जीतने में समर्थ नहीं हो सकेगा ॥७॥

कृपेण सहितं यान्तं गुप्तं च कृतवर्मणा।
को द्रौणिं युधि संरब्धं योधयेदपि देवराट् ॥८॥

जब कृपाचार्य साथ चल रहे हों और कृतवर्मा रक्षा पर हों, तो आवेश में भरे हुए अश्वत्थामा से किसकी युद्ध करने की शक्ति है। इस समय तो स्वयं देवराज इन्द्र भी युद्ध नहीं कर सकता है।

ते वयं निशि विश्रान्ता विनिद्रा विगतज्वराः।
प्रभातायां रजन्यां वै निहनिष्याम शात्रवान् ॥९॥

अब तो रात में विश्राम करके नींद भर लें; प्रातःकाल सारी व्यथाओं से मुक्त होकर शत्रुओं का विध्वंस उड़ा देंगे ॥९॥

तव ह्यस्त्राणि दिव्यानि मम चैव न संशयः।
सात्वतोऽपि महेष्वासो नित्यं युद्धेषु कोविदः ॥१०॥

तुम्हारे और मेरे पास बड़े २ दिव्य २ अस्त्र हैं तथा सात्वत-वंशश्रेष्ठ कृतवर्मा भी युद्ध में बड़ा पण्डित है-इसमें सन्देह नहीं है ॥१०॥

ते वयं सहितास्तात सर्वान् शत्रून्समागतान्।
प्रसह्य समरे हत्वा प्रीतिं प्राप्स्याम पुष्कलाम् ॥

हे तात! इस तरह हम तुम इकट्ठे ही सारे सन्मुख आए हुए शत्रुओं को बलपूर्वक रण में मार गिरावेंगे; जिससे हमको बड़े आनन्द की प्राप्ति होगी ॥११॥

विश्रमस्व त्वमव्यग्रः स्वप चेमां निशां सुखम्।
अहं च कृतवर्मा च त्वां प्रयान्तं नरोत्तमम् ॥१२॥

अनुयास्याव सहितौ धन्विनौ परतापनौ ।
रथिनं त्वरया यान्तं रथमास्थाय दंशितौ ॥१३॥
स गत्वा शिबिरं तेषां नाम विश्राव्य चाहवे ।
ततः कर्तासि शत्रूणां युध्यतां कदनं महत् ॥१४॥

अब तुम चिन्ता छोड़कर विश्राम करो और इस रात में सुख से सोओ। हे वीर ! जब तुम इन पर आक्रमण करोगे-तो मैं और कृतवर्मा तुम्हारे साथ होंगे। तुम जब अपने रथ पर बैठकर शीघ्रता से चलोगे-तब हम भी सुसज्जित होकर रथ पर बैठे हुए तुम्हारे साथ होंगे। हम दोनों अपने २ धनुष साथ ले लेंगे, जिससे शत्रु को सन्तापित कर देंगे। तुम शत्रुओं के शिबिर में पहुंच कर और अपना नाम सुनाकर रण में युद्ध करने वाले शत्रुओं का विध्वंस उड़ा देना ॥१२-१४॥

कृत्वा च कदनं तेषां प्रभाते विमलेऽहनि ।
विहरस्व यथा शक्रः सूदयित्वा महासुरान् ॥१५॥

जब प्रातःकाल हो और दिन का प्रकाश फैल जावे-तब उनका महान् विनाश करके तुम इस तरह चमक उठना-जैसे असुरों का विनाश करके इन्द्र प्रदीप्त हो जाता है ॥१५॥

त्वं हि शक्तो रणे जेतुं पाञ्चालानां वरूथिनीम् ।
दैत्यसेनामिव क्रुद्धः सर्वदानवसूदनः ॥१६॥

तुम रण में पाञ्चाल सेना के विध्वंस करने में इस प्रकार समर्थ हो-जैसे सारे दानवों के मारने में समर्थ इन्द्र क्रोध-पूर्वक दैत्य सेना को मार गिराते हैं ॥१६॥

मया त्वां सहितं संख्ये गुप्तं च कृतवर्मणा ।

न सहेत विभुः साक्षाद्वज्रपाणिरपि स्वयम् ॥१७॥

जब मैं तुम्हारे साथ रण में होऊंगा और कृतवर्मा तुम्हारे रक्षक होकर चल रहे होंगे-तब तुम्हें साक्षात शक्तिशाली, वज्रपाणि इन्द्र भी रोकने में समर्थ नहीं हो सकता है ॥१७॥

न चाहं समरे तात कृतवर्मा न चैव हि ।

अनिर्जित्य रणे पांडून्न च यास्यामि कर्हिचित् ॥

हे तात ! इस घोर युद्ध में मैं या कृतवर्मा पाण्डवों के विना जीते कभी रणाङ्गण से वापिस नहीं लौट सकते हैं ॥१८॥

हत्वा च समरे क्रुद्धान्पाञ्चालान्पाण्डुभिः सह ।

निवर्तिष्यामहे सर्वे हता वा स्वर्गगा वयम् ॥१९॥

हम लोग सारे पाण्डवों के साथ क्रुद्ध हुए पञ्चालों को रणक्षेत्र में मार कर लौटेंगे या स्वयं मारे जाकर स्वर्ग चले जावेंगे ॥१९॥

सर्वोपायैः सहायास्ते प्रभाते वयमाहवे ।

सत्यमेतन्महाबाहो प्रब्रवीमि तवानघ ॥२०॥

हे महाबाहो ! वीर ! अश्वत्थामा ! हम प्रातःकाल होने पर सारी शक्ति लगा कर तुम्हारा साथ देंगे-यह सत्य बात हम तुमसे प्रतिज्ञापूर्वक कह रहे हैं ॥२०॥

एवमुक्तस्ततो द्रौणिर्मातुलेन हितं वचः ।

अब्रवीन्मातुलं राजन् क्रोधसंरक्तलोचनः ॥२१॥

हे राजन् ! जब द्रोण-पुत्र अश्वत्थामा से उसके मातुल कृपाचार्य ने यह हितकारी वचन कहा, तो उसकी आंखें क्रोध से जल उठी और वह अपने मामा से कहने लगा ॥२१॥

आतुरस्य कुतो निद्रा नरस्यामर्पितस्य च ।
अर्थांश्चिन्तयतश्चापि कामयानस्य वा पुनः ।
तदिदं समनुप्राप्तं पश्य मेऽद्य चतुष्टयम् ॥२२॥
पश्य भागचतुर्थों मे स्वप्नमह्नाय नाशयेत् ।

हे मातुल ! क्रोध में भरे हुए चिन्तातुर मनुष्य को कहीं नींद आ सकती है । जो अपने कार्य की सिद्धि के उपाय सोच रहा है और अपनी उन्नति की चिन्ता में निमग्न है, उसे नींद कहां से आ सकती है । मुझे तो ये चारों ही बातें आज उपस्थित हो रही हैं । यह तो चतुर्थांश मेरे ही मारने को छोड़ा हुआ था, जिसने मेरी नींद को बड़ी शीघ्रता से नष्ट कर दिया है ॥२२॥

किं नाम दुःखं लोकेऽस्मिन्पितुर्वधमनुस्मरन् ॥
हृदयं निर्दहन्मेऽद्य रात्र्यहानि न शाम्यति ।

जब मैं पिता के वध का स्मरण करता हूं-तो मुझे अन्य कुछ भी नहीं सूझता है । मेरा हृदय जलता रहता है; मुझे रात दिन कभी भी शान्ति नहीं मिलती है ॥२३॥

यथा च निहतः पापैः पिता मम विशेषतः ॥२४॥
प्रत्यक्षमपि ते सर्वं तन्मे मर्माणि कृन्तति ।

जिस तरह इन पापियों ने मेरे पिता को अनुचित रीति से मार डाला-वह सब कुछ तुम्हारे प्रत्यक्ष है, यह बात मेरे मर्मों को काटती रहती है ॥२४॥

कथं हि मादृशो लोके मुहूर्त्तमपि जीवति ॥२५॥
द्रोणो हतेति यद्वाचः पाञ्चालानां शृणोम्यहम् ।

मुझ जैसा मनस्वी मनुष्य भी कैसे क्षण भर जीवित रह सकता है, जो पाञ्चालों की यह बात सुनता रहता है, कि हमने द्रोण को मार गिराया ॥२५॥

धृष्टद्युम्नमहत्वा तु नाहं जीवितुमुत्सहे ॥२६॥
स मे पितुर्वधाद्वध्यः पाञ्चाला ये च संगताः ।

धृष्टद्युम्न के विना मारे मेरे जीवन को धिक्कार है। इस दशा में तो मैं जीना ही नहीं चाहता हूं। उसी ने मेरे पिता का वध किया है, जिससे मुझे उसे मार ही लेना चाहिए-धृष्टद्युम्न के साथ ही उसके साथी भी मुझे मार लेने चाहिए ॥२६॥

विलापो भग्नसक्थस्य यस्तु राज्ञो मया श्रुतः ॥
स पुनर्हृदयं कस्य क्रूरस्यापि न निर्दहेत् ।
कस्य ह्यकरुणस्यापि नेत्राभ्यामश्रु ना व्रजेत् ॥२८॥
नृपतेर्भग्नसक्थस्य श्रुत्वा तादृग्वचः पुनः ।

मैंने जंघा टूटे हुए राजा दुर्योधन का विलाप सुना है-वह विलाप किस क्रूर हृदय के कठिन हृदय को दग्ध नहीं कर सकता है। कौन ऐसा निर्दयी होगा, जो जांघ टूट कर रणक्षेत्र में पड़े

हुए राजा दुर्योधन के ये वचन सुनकर भी आंखों से आंसुओं की धारा न बहा देवे ॥२७-२८॥

यश्चायं मित्रपक्षो मे मयि जीवति निर्जितः ॥२९॥
शोकं से वर्धयत्येष वारिवेग इवार्णवम् ।
एकाग्रमनसो मेऽद्य कुतो निद्रा कुतः सुखम् ॥३०॥

' जो यह मेरे जीते रहने पर भी मेरा मित्र पक्ष पराजित हो गया-यह मेरे शोक के वेग को इस तरह बढ़ा रहा है जैसे जल-प्रवाह समुद्र को बढ़ाता रहता है। आज तो मेरा मन केवल इसी बात में संलग्न हो गया है-अब मुझे निद्रा या चैन कहां पड़ सकता है ॥२९-३०॥

वासुदेवार्जुनाभ्यां च तानहं परिरक्षितान् ।
अविषह्यतमान्मन्ये महेन्द्रेणापि सत्तम ॥३१॥

हे सत्तम ! श्रीकृष्ण और अर्जुन से सुरक्षित पाञ्चालों को मैं इन्द्र से भी असह्य मानता हूँ ॥३१॥

न चापि शक्तः संयन्तु कोपमेतं समुत्थितम् ।
तं न पश्यामि लोकेऽस्मिन्यो मां कोपान्निवर्त्तयेत् ॥

हे मातुल ! मुझे जो यह कोप का वेग उठ रहा है, उसे कोई नहीं रोक सकता है। मुझे तो लोक में कोई ऐसा व्यक्ति दिखाई नहीं देता-जो इस कोप से मुझे निवृत्त कर दे ॥३२॥

तथैव निश्चिता बुद्धिरेषा साधु मता मम ।
वार्तिकैः कथ्यमानस्तु मित्राणां मे पराभवः ॥३३॥
पाण्डवानां च विजयो हृदयं दहतीव मे ।

अब तो मुझे यही बुद्धि श्रेष्ठ दिखाई देती है। मैंने तो लोगों की बातचीतों में सर्वत्र अपने मित्र पक्ष का ही पराभव सुना है। पाण्डवों की विजय का सुनना मेरे हृदय को बहुत ही भस्म कर रहा है ॥३३॥

अहं तु कदनं कृत्वा शत्रूणामद्य सौप्तिके ॥
ततो विश्रमिता चैव स्वप्ता च विगतज्वरः ॥३४॥
इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां
सौप्तिके पर्वणि द्रौणिमंत्रणायां चतुर्थोऽध्यायः

मैं तो आज सोते २ शत्रुओं का विध्वंस बड़ा कर ही विश्राम लूंगा और उसी समय चिन्ता रहित होकर शयन करूंगा।

इति श्रीमहाभारतान्तर्गत सौप्तिकपर्व में कृप अश्वत्थामा
सम्वाद का चौथा अध्याय समाप्त हुआ



पांचवां अध्याय

कृप उवाच—शुश्रूषुरपि दुर्मेधाः पुरुषोऽनियतेन्द्रियः।
नालं वेदयितुं कृत्स्नौ धर्मार्थाविति मे मतिः ॥१॥

कृप बोले—हे तात! जो मनुष्य विषय का श्रवण तो करना चाहता है, परन्तु उसकी बुद्धि यदि कलुपित है या जो जितेन्द्रिय नहीं है-ये दोनों ही धर्म और नीति के तत्व के जानने में असमर्थ होते हैं ॥१॥

तथैव तावन्मेधावी विनयं यो न शिक्षते ।
न च किञ्चन जानाति सोऽपि धर्मार्थनिश्चयम् ॥२॥

इसी तरह यदि मेधावी पुरुष भी विशेष नीति को नहीं पढ़ा है, तो वह भी धर्म और नीति को निश्चय-पूर्वक नहीं जान सकता है ॥२॥

चिरं ह्यपि जडः शूरः पण्डितं पर्युपास्य हि ।
न स धर्मान्विजानाति दर्वी सूपरसानिव ॥३॥

यद्यपि मूर्ख मनुष्य ने चिरकाल तक पण्डितों की उपासना की, परन्तु वह भी धर्म के स्वरूप को नहीं जान सकता है, जिस तरह कलछी दाल के स्वाद को नहीं पहिचान सकती है ॥३॥

मुहूर्त्तमपि तं प्राज्ञः पण्डितं पर्युपास्य हि ।
क्षिप्रं धर्मान्विजानाति जिह्वा सूपरसानिव ॥४॥

यदि विद्वान् मनुष्य ने थोड़ी ही देर ज्ञानी पुरुष का सहवास किया है-तो वह भी शीघ्र ही अपने धर्म के स्वरूप को जान लेता है-जैसे जिह्वा सूप शाक आदि के आस्वाद को पहिचान लेती है।

शुश्रूषुस्त्वेव मेधावी पुरुषो नियतेन्द्रियः ।
जानीयादागमान्सर्वान् ग्राह्यं च न विरोधयेत् ॥५॥

जो पुरुष, बात को सुनना चाहता है और जितेन्द्रिय है । वही सारे शास्त्रों के तत्व को जान सकता है और ग्रहण करने योग्य वस्तु का विरोध नहीं करता है ॥५॥

अनेयस्त्ववमानीयो दुरात्मा पापपूरुषः ।
दिष्टमुत्सृज्य कल्याणं करोति बहुपापकम् ॥६॥

जो उद्दण्ड पुरुष समझाने पर भी न माने; वह दुरात्मा अवमान के योग्य या पापी है। वह तो सन्मुखोपस्थित कल्याण को छोड़कर अधिक पाप बटोरना चाहता है ॥६॥

नाथवन्तं तु सुहृदः प्रतिषेधन्ति पापकात् ।
निवर्त्तते तु लक्ष्मीवान्नालक्ष्मीवान्निवर्तते ॥७॥

जो मनुष्य किसी विषय के जानने की याचना करते हैं, उन्हीं को उसके मित्र, पाप से पृथक् कर सकते हैं। जो भाग्यवान् होता है, वही मित्र के वचन मान कर बुराई से हटता है। जो भाग्यवान् नहीं है-वह बुराई से नहीं हट सकता है ॥७॥

यथा ह्युच्चावचैर्वाक्यैः क्षिप्तचित्तो नियम्यते ।
तथैव सुहृदा शक्यो न शक्यस्त्ववसीदति ॥८॥

यदि किसी मित्र का मन बुराई की ओर खिंच गया है, तो उसे ऊंचे नीचे वचन सुनाकर रोकना चाहिए। यदि मित्र उसके रोकने में समर्थ हो गया-तो ठीक है और यदि वह न रुक सका, तो अन्त में वह पीड़ित होता है ॥८॥

तथैव सुहृदं प्राज्ञं कुर्वाणं कर्म पापकम् ।
प्राज्ञाः सम्प्रतिषेधन्ति यथाशक्ति पुनः पुनः ॥९॥

इसी तरह बुद्धिमान् मित्र को पापकर्म में प्रवृत्त देखकर उसके मित्र उसे यथाशक्ति बार २ रोकने का प्रयत्न करते हैं ॥९॥

स कल्याणे मनः कृत्वा नियम्यात्मानमात्मना ।
कुरु मे वचनं तात येन पश्चान्न तप्स्यसे ॥१०॥

हे तात ! अब तुम अपने मन को कल्याण में लगाकर और अपनी बुद्धि द्वारा मन को रोक कर मेरे वचनों को स्वीकार करो, जिससे अन्त में पछिताना न पड़े ॥१०॥

न वधः पूज्यते लोके सुप्तानामिह धर्मतः ।
तथैवापास्तशस्त्राणां विमुक्तरथवाजिनाम् ॥११॥
ये च ब्रूयुस्तवास्मीति ये च स्युः शरणागताः ।
विमुक्तमूर्धजा ये च ये चापि हतवाहनाः ॥१२॥

जो मनुष्य सो रहा है, रथ, अश्व या शस्त्र विहीन है, उसका मार देना धर्मानुसार बहुत ही बुरा माना गया है । इसी तरह जो यह कहता है, कि मैं तेरा दास हूं, शरणागत हूं तथा जिसके वाल खुले हुए हैं, वाहन नष्ट हो चुके हैं । उनका मारना भी महापाप है ॥११-१२॥

अद्य स्वप्स्यन्ति पाञ्चाला विमुक्तकवचा विभो ।
विश्वस्ता रजनीं सर्वे प्रेता इव विचेतसः ॥१३॥
यस्तेषां तदवस्थानां द्रुह्येत पुरुषोऽनृजुः ।
व्यक्तं स नरके मज्जेदगाधे विपुलेऽप्लवे ॥१४॥

हे विभो ! आज पञ्चालवीर भी कवच खोलकर बड़े विश्वास के साथ अचेत हुए शव की भांति रात में निःशङ्क सो रहे हैं । इस दशा में जो कुटिल पुरुष उन पर आक्रमण करना चाहता है,

वह विना नौका के अगाध नरक रूपी समुद्र में डूबने जा रहा है-यह स्पष्ट बात है ॥१३-१४॥

सर्वास्त्रविदुषां लोके श्रेष्ठस्त्वमसि विश्रुतः ।
न च ते जातु लोकेऽस्मिन्सुसूक्ष्ममपि किल्बिषम् ॥
त्वं पुनः सूर्यसङ्काशः श्वोभूत उदिते रवौ ।
प्रकाशे सर्वभूतानां विजेता युधि शात्रवान् ॥१६॥

तुम तो इस संसार में अस्त्रधारी वीरों में सर्वश्रेष्ठ वीर प्रसिद्ध हो । तुम्हारे जीवन में तो कभी थोड़े से भी कलङ्क की बात नहीं आई है । तुम तो सूर्य के समान तेजस्वी हो । कल प्रातः-काल सूर्य के उदित होते ही प्रकाश में सारे शत्रुओं को मार गिराना ॥१६॥

असम्भावितरूपं हि त्वयि कर्म विगर्हितम् ।
शुक्ले रक्तमिव न्यस्तं भवेदिति मतिर्मम ॥१७॥

तुमने जो इस निन्दित कर्म करने की मन में ठानी है-यह तुम्हारे स्वरूप के अनुरूप नहीं है । मेरी राय में तो यह तुम्हारे जीवन रूपी सफेद वस्त्र में कलङ्क रूपी लाल मजीठ का पक्का दाग लग जावेगा ॥१७॥

अश्वत्थामोवाच—एवमेव यथाऽऽत्थ त्वं मातुलेह न संशय ।
तैस्तु पूर्वमयं सेतुः शतधा विदलीकृतः ॥१८॥

अश्वत्थामा ने कहा—हे मातुल ! तुम जो कह रहे हो-वह ठीक ही है-इसमें सन्देह नहीं है, परन्तु इस धर्म सेतु के तो प्रथम पाण्डवों ने ही सैंकड़ों टुकड़े कर दिए हैं ॥१८॥

प्रत्यक्षं भूमिपालानां भवतां चापि सन्निधौ ।
न्यस्तशस्त्रो मम पिता धृष्टद्युम्नेन पातितः ॥१९॥

यह तुम सबने प्रत्यक्ष देखा है और अनेक राजा भी उपस्थित थे, जो शस्त्र छोड़ देने पर भी मेरे पिता का धृष्टद्युम्न ने विनाश कर दिया ॥१९॥

कर्णश्च पतिते चक्रे रथस्य रथिनां वरः ।
उत्तमे व्यसने मग्नो हतो गाण्डीवधन्वना ॥२०॥

गाण्डीवधारी अर्जुन ने ही रथिश्रेष्ठ कर्ण को संकट के समय मार गिराया है । जब कर्ण के रथ के पहिए कीचड़ में घुस गए, तभी उस पर प्रहार किया गया-क्या यह धर्म था ॥२०॥

तथा शान्तनवो भीष्मो न्यस्तशस्त्रो निरायुधः ।
शिखण्डिनं पुरस्कृत्य हतो गाण्डीवधन्वना ॥२१॥

जब शान्तनु-पुत्र भीष्म ने शस्त्र छोड़ दिए और वह शस्त्र-विहीन हो गया; तभी गाण्डीवधारी अर्जुन ने शिखण्डी को आगे करके उन्हें मार गिराया था ॥२१॥

भूरिश्रवा महेष्वासस्तथाप्रायगतो रणे ।
क्रोशतां भूमिपालानां युयुधानेन पातितः ॥२२॥

महाधनुर्धर भूरिश्रवा प्रायोपवेशन (व्रत) करके रण में बैठ गया था, परन्तु सारे राजाओं के चिल्लाने पर भी सात्यकि ने उसे मार गिराया ॥२२॥

दुर्योधनश्च भीमेन समेत्य गदया रणे ।
पश्यतां भूमिपालानामधर्मेण निपातितः ॥२३॥

राजा दुर्योधन को भी रणाङ्गण में भीम ने ललकार कर सारे राजाओं के देखते २ अधर्म-पूर्वक मार गिराया ॥२३॥

एकाकी बहुभिस्तत्र परिवार्य महारथैः ।
अधर्मेण नरव्याघ्रो भीमसेनेन पातितः ॥२४॥

राजा दुर्योधन अकेले थे, उन्हें बहुत से महारथियों ने घेर लिया और फिर अधर्म युद्ध के द्वारा वीरश्रेष्ठ कुरुराज को भीमसेन ने मार डाला ॥२४॥

विलापो भग्नसक्थस्य यो मे राज्ञः परिश्रुतः ।
वार्तिकाणां कथयतां स मे मर्माणि कृन्तति ॥२५॥

टूटी जंघा वाले राजा दुर्योधन का विलाप मैंने सुना है और लोग बातचीत करते हुए भी वही चर्चा कर रहे थे । वह विलाप मेरे मर्मों को बुरी तरह काट रहा है ॥ ५॥

एवं चाधर्मिकाः पापाः पाञ्चाला भिन्नसेतवः।
तानेवं भिन्नमर्यादान्कि भवान्न विगर्हति ॥२६॥

इस तरह अधार्मिक, पापी पाञ्चालों ने ही प्रथम धर्म के सेतु को तोड़ा है । जब उन्होंने सारी मर्यादा तोड़ डाली तो आप उनकी निन्दा क्यों नहीं कर रहे हैं ॥२६॥

पितृहन्तृनहं हत्वा पाञ्चालान्निशि सौप्तिके ।
कामं कीटः पतङ्गो वा जन्म प्राप्य भवामि वै ॥२७॥

जिन पञ्चालों ने मेरे पिता को अधर्म से मार डाला-यदि उन सोते हुए पञ्चालों को मैं मार गिराऊँ-तो चाहे-मैं कीट पतङ्ग कुछ ही क्यों न बनूँ-मुझे सब कुछ स्वीकार है ॥२७॥

त्वरे चाहमनेनाद्य यदिदं मे चिकीर्षितम् ।
तस्य मे त्वरमाणस्य कुतो निद्रा कुतः सुखम् ॥२८॥

मुझे तो इस काम के करने की बड़ी त्वरा हो रही है। इस शीघ्रता के समय मुझे नींद और सुख कहां प्राप्त हो सकता है ॥

न स जातः पुमाँल्लोके कश्चिन्न स भविष्यति ।
यो मे व्यावर्त्तयेदेतां वधे तेषां कृतां मतिम् ॥२६॥

इस लोक में कोई ऐसा पुरुष दिखाई नहीं देता है-जो पाञ्चलों के वध में प्रवृत्त हुए मुझे उससे निवृत्त कर दे ॥२६॥

संजय उवाच—एवमुक्त्वा महाराज द्रोणपुत्रः प्रतापवान् ।
एकान्ते योजयित्वाश्वान्प्रायादभिमुखः परान् ॥३०॥

सञ्जय ने कहा—हे महाराज ! महाप्रतापी द्रोण-पुत्र अश्वत्थामा इतना कहकर एकान्त में रथ जोड़कर शत्रुओं के सन्मुख चल दिया ॥३०॥

तमब्रूतां महात्मानौ भोजशारद्वतावुभौ ।
कमिर्थं स्यन्दनो युक्तः किं च कार्यं चिकीर्षितम् ॥३१॥

अब महात्मा भोजवंशी कृतवर्मा और शरद्वान्-पुत्र कृपाचार्य ने कहा—आपने यह रथ क्यों जोड़ा है-तुम सचमुच क्या करना चाहते हो ? ॥३१॥

एकसार्थप्रयातौ स्वस्त्वया सह नरर्षभ ।
समदुःखसुखौ चापि नावां शङ्कितुमर्हसि ॥३२॥

हे नरर्षभ ! हम तुम एक साथ रहने वाले हैं और युद्ध से तुम्हारे साथ लौटे हैं। हम तुम्हारे दुःख और सुख में सम्मिलित हैं-तुम हम पर शंका न करो ॥३२॥

अश्वत्थामा तु संक्रुद्धः पितुर्वधमनुस्मरन् ।
ताभ्यां तथ्यं तथाऽऽचख्यौ यदस्यात्मचिकीर्पितम् ॥

अश्वत्थामा अपने पिता के वध का स्मरण करके क्रोध से जल रहा था। इन दोनों से उसने अपनी चेष्टा का सत्य २ वर्णन कर दिया ॥३३॥

हत्वा शतसहस्राणि योधानां निशितैः शरैः ।
न्यस्तशस्त्रो मम पिता धृष्टद्युम्नेन पातितः ॥३४॥

यद्यपि मेरे पिता ने लाखों योद्धाओं को तीक्ष्ण बाणों से मार गिराया और अन्त में शस्त्रों का त्याग कर दिया-तो भी धृष्टद्युम्न ने उन्हें मार दिया ॥३४॥

तं तथैव हनिष्यामि न्यस्तधर्माणमद्य वै ।
पुत्रं पाञ्चालराजस्य पापं पापेन कर्मणा ॥३५॥

उस धर्मत्यागी पाञ्चालराज के पुत्र पापी धृष्टद्युम्न को आज मैं भी पापकर्म के द्वारा मार गिराना चाहता हूँ ॥३५॥

कथं च निहतः पापः पाञ्चाल्यः पशुवन्मया ।
शस्त्रेण विजिताँल्लोकान्नाप्नुयादिति मे मतिः ॥३६॥

मैं तो पापी धृष्टद्युम्न को पशु की तरह सुप्त अवस्था में ही मारूँगा, जिससे वह दुरात्मा शस्त्र द्वारा युद्ध में मारे जाने से प्राप्त होने वाले शुभ लोकों को प्राप्त न कर सके ॥३६॥

क्षिप्रं सन्नद्धकवचौ सखड्गावात्तकार्मुकौ ।
मामास्थाय प्रतीक्षेतां रथवर्यौ परन्तपौ ॥३७॥

तुम दोनों शत्रुतापी महारथी शीघ्र कवच पहिन लो; धनुष तथा खड्ग बांधे रहो और यहीं पर मेरी प्रतीक्षा करो ॥३७॥

इत्युक्त्वा रथमास्थाय प्रायादभिमुखः परान् ।
तमन्वगात्कृपो राजन् कृतवर्मा च सात्वतः ॥३८॥

हे राजन् ! इतना कहकर अश्वत्थामा रथ में बैठकर शत्रुओं की ओर चल दिया । उसके पीछे २ कृपाचार्य और सात्वतवंशश्रेष्ठ कृतवर्मा चल दिए ॥३८॥

ते प्रयाता व्यरोचन्त परानभिमुखास्त्रयः ।
हूयमाना यथा यज्ञे समिद्धा हव्यवाहनाः ॥३९॥

ये तीनों शत्रुओं पर चढ़ाई करने को जाते हुए इस तरह सुशोभित हुए-जैसे यज्ञ में घृत से प्रदीप्त तीन अग्नि जाज्वल्यमान होते हैं ॥३९॥

ययुश्च शिबिरं तेषां संप्रसुप्तजनं विभो ।
द्वारदेशं तु संप्राप्य द्रौणिस्तस्थौ महारथः ॥४०॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां
सौप्तिके पर्वणि द्रौणिगमने पञ्चमोऽध्यायः ॥५॥

हे विभो ! ये तीनों पाण्डवों के शिविरों पर पहुँचे-उस समय सारे मनुष्य सो रहे थे । महारथी द्रोण-पुत्र अश्वत्थामा उनके शिविर के द्वार पर पहुँचकर खड़ा हो गया ॥४०॥

इति श्रीमहाभारतान्तर्गत सौप्तिकपर्व में अश्वत्थामा के रात में आक्रमण का पांचवां अध्याय समाप्त हुआ ।



छठा अध्याय

धृतराष्ट्र उवाच—द्वारदेशे ततो द्रौणिमवस्थितमवेक्ष्य तौ ।
अकुर्वतां भोजकृपौ किं सञ्जय वदस्व मे ॥१॥

धृतराष्ट्र ने कहा—हे सञ्जय ! पाण्डवों के शिविर पर द्रोण-पुत्र अश्वत्थामा को स्थित देखकर फिर भोजवंशोद्भव कृतवर्मा और कृपाचार्य ने क्या किया-तुम मुझे यह सुनाओ ॥१॥

सञ्जय उवाच—कृतवर्माणमामन्त्र्य कृपं च स महारथः ।
द्रौणिर्मन्युपरीतात्मा शिविरद्वारमागमत् ॥२॥
तत्र भूतं महाकायं चन्द्रार्कसदृशद्युतिम् ।
सोऽपश्यद्द्वारमाश्रित्य तिष्ठन्तं लोमहर्षणम् ॥३॥
वसानं चर्म वैयाघ्रं महारुधिरविस्रवम् ।
कृष्णाजिनोत्तरासङ्गं नागयज्ञोपवीतिनम् ॥४॥
बाहुभिः स्वायतैः पीनैर्नानाप्रहरणोद्यतैः ।
बद्धाङ्गदमहासर्पं ज्वालामालाकुलाननम् ॥५॥

दंष्ट्राकरालवदनं व्यादितास्यं भयानकम् ।
नयनानां सहस्रैश्च विचित्रैरभिभूषितम् ॥६॥
नैव तस्य वपुः शक्यं प्रवक्तुं वेष एव च ।

सञ्जय ने कहा—हे राजन् ! महारथी, द्रोण-पुत्र अश्वत्थामा, क्रोध और शोक से व्याकुल हुआ, कृतवर्मा और कृपाचार्य से अनुगत होकर पाण्डवों के सिंहद्वार में घुसने चला । वहां उसने विशाल शरीरधारी, लोमहर्षण कर देने वाला भयङ्कर, रक्त में भीगी हुई सिंह चर्म धारण करने वाले, कृष्ण मृगचर्म ओढ़े हुए और नागों का यज्ञोपवीत बनाए हुए एक भीषण व्यक्ति को द्वार पर स्थित देखा । इसने लम्बी २ और पुष्ट भुजाओं में बड़े शस्त्र धारण कर रखे थे और उनमें बड़े २ सर्पों के अङ्गद पहिने हुए थे । इसके मुख से अग्नि की लपटें निकल रही थी । दंष्ट्राओं से इनका कराल मुख था, जो फाड़ने पर बड़ा ही भयङ्कर दिखाई देता था । यह विचित्र २ सहस्रों नेत्रों से विभूषित था । इसके शरीर और वेष का वर्णन नहीं किया जा सकता है ॥२-६॥

सर्वथा तु तदालक्ष्य स्फुटेयुरपि पर्वताः ॥७॥
तस्यास्यनासिकाभ्यां च श्रवणाभ्यां च सर्वशः ।
तेभ्यश्चाक्षिसहस्रेभ्यः प्रादुरासन्महार्चिषः ॥८॥

इस भयानक व्यक्ति को देखकर तो भय से पर्वत भी फटने लगते थे । इसके मुख, और नाक से, दोनों कानों से तथा उन सहस्रों आंखों से अग्नि की ज्वाला निकल रही थी ॥७-८॥

तथा तेजोमरीचिभ्यः शङ्खचक्रगदाधराः ।
प्रादुरासन् हृषीकेशाः शतशोऽथ सहस्रशः ॥६॥

इस व्यक्ति के तेज की किरणों से शङ्ख, चक्र और गदाधारी/ सैंकड़ों हज़ारों की संख्या में विष्णु उत्पन्न हो गए ॥६॥

तदत्यद्भुतमालोक्य भूतं लोकभयङ्करम् ।
द्रौणिरव्यथितो दिव्यैरस्त्रवर्षैरवाकिरत् ॥१०॥

इस प्रकार के लोक को भय उत्पन्न करने वाले प्राणी को देखकर भी द्रोण-पुत्र अश्वत्थामा विचलित नहीं हुआ और वह दिव्य अस्त्रों की वर्षा से उसे आच्छादित करने लगा ॥१०॥

द्रौणिमुक्ताञ्छरांस्तांस्तु तद्भूतं महदग्रसत् ।
उदधेरिव वार्योघान्पावको वडवामुखः ॥११॥
अग्रसत्तांस्तथा भूतं द्रौणिना प्रहितान् शरान् ।

हे राजन ! द्रोण-पुत्र अश्वत्थामा के छोड़े हुए उन अस्त्रों को वह भीषण प्राणी इस तरह निगलने लगा-जैसे वडवानल का मुख बनाए हुए समुद्र का अग्नि, जलपूर को निगलता रहता है ॥११॥

अश्वत्थामा तु संप्रेक्ष्य शरौघांस्तान्निरर्थकान् ॥
रथशक्तिं मुमोचासौ दीप्तामग्निशिखामिव ।
सा तमाहत्य दीप्ताग्रा रथशक्तिरदीर्यत ॥१३॥
युगांते सूर्यमाहत्य महोल्केव दिवश्च्युता ।

अब जिन २ तीक्ष्ण बाणों को द्रोण-पुत्र अश्वत्थामा छोड़ रहे थे, वह प्राणी, उन सारे बाणों को अपने में लीन कर लेता था।

जब अश्वत्थामा ने अपने बाणसमूह को निरर्थक देखा-तो उसने अग्नि शिखा के तुल्य प्रदीप्त रथशक्ति को उस पर छोड़ा । वह अग्रभाग में चमकने वाली रथशक्ति भी उसके शरीर में टकराकर चकनाचूर हो गई । जिस तरह प्रलयकाल में आकाश से छूटी हुई कोई उल्का सूर्य से टकराकर नष्ट हो जाती है ॥१२-१३॥

अथ हेमत्सरुं दिव्यं खड्गमाकाशवर्चसम् ॥१४॥
कोशात्समुद्ववर्हाशु बिलाद्दीप्तमिवोरगम् ।
ततः खड्गवरं धीमान् भूताय प्राहिणोत्तदा ॥१५॥
स तदासाद्य भूतं वै विलं नकुलवद्ययौ ।

इसके अनन्तर सुवर्ण की मूँठ वाला, आकाश के तुल्य नीलवर्णधारी, दिव्य खड्ग, अश्वत्थामा ने कोश (म्यान) से इस तरह निकाला, जैसे बिल से प्रदीप्त सर्प निकला हो । उस खड्ग को बुद्धिमान् अश्वत्थामा ने उस प्राणी पर फैंका । वह उस खड्ग रूप सर्प को नकुल की तरह लेकर बिल में घुस गया ॥१४-१५॥

ततः स कुपितो द्रौणिरिंद्रकेतुनिभां गदाम् ॥१६॥
ज्वलंतीं प्राहिणोत्तस्मै भूतं तामपि चाग्रसत् ।

अब द्रोण-पुत्र अश्वत्थामा अत्यन्त कुपित हुआ, उसने इन्द्र की ध्वजा के तुल्य देदीप्यमान गदा उठाई । उस भूत ने उस गदा को भी निगल लिया ॥१६॥

ततः सर्वायुधाभावे वीक्षमाणस्ततस्ततः ॥१७॥
अपश्यत्कृतमाकाशमनाकाशं जनार्दनैः ।

अब अश्वत्थामा पर कुछ भी शस्त्र नहीं रहे-तो वह इधर उधर देखने लगा। उसने देखा, कि भगवान् विष्णु (कृष्ण) की मूर्तियों से आकाश भरा पड़ा है। उससे कुछ भी स्थान खाली नहीं है ॥१७॥

तदद्भुततमं दृष्ट्वा द्रोणपुत्रो निरायुधः ॥१८॥
अब्रवीदतिसन्तप्तः कृपवाक्यमनुस्मरन् ।

शस्त्र-हीन द्रोण-पुत्र अश्वत्थामा, इस अद्भुत घटना को देखकर अत्यन्त सन्ताप के साथ कृपाचार्य के वचनों का स्मरण करता हुआ कहने लगा ॥१८॥

ब्रुवतामप्रियं पथ्यं सुहृदां न शृणोति यः ॥१९॥
स शोचत्यापदं प्राप्य यथाऽहमतिवर्त्य तौ ।

जो मनुष्य अपने मित्रों के हितकारी अप्रिय वचन नहीं सुनता है, वह उसके परिणाम में आपत्ति के पड़ने पर पश्चात्ताप करता है-जैसे मैंने उन दोनों महात्मा कृप और कृतवर्मा के वचनों का उल्लंघन करके पश्चात्ताप प्राप्त किया है ॥१९॥

शास्त्रदृष्टानविद्वान्यः समतीत्य जिघांसति ॥२०॥
स पथः प्रच्युतो धर्मात्कुपथे प्रतिहन्यते ।

जो मूर्ख मनुष्य, शास्त्रों के पारगामी पुरुषों के वचनों को न मान कर इस प्रकार की हिंसा में प्रवृत्त हो जाते हैं, वे धर्म के मार्ग से च्युत होकर कुमार्ग में चलते हुए नष्ट हो जाते हैं ॥२०॥

गोब्राह्मणनृपस्त्रीषु सख्युर्मातुर्गुरोस्तथा ॥२१॥
हीनप्राणजडान्धेषु सुप्तभीतोत्थितेषु च ।
मत्तोन्मत्तप्रमत्तेषु न शस्त्राणि च पातयेत् ॥२२॥
इत्येवं गुरुभिः पूर्वमुपदिष्टं नृणां सदा ।
सोऽहमुत्क्रम्य पन्थानं शास्त्रदृष्टं सनातनम् ॥२३॥
अमार्गेणैवमारभ्य घोरामापदमागतः ।

गौ, ब्राह्मण, राजा, स्त्री, मित्र, माता, गुरु, दुर्बल, मूर्ख, अन्धे, सुप्त, भयभीत, सो कर उसी समय उठे हुए, मत्त, (नशेबाज) उन्मत्त (पागल) और प्रमत्त (गफ़लती) पर कभी शस्त्र का प्रहार न करो। मनुष्यों को यह मार्ग पूज्य पुरुषों ने बता रखा है। मैं इसी सनातन शास्त्रदृष्ट मार्ग का उल्लंघन करके कुमार्ग से हिंसा में प्रवृत्त हुआ हूं, जिससे मुझे यह घोर विपत्ति प्राप्त हुई है ॥२१-२३॥

तां चापदं घोरतरां प्रवदन्ति मनीषिणः ॥२४॥
यदुद्यम्य महत्कृत्यं भयादपि निवर्तते ।

इसको मनीषीगण और भी आपत्ति बताते हैं, जो किसी कार्य को आरम्भ करके किसी भय से उससे निवृत्त हो जावे ॥२४॥

अशक्तश्चैव तत्कर्तुं कर्मशक्तिबलादिह ॥२५॥
न हि दैवाद्गरीयो वै मानुषं कर्म कथ्यते ।
मानुष्यं कुर्वतः कर्म यदि दैवान्न सिध्यति ॥२६॥
स पथः प्रच्युतो धर्माद्विपदं प्रतिपद्यते ।

यदि कर्म और शक्ति के आधार से उस कर्म के करने में समर्थ न रह सके, तो लौट सकता है, क्योंकि मनुष्य की शक्ति दैव की शक्ति से प्रबल नहीं है। मनुष्य शक्ति के अनुसार कर्म करते हुए यदि दैव के विघ्न करने से सिद्ध न होवे-तो कोई बात नहीं है। यदि कोई धर्ममार्ग से च्युत होकर उस मार्ग से हट जावे, तो उसे सच्ची विपत्ति प्राप्त होती है ॥२५-२६॥

प्रतिज्ञानं ह्यविज्ञानं प्रवदन्ति मनीषिणः ॥२७॥
यदारभ्य क्रियां काञ्चिद्भयादिह निवर्त्तते ।

प्रत्येक मनुष्य, अपने कर्म का ज्ञान और अज्ञान सब कुछ विचार लेवे। यदि इनके विना विचारे कोई कर्म में प्रवृत्त हो जावेगा-तो उसे भय से निवृत्त होना पड़ेगा ॥२७॥

तदिदं दुष्प्रणीतेन भयं मां समुपस्थितम् ॥२८॥
न हि द्रोणसुतः संख्ये निवर्त्तेत कथञ्चन ।

मुझे भी दुर्नीति के कारण यह भय उपस्थित हुआ है, परन्तु द्रोण-पुत्र तो कभी रण में पीछे नहीं हटा करता है ॥२८॥

इदं च सुमहद्भूतं दैवदण्डमिवोद्यतम् ॥२९॥
न चैतदभिजानामि चिन्तयन्नपि सर्वथा ।

न मालूम दैव के दण्ड के तुल्य यह कौन महाप्राणी उपस्थित है। मैं बहुत कुछ विचारने पर भी इसके विषय में कुछ भी नहीं जान सका हूं ॥२९॥

ध्रुवं येयमधर्मे मे प्रवृत्ता कलुषा मतिः ॥३०॥

तस्याः फलमिदं घोरं प्रतिघाताय कल्पते ।

मुझे तो यही ज्ञात होता है-कि जो मेरी कलुष बुद्धि इस अधर्म में प्रवृत्त हुई है-इसी के प्रतिघात के लिए यह घोर घटना उपस्थित हुई है ॥३०॥

तदिदं दैवविहितं मम संख्ये निवर्त्तनम् ॥३१॥

नान्यत्र दैवादुद्यन्तुमिह शक्यं कथञ्चन ।

इस युद्ध से लौटना, दैव का विघ्न है । मेरे इस उद्योग में दैव के विना अन्य कोई भी विघ्न करने में समर्थ नहीं हो सकता था ॥३१॥

सोऽहमद्य महादेवं प्रपद्ये शरणं विभुम् ॥३२॥

दैवदण्डमिमं घोरं स हि मे नाशयिष्यति ।

अब मैं सर्वशक्तिमान् महादेव की शरण में जाता हूं-वही मेरे इस घोर दैवी-विघ्न का शमन करेंगे ॥३२॥

कपर्दिनं देवदेवमुमापतिमनामयम् ॥३३॥

कपालमालिनं रुद्रं भगनेत्रहरं हरम् ।

स हि देवोऽत्यगाद्देवांस्तपसा विक्रमेण च ।

तस्माच्छरणमभ्येमि गिरिशं शूलपाणिनम् ॥३४॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां सौप्तिके पर्वणि द्रौणिचिन्तायां षष्ठोऽध्यायः ॥६॥

महादेव, कपर्दी, देवों के देव, उमापति, निर्द्वन्द्व, कपालमाली रुद्र, भगनेत्रोपहारक, हर नामों से प्रसिद्ध हैं। उन्हीं देव ने अपने तप और पराक्रम से सारे देवों का उल्लंघन कर रखा है, इसलिए मैं उन्हीं शूलपाणि शंकर की शरण को प्राप्त होता हूं ॥३३-३४॥

इति श्रीमहाभारतान्तर्गत सौप्तिकपर्व में अश्वत्थामा की चिन्ता का छठा अध्याय समाप्त हुआ।

सातवां अध्याय

सञ्जय उवाच—एवं सञ्चिन्तयित्वा तु द्रोणपुत्रो विशाम्पते ।
अवतीर्य रथोपस्थाद्देवेशं प्रणतः स्थितः ॥१॥

सञ्जय ने कहा—हे विशाम्पते ! द्रोण-पुत्र अश्वत्थामा इतना विचार कर और रथ से नीचे उतर कर देवाधिदेव भगवान् शङ्कर की स्तुति करने लगे ॥१॥

द्रौणि उवाच—उग्रं स्थाणुं शिवं रुद्रं शर्वमीशानमीश्वरम् ।
गिरिशं वरदं देवं भवभावनमीश्वरम् ॥२॥
शितिकण्ठमजं शुक्रं दक्षक्रतुहरं हरम् ।
विश्वरूपं विरूपाक्षं बहुरूपमुमापतिम् ॥३॥
श्मशानवासिनं दृप्तं महागणपतिं विभुम् ।
खट्वाङ्गधारिणं रुद्रं जटिलं ब्रह्मचारिणम् ॥४॥

मनसा सुविशुद्धेन दुष्करेणाल्पचेतसा ।

सोऽहमात्मोपहारेण यक्ष्ये त्रिपुरघातिनम् ॥५॥

अश्वत्थामा बोले—उग्र, स्थाणु, शिव, रुद्र, ईशान, ईश्वर, नीलकण्ठ, अज, शुक्र, दक्ष यज्ञ विध्वंसक, हर, विश्वरूप, विरूपाक्ष, बहुरूप, उमापति, श्मशानवासी, उद्धत, महागणपति, विभु, खट्वाङ्गधारी, सर्वसंहारक, जटिल, ब्रह्मचारी, त्रिपुरधारी शङ्कर की हम विशुद्ध, दुष्कर, क्षुद्रचित्त द्वारा अपनी भेंट चढ़ाकर पूजा करते हैं ॥२-५॥

स्तुतं स्तुत्यं स्तूयमानममोघं कृत्तिवाससम् ।

विलोहितं नीलकण्ठमसह्यं दुर्निवारणम् ॥६॥

शक्रं ब्रह्मसृजं ब्रह्म ब्रह्मचारिणमेव च ।

व्रतवन्तं तपोनिष्ठमनन्तं तपतां गतिम् ॥७॥

बहुरूपं गणाध्यक्षं त्र्यक्षं पारिषदप्रियम् ।

धनाध्यक्षं क्षितिमुखं गौरीहृदयवल्लभम् ॥८॥

कुमारपितरं पिङ्गं गोवृषोत्तमवाहनम् ।

तनुवाससमत्युग्रमुमाभूषणतत्परम् ॥९॥

परं परेभ्यः परमं परं यस्मान्न विद्यते ।

भगवान् शंकर सब लोगों से सदा से स्तुति किए हुए, स्तुति के योग्य, स्तुति किये जाने वाले, अमोघ, हस्तिचर्मधारी, विलोहित, नीलकण्ठ, असह्य, दुर्निवार, शक्र, ब्रह्मस्रष्टा ब्रह्मस्वरूप, ब्रह्मचारी, व्रतशील, तपोनिष्ठ, अनन्त, तपस्वियों की गति, बहुरूप,

गणाध्यक्ष, त्र्यक्ष, भक्तप्रिय, धनाध्यक्ष, शितिमुख, पार्वतीवल्लभ, कुमार पिता, पिङ्ग, वृषभवाहन, तनुवासा, अत्युग्र, उमाभूषण, परात्पर हैं। इनसे उत्कृष्ट कोई नहीं है ॥३-६॥

इष्वस्त्रोत्तमभर्त्तारं दिगन्तं देशरक्षिणम् ॥१०॥
हिरण्यकवचं देवं चन्द्रमौलिविभूषणम् ।
प्रपद्ये शरणं देवं परमेण समाधिना ॥११॥

ये शस्त्रविद्या के धारक, दिगन्तव्यापी, सर्वदेशरक्षक, हिरण्य कवच संयुक्त मस्तक पर चन्द्रमा धारण करने वाले हैं। मैं इन देव की परम समाधि द्वारा शरण प्राप्त होता हूँ ॥१०-११॥

इमां चेदापदं घोरां तराम्यद्य सुदुष्कराम् ।
सर्वभूतोपहारेण यक्ष्येऽहं शुचिना शुचिम् ॥१२॥

हे भगवन्! यदि मैं आज इस घोर दुष्कर आपत्ति को तर गया-तो सर्वश्रेष्ठ उपहार द्वारा शुद्ध मन से आप शुद्धस्वरूप की पूजा करूंगा ॥१२॥

इति तस्य व्यवसितं ज्ञात्वा योगात्सुकर्मणः ।
पुरस्तात्काञ्चनी वेदी प्रादुरासीन्महात्मनः ॥१३॥
तस्यां वेद्यां तदा राजंश्चित्रभानुरजायत ।
स दिशो विदिशः खं च ज्वालाभिरिव पूरयन् ॥१४॥

हे राजन्! भगवान् शङ्कर अपने योगबल से इस उद्योगशील अश्वत्थामा के इस अभिप्राय को जान गए। अब इन महात्मा अश्वत्थामा के सन्मुख एक सुवर्ण की वेदी बन गई और

उस पर अग्नि जलने लगी, जिससे दिशा, विदिशा और आकाश प्रज्वलित हो उठा ॥१३-१४॥

दीप्तास्यनयनाश्चात्र नैकपादशिरोभुजाः ।
रत्नचित्राङ्गदधराः समुद्यतकरास्तथा ॥१५॥
द्वीपशैलप्रतीकाशाः प्रादुरासन्महागणाः ।
श्ववराहोष्ट्ररूपाश्च हयगोमायुगोमुखाः ॥१६॥
ऋक्षमार्जारवदना व्याघ्रद्वीपिमुखास्तथा ।
काकवक्त्राः प्लवमुखाः शुकवक्त्रास्तथैव च ॥१७॥
महाजगरवक्त्राश्च हंसवक्त्राः शितप्रभाः ।
दार्वाघाटमुखाश्चापि चापवक्त्राश्च भारत ॥१८॥
कूर्मनक्रमुखाश्चैव शिशुमारमुखास्तथा ।
महामकरवक्त्राश्च तिमिवक्त्रास्तथैव च ॥१९॥
हरिवक्त्राः क्रौञ्चमुखाः कपोतेभमुखास्तथा ।
पारावतमुखाश्चैव मद्गुवक्त्रास्तथैव च ॥२०॥

इस अग्नि से दीप्त मुख और नेत्र वाले, अनेक पाद, शिर और भुजा धारी, रत्नों से जटित अङ्गदादि आभूषणों से युक्त, हाथ उठाए हुए, द्वीप और पर्वत के समान ऊंचे, बड़े २ गण उत्पन्न हो गए। इन गणों के कुत्ते, वराह, ऊंटों के समान रूप थे। अश्व, गीदड़, वृष, रीछ, विलाव आदि के समान इनके मुख थे। किसी २ के व्याघ्र और चीते के समान मुख था। किसी २ के काक, लव, शुक, अजगर, हंस के सदृश चोंच धारी मुख की बनावट थी।

दार्वाघाट, नीलकण्ठ, कूर्म, नक्र, मछली, शिशुमार, महामकर, वानर, क्रौञ्च, कपोत, हाथी, पारावत और मद्गु नामक पक्षी के सदृश भी बहुत से गणों के मुख थे ॥१५-२०॥

पाणिकर्णाः सहस्राक्षास्तथैव च महोदराः ।
निर्मांसाः काकवक्त्राश्च श्येनवक्त्राश्च भारत ॥२१॥

हे भारत ! इन गणों के हाथों में कान, सहस्रों आंख, लम्बे २ पेट थे । किसी के मांस ही नहीं था, कोई २ काक और श्येन पक्षी के समान मुख वाला था ॥२१॥

तथैवाशिरसो राजन् ऋक्षवक्त्राश्च भारत ।
प्रदीप्तनेत्रजिह्वाश्च ज्वालावर्णास्तथैव च ॥२२॥
ज्वालाकेशाश्च राजेन्द्र ज्वलद्रोमचतुर्भुजाः ।
मेषवक्त्रास्तथैवान्ये तथा छागमुखा नृप ॥२३॥
शङ्खाभाः शङ्खवक्त्राश्च शङ्खवर्णास्तथैव च ।
शङ्खमालापरिकराः शङ्खध्वनिसमस्वनाः ॥२४॥
जटाधराः पञ्चशिखास्तथा मुण्डाः कृशोदराः ।
चतुर्दंष्ट्राश्चतुर्जिह्वाः शंकुकर्णाः किरीटिनः ॥२५॥
मौञ्जीधराश्च राजेन्द्र तथाऽऽकुञ्चितमूर्धजाः ।
उष्णीषिणो मुकुटिनश्चारुवक्त्राः स्वलंकृताः ॥२६॥
पद्मोत्पलापीडधरास्तथा मुकुटधारिणः ।
माहात्म्येन च संयुक्ताः शतशोऽथ सहस्रशः ॥२७॥

हे भारत ! किसी के सारा शिर और मुख दोनों ही रीछ के सदृश थे। इनकी आंखें जल रही थीं। किसी के अग्नि के समान वर्ण थे। हे राजेन्द्र ! उनके बाल भी प्रदीप्त थे और रोम भी चमकीले थे। ये चार २ भुजाधारी, मैंढे और बकरे के समान मुख वाले भी थे। किसी की मूर्ति शङ्ख के समान और किसी का मुख और वर्ण शंख सदृश थे। किसी के गले में शङ्खों की माला थी और कोई शङ्खध्वनि के समान स्वर धारी थे। ये जटाधारी, पांच शिखा वाले और कोई २ मुंडे हुए थे। इनके पेट सूखे हुए थे। चार दाढें और चार २ जिह्वा इनके विद्यमान थीं। इनके शंकु के समान कर्ण थे। सबने मुकुट पहिन रखे थे। हे राजेन्द्र ! ये मूंज की मेखला धारी थे। इनके बाल बांके हो रहे थे। किसी २ के शिर पर पगड़ी, मुकुट, सुन्दर मुख और सुन्दर अलङ्कार थे। किसी ने कमल उत्पल की माला और सुन्दर २ मुकुट पहिन रखे थे। ये बड़ी महिमा से युक्त लाखों की संख्या में थे ॥२२-२७॥

शतघ्नीवज्रहस्ताश्च तथा मुसलपाणयः ।
भुशुण्डीपाशहस्ताश्च दण्डहस्ताश्च भारत ॥२८॥
पृष्ठेषु बद्धेषुधयश्चित्रबाणोत्कटास्तथा ।
सध्वजाः सपताकाश्च सघण्टाः सपरश्वधाः ॥२९॥
महापाशोद्यतकरास्तथा लगुडपाणयः ।
स्थूणाहस्ताः खड्गहस्ताः सर्पोच्छ्रितकिरीटिनः ॥३०॥

महासर्पाङ्गदधराश्चित्राभरणधारिणः ।
रजोध्वजाः पङ्कदिग्धा सर्वे शुक्लाम्बरस्रजः ॥३१॥
नीलाङ्गाः पिङ्गलाङ्गाश्च मुण्डवक्त्रास्तथैव च ।
भेरीशङ्खमृदङ्गांश्च झर्झरानकगोमुखान् ॥३२॥
अवादयन्पारिषदाः प्रहृष्टाः कनकप्रभाः ।
गायमानास्तथैवान्ये नृत्यमानास्तथाऽपरे ॥३३॥
लङ्घयन्तः प्लवन्तश्च वल्गन्तश्च महारथाः ।
धावन्तो जवना मुण्डाः पवनोद्धूतमूर्धजाः ॥३४॥
मत्ता इव महानागा विनदन्तो मुहुर्मुहुः ।
सुभीमा घोररूपाश्च शूलपट्टिशपाणयः ॥३५॥
नानाविरागवसनाश्चित्रमाल्यानुलेपनाः ।
रत्नचित्राङ्गदधराः समुद्यतकरास्तथा ॥३६॥
हन्तारो द्विषतां शूराः प्रसह्यासह्यविक्रमाः ।
पातारोऽसृग्वसौघानां मांसांत्रकृतभोजनाः ॥३७॥
चूडालाः कर्णिकाराश्च प्रहृष्टाः पिठरोदराः ।
अतिह्रस्वातिदीर्घाश्च प्रलम्बाश्चातिभैरवाः ॥३८॥
विकटाः काललम्बोष्ठा बृहच्छेफाण्डपिण्डिकाः ।
महार्हनानाविकटा मुण्डाश्च जटिलाः परे ॥३९॥

इन गणों के हाथों में शतघ्नी, वज्र, मुसल, भुशुण्डी, पाश, दण्ड आदि शस्त्र थे। इनकी पीठ पर तूणीर कसे थे। इनके पास अद्भुत २ बाण थे। ये ध्वजा, पताका, घण्टा, परश्वध, महापाश

और लट्टू धारी थे। किसी के हाथ में स्थूणा और खड्ग थे। किसी के शिर पर सर्पाकार वाले मुकुट देदीप्यमान थे। किन्ही ने बड़े २ सर्पाकार वाले अङ्गद और विचित्र आभूषण पहिने हुए थे। ये धूलि में सने हुए, कीचड़ लगाए हुए, श्वेत माला और वस्त्र धारी थे। इनके अङ्ग नीले पीले और मुख मूंड़ ही मूंड़ मय थे। ये गण, भेरी, शङ्ख, मृदङ्ग, झर्झर, आनक, गो मुख बजा रहे थे। इनकी सुवर्ण के समान कान्ति थी, जो बड़े ही प्रसन्न दिखाई देते थे। कोई गाते थे और कोई नांचते थे। ये महारथी, कूदते, फांदते और अश्व की तरह नांचते थे। कोई दौड़ रहे थे। ये मुण्डी बड़े वेग वाले थे, बहुतों के बाल पवन से उड़ रहे थे। कोई २ मदोन्मत्त की भांति बार २ चिंघाड़ रहे थे। इनके भयङ्कर घोर रूप थे। इनके हाथों में शूल और पट्टिश नामक शस्त्र विद्यमान थे। इनके अनेक प्रकार के रंगीले वस्त्र और विचित्र लेप और मालाएं थीं। ये रत्नजटित अङ्गदधारी और हाथ ऊपर उठाए हुए थे। ये शत्रु के मार देने में समर्थ शूरवीर थे; इनके पराक्रम को कोई सह नहीं सकता था। ये रक्त, वसा आदि के प्रवाह को पी जाते थे, मांस और आंतों का भोजन करते थे, इनके बड़ी २ चोटी थी। कोई कर्णिकार, प्रसन्न और पिठरोदर थे। कोई बहुत छोटे अत्यन्त दीर्घ, लम्बे २ अत्यन्त भैरव थे। कोई विकट, काले लम्बे ओष्ठ वाले, बड़े २ लम्बे लिङ्ग और अण्ड कोश धारी थे। इनके आकार बड़े विकट थे। किसी का मूंड मुंडा हुआ और किसी के शिर पर जटा थीं ॥२८-३६॥

सार्केन्दुग्रहनक्षत्रां द्यां कुर्युस्ते महीतले ।
उत्सहेरंश्च ये हन्तुं भूतग्रामं चतुर्विधम् ॥४०॥

इन्होंने पृथिवी पर ही सूर्य, चन्द्रमा, ग्रह और नक्षत्रों से युक्त द्युलोक बना दिया। ये चारों प्रकार के प्राणी समूह के विनाश कर देने का उत्साह रखते थे ॥४०॥

ये च वीतभया नित्यं हरस्य भ्रुकुटीसहाः ।
कामकारकरा नित्यं त्रैलोक्यस्येश्वरेश्वराः ॥४१॥
नित्यानन्दप्रमुदिता वागीशा वीतमत्सराः ।
प्राप्याष्टगुणमैश्वर्यं ये न यास्यन्ति वै स्मयम् ॥४२॥
येषां विस्मयते नित्यं भगवान्कर्मभिर्हरः ।
मनोवाक्कर्मभिर्युक्तैर्नित्यमाराधितश्च यैः ॥४३॥
मनोवाक्कर्मभिर्भक्तान्पाति पुत्रानिवौरसान् ।

ये बिल्कुल भय रहित थे और शिवकी भ्रकुटी सहने वाले थे। अपनी इच्छानुसार शरीरधारी, त्रिलोकी के स्वामी, नित्य आनन्द से युक्त, वागीश और मत्सर हीन थे। इनको आठों प्रकार का ऐश्वर्य प्राप्त था, तो भी ये घमण्ड नहीं करते थे। भगवान् शंकर अपने कर्मों से इनको नित्य अचम्भित करते रहते थे। ये लोग, मन, वचन और वाणी से नित्य शंकर की पूजा में तत्पर थे। भगवान शङ्कर भी अपने भक्तों की औरस पुत्र की भांति मन, वचन और कर्म से रक्षा करते रहते थे ॥४०-४३॥

पिबन्तोऽसृग्वसाश्चान्ये क्रुद्धा ब्रह्मद्विषां सदा ॥४४॥
चतुर्विंशात्मकं सोमं ये पिबन्ति च सर्वदा ।
श्रुतेन ब्रह्मचर्येण तपसा च दमेन च ॥४५॥
ये समाराध्य शूलाङ्कं भवसायुज्यमागताः ।
यैरात्मभूतैर्भगवान्पार्वत्या च महेश्वरः ॥४६॥
महाभूतगणैर्भुङ्क्ते भूतभव्यभवत्प्रभुः ।

ये ब्रह्म-द्वेषी पुरुषों के रक्त मांस को क्रोध-पूर्वक पी जाते थे। ये गण चार प्रकार के सोम रस को सदा पीते रहते थे। ये वेद, ब्रह्मचर्य, तप, दम आदि द्वारा शूलधारी शंकर की उपासना करते थे। जिससे ये शङ्कर के समीप पहुँच पाए थे। ये गण भगवान् शङ्कर और पार्वती के आत्मभूत हो रहे थे। इन महागणों के साथ शक्तिशाली शङ्कर, भूत, भविष्यत और वर्तमान की रक्षा करते थे ॥४ -४६॥

नानावादित्रहसितक्ष्वेडितोत्कुष्टगर्जितैः ॥४७॥
संत्रासयन्तस्ते विश्वमश्वत्थामानमभ्ययुः ।
संस्तुवन्तो महादेवं भाः कुर्वाणाः सुवर्चसः ॥४८॥
विवर्धयिषवो द्रौणेर्महिमानं महात्मनः ।
जिज्ञासमानास्तत्तेजः सौप्तिकं च दिदृक्षवः ॥४९॥
भीमोग्रपरिघालातशूलपट्टिशपाणयः ।
घोररूपाः समाजग्मुर्भूतसङ्घाः समन्ततः ॥५०॥

जनयेयुर्भयं ये स्म त्रैलोक्यस्यापि दर्शनात् ।
तान्प्रेक्षमाणोऽपि व्यथां न चकार महाबलः ॥५१॥

ये अनेक बाजे बजाकर हँसते, गर्जते, चिल्लाते और कोलाहल मचाते थे। ये संसार को पीड़ित करते हुए अश्वत्थामा के पास आए। ये अत्यन्त तेजस्वी, महादेव की स्तुति करते हुए अपने प्रकाश से सबको चमका रहे थे। ये महावीर अश्वत्थामा की महिमा को बढ़ा रहे थे। ये अश्वत्थामा के पराक्रम के देखने के इच्छुक थे, कि अश्वत्थामा इस शयनके समय क्या पराक्रम करेंगे। इन्होंने उग्र परिघ, अलात, शूल, पट्टिश आदि शस्त्र हाथ में धारण कर रखे थे। ये गणों के समूह बड़े भयानक रूप में सब ओर से दौड़ रहे थे। ये तीनों लोकों को देखने मात्र से भय उत्पन्न करते थे। इनको देखकर भी महाबली अश्वत्थामा को कोई भय नहीं हुआ ॥४७-५१॥

अथ द्रौणिर्धनुष्पाणिर्बद्धगोधाङ्गुलित्रवान् ।
स्वयमेवात्मनात्मानमुपहारमुपाहरत् ॥५२॥
धनूंषि समिधस्तत्र पवित्राणि सिताः शराः ।
हविरात्मवतश्चात्मा तस्मिन् भारत कर्मणि ॥५३॥

अश्वत्थामा ने धनुष हाथ में ले रखा था और गोधा के चर्म की अँगुलित्राण पहिन रखा था। यह अपने आपको आज शङ्कर के भेंट चढ़ा देना चाहता था। इसने धनुष को समिधा, श्वेत बाणों को पवित्री बनाया। हे भारत! इस तरह इस अग्नि में अश्वत्थामा ने अपने को हवि बनाकर डाल देना चाहा ॥५२-५३॥

तत: सौम्येन मंत्रेण द्रोणपुत्रः प्रतापवान् ।
उपहारं महामन्युरथात्मानमुपाहरत् ॥५४॥
तं रुद्रं रौद्रकर्माणं रौद्रैः कर्मभिरच्युतम् ।
अभिष्टुत्य महात्मानमित्युवाच कृताञ्जलिः ॥५५॥

अत्यन्त क्रोधी, महाप्रतापी, द्रोणपुत्र, सौम्य मंत्र द्वारा अपने आपको बलिदान करना चाहता था । अब अश्वत्थामा ने हाथ जोड़कर रुद्र, रुद्रकर्म करने वाले, अच्युत शङ्कर की रौद्र कर्मों से स्तुति करके यह कहा ॥५४-५५॥

द्रौणिरुवाच—इममात्मानमद्याहं जातमाङ्गिरसे कुले ।
स्वग्नौ जुहोमि भगवन् प्रतिगृह्णीष्व मां बलिम् ॥५६॥

अश्वत्थामा बोले—हे भगवन् ! आज मैं अङ्गिरा के कुल में इस अग्नि में अपने आपको झोंकता हूं । आप मेरे इस बलिदान को स्वीकार करें ॥५६॥

भवद्भक्त्या महादेव परमेण समाधिना ।
अस्यामापदि विश्वात्मन्नुपाकुर्मि तवाग्रतः ॥५७॥

हे महादेव ! विश्वात्मन् ! आपकी भक्ति, परम समाधि द्वारा इस आपत्ति में आपके सन्मुख मैं अपने को बलि कर्म के लिए उपस्थित करता हूं ॥५७॥

त्वयि सर्वाणि भूतानि सर्वभूतेषु चासि वै ।
गुणानां हि प्रधानानामेकत्वं त्वयि तिष्ठति ॥५८॥

ये सारे प्राणी, तुममें स्थित हैं और तुम सबमें व्यापक हो। सारे प्रधान २ गुणों की तुममें एक रूप से स्थिति है ॥५८॥

सर्वभूताश्रय विभो हविर्भूतमवस्थितम् ।
प्रतिगृहाण मां देव यद्यशक्याः परे मया ॥५९॥

हे विभो! आप सबके आश्रय हो। मैं हवि बनकर आपके सन्मुख उपस्थित हूं। हे देव! आप मुझे ग्रहण करें। अन्य देवों की पूजा करने में मैं समर्थ नहीं हूं ॥५९॥

इत्युक्त्वा द्रौणिरास्थाय तां वेदीं दीप्तपावकाम् ।
सन्त्यज्यात्मानमारुह्य कृष्णवर्त्मन्युपाविशत् ॥६०॥

हे राजन्! इतना कहकर अश्वत्थामा ने उस प्रदीप्त अग्नि वाली वेदी में अपने आपको छोड़कर अग्नि में भेंट चढ़ा दिया ६०॥

तमूर्ध्वबाहुं निश्चेष्टं दृष्ट्वा हविरुपस्थितम् ।
अब्रवीद्भगवान्साक्षान्महादेवो हसन्निव ॥६१॥

इस प्रकार ऊपर को भुजा उठाए हुए, चेष्टाहीन, अश्वत्थामा को हविरूप में देखकर साक्षात् भगवान् शङ्कर हँसने लगे ॥६१॥

सत्यशौचार्जवत्यागैस्तपसा नियमेन च ।
क्षान्त्या भक्त्या च धृत्या च बुद्ध्या च वचसा तथा ॥
यथावदहमाराद्धः कृष्णेनाक्लिष्टकर्मणा ।
तस्मादिष्टतमः कृष्णादन्यो मम न विद्यते ॥६३॥

हे ब्रह्मन्! सत्य, शौच, आर्जव, त्याग, तप, नियम, क्षान्ति, भक्ति, धृति, बुद्धि, वचन और अत्यन्त उत्कृष्ट कर्म द्वारा कृष्ण ने

मेरी पूजा की है, इससे कृष्ण के अतिरिक्त मुझे अन्य कोई प्रिय नहीं है ॥६२-६३॥

कुर्वता तात सम्मानं त्वां च जिज्ञासता मया ।
पाञ्चालाः सहसा गुप्ता मायाश्च बहुशः कृताः ॥६४॥
कृतस्तस्यैव सम्मानः पाञ्चालान् रक्षता मया ।
अभिभूतास्तु कालेन नैषामद्यास्ति जीवितम् ॥६५॥

हे तात ! मैं उनका सम्मान और तेरे तप की जिज्ञासा से अब तक पाञ्चालों की रक्षा करता रहा । इसीलिए मैंने बहुत सी माया रची । पाञ्चालों की रक्षा करके मैंने कृष्ण का सम्मान किया है । अब ये काल द्वारा पकड़ लिए गए हैं-अब इनकी रक्षा या जीवन नहीं है ॥६४-६५॥

एवमुक्त्वा महात्मानं भगवानात्मनस्तनुम् ।
आविवेश ददौ चास्मै विमलं खड्गमुत्तमम् ॥६६॥

भगवान् शङ्कर ने इतना कहकर अपने विशाल स्वरूप को अश्वत्थामा में लीन किया और अश्वत्थामा को एक विशाल खड्ग दिया ॥६६॥

अथाविष्टो भगवता भूयो जज्वाल तेजसा ।
वेगवाँश्चाभवद्युद्धे देवसृष्टेन तेजसा ॥६७॥

जब भगवान् शङ्कर, इसमें प्रविष्ट हो गए-तो वह तेज से जल उठा । वह देव के तेज से युद्ध में वेगवान् हो गया ॥६७॥

तमदृश्यानि भूतानि रक्षांसि च समाद्रवन् ।
अभितः शत्रुशिविरं यान्तं साक्षादिवेश्वरम् ॥६८॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां सौप्तिके पर्वणि द्रौणिकृतशिवार्चने सप्तमोऽध्यायः ॥७॥

हे राजन् ! साक्षात् महादेव की भाँति शत्रु शिविर को जाते हुए अश्वत्थामा के पीछे अदृश्य रूप में सारे राक्षस और भूतगण चल दिए ॥६८॥

इति श्रीमहाभारतान्तर्गत सौप्तिकपर्व में अश्वत्थामा के शिव पूजन का सातवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ ७॥

आठवां अध्याय

धृतराष्ट्र उवाच—तथा प्रयाते शिविरं द्रोणपुत्रे महारथे ।
कच्चित्कृपश्च भोजश्च भयार्तौ न व्यवर्त्तताम् ॥१॥

धृतराष्ट्र बोले—हे सञ्जय ! जब महारथी द्रोण-पुत्र अश्वत्थामा पाण्डवों के शिविरों में पहुंचे-तो कृप और कृतवर्मा भयातुर होकर लौट तो नहीं गए ॥१॥

कच्चिन्न वारितौ क्षुद्रैरक्षिभिर्नोपलक्षितौ ।
असह्यमिति मन्वानौ न निवृत्तौ महारथौ ॥२॥

जब अश्वत्थामा ने प्रवेश किया, तो उनके छोटे २ द्वारपालों ने उन्हें क्यों नहीं रोका । क्या वे उन्हें आंखों से देख भी नहीं पाए ?

अश्वत्थामा के असह्य कर्म के देखने की अभिलाषा से ये दोनों महारथी नहीं लौटे-ऐसा प्रतीत होता है ॥२॥

कच्चिदुन्मथ्य शिबिरं हत्वा सोमकपाण्डवान् ।
दुर्योधनस्य पदवीं गतौ परमिकां रणे ॥३॥

क्या इन दोनों वीरों ने भी पाण्डवों के शिबिर पर आक्रमण करके और सोमक तथा पाण्डववीरों को मार कर अन्त में रणाङ्गण में दुर्योधन की सी अन्तिमगति प्राप्त की ? ॥३॥

पाञ्चालैर्निहतौ वीरौ कच्चित्तु स्वपतां क्षितौ ।
कच्चित्ताभ्यां कृतं कर्म तन्ममाचक्ष्व सञ्जय ॥४॥

क्या इन दोनों वीरों को पाञ्चालों ने मार लिया, जो रणभूमि में पड़े सो रहे थे ? हे सञ्जय ! इन दोनों ने क्या कर्म किया, अब तो आप हमको यह वृत्तान्त सुनाइए ॥४॥

सञ्जय उवाच—तस्मिन्प्रयाते शिबिरं द्रोणपुत्रे महात्मनि ।
कृपश्च कृतवर्मा च शिबिरद्वार्यतिष्ठताम् ॥५॥

सञ्जय बोले—हे भरतर्षभ ! महावीर द्रोण-पुत्र अश्वत्थामा के पाण्डवों के शिबिर में घुस जाने पर कृपाचार्य और कृतवर्मा शिबिर के द्वार पर खड़े रहे ॥५॥

अश्वत्थामा तु तौ दृष्ट्वा यत्नवन्तौ महारथौ ।
प्रहृष्टः शनकै राजन्निदं वचनमब्रवीत् ॥६॥

हे राजन्! जब अश्वत्थामा ने इन दोनों महारथियों को शिविर पर बड़े प्रयत्न के साथ स्थित देखा-तो वह बड़ा प्रसन्न हुआ और उसने उनसे धीरे २ यह वचन कहा ॥६॥

यत्तौ भवन्तौ पर्याप्तौ सर्वक्षत्रस्य नाशने ।

किं पुनर्योधशेषस्य प्रसुप्तस्य विशेषतः ॥७॥

हे महानुभावो! यदि आप अच्छी तरह तय्यार हो जावें-तो सारे क्षत्रियों के विनाश के लिए पर्याप्त हो। इन पाण्डवों के बचे खुचे और विशेष कर सोते हुए वीरों को मार लेना तो आप लोगों को कठिन ही क्या है ॥७॥

अहं प्रवेक्ष्ये शिविरं चरिष्यामि च कालवत् ।
यथा न कश्चिदपि वां जीवन्मुच्येत मानवः ॥८॥
तथा भवद्भ्यां कार्यं स्यादिति मे निश्चिता मतिः ।

अब मैं शिविर में घुसता हूँ और काल की भांति घूमने लगता हूं। अब आप तो यही उपाय करें, कि कोई मनुष्य आपके पास से जीता न भाग जावे। बस? आपको इतना ही करना है, मेरी यही निश्चित मति है ॥८॥

इत्युक्त्वा प्राविशद्द्रौणिः पार्थानां शिविरं महत् ॥९॥
अद्वारेणाभ्यवस्कन्द्य विहाय भयमात्मनः ।

हे नृप! इतना कहकर द्रोण-पुत्र अश्वत्थामा पाण्डवों के विशाल सेनानिवेश में द्वार को छोड़कर कूद पड़ा। इसको अपने विषय में अब कुछ भी भय नहीं था ॥९॥

स प्रविश्य महाबाहुरुद्देशज्ञश्च तस्य ह ॥१०॥
धृष्टद्युम्नस्य निलयं शनकैरभ्युपागमत् ।

महाबाहु अश्वत्थामा शिविर में घुस गए। वे जिस २ प्रदेश पर जिस २ का शिविर (तम्बू) लगा था—यह सब कुछ जानते थे। इन्होंने प्रथम धीरे २ धृष्टद्युम्न के निवास स्थान में प्रवेश किया।

ते तु कृत्वा महत्कर्म श्रान्ताश्च बलवद्रणे ॥११॥
प्रसुप्ताश्चैव विध्वस्ताः समेत्य परिधाविताः ।

धृष्टद्युम्नादि पञ्चालवीर रणक्षेत्र में बहुत ही परिश्रम करके थके पड़े थे। ये लोग इकट्ठे होकर इधर उधर रणाङ्गण में दौड़े थे, इससे इनके शरीर का चूरा हो रहा था, अतएव ये बहुत गाढ़ी नींद में लीन थे ॥११॥

अथ प्रविश्य तद्वेश्म धृष्टद्युम्नस्य भारत ॥१२॥
पाञ्चाल्यं शयने द्रौणिरपश्यत्सुप्तमन्तिकात् ।

हे भारत ! अश्वत्थामा ने धृष्टद्युम्न के स्थान में प्रवेश करके पाञ्चालवीर धृष्टद्युम्न को समीप में ही उत्तम शय्या पर सोते देखा ॥१२॥

क्षौमावदाते महति स्पर्ध्यास्तरणसंवृते ॥१३॥
माल्यप्रवरसंयुक्ते धूपैश्चूर्णैश्च वासिते ।

धृष्टद्युम्न की शय्या पर रेशमी श्वेत बड़े २ मूल्य के बिस्तर बिछे थे। इस शयन स्थान में उत्तम २ मालाएँ लटक रही थीं और धूप तथा चन्दन चूरा आदि की सुगन्धि उड़ रही थी ॥१३॥

तं शयानं महात्मानं विस्रब्धमकुतोभयम् ॥१४॥
प्राबोधयत पादेन शयनस्थं महीपते ।

हे महीपते ! भय रहित निःशङ्क भाव से महात्मा धृष्टद्युम्न को सोता देखकर अश्वत्थामा ने ठोकर लगा कर उसे जगाया ।

सम्बुध्य चरणस्पर्शादुत्थाय रणदुर्मदः ॥१५॥
अभ्यजानादमेयात्मा द्रोणपुत्रं महारथम् ।

जब रणदुर्मद धृष्टद्युम्न के ठोकर लगाई-तो वह चरण के स्पर्श से जाग पड़ा । इस अपरिमित बलशाली धृष्टद्युम्न ने अपने सन्मुख खड़े हुए महारथी अश्वत्थामा को पहिचान लिया ॥१५॥

तमुत्पतन्तं शयनादश्वत्थामा महाबलः ॥१६॥
केशेष्वालभ्य पाणिभ्यां निष्पिपेष महीतले ।

अब ज्योंही धृष्टद्युम्न उठने लगे, त्योंही महाबली अश्वत्थामा ने उसके बाल हाथों से पकड़ लिए और उसे पृथिवी पर दे मारा।

सबलं तेन निष्पिष्टः साध्वसेन च भारत ॥१७॥
निद्रया चैव पाञ्चाल्यो नाशकच्चेष्टितुं तदा ।

हे भारत ! बलवान अश्वत्थामा द्वारा दबा लेने पर घबराहट और नींद के कारण पञ्चालकुमार धृष्टद्युम्न कुछ भी चेष्टा न कर सका ॥१७॥

तमाक्रम्य पदा राजन् कण्ठे चोरसि चोभयोः ॥१८॥
नदन्तं विस्फुरन्तं च पशुमारममारयत् ।

हे राजन ! अश्वत्थामा ने उसके कण्ठ और छाती पर गोडी अड़ा दी, वह चीत्कार करता हुआ तड़फड़ाने लगा। अश्वत्थामा ने उसे पशु मारने की तरह घूंसे आदि से मारना आरम्भ किया।

तुदन्नखैस्तु स द्रौणिं नातिव्यक्तमुदाहरत् ॥१९॥
आचार्यपुत्र शस्त्रेण जहि मां मा चिरं कृथाः।
त्वत्कृते सुकृतांल्लोकान् गच्छेयं द्विपदांवर।

धृष्टद्युम्न अपने नख आदि से अश्वत्थामा को नोचने लगा, परन्तु असमर्थ रह कर अस्फुट रूप में यह वचन बोला—हे आचार्य-पुत्र ! यह क्या करते हो, यदि मारते ही हो तो मुझे शीघ्रता के साथ शस्त्र से मारो। हे वीर ! चलो ? तुम्हारे हाथ से मारा जाकर ही मैं पुण्य लोकों को प्राप्त करूं ॥२०॥

एवमुक्त्वा तु वचनं विरराम परन्तपः।
सुतः पञ्चालराजस्य आक्रान्तो बलिना भृशम् ॥२१॥

इतना कहकर शत्रुतापी पञ्चाल-पुत्र धृष्टद्युम्न चुप हो गया, क्योंकि उसे बलवान अश्वत्थामा ने बुरी तरह दबा रखा था ॥२१॥

तस्य व्यक्तां तु तां वाचं संश्रुत्य द्रौणिरब्रवीत्।
आचार्यघातिनां लोका न सन्ति कुलपांसन ॥२२॥
तस्माच्छस्त्रेण निधनं न त्वमर्हसि दुर्मते।

धृष्टद्युम्न की अव्यक्त वाणी भी अश्वत्थामा ने अच्छी तरह सुन ली-वह कहने लगा—हे कुलाधम ! अपने आचार्य को मारने

वाले को उत्तम लोक नहीं मिला करते। हे दुर्मते ! इसी कारण से तुम्हारा वध शस्त्र से नहीं किया जा सकता ॥२२॥

एवं ब्रुवाणस्तं वीरं सिंहो मत्तमिव द्विपम् ॥२३॥
मर्मस्वभ्यवधीत् क्रुद्धः पादाष्ठीलैः सुदारुणैः ।

हे राजन् ! इस प्रकार धृष्टद्युम्न से कहकर वीरश्रेष्ठ अश्वत्थामा, मदोन्मत्त हाथी को सिंह की भांति अपने दारुण पैर के गोंड से उसके मर्म स्थानों में प्रहार करने लगे ॥२३॥

तस्य वीरस्य शब्देन मार्यमाणस्य वेश्मनि ॥२४॥
अबुध्यन्त महाराज स्त्रियो ये चास्य रक्षिणः ।

हे महाराज ! जब उस वीर धृष्टद्युम्न को मारा जा रहा था, तो उसकी चिल्लाहट से वहां की सारी स्त्रियां और रक्षक गण (पहरेदार) जाग पड़े ॥२४॥

ते दृष्ट्वा धर्षयन्तं तमतिमानुषविक्रमम् ॥२५॥
भूतमेवाध्यवस्यंतो न स्म प्रत्याहरन् भयात् ।

जब मनुष्यातिशायी पराक्रम करते अश्वत्थामा को देखा-तो उन्होंने उसे भूत समझा, अतएव भय से कुछ न बोले ॥२५॥

तं तु तेनाभ्युपायेन गमयित्वा यमक्षयम् ॥२६॥
अध्यतिष्ठत तेजस्वी रथं प्राप्य सुदर्शनम् ।

इस दुरुपाय से धृष्टद्युम्न को मार कर अश्वत्थामा ने उसे यमराज के घर भेज दिया और फिर वह अपने सुदर्शन रथ के पास पहुंच कर उस पर जा चढ़ा ॥२६॥

स तस्य भवनाद्राजन्निष्क्रम्यानादयन्दिशः ॥२७॥
रथेन शिबिरं प्रायाज्जिघांसुर्द्विषतो बली ।

हे राजन ! धृष्टद्युम्न के भवन से निकल कर अश्वत्थामा ने अपने रथ की ध्वनि से दिशा गुंजा दी । अब यह महाबली इस रथ के द्वारा अन्य शत्रुओं के मारने को चल दिया ॥२७॥

अपक्रान्ते ततस्तस्मिन्द्रोणपुत्रे महारथे ॥२८॥
सहितै रक्षिभिः सर्वैः प्राणेदुर्योषितस्तदा ।
राजानं निहतं दृष्ट्वा भृशं शोकपरायणाः ॥२९॥
व्याक्रोशन् क्षत्रियाः सर्वैः धृष्टद्युम्नस्य भारत ।

हे भारत ! जब महारथी अश्वत्थामा वहां से चले गए-तब और रक्षकों के साथ सारी स्त्रियां चिल्लाने लगीं। ये राजा धृष्टद्युम्न को मृतक देखकर बहुत शोकातुर हुई। सारे क्षत्रियवीर भी धृष्टद्युम्न को रोने चिल्लाने लगे ॥२८-२९॥

तासां तु तेन शब्देन समीपे क्षत्रियर्षभाः ॥३०॥
क्षिप्रं च समनह्यन्त किमेतदिति चाब्रुवन् ।

इनका यह रोना चिल्लाना सुनकर समीप के सारे क्षत्रिय-वीर जाग पड़े । उन्होंने झटपट कमर कस ली और कहने लगे-क्या हुआ ॥३०॥

स्त्रियस्तु राजन्वित्रस्ता भारद्वाजं निरीक्ष्य ताः ॥३१॥
अब्रुवन् दीनकण्ठेन क्षिप्रमाद्रवतेति वै ।

राक्षसो वा मनुष्यो वा नैनं जानीमहे वयम् ॥३२॥
हत्वा पाञ्चालराजानं रथमारुह्य तिष्ठति ।

हे राजन्! भरद्वाजवंशोत्पन्न अश्वत्थामा को देखकर सारी स्त्रियां डर गईं थीं। वे दीन स्वर से बोली, कि तुम शीघ्र दौड़ो। यह कोई राक्षस है या मनुष्य? हम यह बिल्कुल नहीं जान सकी हैं, जिसने पाञ्चालराज धृष्टद्युम्न को मार डाला है और जो रथ पर चढ़कर खड़ा है ॥३१-३२॥

ततस्ते योधमुख्याश्च सहसा पर्यवारयन् ॥३३॥
स तानापततः सर्वान् रुद्रास्त्रेण व्यपोथयत् ।

इतना सुनते ही बड़े २ पाञ्चालवीरों ने उस रथ को घेर लिया। अश्वत्थामा ने जब पाञ्चालों को आक्रमण करते देखा तो उनको रुद्रास्त्र से मार गिराया ॥३३॥

धृष्टद्युम्नं च हत्वा स तांश्चैवास्य पदानुगान् ॥३४
अपश्यच्छयने सुप्तमुत्तमौजसमन्तिके ।

अश्वत्थामा ने धृष्टद्युम्न और उनके सहचरों का वध करके पास के शिबिर में उत्तमौजा को सोते देखा ॥३४॥

तमप्याक्रम्य पादेन कण्ठे चोरसि तेजसा ॥३५॥
तथैव मारयामास विनर्दन्तमरिंदमम् ।

अश्वत्थामा ने उसे भी अपने बल से जा दबाया और उसकी छाती और कण्ठ पर गोडी गडा दी। धृष्टद्युम्न की तरह चिल्लाते हुए इस अरिंमर्दन उत्तमौजा को भी अश्वत्थामा ने मार गिराया।

युधामन्युश्च संप्राप्तो मत्वा तं रक्षसा हतम् ॥३६॥
गदामुद्यम्य वेगेन हृदि द्रौणिमताडयत् ।

इसी समय युधामन्यु दौड़ कर आया। उसने उत्तमौजा को राक्षस द्वारा मारा हुआ समझा। इससे उसने गदा उठाकर वेग से अश्वत्थामा की छाती में प्रहार किया ॥३६॥

तमभिद्रुत्य जग्राह क्षितौ चैनमपातयत् ॥३७॥
विस्फुरन्तं च पशुवत्तथैवैनममारयत् ।

अश्वत्थामा ने दौड़ कर उसे भी पकड़ लिया और पृथिवी में गिरा दिया। वह तड़फड़ाने लगा। इसने इसे भी पशु की मार से घूंसे आदि से मार गिराया ॥३७॥

तथा स वीरो हत्वा तं ततोऽन्यान्समुपाद्रवत् ॥३८॥
संसुप्तानेव राजेन्द्र तत्र तत्र महारथान् ।

हे राजेन्द्र! इस प्रकार उनको मार कर अश्वत्थामा अन्य पर झपटा। इसने जहां तहां सोते हुए महारथियों पर ही आक्रमण किया ॥३८॥

स्फुरतो वेपमानांश्च शमितेव पशून्मखे ॥३९॥
ततो निस्त्रिंशमादाय जघानान्यान् पृथक् पृथक् ।
भागशो विचरन्मार्गानसियुद्धविशारदः ॥४०॥

हे राजन! तड़फड़ाते और कांपते हुए वीरों को यज्ञ में पशु-घातक शमिता ऋत्विक् की भांति वह सबको मारने लगा। इसने खड्ग लेकर पृथक् २ वीरों को मार गिराया। अश्वत्थामा खड्ग युद्ध

में बड़ा वीर था। इसने भिन्न २ मार्गों (पैंतरों) से घूमना आरम्भ किया ॥३९-४०॥

तथैव गुल्मे संप्रेक्ष्य शयानान्मध्यगौल्मिकान् ।
श्रान्तान् व्यस्तायुधान्सर्वान् क्षणेनैव व्यपोथयत् ॥४१॥

अब यह झाड़ियों में घुसा। वहां झाड़ियों के मध्य में थके हुए और शस्त्र खोले हुए गुल्म रक्षक सो रहे थे। उन सबको इसने क्षण भर में मार गिराया ॥४१॥

योधानश्वान् द्विपांश्चैव प्राच्छिनत्स वरासिना ।
रुधिरोक्षितसर्वांगः कालसृष्ट इवान्तकः ॥४२॥

अश्वथामा ने अपनी चमकती तलवार से योद्धा, अश्व और हाथी मार डाले। प्रलयकाल में प्रादुर्भूत काल की तरह अश्वत्थामा रक्त में भीगा हुआ भीषण प्रतीत होता था ॥४२॥

विस्फुरद्भिश्च तैर्द्रौणिर्निस्त्रिंशस्योद्यमेन च ।
आक्षेपणेन चैवासेस्त्रिधा रक्तोक्षितोऽभवत् ॥४३॥

अश्वत्थामा उन वीरों के लिपटने, तलवार के उठाने और चलाने, इन तीन प्रकार से रक्त से लथपथ हो गया ॥४३॥

तस्य लोहितरक्तस्य दीप्तखड्गस्य युध्यतः ।
अमानुष इवाकारो बभौ परमभीषणः ॥४४॥

इसका खड्ग लाल होकर चमक रहा था, जिससे इसका आकार बड़ा ही भीषण राक्षस का सा प्रतीत होता था ॥४४॥

ये त्वजाग्रन्त कौरव्य तेऽपि शब्देन मोहिताः ।
निरीक्ष्यमाणा अन्योन्यं दृष्ट्वा दृष्ट्वा प्रविव्यथुः ॥४५॥

हे कुरुवंशश्रेष्ठ ! जो वीर जाग पड़े थे, वे भी इस भीषण शब्द से घबरा गए। ये एक दूसरे की ओर देखने लगे और उनको देख २ कर बड़े दुःखी हुए ॥४५॥

तद्रूपं तस्य ते दृष्ट्वा क्षत्रियाः शत्रुकर्षिणः ।
राक्षसं मन्यमानास्तं नयनानि न्यमीलयन् ॥४६॥

शत्रुनाशक क्षत्रिय, अश्वत्थामा के उस भीषण रूप को देखकर उसे राक्षस समझने लगे। इन्होंने अपनी आखें मींच ली ॥

स घोररूपो व्यचरत्कालवच्छिबिरे ततः ।
अपश्यद्द्रौपदीपुत्रानवशिष्टांश्च सोमकान् ॥४७॥

अब घोर रूपधारी अश्वत्थामा काल की भाँति पाण्डवों के शिबिर में घूमने लगा। वहाँ इसने कुछ बचे हुए सोमकवीर और द्रौपदी-पुत्र देखे ॥४७॥

तेन शब्देन वित्रस्ता धनुर्हस्ता महारथाः ।
धृष्टद्युम्नं हतं श्रुत्वा द्रौपदेया विशाम्पते ॥४८॥
अवाकिरन् शरव्रातैर्भारद्वाजमभीतवत् ।

हे विशाम्पते ! इस कोलाहल से द्रौपदी-पुत्र महारथी प्रतिविन्ध्य आदि बड़े चकित हुए। उन्होंने धनुष उठा लिए। जब इन्होंने धृष्टद्युम्न का मारा जाना सुना-तो ये निर्भीक भाव से अश्वत्थामा पर बाणवर्षा करने लगे ॥४८॥

ततस्तेन निनादेन संप्रबुद्धाः प्रभद्रकाः ॥४९॥
शिलीमुखैः शिखण्डी च द्रोणपुत्रं समार्दयन् ।

इसी कोलाहल में प्रभद्रक संज्ञक क्षत्रिय जाग पड़े । ये प्रभद्रकवीर और महारथी शिखण्डी, द्रोण-पुत्र अश्वत्थामा को बाणजाल से व्याप्त करने लगे ॥४९॥

भारद्वाजः स तान् दृष्ट्वा शरवर्षाणि वर्षतः ॥५०॥
ननाद बलवन्नादं जिघांसुस्तान्महारथान् ।

जब अश्वत्थामा ने इन वीरों को बाण वर्षा करते देखा, तो उन महारथियों के मारने के लिए उसने बड़े उच्चस्वर में गर्जना की ॥५०॥

ततः परमसंक्रुद्धः पितुर्वधमनुस्मरन् ॥५१॥
अवरुह्य रथोपस्थात्त्वरमाणोऽभिदुद्रवे ।

अपने पिता के वध का स्मरण करके अश्वत्थामा को बड़ा क्रोध बढ़ा । वह रथ से कूद पड़ा और बड़े वेग से उन पर झपटा ॥

सहस्रचन्द्रविमलं गृहीत्वा चर्म संयुगे ॥५२॥
खड्गं च विमलं दिव्यं जातरूपपरिष्कृतम् ।
द्रौपदेयानभिद्रुत्य खड्गेन व्यधमद्बली ॥५३॥

अब अश्वत्थामा ने इस घोर युद्ध में सहस्रों चन्द्रमाओं से जटित, ढाल और सुवर्णोज्ज्वल चमचमाते खड्ग को ग्रहण करके द्रौपदी-पुत्रों पर उस खड्ग से प्रहार किया ॥

ततः स नरशार्दूलः प्रतिविन्ध्यं महाहवे ।
कुक्षिदेशेऽवधीद्राजन् स हतो न्यपतद्भुवि ॥५४॥

हे राजन ! इस पुरुषप्रवीर अश्वत्थामा ने इस घोर युद्ध में प्रतिविन्ध्य के कुक्षिप्रदेश में खड्ग का प्रहार किया, जिससे वह मृतक होकर भूमि में गिर गया ॥५४॥

प्रासेन विद्ध्वा द्रौणिं तु सुतसोमः प्रतापवान् ।
पुनश्चासिं समुद्यम्य द्रोणपुत्रमुपाद्रवत् ॥५५॥

प्रतापी सुतसोम ने प्रास नामक अस्त्र से अश्वत्थामा पर प्रहार किया और फिर खड्ग लेकर द्रोण-पुत्र पर आक्रमण किया ॥५५॥

सुतसोमस्य सासिं तं बाहुं छित्वा नरर्षभ ।
पुनरप्याहनत्पार्श्वे स भिन्नहृदयोऽपतत् ॥५६॥

हे नरर्षभ ! अश्वत्थामा ने सुतसोम की खड्ग सहित बाहु काट डाली और फिर उसकी भी पसलियों में प्रहार किया, जिससे वह मर कर गिर गया ॥५६॥

नाकुलिस्तु शतानीको रथचक्रेण वीर्यवान् ।
दोर्भ्यामुत्क्षिप्य वेगेन वक्षस्येनमताडयत् ॥५७॥
अताडयच्छतानीकं मुक्तचक्रं द्विजस्तु सः ।
स विह्वलो ययौ भूमिं ततोऽस्यापाहरच्छिरः ॥५८॥

अब नकुल-पुत्र शतानीक सामने आया। उस वीर्यवान् ने रथ चक्र शस्त्र उठा कर वेग से अपनी ऊंची उठी हुई भुजाओं से अश्वत्थामा के वक्षःस्थल में प्रहार किया। अश्वत्थामा ने भी चक्र

छोड़ देने पर उसके ऊपर प्रहार किया। वह विह्वल होकर भूमि में गिर गया। इसके अनन्तर अश्वत्थामा ने उसका शिर काट डाला ॥५७-५८॥

श्रुतकर्मा तु परिघं गृहीत्वा समताडयत् ।
अभिद्रुत्य ययौ द्रौणिं सव्ये स फलके भृशम् ॥५९॥
स तु तं श्रुतकर्माणमास्ये जघ्ने वरासिना ।
स हतो न्यपतद्भूमौ विमूढो विकृताननः ॥६०॥

अब श्रुतकर्मा ने दांये हाथ में परिघ लेकर अश्वत्थामा पर प्रहार किया। अश्वत्थामा ने अपनी उत्तम तलवार से श्रुतकर्मा के मुख पर प्रहार किया, जिससे उसका मुख कट गया और वह मूर्च्छित होकर भूमि में गिर गया ॥५९-६०॥

तेन शब्देन वीरस्तु श्रुतकीर्तिर्महारथः ।
अश्वत्थामानमासाद्य शरवर्षैरवाकिरत् ॥६१॥
तस्यापि शरवर्षाणि चर्मणा प्रतिवार्य सः ।
सकुण्डलं शिरः कायात् भ्राजमानमुपाहरत् ॥६२॥

इसी शब्द से वीरश्रेष्ठ महारथी श्रुतकीर्ति आया। इसने अश्वत्थामा पर आक्रमण करके वाणवर्षा करना आरम्भ किया। अश्वत्थामा ने उसकी भी वाण वर्षा को अपनी ढाल पर रोक लिया। उसने कुण्डलों सहित उसके चमकीले शिर को शरीर से पृथक् कर दिया ॥६२॥

ततो भीष्मनिहन्तारं सह सर्वैः प्रभद्रकैः ।
आहनत्सर्वतो वीरं नानाप्रहरणैर्बली ॥६३॥
शिलीमुखेन चान्येन भ्रुवोर्मध्ये समार्पयत् ।

इसके अनन्तर सारे प्रभद्रकों के साथ भीष्म के घातक महारथी शिखण्डी पर महाबली अश्वत्थामा ने अनेक शस्त्रों का प्रहार किया तथा एक बाण उसके भ्रुवों के मध्यवर्ती ललाट में मारा ॥६३॥

स तु क्रोधसमाविष्टो द्रोणपुत्रो महाबलः ॥६४॥
शिखण्डिनं समासाद्य द्विधा चिच्छेद सोऽसिना ।

अब महाबली द्रोण-पुत्र अश्वत्थामा क्रोध में भर गया और उसने अपने खड्ग से शिखण्डी के दो टुकड़े कर दिए ॥६४॥

शिखण्डिनं ततो हत्वा क्रोधाविष्टः परन्तपः ॥६५॥
प्रभद्रकगणान्सर्वानभिदुद्राव वेगवान् ।

शत्रुतापी अश्वत्थामा ने क्रोधातुर होकर शिखण्डी को मार लिया । अब यह वेगशाली अश्वत्थामा सारे प्रभद्रक गणों पर वेग से झपटा ॥६५॥

यच्च शिष्टं विराटस्य बलं तु भृशमाद्रवत् ॥६६॥
द्रुपदस्य च पुत्राणां पौत्राणां सुहृदामपि ।
चकार कदनं घोरं दृष्ट्वा दृष्ट्वा महाबलः ॥६७॥
अन्यानन्यांश्च पुरुषानभिसृत्याभिसृत्य च ।
न्यकृन्तदसिना द्रौणिरसिमार्गविशारदः ॥६८॥

अश्वत्थामा ने विराट की अवशिष्ट सेना पर भी आक्रमण किया। राजा द्रुपद की सेना और उसके पुत्र पौत्र और सुहृदों को भी मारा गिराया। अब महाबली अश्वत्थामा योद्धाओं को देख २ कर घोर विनाश करने लगा। यह पृथक् २ वीरों पर लपक २ कर आक्रमण करने लगा। तलवार के मार्गों को जानने वाले अश्वत्थामा ने सबको काट गिराया ॥६६-६८॥

कालीं रक्तास्यनयनां रक्तमाल्यानुलेपनाम् ।
रक्ताम्बरधरामेकां पाशहस्तां कुटुम्बिनीम् ॥६६॥
ददृशुः कालरात्रिं ते गायमानामवस्थिताम् ।
नराश्वकुञ्जरान्पाशैर्बद्ध्वा घोरैः प्रतस्थुषीम् ॥७०॥
वहन्तीं विविधान्प्रेतान्पाशबद्धान्विमूर्धजान् ।

अब इसने काल वर्ण वाली, लाल नेत्र और मुख धारिणी, रक्त माला और रक्त चन्दन से सुशोभित, रक्त वस्त्र धारिणी, पाश हाथ में लिए हुए गणों सहित, गाती हुई स्थित कालरात्रि को देखा। यह घोर पाश से मनुष्य, अश्व और हाथियों पर आक्रमण कर रही थी। इसने खुले बालों वाले बहुत से प्रेत अपनी रस्सी में बांध रखे थे ॥६६-७०॥

तथैव च सदा राजन्न्यस्तशस्त्रान्महारथान् ॥७१॥
स्वप्ने सुप्तान्नयन्तीं तां रात्रिष्वन्यासु मारिष ।
ददृशुर्योधमुख्यास्ते घ्नन्तं द्रौणिं च सर्वदा ॥७२॥

हे राजन्! बहुत से सोते हुए योद्धाओं ने अन्य रातों में शस्त्र-

विहीन महारथियों को इस कालरात्रि और अश्वत्थामा द्वार मारते देखा था ॥७१-७२॥

यतः प्रभृति संग्रामः कुरुपाण्डवसेनयोः ।
ततः प्रभृति तां कन्यामपश्यन् द्रौणिमेव च ॥७३॥
तांस्तु दैवहतान्पूर्वं पश्चाद्द्रौणिर्व्यपातयत् ।
त्रासयन्सर्वभूतानि विनदन् भैरवान् रवान् ॥७४॥

जब से इस संग्राम को आरम्भ किया, तभी से बहुत से वीरों को कौरव और पाण्डवों की सेना में यह कन्या रूपधारिणी काल रात्रि और द्रोण-पुत्र अश्वत्थामा दिखाई देता था। ये लोग प्रथम तो दैवहत थे ही, फिर द्रोण-पुत्र उनके वध का कारण बन गया। अश्वत्थामा भीषण गर्जना करके सारे भूतों को वित्रासित कर रहा था ॥७३-७४॥

तदनुस्मृत्य ते वीरा दर्शनं पूर्वकालिकम् ।
इदं तदित्यमन्यन्त दैवेनोपनिपीडिताः ॥७५॥

ये वीर, इनके पूर्वकाल में स्वप्न में हुए दर्शन का स्मरण करके यह समझने लगे, कि यह वही घटना घट रही है। हम लोग तो दैव से ही मारे हुए पड़े हैं ॥७५॥

ततस्तेन निनादेन प्रत्यबुद्ध्यन्त धन्विनः ।
शिबिरे पाण्डवेयानां शतशोऽथ सहस्रशः ॥७६॥
सोऽच्छिनत्कस्यचित्पादौ जघनं चैव कस्यचित् ।
कांश्चिद्बिभेद पार्श्वेषु कालसृष्ट इवान्तकः ॥७७॥

हे राजन् ! इस कोलाहल से पाण्डव शिविर में सैंकड़ों हज़ारों धनुपधारी वीर जाग पड़े। इस घबराहट में कोई किसी के पैर और कोई किसी के नितम्ब काट २ कर गिराने लगा। कोई प्रलय-कालीन काल की तरह किसी की पार्श्वों में प्रहार करते थे ॥७७॥

अत्युग्रप्रतिपिष्टैश्च नदद्भिश्च भृशोत्कटैः ।
गजाश्वमथितैश्चान्यैर्मही कीर्णाऽभवत्प्रभो ॥७८॥

हे प्रभो ! अत्यन्त उग्रता के साथ पीसे हुए तथा उत्कट गर्जना करते हुए गज और अश्वों के मथन से सारी रणभूमि व्याप्त हो गई ॥७८॥

क्रोशतां किमिदं कोऽयं कः शब्दः किं नु किं कृतम् ।
एवं तेषां तथा द्रौणिरन्तकः समपद्यत ॥७९॥

यह क्या है-कौन आ गया, क्या कोलाहल हो रहा है, किसने यह उपद्रव खड़ा कर दिया, इस प्रकार चिल्लाते हुए वीरों का अश्वत्थामा काल बन गया ॥१९॥

अपेतशस्त्रसन्नाहान्सन्नद्धान्पाण्डुसृञ्जयान् ।
प्राहिणोन्मृत्युलोकाय द्रौणिः प्रहरतां वरः ॥८०॥

ये पाण्डव और सृञ्जयवीर शस्त्र और कवच हीन ही सनद्ध होकर अश्वत्थामा के सन्मुख आए-तो प्रहार करने वालों में श्रेष्ठ अश्वत्थामा ने उन्हें क्षण भर में मृत्युलोक में भेज दिया ॥८०॥

ततस्तच्छस्त्रवित्रस्ता उत्पतन्तो भयातुराः ।
निद्रान्धा नष्टसंज्ञाश्च तत्र तत्र निलिल्यिरे ॥८१॥

अब अश्वत्थामा के शस्त्र से घायल होकर भयातुर वीर इधर उधर उछलने लगे। वे नींद में अन्धे हो रहे थे और उनकी संज्ञा नष्ट सी हो रही थी। वे जहां तहां लीन होकर गिरने लगे ॥८१॥

ऊरुस्तम्भगृहीताश्च कश्मलाभिहतौजसः।
विनदन्तो भृशं त्रस्ताः समासीदन्परस्परम् ॥८२॥

ये लोग अत्यन्त चिल्लाते हुए बड़े दुःखी हुए। बहुत के पैर अकड़े हुए अभी खुले भी नहीं थे। बहुतों के चित्त नींद की खुमारी न निकलने से अभी तक ओज हीन थे। इस तरह ये एक दूसरे को पीड़ित करने लगे ॥८२॥

ततो रथं पुनर्द्रौणिरास्थितो भीमनिःस्वनम्।
धनुष्पाणिः शरैरन्यान्प्रेषयद्वै यमक्षयम् ॥८३॥

अब द्रोण-पुत्र अश्वत्थामा भीषण शब्दकारी रथ पर बैठ गया। वह धनुष हाथ में लेकर अपने बाणों से अन्य वीरों को यमपुर भेजने लगा ॥८३॥

पुनरुत्पततश्चापि दूरादपि नरोत्तमान्।
शूरान्सम्पततश्चान्यान्कालरात्र्यै न्यवेदयत् ॥८४॥

अश्वत्थामा ने दूर से भाग कर आते हुए सैनिक और अच्छे, २ बहुत से अन्य शूरवीरों को अपने बाणों से कालरात्रि की भेंट चढ़ा दिया ॥८४॥

तथैव स्यन्दनाग्रेण प्रमथन्स विधावति।
शरवर्षैश्च विविधैरवर्षच्छात्रवांस्ततः ॥८५॥

हे राजन् ! अब अश्वत्थामा अपने उत्तम रथ पर बैठा हुआ सारे कौरववीरों का विध्वंस करता हुआ दौड़ा । इसने अनेक प्रकार की वाण-वर्षा करके शत्रुओं को नष्ट-भ्रष्ट कर दिया ॥८५॥

पुनश्च सुविचित्रेण शतचन्द्रेण चर्मणा ।
तेन चाकाशवर्णेन तथाऽचरत सोऽसिना ॥८६॥

इसके बाद उसने फिर शतचन्द्र जटित ढाल और आकाश वर्ण वाली तलवार उठाई और अब वह उसके हाथ दिखाने लगा ॥८६॥

तथा स शिविरं तेषां द्रौणिराहवदुर्मदः ।
व्यक्षोभयत राजेन्द्र महाह्रदमिव द्विपः ॥८७॥

हे राजेन्द्र ! युद्धदुर्मद, अश्वत्थामा ने अब इस तरह सारे पाण्डव शिविर को मथ डाला, जैसे हाथी महान् ह्रद को आलोडित कर देता है ॥८७॥

उत्पेतुस्तेन शब्देन योधा राजन्विचेतसः ।
निद्रार्त्ताश्च भयार्त्ताश्च व्यधावन्त ततस्ततः ॥८८॥

हे राजन् ! उस कोलाहल से नींद में आतुर योद्धा उछट कर खड़े हुए । वे निद्रातुर और भयातुर होकर इधर उधर भागने लगे ॥८८॥

विस्वरं चुक्रुशुश्चान्ये बह्वबद्धं तथाऽवदन् ।
न च स्म प्रत्यपद्यन्त शस्त्राणि वसनानि च ॥८९॥

इस समय कोई तो भद्दे स्वर में चिल्ला रहे थे और कोई बे सिर पैर की बातें बकने लगे । इनको इस घबराहट में शस्त्र और वस्त्र कुछ भी प्राप्त नहीं हुए । ॥८९॥

विमुक्तकेशाश्चाप्यन्ये नाभ्यजानन्परस्परम् ।
उत्पतन्तोऽपतन् श्रान्ता केचित्तत्राभ्रमंस्तदा ॥९०॥

इनके बाल ज्यों के त्यों खुले रहे और वे परस्पर एक दूसरे को भी पहिचान नहीं सके। बहुत से भागते हुए थकान होने के कारण गिर पड़े और कोई घबराहट से चक्कर लगाने लगे ॥९०॥

पुरीषमसृजन्केचित्केचिन्मूत्रं प्रसुस्रुवुः ।
बन्धनानि च राजेन्द्र संछिद्य तुरगा द्विपाः ॥९१॥
समं पर्यपतंश्चान्ये कुर्वन्तो महदाकुलम् ।

हे राजेन्द्र ! कोई वीर मल और कोई मूत्र छोड़ने लगे। अश्व और हाथी बन्धन तोड़कर इधर उधर भागे, जिससे बहुत ही आकुलता बढ़ गई ॥९१॥

तत्र केचिन्नरा भीता व्यलीयन्त महीतले ॥९२॥
तथैव तान्निपतितानपिंषन्गजवाजिनः ।

हे पुरुषर्षभ ! कुछ वीर भयातुर होकर पृथिवी के चिपक गए-उनके पड़े हुए वीरों को वहीं पर हाथी घोड़ों ने कुचल डाला।

तस्मिंस्तथा वर्त्तमाने रक्षांसि पुरुषर्षभ ॥९३॥
हृष्टानि व्यनदन्नुच्चैर्मुदा भरतसत्तम ।

हे भरतसत्तम ! इस प्रकार के विनाश के उपस्थित होने पर राक्षस बड़े प्रसन्न हो गए और वे उच्च स्वर में आनन्द-पूर्वक गर्जना करने लगे ॥९३॥

स शब्दः पूरितो राजन्भूतसङ्घैर्मुदायुतैः ॥९४॥
अपूरयद्दिशः सर्वा दिवं चातिमहान्स्वनः ।

हे राजन् ! इस प्रकार इन सारे राक्षसों की उल्लास-पूर्वक उठाई हुई वाणी से सारी दिशा भर गई और आकाश में भी शब्द भर गया ॥९४॥

तेषामार्त्तरवं श्रुत्वा वित्रस्ता गजवाजिनः ॥९५॥
मुक्ताः पर्यपतन् राजन्मृद्नन्तः शिबिरे जनम् ।

हे राजन् ! इनके आर्त-नाद को सुनकर हाथी घोड़े भयभीत हो गए । वे बन्धन से मुक्त हुए इस तरह भागने लगे, जिनसे शिबिर में बहुत से मनुष्य कुचल गए ॥९५॥

तैस्तत्र परिधावद्भिश्चरणोदीरितं रजः ॥९६॥
अकरोच्छिबिरे तेषां रजन्यां द्विगुणं तमः

इन भागते हुए अश्वादि के चरणों से धूलि खड़ी हो गई । इस धूलि से रात में शिविर में दुगना अन्धेरा छा गया ॥९६॥

तस्मिंस्तमसि सञ्जाते प्रमूढाः सर्वतो जनाः ॥९७॥
नाजानन्पितरः पुत्रान् भ्रातॄन् भ्रातर एव च ।

इस प्रकार अन्धकार के छा जाने से सारे मनुष्य चक्कर में पड़ गए । इस समय पिताओं को पुत्र और भाइयों को भाइयों की पहिचान न रही ॥९७॥

गजा गजानतिक्रम्य निर्मनुष्या हया हयान् ॥९८॥
अताडयंस्तथाऽभञ्जंस्तथाऽमृद्नंश्च भारत ।

हे भारत ! अपने सवारों से रहित हाथी, हाथियों से और अश्व, अश्वों से टकराने लगे। ये एक दूसरे पर प्रहार करके परस्पर नष्ट करने तथा कुचलने लगे ॥९८॥

ते भग्नाः प्रपतन्ति स्म निघ्नन्तश्च परस्परम् ॥९९॥
न्यपातयँस्तथा चान्यान्पातयित्वा तदाऽपिपन् ।

ये घायल परस्पर एक दूसरे को मारते हुए क्षत-विक्षत होकर गिरने लगे। इन्होंने बहुतों को नीचे गिरा दिया और कुचल डाला ॥९९॥

विचेतसः सनिद्राश्च तमसा चावृता नराः ॥१००॥
जघ्नुः स्वानेव तत्राथ कालेनैव प्रचोदिताः ।

हे राजन ! निद्रातुर, अचेत से हुए अन्धकार से आवृत मनुष्य काल की प्रेरणा से अपने ही पक्ष के वीरों को मारने लगे ॥१०॥

त्यक्त्वा द्वाराणि च द्वास्थास्तथा गुल्मानि गौल्मिकाः
प्राद्रवन्त यथाशक्ति कान्दिशीका विचेतसः ।

अथ द्वारपाल, द्वारों और गुल्मरक्षक गुल्मों को छोड़ कर भयभीत हुए और जी छोड़कर जितना उनसे भागा गया-उतने वेग से भाग निकले ॥१०१॥

विप्रनष्टाश्च तेऽन्योन्यं नाजानन्त तथा विभो ॥१०२॥
क्रोशन्तस्तात पुत्रेति दैवोपहतचेतसः ।

हे विभो ! इनमें जो नष्ट हो गए-वे परस्पर यह भी नहीं जान सके, कि कौन मारा गया। ये दैवोपहत होकर, हे तात ! हे पुत्र ! इस प्रकार चिल्लाने लगे ॥१०२॥

पलायन्त दिशस्तेषां स्वानप्युत्सृज्य बान्धवान् ॥१०३॥
गोत्रनामभिरन्योन्यमाक्रन्दन्त ततो जनाः ।

पाण्डववीर अपने भी बान्धवों को छोड़कर दिशाओं को भागने तथा बहुत से वीर, गोत्र और नाम का उच्चारण करके रक्षा के लिए चिल्लाने लगे ॥१०३॥

हाहाकारं च कुर्वाणाः पृथिव्यां शेरते परे ॥१०४॥
तान्बुद्ध्वा रणमध्येऽसौ द्रोणपुत्रो न्यवारयत् ।

बहुत से वीर पृथिवी पर पड़े हुए हाहाकार कर रहे थे। रणक्षेत्र में उनको देखकर द्रोण-पुत्र ने उन्हें भी परम धाम पहुँचा दिया॥

तत्रापरे वध्यमाना मुहुर्मुहुरचेतसः ॥१०५॥
शिबिरान्निष्पतन्ति स्म क्षत्रिया भयपीडिताः ।

वहां पर बार २ घायल हुए, बहुत से मनुष्य अचेत हो गए, अब भय से पीड़ित होकर क्षत्रिय अपने २ शिबिरों से निकल पड़े।

तांस्तु निष्पतितांस्त्रस्तान् शिबिराज्जीवितैषिणः ॥१०६॥
कृतवर्मा कृपश्चैव द्वारदेशे निजघ्नतुः ।

अब अपने जीवन की रक्षा के लिए घबरा कर भागते हुए वीरों को द्वार पर कृतवर्मा और कृपाचार्य मारने लगे ॥१०६॥

विस्रस्तयन्त्रकवचान्मुक्तकेशान्कृताञ्जलीन् ॥१०७॥
वेपमानान् क्षितौ भीतान्नैव कांश्चिदमुच्यताम् ।
नामुच्यत तयोः कश्चिन्निष्क्रान्तः शिबिराद्बहिः ॥१०८॥

शस्त्र फेंकने के यन्त्र और कवच से रहित, खुले बालों वाले हाथ जोड़ते हुए, पृथिवी में कम्पायमान, भयभीत वीरों को भी इन्होंने नहीं छोड़ा। अब जो शिविर से बाहर निकला, कि उसे कृप और कृतवर्मा ने मार गिराया ॥१०७-१०८॥

कृपश्चैव महाराज हार्दिक्यश्चैव दुर्मतिः ।

भूयश्चैव चिकीर्षन्तौ द्रोणपुत्रस्य तौ प्रियम् ॥१०९॥

हे महाराज! कृपाचार्य और दुर्मति कृतवर्मा अश्वत्थामा का प्रिय करने को और भी विध्वंस करने को तत्पर हो गए॥

त्रिषु देशेषु ददतुः शिबिरस्य हुताशनम् ।

ततः प्रकाशे शिबिरे खड्गेन पितृनन्दनः ॥११०॥

अश्वत्थामा महाराज व्यचरत्कृतहस्तवत् ।

कांश्चिदापततो वीरानपरांश्चैव धावतः ॥१११॥

व्ययोजयत खड्गेन प्राणैर्द्विजवरोत्तमः ।

इन्होंने शिविर में तीन जगह आग लगा दी। अब प्रकाश में पिता के आनन्द के वर्धक अश्वत्थामा ने अपने खड्ग से बड़ी कुशलता से हाथ दिखाना आरम्भ किया। इस द्विज-श्रेष्ठ ने आक्रमण करते हुए तथा अन्य दौड़ कर आते हुए वीरों को अपने खड्ग से मार कर यमराज के धाम पहुंचा दिया ॥११०-१११

कांश्चिद्योधान्स खड्गेन मध्ये सञ्छिद्य वीर्यवान् ॥११२

अपातयद्द्रोणपुत्रः संरब्धस्तिलकाण्डवत् ।

इस महापराक्रमी द्रोण-पुत्र अश्वत्थामा ने क्रोध में भरकर बहुत से पाण्डव योधाओं के बीच में से दो टुकड़े, तिल के काण्ड की तरह कर दिए ॥११२॥

निनदद्भिर्भृशायस्तैर्नराश्वद्विरदोत्तमैः ॥११३॥
पतितैरभवत्कीर्णा मेदिनी भरतर्षभ ।

हे भरतर्षभ ! अब ये नर, अश्व और हाथी अत्यन्त व्याकुल होकर चिल्लाते हुए रणभूमि में गिर गए-जिनसे सारी पृथिवी भर गई ॥१२३॥

मानुषाणां सहस्रेषु हतेषु पतितेषु च ॥११४॥
उदतिष्ठन्कबन्धानि बहून्युत्थाय चापतन् ।

सहस्रों मनुष्य मारे जाकर पतित हो गए । बहुत से कबन्ध उठ खड़े हुए और वे फिर गिर गए ॥११३॥

सायुधान्साङ्गदान्बाहून्विचकर्त्त शिरांसि च ॥११५॥
हस्तिहस्तोपमानूरून्हस्तान्पादांश्च भारत ।

अश्वत्थामा ने आयुध और अङ्गद के साथ उनके बाहु और शिर काट डाले । हाथी की सूंड के समान जँघाओं, हाथों और पांओं को भी काट गिराया ॥११५॥

पृष्ठच्छिन्नान्पार्श्वच्छिन्नान्शिरश्छिन्नांस्तथाऽपरान् ॥
स महात्माऽकरोद् द्रौणिः कांश्चिच्चापि पराङ्मुखान् ।

महावीर द्रोण-पुत्र अश्वत्थामा ने बहुतों की पीठ, पार्श्व और शिर काट दिए तथा बहुतों को चत विच्तत करके रण से पराङ्मुख कर दिया॥११६॥

मध्यदेशे नरानन्यांश्चिच्छेदान्यांश्च कर्णतः ॥११७॥
अंसदेशे निहत्यान्यान्काये प्रावेशयच्छिरः।

अश्वत्थामा ने किसी को मध्यप्रदेश से, किसी को कान के पास से किसी को स्कन्धप्रदेश से काट गिराया। बहुत के शिरों को उनके शरीर में प्रविष्ट कर दिया ॥११७॥

एवं विचरतस्तस्य निघ्नतः सुबहून्नरान् ॥११८॥
तमसा रजनी घोरा बभौ दारुणदर्शना।

हे राजन्! इस प्रकार बहुतसे वीरों को मार कर रणाङ्गण में अश्वत्थामा के घूमने पर अन्धकार से व्याप्त रात बड़ी दारुण हो गई ॥११८॥

किञ्चित्प्राणैश्च पुरुषैर्हतैश्चान्यैः सहस्रशः ॥११९॥
बहुना च गजाश्वेन भूरभूद्भीमदर्शना।

कुछ प्राणधारी पुरुष तथा सहस्रों मरे हुए वीर और बहुतसे हाथी और अश्वों से पृथिवी भयानक दिखाई देने लगी ॥११९॥

यक्षरक्षः समाकीर्णे रथाश्वद्विपदारुणे ॥१२०॥
क्रुद्धेन द्रोणपुत्रेण सञ्छिन्नाः प्रापतन्भुवि।
भ्रातृनन्ये पितृनन्ये पुत्रानन्ये विचुक्रुशुः ॥१२१॥

इस समय रणक्षेत्र, यक्ष, रक्षों से भर गया और रथ, अश्व और हाथियों से दारुण हो उठा। द्रोण-पुत्र के क्रोध करने पर अनेक वीर कट २ कर भूमि में गिरने लगे। अब कोई तो भ्राता, कोई पिता, कोई पुत्रों को पुकारने लगा ॥१२०-१२१॥

केचिदूचुर्न तत्क्रुद्धैर्धार्त्तराष्ट्रैः कृतं रणे ।
यत्कृतं नः प्रसुप्तानां रक्षोभिः क्रूरकर्मभिः ॥१२२॥

इस समय बहुत से पाण्डववीर कह रहे थे, कि क्रोधातुर धृतराष्ट्र-पुत्रों ने भी जो नहीं किया-वह आज शयन करने के समय में क्रूर कर्म करने वाले राक्षसों ने कर दिखाया ॥१२२॥

असान्निध्याद्धि पार्थानामिदं वः कदनं कृतम् ।
न चासुरैर्न गंधर्वैर्न यक्षैर्न च राक्षसैः ॥१२३॥
शक्यो विजेतुं कौन्तेयो गोप्ता यस्य जनार्दनः ।
ब्रह्मण्यः सत्यवाग्दान्तः सर्वभूतानुकम्पकः ॥१२४॥

असुर, गन्धर्व, यक्ष और राक्षस भी कुन्ती-पुत्र अर्जुन को जीतने में समर्थ नहीं हो सके, क्योंकि उनके रक्षक स्वयं श्रीकृष्ण हैं । उन पाण्डवों के पास में न होने से ही आज यह तुम्हारा विनाश हुआ है । वे श्रीकृष्ण, ब्रह्मरक्षक, सत्यवादी, उदार और सब प्राणियों पर दया करने वाले हैं ॥१२३-१२४॥

न च सुप्तं प्रमत्तं वा न्यस्तशस्त्रं कृताञ्जलिम् ।
धावन्तं मुक्तकेशं वा हन्ति पार्थो धनञ्जयः ॥१२५॥

धनञ्जय अर्जुन, सोते हुए या किसी प्रमाद में पड़े हुए शस्त्र हीन, हाथ जोड़ने वाले, भागते हुए और खुले बाल वाले मनुष्य पर प्रहार नहीं करते हैं ॥१२५॥

तदिदं नः कृतं घोरं रक्षोभिः क्रूरकर्मभिः ।
इति लालप्यमानाः स्म शेरते बहवो जनाः ॥१२६॥

आज इन क्रूरकर्मा राक्षसों ने बहुत ही घोर कर्म कर खाया। हे राजन ! इस प्रकार कहते हुए बहुत से वीर पृथिवी में लेट गए ॥१२६॥

स्तनतां च मनुष्याणामपरेषां च कूजताम् ।
ततो मुहूर्त्तात्प्राशाम्यत्स शब्दस्तुमुलो महान् ॥१२७॥

हे नरर्षभ ! जब इस प्रकार गर्जते या आर्तनाद करते हुए थोड़ी देर हो गई-तो इतने में ही वह महान् कोलाहल कुछ शान्त हो गया ॥१२७॥

शोणितव्यतिषिक्तायां वसुधायां च भूमिप ।
तद्रजस्तुमुलं घोरं क्षणेनान्तरधीयत ॥१२८॥

हे भूमिपते ! जब सारी भूमि रक्त में भीग गई-तो वह धूल भी क्षण भर में शान्त हो गई ॥१२८॥

स चेष्टमानानुद्विग्नान्निरुत्साहान्सहस्रशः ।
न्यपातयन्नरान् क्रुद्धः पशून्पशुपतिर्यथा ॥१२९॥

अब अश्वत्थामा ने अनेक चेष्टा करते हुए उद्विग्न और निरुत्साह, सहस्रों मनुष्यों को क्रोध पूर्वक इस तरह मार २ कर बिछा दिया, जैसे प्रलयकाल में रुद्र प्राणियों को मारता है ॥

अन्योन्यं संपरिष्वज्य शयानान्द्रवतोऽपरान् ।
संलीनान्युध्यमानांश्च सर्वान्द्रौणिरपोथयत् ॥१३०॥

कुछ वीर भय से सोते २ एक दूसरे के चिपट गए और कुछ भाग निकले। कोई छुप गया और कोई युद्ध को तत्पर हुआ। परन्तु द्रोण-पुत्र अश्वत्थामा ने सब को मार गिराया ॥१३०॥

दह्यमाना हुताशेन वध्यमानाश्च तेन ते ।
परस्परं तदा योधाननयन्यमसादनम् ॥१३१॥

ये लोग आग से जलते हुए और अश्वत्थामा से मारे जाते हुए-घवरा कर परस्पर ही अपने योधाओं को मार २ कर यमराज के यहाँ पहुंचाने लगे ॥१३१॥

तस्या रजन्यास्त्वर्धेन पाण्डवानां महद्बलम् ।
गमयामास राजेन्द्र द्रौणिर्यमनिवेशनम् ॥१३२॥

हे राजेन्द्र ! अब रात का आधा ही भाग व्यतीत हुआ था, कि पाण्डवों की सेना के बहुत बड़े भाग को द्रोण-पुत्र अश्वत्थामा ने मार कर यमराज के घर भेज दिया ॥१३२॥

निशाचराणां सत्वानां रात्रिः सा हर्षवर्द्धिनी ।
आसीन्नरगजाश्वानां रौद्री क्षयकरी भृशम् ॥१३३॥

हे राजेन्द्र ! यह रात राक्षसों के आनन्द को बढ़ाने वाली थी और नर, अश्व और हाथियों के विनाशकारी होने से बहुत ही भीषण मानी गई ॥१३३॥

तत्रादृश्यन्त रक्षांसि पिशाचाश्च पृथग्विधाः ।
खादन्तो नरमांसानि पिबन्तः शोणितानि च ॥१३४॥

इस समय अनेक प्रकार के राक्षस और पिशाच दिखाई दिए, जो मनुष्य मांस खा रहे थे और रक्त पी रहे थे ॥१३४॥

करालाः पिङ्गलाश्चैव शैलदन्ता रजस्वलाः ।
जटिला दीर्घशङ्खाश्च पञ्चपादा महोदराः ॥१३५॥

पश्चादङ्गुलयो रूक्षा विरूपा भैरवस्वनाः ।
घंटाजालावसक्ताश्च नीलकण्ठा विभीषणाः ॥१३६॥
सपुत्रदाराः सक्रूराः सुदुर्दशाः सुनिर्घृणाः ।
विविधानि च रूपाणि तत्रादृश्यन्त रक्षसाम् ॥१३७॥
पीत्वा च शोणितं हृष्टाः प्रानृत्यन्गणशो परे ।
इदं परमिदं मेध्यमिदं स्वाद्विति चाब्रुवन् ॥१३८॥

इनमें कोई तो कराल, पिङ्गल, शैल समान दांतों वाले, धूलि में सने हुए थे। किन ही के जटाएँ, बड़े २ शंख, (कनपटी) पांच पैर और लम्बे २ पेट थे। किन ही के पीछे को अंगुलि और कुछ रूक्ष, विरूप और भयानक शब्द करने वाले थे। बहुत के शरीर में घण्टा समूह लटक रहे थे। बहुत से नीलकण्ठधारी, भयानक आकार वाले थे। इनके साथ पुत्र और स्त्रियां भी थी, जो बड़ी क्रूर दिखाई देती थी। इन वीभत्स रूपधारी राक्षस-कुटुम्ब को कोई देख भी नहीं सकता था। इस समय राक्षसों के अनेक रूप दिखाई देते थे। वे रक्त पान करके प्रसन्न हो रहे थे और टोली बनाकर नांच रहे थे। यह बड़ा पवित्र है-यह बड़ा स्वाद मांस है। इस तरह भूत गण कहते जाते थे ॥१३५-१३८॥

मेदोमज्जास्थिरक्तानां वसानां च भृशाशिताः ।
परे मांसानि खादन्तः क्रव्यादा मांसजीविनः ॥१३९॥

ये राक्षस, मेद, मांस, मज्जा, हड्डी, रक्त, चर्बी सब कुछ खा रहे थे। कुछ मांसभोजी राक्षस केवल मांस का ही भोजन कर रहे थे ॥१३९॥

वसाश्चैवापरे पीत्वा पर्यधावन्निकुक्षिकाः ।
नानावक्त्रास्तथा रौद्राः क्रव्यादाःपिशिताशनाः॥१४०
बहुत से पेट भरे हुए राक्षस, वसा (चर्बी) पीकर दौड़ने लगे। ये मांसभोजी राक्षस बड़े भयानक और अनेक प्रकार के मुख धारण किए हुए थे ॥१४०॥

अयुतानि च तत्रासन्प्रयुतान्यर्बुदानि च ।
रक्षसां घोररूपाणां महतां क्रूरकर्मणाम् ॥१४१॥
मुदितानां वितृप्तानां तस्मिन्महति वैशसे ।
समेतानि बहून्यासन् भूतानि च जनाधिप ॥१४२॥
हे राजन् ! वहां पर हजार, लाख, करोड़, अरब न जाने कितने राक्षस थे। इस महा विध्वंस के समय मांस, चर्बी आदि से क्रूर-कर्म घोर रूपधारी राक्षस बड़े तृप्त और प्रसन्न हो रहे थे। हे जनाधिप ! ये राक्षस अनेक समूह बनाए हुए-बहुत सी संख्या में रणक्षेत्र में घूम रहे थे ॥१४१-१४२॥

प्रत्यूषकाले शिबिरात्प्रतिगन्तुमियेष सः ।
नृशोणितावसिक्तस्य द्रौणेरासीदसित्सरुः ॥१४३॥
जब प्रातःकाल होने को आया, तो अश्वत्थामा ने शिबिर से जाने का विचार किया। इस समय इसके खड्ग की मूंठ मनुष्य के रक्त से भीगी पड़ी थी ॥१४३॥

पाणिना सह संश्लिष्ट एकीभूत इव प्रभो ।
दुर्गमां पदवीं गत्वा विरराज जनक्षये ॥१४४॥
युगान्ते सर्वभूतानि भस्म कृत्वेव पावकः ।

हे प्रभो ! वह मूंठ और हाथ रक्त से चिपक कर एक हो गया था। इस जनक्षय में बड़ी दुर्गम पदवी को प्राप्त होकर अश्वत्थामा दिखाई देने लगा। इस समय अश्वत्थामा ऐसा प्रतीत होता था, जैसे प्रलय में सारे प्राणियों को भस्म करके आग दिखाई देती है।

यथाप्रतिज्ञं तत्कर्म कृत्वा द्रौणायनिः प्रभो ॥१४५॥
दुर्गमां पदवीं गच्छन्पितुरासीद्गतज्वरः ।

हे प्रभो ! अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार कर्म पूरा करके अश्वत्थामा बड़ी भीषण पदवी को प्राप्त हो गया। वह अपने पिता के ऋण से मुक्त होकर चिन्ता रहित हो गया ॥१४५॥

यथैव संसुप्तजने शिबिरे प्राविशन्निशि ॥१४६॥
तथैव हत्वा निःशब्दे निश्चक्राम नरर्षभः ।
निष्क्रम्य शिबिरात्तस्मात्ताभ्यां सङ्गम्य वीर्यवान् ॥१४७॥

जिस तरह चुपचाप सोते समय अश्वत्थामा शिविर में घुसा था, उसी तरह यह महावीर अब चुपचाप रणक्षेत्र से खसक गया। हे विभो ! महापराक्रमी अश्वत्थामा शिविर से निकलकर, उन दोनों महारथी कृप और कृतवर्मा से मिला ॥१४६-१४७॥

आचख्यौ कर्म तत्सर्वं हृष्टः संहर्षयन्विभो ।
तावथाचख्यतुस्तस्मै प्रियं प्रियकरौ तदा ॥१४८॥

हे राजन् ! बड़ी प्रसन्नता के साथ अश्वत्थामा ने अपनी वीरता के समाचार कृप और कृतवर्मा को सुनाए। उन दोनों ने भी अपनी २ वीरता के वृत्तान्त इसको सुनाए ॥१४८॥

पाञ्चालान्सृञ्जयांश्चैव विनिकृत्तान्सहस्रशः ।
प्रीत्या चोच्चैरुदक्रोशंस्तथैवास्फोटयंस्तलान् ॥१४९॥

इसने पञ्चाल और सृञ्जयों को सहस्रों की संख्या में मार गिराया । फिर बड़े आनन्द से हर्षनाद किया और ताल फटकारी ॥१४९॥

एवंविधा हि सा रात्रिः सोमकानां जनक्षये ।
प्रसुप्तानां प्रमत्तानामासीत्सुभृशदारुणा ॥१५०॥

हे राजन् ! इस तरह इस रात में सारे सोमकवीरों का क्षय हो गया । यह सब कुछ दारुण रात में सबके सोते और प्रमाद में पड़े रहने से हुआ ॥१५०॥

असंशयं हि कालस्य पर्यायो दुरतिक्रमः ।
तादृशा निहता यत्र कृत्वाऽस्माकं जनक्षयम् ॥१५१॥

हे राजन् ! इस काल की बड़ी दुरत्य गति है, जो हमारा इस तरह विध्वंस करके भी अन्त में सारे नष्ट हो गए ॥१५१॥

धृतराष्ट्र उवाच—प्रागेव सुमहत्कर्म द्रौणिरेतन्महारथः ।
नाकरोदीदृशं कस्मान्मत्पुत्रविजये धृतः ॥१५२॥
अथ कस्माद्धते क्षुद्रं कर्मेदं कृतवानसौ ।
द्रोणपुत्रो महात्मा स तन्मे शंसितुमर्हसि ॥१५३॥

धृतराष्ट्र ने कहा—हे सञ्जय ! इतना वीरकर्म पूर्व से ही अश्वत्थामा ने क्यों नहीं कर दिखाया, जिससे मेरे पुत्र की ही विजय हो जाती । अब ऐसा क्या कारण उपस्थित हुआ, जिससे

महावीर अश्वत्थामा ने यह क्षुद्र कर्म कर डाला। अब तुम मुझे यह सारा वृत्तान्त सुनाओ ॥१५२-१५३॥

सञ्जय उवाच—नेषां नूनं भयान्नासौ कृतवान्कुरुनन्दन।

अशान्निध्याद्धि पार्थानां केशवस्य च धीमतः ॥१५४॥

सात्यकेश्चापि कर्मेदं द्रोणपुत्रेण साधितम्।

को हि तेषां समक्षं तान् हन्यादपि मरुत्पतिः ॥१५५॥

एतदीदृशकं वृत्तं राजन्सुप्तजने विभो।

सञ्जय ने कहा—हे कुरुनन्दन! अर्जुन और श्रीकृष्ण के भय से वह इस कर्म को नहीं कर पाया। वह तो बुद्धिमान् श्रीकृष्ण और अर्जुन के दूर रहने से इस भीषण कर्म के करने में समर्थ हुआ। उस समय सात्यकि भी नहीं था, इसीसे अश्वत्थामा अपने काम करने में सफल हो गया। इनके सामने रहने पर साक्षात् इन्द्र भी इस कर्म के करने में समर्थ नहीं हो सकता था। हे राजन्! यह सारी घटना मनुष्यों के सोने के समय हुई ॥१५४-१५५॥

ततो जनक्षयं कृत्वा पाण्डवानां महात्ययम् ॥१५६।

दिष्ट्या दिष्ट्येव चान्योन्यं समेत्योचुर्महारथाः।

पर्यष्वजत्ततो द्रौणिस्ताभ्यां सम्प्रति नन्दितः ॥१५७॥

हे भरतर्षभ! इस प्रकार पाण्डवों की सेना का महान् विध्वंस करके ये तीनों महारथी परस्पर कहने लगे—यह बड़ा अच्छा हुआ। इस समय प्रसन्न होकर अश्वत्थामा उनसे लिपट गया ॥१५६-१५७॥

इदं हर्षात्तु सुमहदाददे वाक्यमुत्तमम् ।

पाञ्चाला निहताः सर्वे द्रौपदेयाश्च सर्वशः ॥१५८॥

सोमका मत्स्यशेषाश्च सर्वे विनिहता मया ।

अब अश्वत्थामा ने हर्ष-पूर्वक यह वचन कहा—कि सारे पञ्चाल और द्रौपदी-पुत्र मार लिए गए। मैंने सारे सोमक और मत्स्य वीर मार डाले ॥१५८॥

इदानीं कृतकृत्याः स्म याम तत्रैव मा चिरम् ।

यदि जीवति नो राजा तस्मै शंसामहे वयम् ॥१५६॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां सौप्तिके पर्वणि रात्रि युद्धे पाञ्चालादि-वधेऽष्टमोऽध्यायः ॥८॥

अब हम अपने काम में सफल हो गए-अब हमको वहीं पर चलना चाहिए। यदि हमारा राजा जीवित होगा-तो उसको यह समाचार सुनावेंगे ॥१५६॥

इति श्रीमहाभारतान्तर्गत सौप्तिकपर्व में रात्रियुद्ध में पञ्चाल वीरों के वध का आठवां अध्याय समाप्त हुआ।



नौवां अध्याय

सञ्जय उवाच—ते हत्वा सर्वपाञ्चालान्द्रौपदेयांश्च सर्वशः ।
आगच्छन्सहितास्तत्र यत्र दुर्योधनो हतः ॥१॥

सञ्जय बोले—हे राजन! सारे पाञ्चाल और द्रौपदी-पुत्रों को मार कर ये तीनों महारथी अश्वत्थामा, कृपाचार्य और कृतवर्मा वहीं पहुंचे, जहां पर घायल हुआ राजा दुर्योधन रणभूमि में पड़ा था ॥१॥

गत्वा चैनमपश्यन्त किञ्चित्प्राणं जनाधिपम् ।
ततो रथेभ्यः प्रस्कन्द्य परिवव्रुस्तवात्मजम् ॥२॥

वहां जाकर इन्होंने देखा, कि राजा में कुछ प्राण शेष हैं। वे सब रथों से कूद पड़े और तुम्हारे पुत्र राजा दुर्योधन से कहने लगे ॥२॥

तं भग्नसक्थं राजेन्द्र कृच्छ्रप्राणमचेतसम् ।
वमन्तं रुधिरं वक्त्रादपश्यन्वसुधातले ॥३॥

हे राजेन्द्र! राजा दुर्योधन की टांग टूटी हुई थी और वह गत प्राण हुआ सा कुछ २ चेत में था। वह पृथिवी पर पड़ा हुआ रुधिर की वमन कर रहा था। इस दशा में इन्होंने कुरुराज को देखा ॥३॥

वृतं समन्ताद्बहुभिः श्वापदैर्घोरदर्शनैः ।
शालावृकगणैश्चैव भक्षयिष्यद्भिरन्तिकात् ॥४॥

इसके चारों ओर भयानक जंगली जन्तु छा रहे थे। ये भेड़िए, चीते आदि के समूह उनको पास आकर खा जाना चाह रहे थे ॥४॥

निवारयन्तं कृच्छ्रात्तान् श्वापदांश्च चिखादिषून् ।
विचेष्टमानं मह्यां च सुभृशं गाढवेदनम् ॥५॥

वे जन्तु तो खाने की चेष्टा करते थे और राजा दुर्योधन बड़े कष्ट से उनको निवृत्त कर रहे थे। यह पृथिवी में तड़फड़ा रहा था। इसके मर्मस्थलों में बड़ी ही वेदना हो रही थी ॥५॥

तं शयानं तथा दृष्ट्वा भूमौ सुरुधिरोक्षितम् ।
हतशिष्टास्त्रयो वीराः शोकार्त्ताः पर्यवारयन् ॥६॥

रुधिर में भीगे और भूमि में पड़े हुए राजा दुर्योधन के पास मारने से बचे हुए ये तीन महारथी शोकातुर होकर पहुंचे। उन्होंने उसे घेर लिया ॥६॥

अश्वत्थामा कृपश्चैव कृतवर्मा च सात्वतः ।
तैस्त्रिभिः शोणितादिग्धैर्निःश्वसद्भिर्महारथैः ॥७॥
शुशुभे स वृत्तो राजा वेदी त्रिभिरिवाग्निभिः ।

अश्वत्थामा, कृपाचार्य और सात्वतवंशोद्भव कृतवर्मा-ये तीनों महारथी रक्त में भीगे हुए लम्बी २ श्वास ले रहे थे। इस समय राजा दुर्योधन इन तीनों वीरों से इस तरह सुशोभित हुआ जैसे तीनों अग्नियों से यज्ञवेदी सुशोभित होती है ॥७॥

ते तं शयानं सम्प्रेक्ष्य राजानमतथोचितम् ॥८॥
अविषह्येन दुःखेन ततस्ते रुरुदुस्त्रयः ।

पृथिवी में पड़ने के अयोग्य राजा दुर्योधन को पृथिवी में पड़ा हुआ देखकर उनसे यह दुःख सहा नहीं गया और वे असह्य वेदना के साथ २ बड़े जोर से रो पड़े ॥८॥

ततस्तु रुधिरं हस्तैर्मुखान्निर्मृज्य तस्य हि ।
रणे राज्ञः शयानस्य कृपणं पर्यदेवयन् ॥९॥

अब इन्होंने कुरुराज के मुख से रुधिर पोंछा । इन्होंने रणाङ्गण में पड़े हुए राजा को देखकर करुणा-पूर्ण स्वर में क्रन्दन किया ॥९॥

कृप उवाच—न दैवस्यातिभारोऽस्ति यदयं रुधिरोक्षितः ।
एकादशचमूभर्त्ता शेते दुर्योधनो हतः ॥१०॥

कृपाचार्य बोले—हाय ? होनहार बड़ी ही बलवती है, उसे कोई बात कठिन नहीं है। यही तो कारण है, जिससे रुधिर में भीगा हुआ एकादश अक्षौहिणी सेना का स्वामी राजा दुर्योधन आहत होकर रणभूमि में सो रहा है ॥१०॥

पश्य चामीकराभस्य चामीकरविभूषिताम् ।
गदां गदाप्रियस्येमां समीपे पतितां भुवि ॥११॥

सुवर्ण के समान चमकीली, सुवर्ण जटित गदा, इस गदाप्रिय राजा के समीप रणभूमि में पड़ी हुई है-जरा इसे तो देखो ? ॥११

इयमेनं गदा शूरं न जहाति रणे रणे ।
स्वर्गायापि व्रजन्तं हि न जहाति यशस्विनम् ॥१२॥

यह गदा किसी भी रण में इस शूरवीर का साथ नहीं छोड़ती थी। आज मानो यह स्वर्ग को जाते हुए भी यशस्वी राजा दुर्योधन का साथ नहीं छोड़ना चाह रही है ॥१२॥

पश्येमां सह वीरेण जाम्बूनदविभूषिताम् ।
शयाना शयने हर्म्ये भार्यां प्रीतिमतीमिव ॥१३॥

यह सुवर्ण विभूषित गदा इस वीर के साथ रणभूमि में इस तरह पड़ी है, जैसे किसी महल में सुन्दर शय्या पर प्रीति-पूर्वक अपने पति से पत्नी लिपटी पड़ी हो ॥१३॥

योऽयं मूर्धाभिषिक्तानामग्रे जातः परन्तपः
स हतो ग्रसते पांसून्पश्य कालस्य पर्ययम् ॥१४॥

यह शत्रुतापी कुरुराज सारे कुलीन क्षत्रिय राजवंशों में श्रेष्ठ थे। आज ये ही मृत होकर धूलि में लेट रहे हैं-यह काल की विपरीत गति देखो ॥१४॥

येनाजौ निहता भूमावशेरत हतद्विषः ।
स भूमौ निहतः शेते कुरुराजः परैरयम् ॥१५॥

हाय ! कभी जिसके मारे हुए शत्रु रणभूमि में लेटा करते थे, आज वही कुरुराज, शत्रुओं द्वारा मारा जाकर रणभूमि में लेटा पड़ा है ॥१५॥

भयान्नमन्ति राजानो यस्य स्म शतसङ्घशः ।
स वीरशयने शेते क्रव्याद्भिः परिवारितः ॥१६॥

जिस कुरुराज के भय से सैंकड़ों राजाओं के समूह झुकते रहते थे, वह वीर आज वीरशय्या बिछाकर माँसभोजी जन्तुओं से घिरा हुआ रणभूमि में सो रहा है ॥१६॥

उपासत द्विजाः पूर्वमर्थहेतोर्यमीश्वरम् ।
उपासते च तं ह्यद्य क्रव्यादा मांसहेतवः ॥१७॥

पूर्वकाल में ब्राह्मण गण, जिस कुरुराज को धन की अभिलाषा से घेरे रहते थे, आज उसी ऐश्वर्यशाली वीर को मांसभोजी जन्तु मांस की लालसा से घेर रहे हैं ॥१७॥

सञ्जय उवाच—तं शयानं कुरुश्रेष्ठं ततो भरतसत्तम ।
अश्वत्थामा समालोक्य करुणं पर्यदेवयत् ॥१८॥

सञ्जय ने कहा—हे भरतवंशश्रेष्ठ ! इस प्रकार कुरुवंशश्रेष्ठ महाराज दुर्योधन को रणाङ्गण में पड़े देखकर अश्वत्थामा करुणा के साथ रोता हुआ कहने लगा ॥१८॥

आहुस्त्वां राजशार्दूल मुख्यं सर्वधनुष्मताम् ।
धनाध्यक्षोपमं युद्धे शिष्यं सङ्कर्षणस्य च ॥१९॥

हे राज शार्दूल ! आप सारे धनुर्धरों में मुख्य माने जाते थे। तुम युद्ध में कुबेर के सदृश और गदाविद्या में महाबली बलराम के शिष्य थे ॥१९॥

कथं विवरमद्राक्षीद्भीमसेनस्तवानघ ।
बलिनं कृतिनं नित्यं स च पापात्मवान्नृप ॥२०॥

हे अनघ ! आप तो बड़े बली, युद्धकुशल थे। पापी भीमसेन आप पर प्रहार करने में कैसे समय (मौका) पा गया ॥२०॥

कालो नूनं महाराज लोकेऽस्मिन्बलवत्तरः ।
पश्यामो निहतं त्वां च भीमसेनेन संयुगे ॥२१॥

हे महाराज ! आज हमको निश्चय हो गया; कि संसार में काल बड़ा बली है। यही कारण है, कि भीमसेन के द्वारा मारे हुए आप रणभूमि में पड़े दिखाई देते हैं ॥२१॥

कथं त्वां सर्वधर्मज्ञं क्षुद्रः पापो वृकोदरः ।
निकृत्याहतवान्मन्दो नूनं कालो दुरत्ययः ॥२२॥

आप तो सारे धर्म और युद्ध मार्गों के ज्ञाता थे, फिर क्या कारण हुआ जो आपकी जंघा तोड़कर आपके वध करने में पापी मन्दबुद्धि, भीमसेन सफल हो गया। यह तो काल की दुरन्तता ही समझनी चाहिए ॥२२॥

धर्मयुद्धे ह्यधर्मेण समाहूयौजसा मृधे ।
गदया भीमसेनेन निर्भग्ने सक्थिनी तव ॥२३॥

इस धर्मयुद्ध में ओज के साथ आपको ललकारा, परन्तु फिर अधर्म-पूर्वक गदा से आपकी जंघाएँ भीमसेन ने तोड़ डाली-यह इस युद्ध में कितनी अनुचित बात हुई है ॥२३॥

अधर्मेण हतस्याजौ मृद्यमानं पदा शिरः ।
य उपेक्षितवान् क्षुद्रं धिक्कृष्णं धिग्युधिष्ठिरम् ॥२४॥

भीमसेन ने एक तो आपको रणाङ्गण में अधर्म से मारा और फिर शिर पर पैर की ठोकर लगाई। यह देखकर भी

श्रीकृष्ण और राजा युधिष्ठिर चुप रहे, इससे उनको धिक्कार ही देना उचित है ॥२४॥

युद्धेष्वपवदिष्यन्ति योधा नूनं वृकोदरम् ।
यावत्स्थास्यन्ति भूतानि निकृत्या ह्यसि पातितः ॥२५॥

जब २ युद्ध के नियमों का और लोग विवेचन करेंगे, तो जब तक सृष्टि नियत है-तब तक लोग वृकोदर भीम की निन्दा करते रहेंगे, कि उसने छल से राजा दुर्योधन को मारा है ॥२५॥

ननु रामोऽब्रवीद्राजंस्त्वां सदा यदुनन्दनः ।
दुर्योधनसमो नास्ति गदया इति वीर्यवान् ॥२६॥

हे राजन ! यदुवंशश्रेष्ठ बलराम सदा कहते रहते थे, कि गदा युद्ध में राजा दुर्योधन के समान कोई वीर नहीं है ॥२६॥

श्लाघते त्वां हि वार्ष्णेयो राजन्संसत्सु भारत ।
स शिष्यो मम कौरव्यो गदायुद्ध इति प्रभो ॥२७॥

हे भारत ! वृष्णिवंशश्रेष्ठ बलराम सर्वदा सभाओं में इस बात का अभिमान करता था, कि राजा दुर्योधन गदा-युद्ध में सर्व श्रेष्ठ और हमारा शिष्य है ॥२७॥

यां गतिं क्षत्रियस्याहुः प्रशस्तां परमर्षयः ।
हतस्याभिमुखस्याजौ प्राप्तस्त्वमसि तां गतिम् ॥२८॥

हे राजन् ! महर्षिगण क्षत्रिय वीर के लिए जिस गति की प्रशंसा करते रहते हैं। आज तुम मृत होते हुए उस सर्वोत्तम गति को प्राप्त कर रहे हो ॥२८॥

दुर्योधन न शोचामि त्वामहं पुरुषर्षभ ।
हतपुत्रौ तु शोचामि गान्धारीं पितरं च ते ॥२६॥
भिक्षुकौ विचरिष्येते शोचन्तौ पृथिवीमिमाम् ।
धिगस्तु कृष्णं वार्ष्णेयमर्जुनं चापि दुर्मतिम् ॥३०॥
धर्मज्ञमानिनौ यौ त्वां वध्यमानमुपेक्षताम् ।

हे पुरुषर्षभ ! राजन् ! दुर्योधन ! आज हमको आपके इस प्रकार मरने का कुछ शोक नहीं है, परन्तु आपके मर जाने से पुत्रहीन, वृद्ध राजा धृतराष्ट्र और माता गान्धारी की अवश्य चिन्ता होती है, जो शोक निमग्न पृथिवी पर भिक्षुक बने घूमेंगे । श्रीकृष्ण और दुर्मति अर्जुन को भी धिक्कार है, जिन्होंने इस प्रकार की जाने वाली तुम्हारी मृत्यु की उपेक्षा की है और वे चुप हो रहे हैं । वे तो अपने को बड़ा धर्मात्मा कहते थे ॥३०॥

पाण्डवाश्चापि ते सर्वे किं वक्ष्यन्ति नराधिप ॥३१॥
कथं दुर्योधनोऽस्माभिर्हत इत्यनपत्रपाः ।

हे नराधिप ! क्या सारे पाण्डव यह कह सकेंगे, कि हमने राजा दुर्योधन को मार लिया है । क्या अधर्म पूर्वक आपका वध करने पर भी ऐसा कहते हुए उन निर्लज्जों को लज्जा नहीं आवेगी

धन्यस्त्वमसि गान्धारे यस्त्वमायोधने हतः ॥३२॥
प्रायशोऽभिमुखः शत्रून्धर्मेण पुरुषर्षभ ।
हतपुत्रा हि गान्धारी निहतज्ञातिबान्धवा ॥३३॥
प्रज्ञाचक्षुश्च दुर्धर्षः कां गतिं प्रतिपत्स्यते ।

हे गान्धारी-पुत्र ! तुम धन्य हो, जो रण में मारे गए। हे कुरुषर्भ ! आप सर्वदा शत्रु के सन्मुख रहे और धर्म-पूर्वक युद्ध करते रहे, परन्तु चिन्ता तो अपने बन्धु बान्धव और पुत्रों के मारे जाने पर दीन हुई गान्धारी तथा नेत्रहीन राजा धृतराष्ट्र की है, कि वे किसी से नहीं दबने वाले, राजा धृतराष्ट्र न जाने आगे किस दुर्गति को प्राप्त करेंगे ॥३२-३३॥

धिगस्तु कृतवर्माणं मां कृपं च महारथम् ॥३४॥
ये वयं न गताः स्वर्गं त्वां पुरस्कृत्य पार्थिवम् ।

आज कृतवर्मा, मैं अश्वत्थामा और महारथी बनने वाले कृप को धिक्कार है, जो आपको आगे करके हम लोग स्वर्ग को नहीं जा सके ॥३४॥

दातारं सर्वकामानां रक्षितारं प्रजाहितम् ॥३५॥
यद्वयं नानुगच्छाम त्वां धिगस्मान्नराधमान् ।

आप हम लोगों को सब कामनाओं के देने वाले और प्रजा के हितों के रक्षक थे। आज आप स्वर्ग को जा रहे हैं और हम आपके साथ नहीं चल रहे, इससे हम नराधमों को धिक्कार है।

कृपस्य तव वीर्येण मम चैव पितुश्च मे ॥३६॥
सभृत्यानां नरव्याघ्र रत्नवन्ति गृहाणि च ।
तव प्रसादादस्माभिः समित्रैः सहबान्धवैः ॥३७॥
अवाप्ताः क्रतवो मुख्या बहवो भूरिदक्षिणाः ।
कुतश्चापीदृशं पापाः प्रवर्त्स्यामहे वयम् ॥३८॥

हे नरव्याघ्र ! आपके पराक्रम से ही कृपाचार्य, मेरे पिता द्रोणाचार्य और मेरे पास सब कुछ वैभव था। हमारे पास रत्न जटित महल और भृत्य गण थे। हे राजन् ! आपके अनुग्रह से ही मित्र और बान्धवों के सहित हम लोगों के पास सारा ऐश्वर्य था। हम लोगों ने बड़ी २ दक्षिणा के यज्ञ भी आपके कारण से ही किए थे। अब इस दशा के उपस्थित होने पर हम पापियों की क्या दुर्दशा होगी ॥३६-३८॥

यादृशेन पुरस्कृत्य त्वं गतः सर्वपार्थिवान् ।
वयमेव त्रयो राजन् गच्छन्तं परमां गतिम् ॥३६॥
यद्वै त्वां नानुगच्छामस्तेन धक्ष्यामहे वयम् ।

हे राजन् ! आप जिस तरह सब राजाओं को आगे करके स्वर्ग चले जा रहे हैं और हम तीन महारथी आपके पीछे २ स्वर्ग को नहीं चलते हैं, इससे हम लोग जीते ही भस्म हो जावेंगे ॥३६॥

तत्स्वर्गहीना हीनार्थाः स्मरंतः सुकृतस्य ते ॥४०॥
किं नाम तद्भवेत्कर्म येन त्वां न व्रजाम वै ।

हम लोग आपके उपकारों का स्मरण करते रहेंगे, परन्तु हमारे सारे स्वार्थ नष्ट हो जावेंगे और हम मरकर भी स्वर्ग नहीं पा सकेंगे। अब वह क्या आवश्यक कार्य शेष है, जिसके कारण हम आपके साथ नहीं चल रहे हैं ॥४०॥

दुःखं नूनं कुरुश्रेष्ठ चरिष्याम महीमिमाम् ॥४१॥
हीनानां नस्त्वया राजन्कुतः शान्तिः कुतः सुखम् ।

हे कुरुश्रेष्ठ ! राजन ! हमें यही दण्ड या दुःख होना चाहिए, कि हम आपसे हीन होकर इस पृथिवी पर दुर्दशा के साथ घूमते रहें। आपसे रहित होकर हम लोगों को सुख और शान्ति कहां प्राप्त हो सकती है ॥४१॥

गत्वैव तु महाराज समेत्य च महारथान् ॥४२॥
यथाज्येष्ठं यथाश्रेष्ठं पूजयेर्वचनान्मम ।
आचार्यं पूजयित्वा च केतुं सर्वधनुष्मताम् ॥४३॥
हतं मयाद्य शंसेथा धृष्टद्युम्नं नराधिप ।

हे महाराज ! अब आप स्वर्ग में जाकर, जो महारथी जिस तरह बड़ा और श्रेष्ठ हो, उसको उसी तरह हमारी ओर से आदर सत्कार करना। हे नराधिप ! सारे धनुर्धरों में श्रेष्ठ आचार्य, द्रोण की पूजा करके उनसे कह देना, कि मुझ अश्वत्थामा ने धृष्टद्युम्न को मार गिराया है ॥४२-४३॥

परिष्वजेथा राजानं बाल्हिकं सुमहारथम् ॥४४॥
सैन्धवं सोमदत्तं च भूरिश्रवसमेव च ।
तथा पूर्वगतानन्यान् स्वर्गे पार्थिवसत्तमान् ॥४५॥
अस्मद्वाक्यात्परिष्वज्य संपृच्छेस्त्वमनामयम् ॥४६॥

हे नृपते ! महारथी राजा बाल्हीक, सिन्धुराज जयद्रथ, सोमदत्त, भूरिश्रवा तथा स्वर्ग में पहुँचे हुए अन्य राजाओं से हमारी ओर से आलिङ्गन करना और आलिङ्गन के अनन्तर उनसे कुशल पूछना ॥४४-४६॥

सञ्जय उवाच—इत्येवमुक्त्वा राजानं भग्नसक्थमचेतनम् ।

अश्वत्थामा समुद्वीक्ष्य पुनर्वचनमब्रवीत् ॥४७॥

सञ्जय बोले—हे राजन् ! अश्वत्थामा ने इस प्रकार राजा दुर्योधन से कहा। जब उन्होंने जंघा टूट जाने से कुरुराज को व्याकुल देखा-तो वे फिर कहने लगे ॥४७॥

दुर्योधन जीवसि त्वं वाक्यं श्रोत्रसुखं शृणु ।
सप्त पाण्डवतः शेषा धार्त्तराष्ट्रास्त्रयो वयम् ॥४८॥
ते चैव भ्रातरः पञ्च वासुदेवोऽथ सात्यकिः ।
अहं च कृतवर्मा च कृपः शारद्वतस्तथा ॥४९॥

हे दुर्योधन ! आप अभी जीवित हैं, अब तुम अपने कानों के सुखकारी वाक्य सुनो-कि पाण्डव पक्ष में सात वीर और कौरव पक्ष में हम तीन महारथी वीर बचे हैं। उनमें पांच तो पाण्डव और श्रीकृष्ण तथा सात्यकि शेष हैं। हमारी ओर में अश्वत्थामा, कृतवर्मा और शरद्वान्-पुत्र कृपाचार्य बच पाए हैं ॥४८-४९॥

द्रौपदेया हताः सर्वे धृष्टद्युम्नस्य चात्मजाः ।
पाञ्चाला निहताः सर्वे मत्स्यशेषं च भारत ॥५०॥
कृते प्रतिकृतं पश्य हतपुत्रा हि पाण्डवाः ।
सौप्तिके शिबिरं तेषां हतं सनरवाहनम् ॥५१॥

हे भारत ! सारे द्रौपदी-पुत्र और धृष्टद्युम्न के पुत्र मारे गए। सारे पञ्चाल और मत्स्यवीर समाप्त हुए। उनके अपकार का यह प्रत्यपकार देखो, कि पाण्डवों के सारे पुत्र मारे गए। मैंने उनके

सोने के समय में नर और वाहनों के सहित उनके शिविर को नष्ट-भ्रष्ट कर डाला है ॥५०-५१॥

मया च पापकर्माऽसौ धृष्टद्युम्नो महीपते ।

प्रविश्य शिबिरं रात्रौ पशुमारेण मारितः ॥५२॥

हे महीपते ! मैंने पापकर्मा धृष्टद्युम्न को रात में उसके शिविर में घुसकर पशु की भांति बुरी तरह मार डाला ॥५२॥

दुर्योधनस्तु तां वाचं निशम्य मनसः प्रियाम् ।

प्रतिलभ्य पुनश्चेत इदं वचनमब्रवीत् ॥५३॥

हे राजन ! अपने मन को प्रिय इस वाणी को सुनकर राजा दुर्योधन को चेतनता आई और वह फिर यह वचन कहने लगा ।

न मेऽकरोत्तद्गाङ्गेयो न कर्णो न च ते पिता ।

यत्त्वया कृपभोजाभ्यां सहितेनाद्य मे कृतम् ॥५४॥

हे अश्वत्थामा ! जिस काम को गङ्गा-पुत्र भीष्म, द्रोणाचार्य, महारथी कर्ण नहीं कर सके-उसी को कृपाचार्य और कृतवर्मा को साथ लेकर आज तुमने कर डाला है ॥५४॥

स च सेनापतिः क्षुद्रो हतः सार्धं शिखण्डिना ।

तेन मन्ये मघवता सममात्मानमद्य वै ॥५५॥

आज तुमने नीच सेनापति धृष्टद्युम्न और शिखण्डी को साथ २ मार लिया । इससे मैं अपने आपको आज इन्द्र के समान वैभवशाली समझता हूं ॥५५॥

स्वस्ति प्राप्नुत भद्रं वः स्वर्गे नः सङ्गमः पुनः ।
इत्येवमुक्त्वा तूष्णीं स कुरुराजो महामनाः ॥५६॥
प्राणानुपासृजद्वीरः सुहृदां दुःखमुत्सृजन् ।
अपाक्रामद्दिवं पुण्यां शरीरं क्षितिमाविशत् ॥५७॥

हे महाभागो ! आपका कल्याण हो । हम चलते हैं, कभी स्वर्ग में हमारा आपका मिलना होगा। हे राजन् ! इतना कहकर महामनस्वी कुरुराज ने आंखें मीच लीं और अपने सुहृदों को दुःखी करते हुए प्राण छोड़ दिए। उसके प्राण स्वर्ग को चल दिए और शरीर पृथिवी पर पड़ा रह गया ॥५६-५७॥

एवं ते निधनं यातः पुत्रो दुर्योधनो नृप ।
अग्रे यात्वा रणे शूरः पश्चाद्विनिहतः परैः ॥५८॥

हे नृप ! इस प्रकार राजा दुर्योधन मृत्यु को प्राप्त हो गए कुरुराज सर्वदा रण में आगे जाते थे और अन्त में शत्रुओं द्वारा मारे गए ॥५८॥

तथैव ते परिष्वक्तः परिष्वज्य च ते नृपम् ।
पुनः पुनः प्रेक्षमाणाः स्वकानारुरुहू रथान् ॥५९॥

राजा दुर्योधन, इनका आलिङ्गन कर चुके थे-अब वे फिर दुर्योधन का आलिङ्गन करके वार २ उनकी ओर देखते हुए, अपने २ रथों पर चढ़ कर चल दिए ॥५९॥

इत्येवं द्रोणपुत्रस्य निशम्य करुणां गिरम् ।
प्रत्यूषकाले शोकार्त्ताः प्राद्रवन्नगरं प्रति ॥६०॥

हे राजन् ! इस प्रकार द्रोण पुत्र अश्वत्थामा की करुणापूर्ण वाणी सुनकर तीनों वीर शोकातुर हुए नगर की ओर चल दिए।

एवमेष क्षयो वृत्तः कुरुपाण्डवसेनयोः ।
घोरो विशसनो रौद्रो राजन् दुर्मंत्रिते तव ॥६१॥

हे राजन ! इस प्रकार तुम्हारी दुर्मन्त्रणा से उठे हुए, कौरव पाण्डवों के इस युद्ध में दोनों ओर की सेना का विध्वंस हो गया ।

तव पुत्रे गते स्वर्गं शोकार्त्तस्य ममानघ ।
ऋषिदत्तं प्रनष्टं तद्दिव्यदर्शित्वमद्य वै ॥६२॥

हे अनघ ! आज आपके पुत्र राजा दुर्योधन के स्वर्ग चले जाने पर मुझ शोकातुर की भी ऋषि द्वारा दी हुई दिव्यदृष्टि नष्ट हो गई ॥६२॥

वैशम्पायन उवाच—इति श्रुत्वा स नृपतिः पुत्रस्य निधनं तदा
निःश्वस्य दीर्घमुष्णं च ततश्चिन्तापरोऽभवत् ॥६३॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां सौप्तिके पर्वणि दुर्योधनप्राणत्यागे नवमोऽध्यायः ॥९॥

वैशम्पायन ने कहा—हे जनमेजय ! इस प्रकार अपने पुत्र की मृत्यु सुनकर राजा धृतराष्ट्र ने दीर्घ निःश्वास लिया और फिर वह चिन्ता मग्न हो गया ॥६३॥

इति श्रीमहाभारतान्तर्गत सौप्तिकपर्व में राजा दुर्योधन के स्वर्गारोहण का नौवां अध्याय समाप्त हुआ

अथैषीकपर्व

दसवां अध्याय

वैशम्पायन उवाच--तस्यां रात्र्यां व्यतीतायां धृष्टद्युम्नस्य सारथिः
शशंस धर्मराजाय सौप्तिके कदनं कृतम् ॥१॥

वैशम्पायन बोले—हे राजन ! जब वह रात व्यतीत हो गई-तो धृष्टद्युम्न का सारथि धर्मराज के समीप पहुंचा और जो रात्रि में शयन के समय महान् विनाश हुआ था-उसकी सूचना दी।

सूत उवाच—द्रौपदेया हता राजन्द्रुपदस्यात्मजैः सह ।
प्रमत्ता निशि विश्वस्ताः स्वपन्तः शिबिरे स्वके ॥२॥

सारथि कहने लगा—हे राजन्! सारे द्रौपदी-पुत्र, द्रुपद के पुत्रों के साथ मारे गए, जो रात में बड़े विश्वास के साथ अपने २ शिबिरों में गाढ़ निद्रा में सो रहे थे ॥२॥

कृतवर्मणा नृशंसेन गौतमेन कृपेण च ।
अश्वत्थाम्ना च पपेन हतं वः शिबिरं निशि ॥३॥

नीच कृतवर्मा, गौतमगोत्रोत्पन्न कृपाचार्य और पापी अश्वत्थामा ने रात में तुम्हारा सारा शिबिर मार गिराया ॥३॥

एतैर्नरगजाश्वानां प्रासशक्तिपरश्वधैः ।
सहस्राणि निकृन्तद्भिर्निःशेषं ते बलं कृतम् ॥४॥

इन महारथियों ने प्रास, शक्ति और परश्वध आदि शस्त्र लेकर सहस्रों नर. अश्व और गजों को मार कर तुम्हारी सेना को निःशेष कर दिया ॥४॥

छिद्यमानस्य महतो वनस्येव परश्वधैः ।
शुश्रुवे सुमहान् शब्दो बलस्य तव भारत ॥५॥

हे भारत ! जिस तरह कुल्हाड़े से विशाल वन काटते समय महान शब्द सुनाई देता है, उसी तरह तुम्हारी सेना को काटते समय कोलाहल मच गया ॥५॥

अहमेकोऽवशिष्टस्तु तस्मात्सैन्यान्महामते ।
मुक्तः कथं चिद्धर्मात्मन् व्यग्राच्च कृतवर्मणः ॥६॥

हे महामते ! पाञ्चालसेना में तो केवल मैं ही अकेला बच रहा हूं। हे धर्मराज ! मैं तो किसी घबराहट में उलझे हुए कृतवर्मा से जैसे-तैसे छुटकारा पाकर आया हूं॥६॥

तच्छ्रुत्वा वाक्यमशिवं कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ।
पपात मह्यां दुर्धर्षः पुत्रशोकसमन्वितः ॥७॥

जब कुन्ती-पुत्र राजा युधिष्ठिर ने यह बुरा समाचार सुना-तो वे दुर्धर्ष, पुत्रों के शोक से व्याकुल होकर पृथिवी में गिरने लगे ।

पतन्तं तमतिक्रम्य परिजग्राह सात्यकिः ।
भीमसेनोऽर्जुनश्चैव माद्रीपुत्रौ च पाण्डवौ ॥८॥

धर्मराज ज्योंही भूमि में गिर रहे थे, कि लपक कर सात्यकि ने उन्हें थाम लिया । भीमसेन, अर्जुन और माद्री-पुत्र नकुल सहदेव भी दौड़कर उनको थामने लगे ॥८॥

लब्धचेतास्तु कौन्तेयः शोकविह्वलया गिरा ।
जित्वा शत्रून् जितः पश्चात्पर्यदेवयदार्त्तवत् ॥९॥

जब धर्मराज को कुछ चेत हुआ-तो वह शोक से विह्वल वाणी के साथ कहने लगे-कि शत्रुओं को जीतकर अन्त में मैं पराजित हो गया। इतना कहकर वे घायल की भांति कहराने लगे ॥९॥

दुर्विदा गतिरर्थानामपि ये दिव्यचक्षुपः ।
जीयमाना जयंत्यन्ये जयमाना वयं जिताः ॥१०॥

जो दिव्यचक्षु व्यक्ति हैं, उनको भी कालगति का कुछ पता नहीं लगता है। पराजित होने वाले विजयी हो जाते है और हम जीतते २ पराजित हो गए ॥१०॥

हत्वा भ्रातृन्वयस्यांश्च पितृन्पुत्रान्सुहृद्गणान् ।
बन्धूनमात्यान्पौत्रांश्च जित्वा सर्वान् जिता वयम् ॥

शत्रुभूत, भ्राता, मित्र, वयस्य, पितृस्थानीय व्यक्ति, पुत्र, सुहृद् गण, बन्धु, अमात्य और पौत्र आदि सारे वीरों को मार कर भी अन्त में हम पराजित हो गए ॥११॥

अनर्थो ह्यर्थसङ्काशस्तथाऽनर्थोऽर्थदर्शनः ।
जयोऽयमजयाकारो जयस्तस्मात्पराजयः ॥१२॥

कोई अनर्थ भी अर्थ सा दिखाई देता है और किसी अनर्थ में भी अर्थ (कार्यसिद्धि) घुसा रहता है। हमारी तो यह विजय भी पराजय रही, इससे कोई जय भी पराजय हो जाती है ॥१२॥

यज्जित्वा तप्यते पश्चादापन्न इव दुर्मतिः ।

कथं मन्येत विजयं ततो जिततरः परैः ॥१३॥

जिसमें विजयी होकर भी दुर्मति मनुष्य को पीछे विपत्ति में उलझे हुए पुरुष के तुल्य पश्चात्ताप करना पड़े, उसको विजय कैसे माना जा सकता है। वह तो शत्रुओं से जीता गया-यही समझना चाहिए ॥१३॥

येषामर्थाय पापं स्याद्विजयस्य सुहृद्वधैः ।

निर्जितैरप्रमत्तैर्हि विजिता जितकाशिनः ॥१४॥

जिन परिवार के व्यक्तियों के लिए हमने विजय का पाप शिर पर लिया, उन ही महावीर मित्रों को जीतकर वध कर लेने से हम विजयी भी पराजित हो गए ॥१४॥

कर्णिनालीकदंष्ट्रस्य खड्गजिह्वस्य संयुगे ।

चापव्यात्तस्य रौद्रस्य ज्यातलस्वननादिनः ॥१५॥

क्रुद्धस्य नरसिंहस्य संग्रामेष्वपलायिनः ।

ये व्यमुञ्चन्त कर्णस्य प्रमादात्त इमे हताः ॥१६॥

कर्णि और नालीक संज्ञक बाणों के समान दाढ़ों वाले, खड्ग रूपी जिह्वा से संयुक्त, धनुप रूपी मुख फाड़े हुए, महाभयानक, प्रत्यञ्चा के शब्द को गुंजाने वाले, संग्राम में पीछे नहीं हटने वाले, क्रोधातुर कर्ण से जो बच रहे, आज वे अपने प्रमाद से मारे गए ॥१५-१६॥

रथह्रदं शरवर्षोर्मिमन्तं रत्नाचितं वाहनवाजियुक्तम् ।
शक्त्यृष्टिमीनध्वजनागनक्रं शरासनावर्त्तमहेषुफेनम् ॥१७॥
संग्रामचन्द्रोदयवेगवेलं द्रोणार्णवं ज्यातलनेमिघोषम् ।
ये तेरुरुच्चावचशस्त्रनौभिस्ते राजपुत्रा निहताः प्रमादात् ॥१८॥

द्रोणरूपी समुद्र में रथ रूपी ह्रद थे। बाण-वर्षा की लहरें, वाहन और अश्व रत्न थे। शक्ति, ऋष्टि आदि मीन और ध्वजा, जलहस्ती या नाके थे। धनुष की डोरी की ध्वनि थी। उस समुद्र को भी जिन राजपुत्रों ने अपने शस्त्रों की नौका से पार कर लिया, आज अपने प्रमाद से वे ही मारे गए ॥१७-१८॥

न हि प्रमादात्परमस्ति कश्चिद्वधो नराणामिह जीवलोके ।
प्रमत्तमर्था हि नरं समन्तात्त्यजन्त्यनर्थाश्च समाविशन्ति ॥१९॥

इस संसार में प्रमाद से अधिक वध करने वाली कोई वस्तु नहीं है। प्रमादी मनुष्य के सब ओर से कार्य नष्ट हो जाते हैं और अनर्थ उसे घेर लेते हैं ॥१९॥

ध्वजोत्तमाग्रोच्छ्रितधूमकेतुं शरार्चिषं कोपमहासमीरम् ।
महाधनुर्ज्यातलनेमिघोषं तनुत्रनानाविधशस्त्रहोमम् ॥२०॥
महाचमूकक्षदवाभिपन्नं महाहवे भीष्मभयाग्निदाहम् ।
ये सेहुरात्तायुधतीक्ष्णवेगं ते राजपुत्रा निहताः प्रमादात् ॥२१

जिसमें ऊंची २ ध्वजा रूपी धूमकेतु, बाणरूपी लपटें, कोप रूपी महावायु, धनुष, प्रत्यञ्चा, नेमि घोष रूपी चटचकाहट, कवच और नाना प्रकार के शस्त्र होम, विशाल सेना बड़ा भारी तृण समूह

भीष्म रूपी भीषण अग्नि को भी जिन वीरों ने अपने शस्त्ररूपी तीक्ष्ण मेघों से सह लिया था, वे ही राजपुत्र आज प्रमाद से मारे गए ॥२०-२१॥

न हि प्रमत्तेन नरेण शक्यं विद्या तपः श्रीर्विपुलं यशो वा।
पश्याप्रमादेन निहत्य शत्रून्सर्वान्महेन्द्रं सुखमेधमानम् ॥२२॥
इन्द्रोपमान्पार्थिवपुत्रपौत्रान्पश्याविशेषेण हतान्प्रमादात् ।
तीर्त्वा समुद्रं वणिजः समृद्धा मग्नाः कुनद्यामिव हेलमानाः ।

जो मनुष्य प्रमादी है, वह विद्या, तप, श्री तथा विपुल यश नहीं प्राप्त कर सकता है। हमने अप्रमाद द्वारा सारे शत्रु मार लिए और इन्द्र का सा सुख प्राप्त किया, परन्तु प्रमाद के कारण इन्द्र के समान राजपुत्र या पौत्रों को एकदम मृतक देख लो। यह तो जिस तरह समुद्र को पार करके व्यापारी छोटी सी नदी में प्रमाद से डूब जावें-वही दशा हो गई है ॥२२-२३॥

अमर्षितैर्ये निहताः शयाना निःसंशयं ते त्रिदिवं प्रपन्नाः ।
कृष्णां तु शोचामि कथं नु साध्वी शोकार्णवं साऽद्य विशत्यभीता

जिन सोते हुए वीरों को क्रोधातुर दुष्टों ने मार लिया-वे मृतक तो निःसन्देह स्वर्ग जा पहुंचे। अब तो मुझे यही चिन्ता है, कि इस शोक समुद्र में साध्वी द्रौपदी कैसे घुसकर निर्भीक रह सकेगी ॥२४॥

भ्रातॄंश्च पुत्रांश्च हतान्निशम्य पाञ्चालराजं पितरं च वृद्धम् ।
ध्रुवं विसंज्ञा पतिता पृथिव्यां सा शोष्यते शोककृशाङ्गयष्टिः

द्रौपदी शोक से दुर्बल हो रही है-आज अपने भ्राता, पुत्र, वृद्ध पिता राजा द्रुपद आदि पञ्चालवीरों को मारे हुए सुनेगी-तो अवश्य मूर्च्छित होकर पृथिवी में गिर जावेगी तथा एकदम सूख जावेगी ॥२५॥

तच्छोकजं दुःखमपारयन्ती कथं भविष्यत्युचिता सुखानाम् ।
पुत्रक्षयभ्रातृवधप्रणुन्ना प्रदह्यमानेन हुताशनेन ॥२६॥

जो कोमलाङ्गी सुख के योग्य है-वह इस शोकपूर्ण दुःख से कैसे पार हो सकेगी। वह तो पुत्र विनाश और भ्रातृवध की अग्नि से जल जावेगी ॥२६॥

इत्येवमार्त्तः परिदेवयन्स राजा कुरूणां नकुलं बभाषे ।
गच्छानयैनामिह मन्दभाग्यां समातृपक्षामिति राजपुत्रीम् ॥२७॥

हे राजन्! इस प्रकार कौरववंश के राजा युधिष्ठिर ने दुःख के साथ आर्त-नाद करके नकुल से कहा—जाओ-अपने मातृ-पक्ष की स्त्रियों के साथ मन्दभागिनी राजपुत्री द्रौपदी को ले आओ ॥२७॥

माद्रीसुतस्तत्परिगृह्य वाक्यं धर्मेण धर्मप्रतिमस्य राज्ञः ।
ययौ रथेनालयमाशुदेव्याः पञ्चालराजस्य च यत्र दाराः ॥

धर्मात्मा राजा युधिष्ठिर के धर्मानुसार कहे हुए वचनों को ग्रहण करके माद्री-पुत्र नकुल रथ द्वारा शीघ्र द्रौपदी के स्थान और पञ्चाल की स्त्रियों के भवनों पर पहुंचा ॥२८॥

प्रस्थाप्य माद्रीसुतमाजमीढः शोकार्दितस्तैः सहितःसुहृद्भिः।
रोरूयमाणः प्रययौ सुतानामायोधनं भूतगणानुकीर्णम् ॥

अजमीढ़ वंशश्रेष्ठ धर्मराज, नकुल को भेजकर अपने सुहृदों के साथ बहुत ही शोकातुर हुआ। वह अपने पुत्रों को रोता हुआ, जीव जन्तुओं से व्याप्त रणाङ्गण में पहुंचा ॥२६॥

स तत्प्रविश्याशिवमुग्ररूपं ददर्श पुत्रान्सुहृदः सखींश्च।
भूमौ शयानान् रुधिरार्द्रगात्रान्विभिन्नदेहान्प्रहृतोत्तमाङ्गान् ॥

उस भयानक, रणस्थल में घुसकर राजा युधिष्ठिर ने पड़े हुए अपने मित्र, पुत्र आदि देखे। इनके शरीर रक्त में सने हुये थे, शरीर छिन्न-भिन्न और मस्तकों से हीन होकर भूमि में पड़े थे।

स तांस्तु दृष्ट्वा भृशमार्तरूपो युधिष्ठिरो धर्मभृतां वरिष्ठः।
उच्चैःप्रचुक्रोश च कौरवाग्र्यः पपात चोर्व्यां सगणो विसंज्ञः

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां
सौप्तिके पर्वणि ऐपीकपर्वणि युधिष्ठिरशिबिरप्रवेशे
दशमोऽध्यायः ॥१०॥

इन वीरों को रणभूमि में पड़े देखकर धर्मात्मा राजा युधिष्ठिर बहुत ही शोकातुर हुए। ये कौरववंशश्रेष्ठ, धर्मराज अब उच्चस्वर में चिल्लाने लगे और अपने साथियों के साथ अचेत होकर भूमि में गिर गए ॥३१॥

इति श्रीमहाभारत सौप्तिकपर्वान्तर्गत ऐपीकपर्व में धर्मराज के शोक के वर्णन का दशवां अध्याय सम्पूर्ण हो गया।

ग्यारहवां अध्याय

वैशम्पायन उवाच—स दृष्ट्वानिहतान्संख्येपुत्रान्पौत्रान्सर्वांस्तथा।
महादुःखपरीतात्मा बभूव जनमेजय ॥१॥

वैशम्पायन बोले—हे जनमेजय! राजा युधिष्ठिर रणभूमि में पड़े हुए अपने पुत्र, पौत्र और मित्रों को देखकर महादुःख से युक्त होकर बहुत ही चिन्ता में निमग्न हो गया ॥१॥

ततस्तस्य महान् शोकः प्रादुरासीन्महात्मनः।
स्मरतः पुत्रपौत्राणां भ्रातृणां स्वजनस्य ह ॥२॥
तमश्रुपरिपूर्णाक्षं वेपमानमचेतसम्।
सुहृदो भृशसंविग्नाः सांत्वयांचक्रिरे तदा ॥३॥

अपने पुत्र, पौत्र और भ्राताओं तथा स्वजनों के स्मरण से धर्मराज का शोक बढ़ गया। उनकी आंखें अश्रुओं से भर गई और वे अचेत होकर कांपने लगे। इन महात्मा के हृदय में शोक की लहरें उठने लगीं। अब अत्यन्त कातर हुए इनके सुहृद्गण, इनको सान्त्वना देने लगे ॥२-३॥

ततस्तस्मिन् क्षणे कल्यो रथेनादित्यवर्चसा।
नकुलः कृष्णया सार्धमुपायात्परमार्त्तया ॥४॥

इसी समय सूर्य के सदृश चमकने वाले रथ से युक्त होकर दुःखी द्रौपदी के साथ नकुल वहां आ पहुंचे ॥४॥

उपप्लव्यं गता सा तु श्रुत्वा सुमहदप्रियम्।
तदा विनाशं सर्वेषां पुत्राणां व्यथिताऽभवत् ॥५॥

इन महा अशुभ समाचार को सुनकर द्रौपदी उपप्लव्य (रणनगर) में पहुंची। वहां अपने सारे पुत्रों का विनाश सुनकर बड़ी ही शोकातुर हुई ॥५॥

कम्पमानेव कदली वातेनाभिसमीरिता ।
कृष्णा राजानमासाद्य शोकार्त्तान्यपतद्भुवि ॥६॥

उस समय द्रौपदी वायु से कम्पित कदली के समान कांपने लगी। वह राजा युधिष्ठिर के लिपट कर शोकार्त हुई भूमि में गिर पड़ी ॥६॥

बभूव वदनं तस्याः सहसा शोककर्पितम् ।
फुल्लपद्मपलाशाक्ष्यास्तमोग्रस्त इवांशुमान् ॥७॥

खिले हुए, कमल के समान मुखवाली द्रौपदी शोक से राहु से ग्रस्त सूर्य के समान मलिन दिखाई देने लगी ॥७॥

ततस्तां पतितां दृष्ट्वा संरम्भी सत्यविक्रमः ।
बाहुभ्यां परिजग्राह समुत्पत्य वृकोदरः ॥८॥

द्रौपदी को पड़ी हुई देखकर वेगशाली, सत्यपराक्रमी, भीमसेन ने दौड़कर उसे अपनी भुजाओं पर झेल लिया ॥८॥

सा समाश्वासिता तेन भीमसेनेन भामिनी ।
रुदती पाण्डवं कृष्णा सा हि भारतमब्रवीत् ॥९॥

उस द्रौपदी को भीमसेन ने कुछ आश्वासन दिया। अब रोती २ द्रौपदी, पाण्डु-पुत्र, भरतवंशश्रेष्ठ, राजा युधिष्ठिर से कहने लगी ॥९॥

दिष्ट्या राजन्नवाप्येमामखिलां भोक्ष्यसे महीम् ।
आत्मजान् क्षत्रधर्मेण संप्रदाय यमाय वै ॥१०॥

हे राजन् ! अब आप इस सारी पृथिवी को प्राप्त करके इसका राज्य भोगिए। आपने अपने सारे सम्बन्धियों को तो क्षात्रधर्म के अनुसार यमराज के अधीन कर ही दिया ॥१०॥

दिष्ट्या त्वं कुशली पार्थ मत्तमातङ्गगामिनीम् ।
अवाप्य पृथिवीं कृत्स्नां सौभद्रं न स्मरिष्यसि ॥११॥

हे पार्थ ! यह बड़े आनन्द की बात है, कि तुम इस युद्ध में आनन्द से बचे रहे। अब आप मत्तमातङ्ग के समान गमन करने वाली स्त्री के सदृश इस सुन्दर पृथिवी को पाकर अभिमन्यु को भूल जाना ॥११॥

आत्मजान् क्षत्रधर्मेण श्रुत्वा शूरान्निपातितान् ।
उपप्लव्ये मया सार्धं दिष्ट्या त्वं न स्मरिष्यसि ॥१२॥

हे नृप ! शूरवीर पुत्र पौत्रादिकों को क्षात्रधर्मानुसार रणभूमि में पतित देखकर भी तुम इस उपप्लव्य (छावनी) नगर में मेरे साथ सुख से रहते हुए स्मरण न करोगे ॥१२॥

प्रसुप्तानां वधं श्रुत्वा द्रौणिना पापकर्मणा ।
शोकस्तपति मां पार्थ हुताशन इवाश्रयम् ॥१३॥

हे पार्थ ! सोते हुए बन्धु बान्धवों का वध पापी अश्वत्थामा द्वारा सुनकर मुझे शोक इस तरह दग्ध कर रहा है-जैसे अग्नि अपने आश्रम को जला देता है ॥१३॥

तस्य पापकृतो द्रौणेर्न चेदद्य त्वया रणे।
ह्रियते सानुबन्धस्य युधि विक्रम्य जीवितम् ॥१४॥
इहैव प्रायमासिष्ये तन्निबोधत पाण्डवाः।
न चेत्फलमवाप्नोति द्रौणिः पापस्य कर्मणः ॥१५॥

हे पाण्डवो ! यदि तुमने आज पापी द्रोण-पुत्र अश्वत्थामा को रण में पराक्रम दिखाकर सेना सहित वध नहीं किया, तो मैं यहीं अनशन करके बैठ जाऊंगी-यह सत्य समझ लो। यदि द्रोण-पुत्र अश्वत्थामा ने अपने पाप कर्म का फल न पाया-तो मेरी भी मृत्यु ही समझो ॥१४-१५॥

एवमुक्त्वा ततः कृष्णा पाण्डवं प्रत्युपाविशत्।
युधिष्ठिरं याज्ञसेनी धर्मराजं यशस्विनी ॥१६॥

हे राजन् ! इतना कह कर यशस्विनी यज्ञसेन-पुत्री कृष्णा धर्मराज राजा युधिष्ठिर के पास जा बैठी ॥१६॥

दृष्ट्वोपविष्टां राजर्षिः पाण्डवो महिषीं प्रियाम्।
प्रत्युवाच स धर्मात्मा द्रौपदीं चारुदर्शनाम् ॥१७॥

जब राजर्षि, पाण्डु-पुत्र धर्मराज ने अपनी प्रिय पत्नी द्रौपदी को अपने समीप बैठी हुई देखा, तो वह धर्मात्मा उस सुन्दरी द्रौपदी से कहने लगा ॥१७॥

धर्म्यं धर्मेण धर्मज्ञे प्राप्तास्ते निधनं शुभे।
पुत्रास्ते भ्रातरश्चैव तान्न शोचितुमर्हसि ॥१८॥

हे धर्मज्ञे ! तुम्हारे पुत्र और भ्राता धर्मानुसार धार्मिक वध को प्राप्त हुए हैं, तुमको उनका शोक नहीं करना चाहिए ॥१८॥

स कल्याणि वनं दुर्गं दूरं द्रौणिरितो गतः ।
तस्य त्वं पातनं संख्ये कथं ज्ञास्यसि शोभने ॥१६॥

हे कल्याणि ! अब तो द्रोण-पुत्र अश्वत्थामा वन में कहीं दूर निकल गया। हे शोभने ! अब रण में उसे कैसे मार कर गिराया जा सकता है ॥१६॥

द्रौपद्युवाच—द्रोणपुत्रस्य सहजो मणिः शिरसि मे श्रुतः ।
निहत्य संख्ये तं पापं पश्येयं मणिमाहृतम् ॥२०॥
राजन् शिरसि ते कृत्वा जीवेयमिति मे मितिः ।

द्रौपदी बोली–हे राजन् ! द्रोण-पुत्र के शिर में मैंने स्वाभाविकी मणि सुनी है। मैं तो उस पापी को मार कर उस मणि को लेना चाहती हूं और उसे आपके मस्तक में सुशोभित करके जीवन धारण करने की अभिलाषिणी हूं ॥२०॥

इत्युक्त्वा पाण्डवं कृष्णा राजानं चारुदर्शना ॥२१॥
भीमसेनमथागत्य परमं वाक्यमब्रवीत् ।

हे राजसम्पन्न! इतना राजा युधिष्ठिर से कह कर सुन्दरी द्रौपदी, भीमसेन के पास जाकर उससे कहने लगी ॥२१॥

त्रातुमर्हसि मां भीम क्षत्रधर्ममनुस्मरन् ॥२२॥
जहि तं पापकर्माणं शम्बरं मघवानिव ।

हे भीम ! तुम क्षत्रिय धर्म का पालन करके मेरी रक्षा करो । तुम उस पापी अश्वत्थामा को इस तरह मार डालो, जैसे इन्द्र ने शम्बर असुर को मार डाला था ॥२२॥

न हि ते विक्रमे तुल्यः पुमानस्तीह कश्चन ॥२३॥
श्रुतं तत्सर्वलोकेषु परमव्यसने यथा ।
द्वीपोऽभूस्त्वं हि पार्थानां नगरे वारणावते ॥२४॥

हे भीम ! तुम्हारे समान कोई भी वीर-पुरुष संसार में सुना तक नहीं गया है । तू ही वारणावत नगर में पाण्डवों पर परम विपत्ति आने पर रक्षक बना था ॥२३-२४॥

हिडिम्बदर्शने चैव तथा त्वमभवो गतिः ।
तथा विराटनगरे कीचकेन भृशार्दिताम् ॥२५॥
मामप्युद्धृतवान्कृच्छ्रात्पौलोमीं मघवानिव ।

जब राक्षस हिडिम्ब ने हम लोगों पर आक्रमण किया-तब भी तुमने ही रक्षा की थी । जब विराट नगर में कीचक ने मुझे पीड़ित किया-उस समय भी इन्द्राणी को इन्द्र के तुल्य तुमने ही मुझे विपत्ति से छुड़ाया ॥२५॥

यथैतान्यकृथाः पार्थ महाकर्माणि वै पुरा ॥२६॥
तथा द्रौणिममित्रघ्नं विनिहत्य सुखी भव ।

हे भीमसेन ! पूर्वकाल में तुमने इतने बड़े २ कर्म कर दिखाए । अब तुम इस द्रोण-पुत्र शत्रुनाशक अश्वत्थामा को मार कर सुखी होओ ॥२६॥

तस्या बहुविधं दुःखं निशम्य परिदेवितम् ॥२७॥
न चामर्षत कौन्तेयो भीमसेनो महाबलः ।
स काञ्चनविचित्राङ्गमारुरोह महारथम् ॥२८॥

आदाय रुचिरं चित्रं समार्गणगुणं धनुः ।
नकुलं सारथिं कृत्वा द्रोणपुत्रवधे धृतः ॥२६॥
विस्फार्य सशरं चापं तूर्णमश्वानचोदयत् ।

द्रौपदी के इस प्रकार के बहुत से रोने चिल्लाने को सुनकर कुन्ती-पुत्र महाबली भीमसेन चुप नहीं रह सका । वह सुवर्णोज्ज्वल विशाल रथ पर चढ़ गया । उसने उत्तम प्रत्यञ्चा से सुन्दर धनुष उठाया तथा नकुल को सारथि बनाया और द्रोण-पुत्र अश्वत्थामा के वध के लिए चल दिया । उसने बाण सहित धनुष को खैंचकर बड़ी शीघ्रता से अश्वों को प्रेरित किया ॥२७-२६॥

ते हयाः पुरुषव्याघ्र चोदिता वातरंहसः ॥३०॥
वेगेन त्वरिता जग्मुर्हरयः शीघ्रगामिनः ।
शिबिरात्स्वाद्गृहीत्वा स रथस्य पदमच्युतः ॥३१॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां सौप्तिकपर्वान्तर्गत ऐषीके पर्वणि द्रौणिवधार्थं भीमसेनगमने एकादशोऽध्यायः ॥११॥

हे पुरुषव्याघ्र ! वायु के समान वेगशाली हांके हुए अश्व, वेग से शीघ्र२ चल दिए । ये शीघ्रगामी घोड़े वायु से बात करने लगे । अब रण से पीछे नहीं हटने वाले भीमसेन ने अपने शिबिर से निकल कर अश्वत्थामा के रथ के मार्ग से गमन कर दिया ॥

इति श्रीमहाभारत सौप्तिकपर्वान्तर्गत ऐषीकपर्व में
अश्वत्थामा के वध के लिए भीमसेन के गमन
का ग्यारहवां अध्याय समाप्त हुआ ।

बारहवां अध्याय

वैशम्पायन उवाच—तस्मिन्प्रयाते दुर्धर्षे यदूनामृषभस्ततः।

अब्रवीत्पुण्डरीकाक्षः कुन्तीपुत्रं युधिष्ठिरम् ॥१॥

एष पाण्डव ते भ्राता पुत्रशोकपरायणः।

जिघांसुर्द्रौणिमाक्रन्दे एक एवाभिधावति ॥२॥

भीमः प्रियस्ते सर्वेभ्यो भ्रातृभ्यो भरतर्षभ।

तं कृच्छ्रगतमद्य त्वं कस्मान्नाभ्युपपद्यसे ॥३॥

वैशम्पायन बोले—हे राजन्! जब दुर्धर्ष भीमसेन चले गए, तो यदुवंशश्रेष्ठ श्रीकृष्ण ने कुन्ती-पुत्र राजा युधिष्ठिर से कहा—हे धर्मराज, पुत्र शोक से युक्त तुम्हारा भ्राता भीमसेन अकेला ही युद्ध में अश्वत्थामा को मारने जा रहा है। हे भरतर्षभ! सारे भ्राताओं में तुमको भीमसेन अत्यन्त प्रिय है। वह आज कठिन मार्ग में उपस्थित है, तुम उसकी क्यों नहीं रक्षा को आगे बढ़ते हो ॥३॥

यत्तदाऽऽचष्ट पुत्राय द्रोणः परपुरञ्जयः।

अस्त्रं ब्रह्मशिरो नाम दहेत पृथिवीमपि ॥४॥

शत्रुपुरनाशक, द्रोणाचार्य ने अपने पुत्र अश्वत्थामा को ब्रह्मशिरा नामक अस्त्र सिखा दिया था, वह अस्त्र सारी पृथिवी को भी दग्ध कर सकता है ॥४॥

तन्महात्मा महाभागः केतुः सर्वधनुष्मताम् ।
प्रत्यपादयदाचार्यः प्रीयमाणो धनञ्जयम् ॥५॥

उसी महात्मा महावीर सारे धनुर्धरों में श्रेष्ठ, आचार्य द्रोण ने प्रेम करके उसी ब्रह्मशिरा अस्त्र को अर्जुन को भी सिखा दिया ॥५॥

तं पुत्रोऽप्येक एवैनमन्वयाचदमर्षणः ।
ततः प्रोवाच पुत्राय नातिहृष्टमना इव ॥६॥
विदितं चापलं ह्यासीदात्मजस्य दुरात्मनः ।
सर्वधर्मविदाचार्यः सोऽन्वशात्स्वसुतं ततः ॥७॥
परमापद्गतेनापि न स्म तात त्वया रणे ।
इदमस्त्रं प्रयोक्तव्यं मानुषेषु विशेषतः ॥८॥
इत्युक्तवान्गुरुः पुत्रं द्रोणः पश्चादथोक्तवान् ।
न त्वं जातु सतां मार्गे स्थातेति पुरुषर्षभ ॥९॥

इस बात को नहीं सहने वाले इकलौते पुत्र अश्वत्थामा ने भी उस अस्त्र की अपने पिता से याचना की। आचार्य द्रोण को अपने पुत्र की चपलता का पता था, इससे उसने कुछ उदासी से उस अस्त्र को अपने पुत्र अश्वत्थामा को भी सिखा दिया। सब धर्मों के मानने वाले आचार्य ने अपने पुत्र को शिक्षा दी, कि हे तात! रण में जब तक तुम पर गाढ़ी आपत्ति न आ जावे तब तक इस अस्त्र का प्रयोग न करना। इस प्रकार आचार्य द्रोण अपने

पुत्र से कहकर फिर बोले—हे पुरुषर्षभ ! तुम कभी सज्जनों के मार्ग में स्थित नहीं हो सकते हो ॥६-६॥

स तदाज्ञाय दुष्टात्मा पितुर्वचनमप्रियम् ।
निराशः सर्वकल्याणैः शोकात्पर्यचरन्महीम् ॥१०॥

दुष्टात्मा अश्वत्थामा, अपने पिता द्रोण के इन अप्रिय वचनों को सुनकर सारे कल्याणों से निराश हो गया और वह शोक-पूर्वक पृथिवी पर घूमने लगा ॥१०॥

ततस्तदा कुरुश्रेष्ठ वनस्थे त्वयि भारत ।
अवसद् द्वारकामेत्य वृष्णिभिः परमार्चितः ॥११॥

हे कुरुश्रेष्ठ ! भारत ! जब तुमको वनवास हुआ था, तब अश्वत्थामा द्वारका में आ बसा । वृष्णिवीरों ने इनका बड़ा आदर सत्कार किया ॥११॥

स कदाचित्समुद्रान्ते वसन् द्वारवतीमनु ।
एकएकं समागम्य मामुवाच हसन्निव ॥१२॥

मैं एक समय द्वारका के समुद्र के तट पर घूम रहा था । वह भी अकेला था । उसने मेरे पास आकर हँसते २ कहा ॥१२॥

यत्तदुग्रं तपः कृष्ण चरन्सत्यपराक्रमः ।
अगस्त्याद्भारताचार्यः प्रत्यपद्यत मे पिता ॥१३॥
अस्त्रं ब्रह्मशिरो नाम देवगन्धर्वपूजितम् ।
तदद्य मयि दाशार्ह यथा पितरि मे तथा ॥१४॥

हे कृष्ण ! हमारे पिता भरतवंश के आचार्य द्रोणाचार्य ने बड़ा उग्र तप करके अगस्त्य ऋषि से ब्रह्मशिरा नामक देव गन्धर्वों से पूजित अस्त्र प्राप्त किया । हे दशार्हवंशश्रेष्ठ ! वह अस्त्र जिस प्रकार मेरे पिता के पास है, इसी तरह मेरे पास भी आ गया है ।

अस्मत्तस्तदुपादाय दिव्यमस्त्रं यदूत्तम ।
ममाप्यस्त्रं प्रयच्छ त्वं चक्रं रिपुहणं रणे ॥१५॥

हे यदुवंश श्रेष्ठ ! हमसे तुम उस दिव्य अस्त्र को ग्रहण करो और हमें भी तुम इस रण में शत्रु नाशक अपने दिव्य चक्र को अर्पित कीजिए ॥१५॥

स राजन्प्रीयमाणेन मयाऽप्युक्तः कृताञ्जलिः ।
याचमानः प्रयत्नेन मत्तोऽस्त्रं भरतर्षभ ॥१६॥
देवदानवगन्धर्वमनुष्यपतगोरगः ।
न समा मम वीर्यस्य शतांशेनापि पिण्डिताः ॥१७॥

हे राजन् ! उसने हाथ जोड़कर मुझे प्रसन्न कर लिया था। वह मुझसे बड़े प्रयत्न के साथ मेरे दिव्य अस्त्र को मांग रहा था। हे भरतर्षभ ! अब मैंने उससे कहा—कि देव, गन्धर्व, दानव, मनुष्य, पक्षी, उरग-ये सारे भी इकट्ठे हो जावें, तो भी मेरे शतांश पराक्रम के समान नहीं हो सकते हैं । १६-१७॥

इदं धनुरियं शक्तिरिदं चक्रमियं गदा ।
यद्यदिच्छसि चेदस्त्रं मत्तस्तत्तद्दामि ते ॥१८॥

हे अश्वत्थामा ! यह धनुष, यह शक्ति, यह चक्र और यह गदा विद्यमान हैं—जिस अस्त्र की आपको आवश्यकता हो वह ग्रहण करो ॥१८॥

यच्छक्नोपि समुद्यन्तुं प्रयोक्तुमपि वारणे ।
तद्गृहाण विनाऽस्त्रेण यन्मे दातुमभीप्ससि ॥१६॥

हे वीर ! जिस अस्त्र को तुम उठा सकते हो, चला सकते या रोक सकते हो-उसे ही ग्रहण करो और जो तुम अस्त्र देना चाहते हो-वह अस्त्र भी रहने दो ॥१६॥

स सुनाभं सहस्रारं वज्रनाभमयस्मयम् ।
वव्रे चक्रं महाभागो मत्तः स्पर्धन्मया सह ॥२०॥

हे राजन् ! उस अश्वत्थामा ने सुन्दर नाभि वाले, सहस्रों धारों से युक्त, दृढ़ लोहमय, वज्र समान शक्तिशाली चक्र को मांगा, क्योंकि वह तो मुझसे स्पर्धा करना चाहता था ॥२०॥

गृहाण चक्रमित्युक्तो मया तु तदनन्तरम् ।
जग्राहोत्पत्य सहसा चक्रं सव्येन पाणिना ॥२१॥
न चैनमशकत्स्थानात्सञ्चालयितुमप्युत ।
अथैनं दक्षिणेनापि ग्रहीतुमुपचक्रमे ॥२२॥
सर्वयत्नबलेनापि गृह्णन्नेवमिदं ततः ।
ततः सर्वबलेनापि यदैनं न शशाक ह ॥२३॥
उद्यन्तुं वा चालयितुं द्रौणिः परमदुर्मनाः ।
कृत्वा यत्नं परिश्रान्तः सन्यवर्त्तत भारत ॥२४॥

मैंने अश्वत्थामा से कहा-अच्छी बात है, चक्र को उठा लो। उसने कूदकर एकदम बांये हाथ से चक्र उठाना चाहा, परन्तु उसे स्थान से तिल भर भी नहीं हिला सका। इसके बाद उसने दांयें हाथ से भी चक्र के उठाने का उद्योग किया। हे भारत! उसने सब कुछ बल लगाया-परन्तु वह चक्र ही न उठा। जब सारे बल से भी चक्र न उठा और न तिल भर ही डिगा, तो अश्वत्थामा बड़ा ही दुःखी हुआ। जब यह यत्न करता २ थक गया-तो अन्त में पीछे हट गया ॥२१-२४॥

निवृत्तमनसं तस्मादभिप्रायाद्विचेतसम्।
अहमामंत्र्य संविग्नमश्वत्थामानमब्रुवम् ॥२५॥

जब अपने अभिप्राय से अश्वत्थामा निवृत्त हो गया और बड़ा ही उदासीन हुआ-तो मैंने चिन्तित अश्वत्थामा को सम्बोधित करके यह वचन कहा ॥२५॥

यः सदैव मनुष्येषु प्रमाणं परमं गतः।
गाण्डीवधन्वा श्वेताश्वः कपिप्रवरकेतनः ॥२६॥
यः साक्षाद्देवदेवेशं शितिकण्ठमुमापतिम्।
द्वन्द्वयुद्धे पराजिष्णुस्तोषयामास शङ्करम् ॥२७॥
यस्मात्प्रियतरो नास्ति ममान्यः पुरुषो भुवि।
नादेयं यस्य मे किंचिदपि दाराः सुतास्तथा ॥२८॥
तेनापि सुहृदा ब्रह्मन्पार्थेनाक्लिष्टकर्मणा।
नोक्तपूर्वमिदं वाक्यं यस्त्वं मामभिभाषसे ॥२९॥

जो मनुष्यों के बीच में बड़ी प्रसिद्धि को पाए हुए है, जिसके श्वेत अश्व और कपि की उत्तम ध्वजा है और जो गाण्डीव धनुष धारी है। जो देवाधिदेव, नीलकण्ठ, उमापति, भगवान् शङ्कर को द्वन्द्व युद्ध में हरा देने के अभिप्राय से युद्ध करता रहा, जिससे अधिक पृथिवी पर अन्य पुरुष मुझे प्रिय नहीं है। जिसके निमित्त स्त्री, पुत्रादि अर्पित कर देने में भी मुझे संकोच नहीं है। हे ब्रह्मन्! उस मेरे मित्र, अद्भुत कर्मकारी अर्जुन ने भी कभी इस चक्र को नहीं मांगा। उसने कभी यह वचन नहीं कहा—जैसा आज तुमने कहा है ॥२६-२६॥

ब्रह्मचर्यं महद्घोर तीर्त्वा द्वादशवार्षिकम् ।
हिमवत्पार्श्वमास्थाय यो मया तपसार्जितः ॥३०॥
समानव्रतचारिण्यां रुक्मिण्यां योऽन्वजायत ।
सनत्कुमारस्तेजस्वी प्रद्युम्नो नाम मे सुतः ॥३१॥
तेनाप्येतन्महद्दिव्यं चक्रमप्रतिमं रणे ।
न प्रार्थितमभून्मूढ यदिदं प्रार्थितं त्वया ।

मैंने महान् घोर बारह वर्ष तक ब्रह्मचर्य का पालन करके, हिमालय की कन्दराओं में घोर तप करके, जिस पुत्र को प्राप्त किया, जो मेरे साथ व्रत करने वाली भार्या रुक्मणी में उत्पन्न हुआ है, वह सनत्कुमार के समान तेजस्वी मेरा प्रद्युम्न नामक पुत्र है, उसने भी इस महादिव्य अद्वितीय चक्र को कभी नहीं माँगा, जिसको आज तू ने अज्ञानवश माँग लिया है ॥३०-३२॥

रामेणातिवलेनैतन्नोक्तपूर्वं कदाचन ।
न गदेन न साम्बेन यदिदं प्रार्थितं त्वया ॥२३॥
द्वारकावासिभिश्चान्यैर्वृष्ण्यन्धकमहारथैः ।
नोक्तपूर्वमिदं जातु यदिदं प्रार्थितं त्वया ॥२४॥

अत्यन्त वली वलराम ने भी कभी इसकी याचना नहीं की, गद या साम्ब नामक मेरे पुत्रों ने भी कभी इसे नहीं माँगा। द्वारका के रहने वाले अन्य वृष्णि और अन्धकवंश के महारथियों ने भी कभी इस चक्र की प्रार्थना नहीं की, उसी को आज तुमने माँग लिया है ॥२३-२४॥

भारताचार्यपुत्रस्त्वं मानितः सर्वयादवैः ।
चक्रेण रथिनां श्रेष्ठ कं नु तात युयुत्ससे ॥२५॥

हे तात ! तुम भरतवंश के क्षत्रियों के आचार्य के पुत्र हो और सारे यादवों के पूज्य हो। हे रथिश्रेष्ठ ! जरा यह तो वताओ, कि तुम इस चक्र को लेकर किससे युद्ध करना चाहते थे ॥२५॥

एवमुक्तो मया द्रौणिर्मामिदं प्रत्युवाच ह ।
प्रयुज्य भवते पूजां योत्स्ये कृष्ण त्वया सह ॥२६॥
प्रार्थितं ते मया चक्रं देवदानवपूजितम् ।
अजेयः स्यामिति विभो सत्यमेतद्ब्रवीमि ते ॥२७॥

हे राजन् ! जब मैंने इतना कहा-तो अश्वत्थामा ने मुझसे, कहा—हे कृष्ण ! मैं आपकी गुरु पूजा करके फिर आप से ही युद्ध करना चाहता था। हे विभो ! मैंने देव दानवों से अभिपूजित

इस चक्र को इसीलिए माँगा था, कि मैं सर्वत्र अजेय हो जाऊंगा- यह मैंने सत्य कह दिया ॥३६-३७॥

त्वत्तोऽहं दुर्लभं काममनवाप्यैव केशव ।
प्रतियास्यामि गोविंद शिवेनाभिवदस्व माम् ॥३८॥

हे केशव! यह मेरी कामना आज तुमसे पूरी न हो सकी। हे गोविन्द। अब मैं जाता हूँ, आप मुझे कल्याणकारी आशीर्वाद दीजिए ॥३८॥

एतत्सुभीमं भीमानामृषभेण त्वया धृतम् ।
चक्रमप्रतिचक्रेण भुवि नान्योऽभिपद्यते ॥३६॥

यह भयानक अस्त्रों में सबसे भयङ्कर अस्त्र है, जिसको आप सर्वश्रेष्ठ व्यक्ति ने धारण कर रखा है। यह चक्र अद्वितीय चक्र है, इसको पृथिवी पर अन्य कोई धारण नहीं कर सकता।

एतावदुक्त्वा द्रौणिर्मा युग्यानश्वान्धनानि च ।
आदायोपययौ काले रत्नानि विविधानि च ॥४०॥

हे राजन्! इतना कह कर अश्वत्थामा चल दिया और समयानुसार हमारी दी हुई भेंट रथ में जोड़ने योग्य अश्व, धन तथा अनेक प्रकार के रत्नादि लेकर वह चलता बना ॥४०॥

स संरम्भी दुरात्मा च चपलः क्रूर एव च ।
वेद चास्त्रं ब्रह्मशिरस्तस्माद्रक्ष्यो वृकोदरः ॥४१॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां सौप्तिकपर्वान्तर्गत ऐषीके पर्वणि युधिष्ठिरकृष्णसंवादे द्वादशोऽध्यायः ॥१२॥

यह अश्वत्थामा बड़ा क्रोधी, दुरात्मा, चपल और क्रूर है। यह ब्रह्म शिरा नामक अस्त्र का प्रयोग जानता है, इससे वृकोदर भीम की रक्षा करनी चाहिए ।।४१।।

इति श्रीमहाभारत सौप्तिकपर्वान्तर्गत ऐषीकपर्व में अश्वत्थामा के ब्रह्मशिरा अस्त्र के ग्रहण करने और श्रीकृष्ण से चक्र मांगने की कथा के वर्णन का बाहरवां अध्याय सम्पूर्ण हुआ।



तेरहवां अध्याय

वैशम्पायन उवाच—एवमुक्त्वा युधांश्रेष्ठः सर्वयादवनन्दनः।
सर्वायुधवरोपेतमारुरोह रथोत्तमम् ।।१।।
युक्तं परमकाम्बोजैस्तुरगैर्हेममालिभिः।
आदित्योदयवर्णस्य धुरं रथवरस्य तु ।।२।।
दक्षिणामवहच्छैब्यः सुग्रीवः सव्यतोऽभवत्।
पार्ष्णिवाहौ तु तस्यास्तां मेघपुष्पबलाहकौ ।।३।।
विश्वकर्मकृता दिव्या रत्नधातुविभूषिता।
उच्छ्रितेव रथे माया ध्वजयष्टिरदृश्यत ।।४।।
वैनतेयः स्थितस्तस्यां प्रभामण्डलरश्मिवान्।
तस्य सत्यवतः केतुर्भुजगारिरदृश्यत ।।५।।

वैशम्पायन बोले—हे जनमेजय ! सब यादवों को आनन्द देने वाले योधाओं में श्रेष्ठ, श्रीकृष्ण इतना कह कर सारे अस्त्रों से सुसज्जित अपने रथ पर चढ़ गए, इस रथ में सुवर्णमालाधारी काम्बोज देश के अश्व जुड़े थे। सूर्य के समान चमकने वाले इस रथ की दक्षिण धुर में शैव्य नामक अश्व जुता था और बांयी ओर सुग्रीव अश्व जुड़ा हुआ था। इनके बगल में मेघपुष्प और बलाहक अश्व थे। विश्वकर्मा द्वारा रची हुई, दिव्य धातुओं और रत्नों से सुशोभित माया की तरह उच्छ्रित ध्वजा यष्टि उस पर लगी हुई थी। अपनी प्रभा से देदीप्यमान गरुड़ उस पर सुशोभित था। उन सत्यपराक्रमी श्रीकृष्ण के रथ की गरुड़ चिन्हाङ्कित ध्वजा दिखाई देने लगी ॥१-५॥

अथारोहद्धृषीकेशः केतुः सर्वधनुष्मताम् ।
अर्जुनः सत्यकर्मा च कुरुराजो युधिष्ठिरः ॥६॥
अशोभेतां महात्मानौ दाशार्हमभितः स्थितौ ।
रथस्थं शार्ङ्गधन्वानमश्विनाविव वासवम् ।

सारे धनुर्धरों में श्रेष्ठ श्रीकृष्ण इस रथ पर चढ़े। सत्यकर्मा अर्जुन और कुरुराज युधिष्ठिर-ये दोनों महावीर रथस्थित शार्ङ्ग-धनुर्धर श्रीकृष्ण के इधर उधर इस तरह सुशोभित हुए, जिस तरह इन्द्र के दोनों ओर अश्विनीकुमार स्थित हों ॥६-७॥

तावुपारोप्य दाशार्हं स्यन्दनं लोकपूजितम् ।
प्रतोदेन जवोपेतान्परमाश्वानचोदयत् ॥८॥

हे राजन् ! इन दोनों वीरों को श्रीकृष्ण ने अपने लोक पूजित रथ में बैठाकर प्रतोद (सॉंटे) द्वारा वेगशाली अश्वों को प्रचलित किया ॥८॥

ते हयाः सहसोत्पेतुर्गृहीत्वा स्यन्दनोत्तमम् ।
आस्थितं पाण्डवेयाभ्यां यदूनामृषभेण च ॥९॥

ये अश्व, इस उत्तम रथ को लेकर एकदम उछले, जिसमें दोनों पाण्डव, धर्मराज और अर्जुन तथा यदुवंशश्रेष्ठ श्रीकृष्ण स्थित थे ॥९॥

वहतां शार्ङ्गधन्वानमश्वानां शीघ्रगामिनाम् ।
प्रादुरासीन्महान् शब्दः पक्षिणां पततामिव ॥१०॥

शार्ङ्ग-धनुर्धर श्रीकृष्ण को लेकर चलते हुए अश्वों का इतना महान् शब्द उठा, जैसे उड़ते हुए पक्षियों का शब्द होता है ॥१०॥

ते समार्च्छन्नरव्याघ्राः क्षणेन भरतर्षभ ।
भीमसेनं महेष्वासं समनुद्रुत्य वेगिताः ॥११॥
क्रोधदीप्तं तु कौन्तेयं द्विषदर्थे समुद्यतम् ।
नाशक्नुवन्वारयितुं समेत्यापि महारथाः ॥१२॥

हे भरतर्षभ ! ये नरश्रेष्ठ, महारथी पीछे २ वेग से दौड़कर महाधनुर्धर भीमसेन के समीप क्षण भर में पहुंचे। भीमसेन क्रोध से प्रदीप्त हो रहे थे, इससे ये तीनों महारथी इकट्ठे ही वहाँ पहुंच कर भी भीमसेन के रोकने में समर्थ नहीं हुए।

स तेषां प्रेक्षतामेव श्रीमतां दृढधन्विनाम् ।
ययौ भागीरथीतीरं हरिभिर्भृशवेगितैः ॥१३॥
यत्र स्म श्रूयते द्रौणिः पुत्रहन्ता महात्मनाम् ।

भीमसेन दृढ़ धनुषधारी, वीर तेज से युक्त इन वीरों के देखते २ अत्यन्त वेगशाली अश्वों से गङ्गा तीर पर पहुंचा । इसी स्थान पर महावीर पाण्डवों के पुत्रों के हननकर्ता अश्वत्थामा उपस्थित थे ।

स ददर्श महात्मानमुदकान्ते यशस्विनम् ॥१४॥
कृष्णद्वैपायनं व्यासमासीनमृषिभिः सह ।

यहाँ गङ्गा तट पर ऋषियों के साथ स्थित, महायशस्वी, महात्मा कृष्णद्वैपायन व्यास को देखा ॥१४॥

तं चैव क्रूरकर्माणं घृताक्तं कुशचीरिणम् ॥१५॥
रजसा ध्वस्तमासीनं ददर्श द्रौणिमन्तिके ।
तमभ्यधावत्कौन्तेयः प्रगृह्य सशरं धनुः ॥१६॥
भीमसेनो महाबाहुस्तिष्ठ तिष्ठेति चाब्रवीत् ।

इन ही व्यास जी के समीप रज से व्याप्त, कुश चीर वस्त्रधारी घृतलिप्त, क्रूरकर्मा अश्वत्थामा बैठे हुए थे । उसके देखते ही कुन्ती-पुत्र भीमसेन बाणसहित धनुष लेकर दौड़े । महाबाहु भीमसेन ने कहा—अरे दुष्ट ! ठहर ! ठहर ! ॥१५-१६॥

स दृष्ट्वा भीमधन्वानं प्रगृहीतशरासनम् ॥१७॥
भ्रातरौ पृष्ठतश्चास्य जनार्दनरथे स्थितौ ।
व्यथितात्माऽभवद् द्रौणिः प्राप्तं चेदममन्यत ॥१८॥

अश्वत्थामा ने धनुष हाथ में लिए हुए, भीषण धनुर्धर, भीमसेन को देखा, जिसके पीछे श्रीकृष्ण के रथ में स्थित दोनों भ्राता धर्मराज और अर्जुन आ रहे थे। उनको देखकर द्रोण-पुत्र अश्वत्थामा बहुत ही व्याकुल हुए और उसने अब अपना काल उपस्थित ही समझा ॥१७-१८॥

स तद्दिव्यमदीनात्मा परमास्त्रमचिंतयत् ।
जग्राह च स चैषीकां द्रौणिः सव्येन पाणिना ॥१९॥
स तामापदमासाद्य दिव्यमस्त्रमुदैरयत् ।
अमृष्यमाणस्तान्छूरान्दिव्यायुधधरान् स्थितान् ॥२०॥
अपाण्डवायेति रुषा व्यसृजद्दारुणं वचः ।

अब महाबली अश्वत्थामा ने अपने ब्रह्मशिरा नामक दिव्य अस्त्र का चिन्तन किया। उसने बाँये हाथ से एक ऐषीक (सींक) उठाई। अश्वत्थामा ने अपने ऊपर विपत्ति देखकर उस ऐषीक को दिव्य अस्त्र पर चढ़ाया। दिव्य शस्त्रधारी वीरों की अश्वत्थामा कैसे उपेक्षा कर सकता था।' उसने पाण्डव-हीन सारी भूमि हो जावे-यह दारुण वचन क्रोध-पूर्वक कहा।

इत्युक्त्वा राजशार्दूल द्रोणपुत्रः प्रतापवान् ॥२१॥
सर्वलोकप्रमोहार्थं तदस्त्रं प्रमुमोच ह ।

हे राजशार्दूल! महाप्रतापी द्रोण-पुत्र अश्वत्थामा ने इतना कहकर सारे लोक के मोहित करने को उस अस्त्र को छोड़ दिया

ततस्तस्यामिषीकायां पावकः समजायत ।
प्रधक्ष्यन्निव लोकांस्त्रीन्कालान्तकयमोपमः ॥२२॥
इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां सौप्तिकपर्वान्तर्गत ऐषीके पर्वणि ब्रह्मशिरोऽस्त्रत्यागे त्रयोदशोऽध्यायः ॥१३॥

हे राजन् ! उस ऐषीक (सींक) में तीनों लोकों को भस्म करने में समर्थ, यम और कालानल के समान भीषण अग्नि उत्पन्न हुई ॥२२॥

इति श्री महाभारत सौप्तिकपर्वान्तर्गत ऐषीकपर्व में अश्वत्थामा के ब्रह्मशिरा नामक अस्त्र छोड़ने के वर्णन का तेहरवां अध्याय समाप्त हुआ ।

चौदहवाँ अध्याय

वैशम्पायन उवाच-इङ्गितेनैव दाशार्हस्तमभिप्रायमादितः ।
द्रौणेर्बुद्ध्वा महाबाहुरर्जुनं प्रत्यभाषत ॥१॥
अर्जुनार्जुन यद्दिव्यमस्त्रं ते हृदि वर्त्तते ।
द्रोणोपदिष्टं तस्यायं कालः सम्प्रति पाण्डव ॥२॥

वैशम्पायन बोले—हे राजन् ! अश्वत्थामा की चेष्टा से महाबाहु श्रीकृष्ण ने उसके ब्रह्मशिरा अस्त्र के छोड़ने के अभिप्राय को जान लिया । वे अर्जुन से कहने लगे--हे अर्जुन ! हे पाण्डवा-

र्जुन ! तुम्हारे पास जो द्रोणाचार्य का बताया हुआ, दिव्य ब्रह्मशिर अस्त्र है, यह अब उसी के छोड़ने का समय है ॥१-२॥

भ्रातृणामात्मनश्चैव परित्राणाय भारत ।
विसृजैतत्त्वमप्याजावस्त्रमस्त्रनिवारणम् ॥३॥

हे भारत ! तुम अपने और अपने भ्राताओं की रक्षा के निमित्त इस अस्त्र का उत्तार स्वरूप अपने अस्त्र को रणक्षेत्र में छोड़ो ॥३॥

केशवेनैवमुक्तोऽथ पाण्डवः परवीरहा ।
अवातरद्रथात्तूर्णं प्रगृह्य सशरं धनुः ॥४॥

जब श्रीकृष्ण ने इतना कहा—तो शत्रुनाशक, पाण्डु-पुत्र अर्जुन अपने बाण सहित धनुष को लेकर झटपट रथ से नीचे उतरे ।

पूर्वमाचार्यपुत्राय ततोऽनन्तरमात्मने ।
भ्रातृभ्यश्चैव सर्वेभ्यः स्वस्तीत्युक्त्वा परन्तपः ॥५॥
देवताभ्यो नमस्कृत्य गुरुभ्यश्चैव सर्वशः ।
उत्ससर्ज शिवं ध्यायन्नस्त्रमस्त्रेण शाम्यताम् ॥६॥

शत्रुतापी अर्जुन ने आचार्य-पुत्र अश्वत्थामा, फिर अपने और सारे भ्राताओं के निमित्त स्वस्ति की कामना और गुरु तथा देवों को नमस्कार करके अपना अस्त्र छोड़ा, कि इस अस्त्र से अश्वत्थामा का अस्त्र शान्त हो जावे ॥५-६॥

ततस्तदस्त्रं सहसा सृष्टं गाण्डीवधन्वना ।
प्रजज्वाल महार्चिष्मद्युगान्तानलसन्निभम् ॥७॥

तथैव द्रोणपुत्रस्य तदस्त्रं तिग्मतेजसः ।
प्रजज्वाल महाज्वालं तेजोमण्डलसंवृतम् ॥८॥
निर्घाता बहवश्चासन्पेतुरुल्काः सहस्रशः ।
महद्भयं च भूतानां सर्वेषां समजायत ॥९॥
सशब्दमभवद् व्योम ज्वालामालाकुलं भृशम् ।
चचाल च मही कृत्स्ना सपर्वतवनद्रुमा ॥१०॥

अब एकदम अर्जुन द्वारा छोड़ा हुआ, महाकान्तिमान् प्रलय-काल अग्नि के तुल्य भीषण वह प्रज्वलित हो उठा। इसी तरह अत्यन्त तेजस्वी द्रोण-पुत्र अश्वत्थामा का भी अस्त्र तीव्र ज्वाला मण्डल से युक्त होकर जल उठा। उससे बड़ी २ प्रचण्ड ज्वालाएँ निकल रहीं थीं। इन अस्त्रों मे बड़ी कड़क और सहस्त्रों उल्कापात से होते दिखाई दिए। सारे प्राणियों को बड़ा ही भय उत्पन्न हो गया। वह शब्द अग्नि की बड़ी २ लपटों के साथ सारे आकाश में छा गया। सारे पर्वत और वनों के साथ सारी भूमि भी विचलित हो उठी ॥७-१०॥

ते त्वस्त्रतेजसी लोकांस्तापयन्ती व्यवस्थिते ।
महर्षी सहितौ तत्र दर्शयामासतुस्तदा ॥११॥
नारदः सर्वभूतात्मा भरतानां पितामहः ।
उभौ शमयितुं वीरौ भारद्वाजधनञ्जयौ ॥१२॥

वे दोनों तेजस्वी अस्त्र, सारे लोकों को सन्तापित करके स्थित हुए। वहां पर एक तो सबके आत्मा नारद और दूसरे भरतवंश के

पितामह वेदव्यास इन दोनों महर्षियों ने भी उन अस्त्रों को देखा। ये दोनों महर्षि उन दोनों वीर अश्वत्थामा और अर्जुन को शान्त करने लगे ॥११-१२॥

तौ मुनी सर्वधर्मज्ञौ सर्वभूतहितैषिणौ ।
दीप्तयोरस्त्रयोर्मध्ये स्थितौ परमतेजसौ ॥१३॥

ये दोनों मुनि सब धर्मों के ज्ञाता और सारे भूतों के हित करने वाले थे। ये दोनों ही इन प्रदीप्त अस्त्रों के मध्य में स्थित थे।

तदन्तरमथाधृष्यावुपगम्य यशस्विनौ ।
आस्तामृषिवरौ तत्र ज्वलिताविव पावकौ ॥१४॥
प्राणभृद्भिरनाधृष्यौ देवदानवसंमतौ ।
अस्त्रतेजः शमयितुं लोकानां हितकाम्यया ॥१५॥

इन दोनों अस्त्रों के मध्य में सबसे दुर्धर्ष, महायशस्वी, दोनों म॰र्षि आकर स्थित हुए, जो दो प्रज्वलित अ॰ग्न के समान दिखाई दे रहे थे। कोई भी प्राणी इनको जीत नहीं सकता था और वे सारे देव दानवों के समान थे। ये लोक के हित करने के निमित्त अस्त्रों के शान्त करने को उपस्थित हुए थे ॥१४-१५॥

ऋषि ऊचुः—नानाशस्त्रविदः पूर्वे येऽप्यतीता महारथाः ।
नैतदस्त्रं मनुष्येषु तैः प्रयुक्तं कथञ्चन ।
किमिदं साहसं वीरौ कृतवन्तौ महात्ययम् ॥१६॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां
सौप्तिकपर्वान्तर्गतऐषीके पर्वणि अर्जुनास्त्रत्यागे
चतुर्दशोऽध्यायः ॥१४॥

नारद और व्यासजी कहने लगे-हे वीरो ! हमने भूतकाल में बहुत से शस्त्रधारी महारथी देखे हैं, परन्तु किसी को भी ऐसे अनुचित दिव्य अस्त्रों का मनुष्यों पर प्रयोग करते नहीं देखा । तुम लोगों ने यह महा विनाशकारी साहस क्यों किया है ॥१६॥

इति श्रीमहाभारत सौप्तिकपर्वान्तर्गत ऐषीकपर्व में अर्जुन के ब्रह्मशिर अस्त्र के छोड़ने के वर्णन का चौदहवां अध्याय समाप्त हुआ



पन्द्रहवां अध्याय

वैशम्पायन उवाच-दृष्ट्वै नरशार्दूल तावग्निसमतेजसौ ।
संजहार शरं दिव्यं त्वरमाणो धनञ्जयः ॥१॥
उवाच भरतश्रेष्ठ तावृषी प्राञ्जलिस्तदा ।
प्रयुक्तमस्त्रमस्त्रेण शाम्यतामिति वै मया ॥२॥
संहृते परमास्त्रेऽस्मिन्सर्वानस्मानशेषतः ।
पापकर्मा ध्रुवं द्रौणिः प्रधक्ष्यत्यस्त्रतेजसा ॥३॥

वैशम्पायन बोले—हे नरशार्दूल ! अग्नि के समान तेजस्वी उन दोनों महर्षि नारद और व्यास जी को देखकर बड़ी शीघ्रता से अर्जुन ने अपना दिव्य अस्त्र रोक लिया और हाथ जोड़कर ऋषियों से कहा-कि मैंने जो अस्त्र, दूसरे अस्त्र के रोकने को चलाया है-वह शान्त हो जावे । यह कह कर यदि मैंने अपने अस्त्र का संहार कर लिया-तो हम सबको यह अश्वत्थामा अपने अस्त्र के तेज से दग्ध कर देगा, क्योंकि यह महा पापकर्मा है ॥१-३॥

यदत्र हितमस्माकं लोकानां चैव सर्वथा ।
भवन्तौ देवसङ्काशौ तथा संमन्तुमर्हतः ॥४॥

हे महर्षियो ! इस समय हमारा और संसार का हित आपको दिखाई दे, वही करो । आप देवों के समान प्रतापी हैं । अब जो उचित दिखाई दे, वह करो ॥४॥

इत्युक्त्वा सञ्जहारास्त्रं पुनरेव धनञ्जयः ।
संहारो दुष्करस्तस्य देवैरपि हि संयुगे ॥५॥
विसृष्टस्य रणे तस्य परमास्त्रस्य संग्रहे ।
अशक्तः पाण्डवादन्यः साक्षादपि शतक्रतुः ॥६॥

धनञ्जय अर्जुन ने, इतना कह कर अपने अस्त्र का संहार कर लिया, जिसका रणभूमि में संहार करना देवों को भी दुष्कर था । यदि उस परम दिव्य अस्त्र को ग्रहण करके रणक्षेत्र में प्रयोग कर दिया जावे, तो पाण्डु-पुत्र अर्जुन को छोड़ कर शतक्रतु इन्द्र भी उसके रोकने में समर्थ नहीं हैं ॥५-६॥

ब्रह्मतेजोद्भवं तद्धि विसृष्टमकृतात्मना ।
न शक्यमावर्त्तयितुं ब्रह्मचारिव्रतादृते ॥७॥

यदि ब्रह्मशिरा अस्त्र का कोई दुष्ट प्रयोग कर दे, तो वह उसके रोकने में समर्थ नहीं हो सकता है, क्योंकि यह ब्रह्मा के तेज से उत्पन्न है । इसको कोई ब्रह्मचर्य व्रत के विना नहीं रोक सकता है ॥७॥

अचीर्णब्रह्मचर्यो यः सृष्ट्वाऽऽवर्त्तयते पुनः ।
तदस्त्रं सानुबन्धस्य मूर्धानं तस्य कृन्तति ॥८॥

जो बिना ब्रह्मचर्य के इस अस्त्र का प्रयोग कर देता है और फिर उसे लौटाना चाहता है-तो यह अस्त्र, उस पुरुष का परिवार सहित मस्तक काट गिराता है ॥८॥

ब्रह्मचारी व्रती चापि दुरवापमवाप्य तत् ।
परमव्यसनार्तोऽपि नार्जुनोऽस्त्रं व्यमुञ्चत ॥९॥

अर्जुन तो ब्रह्मचारी और व्रती था। उसने इस दुर्लभ अस्त्र को पा भी लिया था। इस समय उस पर भारी संकट भी था-तो भी उसने इस अस्त्र का प्रयोग नहीं किया ॥९॥

सत्यव्रतधरः शूरो ब्रह्मचारी च पाण्डवः ।
गुरुवर्ती च तेनास्त्रं सञ्जहारार्जुनः पुनः ॥१०॥

पाण्डु-पुत्र अर्जुन, सत्यव्रतधारी, शूरवीर और ब्रह्मचारी तथा गुरु की आज्ञा मानने वाला था-तो भी उस अस्त्र का प्रयोग न करके उसे वहीं रोक दिया ॥१०॥

द्रौणिरप्यथ सम्प्रेक्ष्य तावृषी पुरतः स्थितौ ।
न शशाक पुनर्घोरमस्त्रं संहर्तुमोजसा ॥११॥

जब द्रोण-पुत्र अश्वत्थामा ने उन दोनों ऋषियों को अपने सन्मुख खड़े देखा-तो भी वह ओज के अभिमान से अपने घोर अस्त्र के संहार करने को उद्यत न हुआ ॥११॥

अशक्तः प्रतिसंहारे परमास्त्रस्य संयुगे ।
द्रौणिर्दीनमना राजन् द्वैपायनमभाषत ॥१२॥

हे राजन ! अश्वत्थामा इस युद्ध में अपने परमास्त्र, ब्रह्मशिरा के संहार में प्रवृत्त न हुआ। वह बड़ी दीनता के साथ भगवान् वेदव्यास से इस प्रकार कहने लगा ॥१२॥

उत्तमव्यसनार्त्तेन प्राणत्राणमभीप्सुना ।
मयैतदस्त्रमुत्सृष्टं भीमसेनभयान्मुने ॥१३॥

हे मुने ! मैं बहुत बड़ी विपत्ति में उलझ गया हूं। मैंने अपने प्राणों की रक्षा के निमित्त ही ऐसा किया है । मैंने तो यह अस्त्र भीमसेन के भय से छोड़ा है ॥१३॥

अधर्मश्च कृतोऽनेन धार्तराष्ट्रं जिघांसता ।
मिथ्याचारेण भगवन् भीमसेनेन संयुगे ॥१४॥
अतः सृष्टमिदं ब्रह्मन्मयाऽस्त्रमकृतात्मना ।
तस्य भूयोऽद्य संहारं कर्तुं नाहमिहोत्सहे ॥१५॥

हे भगवन् ! भीमसेन ने इस युद्ध में धृतराष्ट्र-पुत्र दुर्योधन को छल से मारा है। इस तरह मार कर इसने बहुत बड़े पाप का अर्जन किया है। हे ब्रह्मन् ! मैंने इसी के मारने को इस अस्त्र का प्रयोग किया है। यद्यपि यह मेरी क्षुद्रता है; तो भी मैं इस अस्त्र का संहार करना चाहता नहीं हूं ॥१४-१५॥

निसृष्टं हि मया दिव्यमेतदस्त्रं दुरासदम् ।
अपाण्डवायेति मुने वह्नितेजोऽनुमन्त्र्य वै ॥१६॥

तदिदं पाण्डवेयानामन्तकायाभिसंहितम् ।
अद्य पाण्डुसुतान्सर्वान् जीवितादुभ्रंशयिष्यति ॥१७॥

हे मुने ! मैंने इस दुरासद दिव्यास्त्र को वह्नि तेज से युक्त करके पाण्डवों के विनाश के लिए ही छोड़ा है। आज पाण्डवों के अन्त करने को इस अस्त्र का अनुसन्धान किया है । यह सारे पाण्डु-पुत्रों को नष्ट करके ही रहेगा ॥१६-१७॥

कृतं पापमिदं ब्रह्मन् रोषाविष्टेन चेतसा ।
वधमाशास्य पार्थानां मयाऽस्त्रं सृजता रणे ॥१७॥

हे ब्रह्मन् ! यह पाप मैंने क्रोधातुर होकर किया है। मैंने इस घोर युद्ध में अस्त्र छोड़ते हुए पाण्डवों का वध ही लक्ष्य में रखा है ॥१८॥

व्यास उवाच— अस्त्रं ब्रह्मशिरस्तात विद्वान्पार्थो धनञ्जयः ।
उत्सृष्टवान्न रोषेण न नाशाय तवाहवे ॥१९॥

व्यासजी बोले—हे तात ! पाण्डु-पुत्र अर्जुन भी ब्रह्मशिरा अस्त्र का प्रयोग जानते हैं, परन्तु उन्होंने क्रोध में आकर भी तुम्हारे वध के लिए इस युद्ध में इस भीषण अस्त्र का प्रयोग नहीं किया ॥१९॥

अस्त्रमस्त्रेण तु रणे तव संशमयिष्यता ।
विसृष्टमर्जुनेनेदं पुनश्च प्रतिसंहृतम् ॥२०॥

अर्जुन ने तो केवल तुम्हारे अस्त्र के रोकने वाला अस्त्र ही रण में प्रयुक्त किया है और हमारे कथन से फिर उसका भी संहार कर लिया ॥२०॥

ब्रह्मास्त्रमप्यवाप्यैतदुपदेशात्पितुस्तव ।
क्षत्रधर्मान्महाबाहुर्नाकम्पत धनञ्जयः ॥२१॥

हे अश्वत्थामा ! तुम्हारे पिता ने तो अर्जुन को ब्रह्मास्त्र का प्रयोग भी सिखा रखा है । यह क्षत्रिय-धर्म में आरूढ़ है, इससे इस अस्त्र से भी कम्पायमान नहीं हुआ ॥२१॥

एवं धृतिमतः साधोः सर्वास्त्रविदुषः सतः ।
सभ्रातृबन्धोः कस्मात्त्वं वधमस्य चिकीर्षसि ॥२२॥

यह बड़ा धैर्यशाली, साधु प्रकृति और सारे अस्त्रों का ज्ञाता है । तुम इस प्रकार के महात्मा का भी भ्राता और बन्धुओं के साथ कैसे वध करना चाहते हो ॥२२॥

अस्त्रं ब्रह्मशिरो यत्र परमास्त्रेण वध्यते ।
समा द्वादश पर्जन्यस्तद्राष्ट्रं नाभिवर्षति ॥२३॥

जिस देश में ब्रह्मशिरा नामक अस्त्र, परमास्त्र से नष्ट कर दिया जाता है, उस स्थान पर मेघ बारह वर्ष तक जल नहीं बरसाता है ॥२३॥

एतदर्थं महाबाहुः शक्तिमानपि पाण्डवः ।
न विहन्यात्तदस्त्रं तु प्रजाहितचिकीर्षया ॥२४॥

पाण्डवास्त्वं च राष्ट्रं च सदा संरक्ष्यमेव हि ।
तस्मात्संहर दिव्यं त्वमस्त्रमेतन्महाभुज ॥२५॥

हे ब्रह्मन् ! महाबाहु पाण्डु-पुत्र अर्जुन ने शक्तिशाली होकर भी प्रजा के हित का ध्यान करके इस भीषण अस्त्र का अपने ब्रह्मास्त्र से

विनाश नहीं किया है। हे महाभुज! हम तो तुम्हारी, पाण्डव और संसार की रक्षा करना चाहते हैं। यह सोचकर तुम अपने इस दिव्य अस्त्र का संहार करो ॥२४-२५॥

रोषस्तव चैवास्तु पार्थाः सन्तु निरामयाः ।
न ह्यधर्मेण राजर्षिः पाण्डवो जेतुमिच्छति ॥२६॥

अब तुम क्रोध को शान्त करो और पाण्डव निरामय हो जावें। राजर्षि अर्जुन अधर्म में विजयी होना नहीं चाहते हैं ॥२६॥

मणिं चैव प्रयच्छाद्य यस्ते शिरसि तिष्ठति ।
एतदादाय ते प्राणान्प्रतिदास्यन्ति पाण्डवाः ॥२७॥

आज तुम अपने मस्तक की मणि निकाल कर पाण्डवों को प्रदान करो तो ये उसे लेकर चल देंगे और तुम्हारे प्राणों की भी रक्षा हो जावेगी ॥२७॥

द्रौणिरुवाच—पाण्डवैर्यानि रत्नानि यच्चान्यत्कौरवैर्धनम् ।
अवाप्तमिह तेभ्योऽयं मणिर्मम विशिष्यते ॥२८॥
यमाबध्य भयं नास्ति शस्त्रव्याधिक्षुधाश्रयम् ।
देवेभ्यो दानवेभ्यो वा नागेभ्यो वा कथञ्चन ॥२९॥
न च रक्षोगणभयं न तस्करभयं तथा ।
एवं वीर्यो मणिरयं न मे त्याज्यः कथञ्चन ॥३०॥
यत्तु मे भगवानाह तन्मे कार्यमनन्तरम् ।
अयं मणिरयं चाहमीषिका तु पतिष्यति ॥३१॥
गर्भेषु पाण्डवेयानाममोघं चैतदुत्तमम् ।

अश्वत्थामा ने कहा—हे महर्षे! पाण्डवों ने जितने रत्न या धन कौरवों से प्राप्त किया है, उन सबसे अधिक मूल्यवान् यह मेरी मणि है। इसके बांधने से शस्त्र, व्याधि और क्षुधा आदि का भय नहीं रहता है और न देव, दानव और नागों से ही कोई भय हो सकता है। न राक्षसों का भय और न चोर का भय रहता है, इस मणि में इतनी शक्ति है, मैं उसे कभी प्रदान नहीं करूंगा, परन्तु आपने जो आज्ञा की है, उसे अवश्य पालन करना है। यह तो मणि रही और यह मैं बैठा, परन्तु यह मेरी ईपिका पाण्डवों के गर्भ में जो कहीं बालक होगा-तो यह वहां जाकर गिरेगी, क्योंकि यह बड़ी ही अमोघ ईपिका (बाण) है॥२८-३१॥

न च शक्तोऽस्मि भगवन्संहर्तुं पुनरुद्यतम् ॥३२॥
एतदस्त्रमतश्चैव गर्भेषु विसृजाम्यहम् ।
न च वाक्यं भगवतो न करिष्ये महामुने ॥३३॥

हे भगवन्! छोड़ने के अनन्तर मैं इसका संहार नहीं कर सकता हूं, इसलिए मैं इस अस्त्र को पाण्डवों के गर्भ पर छोड़ता हूं। हे महामुने! मैं आपके वचनों का उल्लंघन नहीं कर सकता हूं॥३२-३३॥

व्यास उवाच—एवं कुरु न चान्या तु बुद्धिः कार्या त्वयाऽनघ
गर्भेषु पाण्डवेयानां विसृज्यैतदुपारम ॥३४॥

व्यासजी कहने लगे–हे अनघ! अच्छी बात है, ऐसा कर-परन्तु अन्य दुष्ट चिन्ता का परित्याग कर दो। अब तुम पाण्डवों के गर्भों पर इसे फैंक कर शान्त हो जाओ ॥३४॥

वैशम्पायन उवाच—ततः परममस्त्रं तु द्रौणिरुद्यतमाहवे ।
द्वैपायनवचः श्रुत्वा गर्भेषु प्रमुमोच ह ॥३५॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां सौप्तिकपर्वान्तर्गत ऐषीके पर्वणि ब्रह्मशिरोऽस्त्रस्य पाण्डवेयगर्भप्रवेशने पंचदशोऽध्यायः ॥१५॥

वैशम्पायन बोले—हे राजन ! इसके अनन्तर रणाङ्गण में देदीप्यमान उस महा अस्त्र को द्रोण-पुत्र अश्वत्थामा ने वेदव्यास के वचनों को मान कर पाण्डवों के गर्भों पर छोड़ दिया ॥३५॥

इति श्रीमहाभारत सौप्तिकपर्वान्तर्गत ऐषीकपर्व में ब्रह्मशिरा अस्त्र का पाण्डवों के गर्भ पर छोड़ने के वर्णन का पन्द्रहवां अध्याय समाप्त हुआ

सोलहवां अध्याय

वैशम्पायन उवाच—तदाऽऽज्ञाय हृषीकेशो विसृष्टं पापकर्मणा ।
हृष्यमाण इदं वाक्यं द्रौणिं प्रत्यब्रवीत्तदा ॥१॥

वैशम्पायन बोले—हे जनमेजय ! पाप कर्म-कर्ता अश्वत्थामा द्वारा छोड़े हुए अस्त्र को जान कर श्रीकृष्ण ने प्रसन्नता के साथ अश्वत्थामा से यह वचन कहा ॥१॥

विराटस्य सुतां पूर्वं स्नुषां गाण्डीवधन्वनः ।
उपप्लव्यगतां दृष्ट्वा व्रतवान्ब्राह्मणोऽब्रवीत् ॥२॥

परिक्षीणेषु कुरुषु पुत्रस्तव भविष्यति ।
एतदस्य परिक्षित्त्वं गर्भस्थस्य भविष्यति ॥३॥

हे ब्रह्मन्! एक बार उपप्लव्यनगर (छावनी) में गाण्डीवधारी अर्जुन की पुत्र-वधू विराट-पुत्री उत्तरा बैठी थी, उस समय उससे एक व्रतशील ब्राह्मण ने कहा—हे भद्रे! जब कौरवों का विनाश हो जावेगा-तब तेरे गर्भ से जो पुत्र उत्पन्न होगा । उस पर भी आक्षेप होगा । इस गर्भस्थित बालक का यही परीक्षितत्व समझो ॥३॥

तस्य तद्वचनं साधोः सत्यमेतद्भविष्यति ।
परिक्षिद्भविता ह्येषां पुनर्वंशकरः सुतः ॥४॥

हे महानुभाव! आज उस महात्मा का यह वचन सत्य होता दिखाई दे रहा है। परीक्षित ही इस वंश का प्रवर्तक पुत्र शेष रहता दिखाई देता है ॥४॥

एवं ब्रुवाणं गोविन्दं सात्वतां प्रवरं तदा ।
द्रौणिः परमसंरब्धः प्रत्युवाचेदमुत्तरम् ॥५॥

जब श्रीकृष्ण ने इतना कहा-तो अत्यन्त क्रोधातुर, अश्वत्थामा ने सात्वतवंशश्रेष्ठ श्रीकृष्ण को यह उत्तर दिया ॥५॥

नैतदेवं यथाऽऽत्थ त्वं पक्षपातेन केशव ।
वचनं पुण्डरीकाक्ष न च मद्वाक्यमन्यथा ॥६॥
पतिष्यति तदस्त्रं हि गर्भे तस्या मयोद्यतम् ।
विराटदुहितुः कृष्ण यं त्वं रक्षितुमिच्छसि ॥७॥

हे केशव ! जो वचन आपने पक्षपात से कहा है, वह नहीं हो सकता है। हे पुण्डरीकाक्ष ! मेरा वाक्य विपरीत कभी नहीं हो सकता। हे कृष्ण ! मेरा प्रयुक्त किया हुआ यह अस्त्र, उत्तरा के गर्भ पर पड़ेगा-जिसकी आप रक्षा करना चाहते हो ॥६-७॥

श्रीभगवानुवाच—अमोघः परमास्त्रस्य पातस्तस्य भविष्यति ।

स तु गर्भो मृतो जातो दीर्घमायुरवाप्स्यति ॥८॥

श्रीकृष्ण ने कहा—यह ठीक है, कि तुम्हारा अस्त्र अपना कार्य करके सफल हो जावेगा-परन्तु जब गर्भ मृतक अवस्था में उत्पन्न होगा-तब वह फिर दीर्घ आयु प्राप्त करेगा ॥८॥

त्वां तु कापुरुषं पापं विदुः सर्वे मनीषिणः ।

असकृत्पापकर्माणं बालजीवितघातकम् ॥९॥

सारे महर्षिगण यह जान लेंगे, कि अश्वत्थामा बड़ा पापी और कायर पुरुष है। यह बार २ पाप करता है और बालकों तक को मार लेता है ॥९॥

तस्मात्त्वमस्य पापस्य कर्मणः फलमाप्नुहि ।

त्रीणि वर्षसहस्राणि चरिष्यसि महीमिमाम् ॥१०॥

अब तुम इस पाप का यह फल पाओगे, कि तीन सहस्र वर्ष तक इस पृथिवी पर घूमते रहोगे ॥१०॥

अप्राप्नुवन्क्वचित्काञ्चित्संविदं जातु केनचित् ।

निर्जनानसहायस्त्वं देशान्प्रविचरिष्यसि ॥११॥

भवित्री न हि ते क्षुद्र जनमध्येषु संस्थितिः ।
पूयशोणितगन्धी च दुर्गकान्तारसंश्रयः ॥१२॥
विचरिष्यसि पापात्मा सर्वव्याधिसमन्वितः ।

तुमको कहीं पर भी किसी से कुछ संवाद प्राप्त नहीं होगा-तुम निर्जन देशों में अकेले घूमते रहोगे। हे क्षुद्र ! तुम्हारी मनुष्यों में स्थिति न होगी और पूय (मवाद) तथा रक्त गन्ध के साथ दुर्ग और वन में घूमते रहोगे। तुम पापात्मा हुए इस तरह अनेक व्याधियों से ग्रस्त होकर घूमोगे॥११-१२॥

वयः प्राप्य परिक्षित्तु वेदव्रतमवाप्य च ॥१३॥
कृपाच्छारद्वताच्छूरः सर्वास्त्राण्युपयत्स्यते ।

जब समय होगा-तो परिक्षित युवा होगा और वेदव्रत पूर्ण कर लेगा। यह शूरवीर, शरद्वान-पुत्र कृपाचार्य से सारी अस्त्रविद्या को सीख लेगा॥१३॥

विदित्वा परमास्त्राणि क्षत्रधर्मव्रते स्थितः ॥१४॥
षष्टिं वर्षाणि धर्मात्मा वसुधां पालयिष्यति ।
इतश्चोर्ध्वं महाबाहुः कुरुराजो भविष्यति ॥१५॥
परिक्षिन्नाम नृपतिर्मिषतस्ते सुदुर्मते ।
अहं तं जीवयिष्यामि दग्धं शस्त्राग्नितेजसा ।
पश्य मे तपसो वीर्यं सत्यस्य च नराधम ॥१६॥

यह परम अस्त्रों को जानकर क्षत्रिय व्रत में स्थित हुआ धर्मात्मा परीक्षित साठ वर्ष तक पृथिवी का पालन करेगा। इसके बाद

यह महाबाहु, कुरुराज हो जावेगा। हे दुर्मते! यह सब कुछ परीक्षित का राज्याभिषेक तुम्हारे देखते २ होगा। तुम्हारे शस्त्राग्नि से दग्ध भी परीक्षित् की मैं रक्षा करूंगा। हे नराधम! तुम मेरे तप और सत्य के पराक्रम को देख लेना ॥१४-१६॥

व्यास उवाच— यस्मादनादृत्य कृतं त्वयाऽस्मान्कर्म दारुण
ब्राह्मणस्य सतश्चैव यस्मात्ते वृत्तमीदृशम् ॥१७॥
तस्माद्यद्देवकीपुत्र उक्तवानुत्तमं वचः।
असंशयं ते तद्भावि क्षत्रधर्मस्त्वयाऽऽश्रितः ॥१८॥

व्यासजी बोले—हे ब्रह्मन्! तुमने हमारा अनादर करके जो यह दारुण कर्म किया है और तुम ब्राह्मण होकर भी इस तरह का कर्म करते रहे-इससे जो देवकी-पुत्र श्रीकृष्ण ने उत्तम वचन कहे हैं-वे निश्चय ही सत्य होंगे। तुमने क्षत्रिय-धर्म का आश्रय ग्रहण करके बहुत ही अनुचित किया है ॥१७-१८॥

अश्वत्थामोवाच— सहैव भवता ब्रह्मन्स्थास्यामि पुरुषेष्विह
सत्यवागस्तु भगवानयं च पुरुषोत्तमः ॥१९॥

अश्वत्थामा ने कहा—हे ब्रह्मन्! मैं तो तुम्हारे साथ २ पुरुषों में घूमता रहूंगा और इस तरह पुरुषोत्तम भगवान् कृष्ण की वाणी सत्य होती रहे ॥१९॥

वैशम्पायन उवाच—

प्रदायाथ मणिं द्रौणिः पाण्डवानां महात्मनाम्।
जगाम विमनास्तेषां सर्वेषां पश्यतां वनम् ॥२०॥

वैशम्पायन बोले—हे राजन्! द्रोण-पुत्र अश्वत्थामा ने अपनी मणि, महाबली पाण्डवों को प्रदान कर दी और उन सब लोगों के देखते २ वह उदासीन होकर वन को चला गया ॥२०॥

पाण्डवाश्चापि गोविन्दं पुरस्कृत्य हतद्विपः ।
कृष्णद्वैपायनं चैव नारदं च महामुनिम् ॥२१॥
द्रोणपुत्रस्य सहजं मणिमादाय सत्वराः ।
द्रौपदीमभ्यधावन्त प्रायोपेतां मनस्विनीम् ॥२२॥

शत्रुनाशकर्ता पाण्डव भी श्रीकृष्ण, कृष्णद्वैपायन व्यास और महामुनि नारद को आगे करके तथा अश्वत्थामा के साथ २ उत्पन्न मणि को लेकर बड़ी शीघ्रता से वहां पहुंचे-जहां पर मनस्विनी द्रौपदी उपवास करके बैठी थी ॥२१-२२॥

वैशम्पायन उवाच— ततस्ते पुरुषव्याघ्राः सदश्वैरनिलोपमैः ।
अभ्ययुः सह दाशार्हाः शिविरं पुनरेव हि ॥२३॥
अवतीर्य रथेभ्यस्तु त्वरमाणा महारथाः ।
ददृशुर्द्रौपदीं हृष्टामार्त्तामार्त्ततराः स्वयम् ॥२४॥

वैशम्पायन बोले—हे भरतवंशश्रेष्ठ! अब वायु के समान वेगशाली अश्वों पर चढ़ कर श्रीकृष्ण के साथ पाण्डव अपने शिविर में पहुंचे। ये महारथी शीघ्रता के साथ अपने रथों से उतर पड़े और वहां प्रसन्न हुए दुःखी द्रौपदी के पास पहुंचे। द्रौपदी को दुःखी देखकर ये भी बड़े क्लेशित हो उठे ॥२३-२४॥

तामुपेत्य निरानन्दां दुःखशोकसमन्विताम् ।
परिवार्य व्यतिष्ठन्त पाण्डवाः सहकेशवाः ॥२५॥

दुःख शोक से युक्त, आनन्द हीन द्रौपदी के पास पहुंच कर श्रीकृष्ण के साथ सारे पाण्डव उसे घेर कर स्थित हो गए ॥२५॥

ततो राज्ञाऽभ्यनुज्ञातो भीमसेनो महाबलः ।
प्रददौ तं मणिं दिव्यं वचनं चेदमब्रवीत् ॥२६॥
अयं भद्रे तव मणिः पुत्रहन्तुर्जितः स ते ।
उत्तिष्ठ शोकमुत्सृज्य क्षात्रधर्ममनुस्मर ॥२७॥

इसके बाद धर्मराज के आज्ञा देने पर महाबली भीमसेन ने द्रौपदी को वह दिव्य मणि प्रदान की और कहा—हे भद्रे ! यह तुम्हारे पुत्रों के घातक अश्वत्थामा की मणि जीत कर ले आए हैं। अब तुम शोक छोड़कर खड़ी हो जाओ और क्षात्रधर्म का चिन्तन करो ॥२६-२७॥

प्रयाणे वासुदेवस्य शमार्थमसितेक्षणे ।
यान्युक्तानि त्वया भीरु वाक्यानि मधुघातिनी ॥
नैव मे पतयः सन्ति न पुत्रा भ्रातरो न च ।
न वै त्वमिति गोविन्द शममिच्छति राजनि ॥२९॥
उक्तवत्यसि तीव्राणि वाक्यानि पुरुषोत्तमम् ।
क्षत्रधर्मानुरूपाणि तानि संस्मर्तुमर्हसि ॥३०॥

हे सुन्दर नेत्रों वाली भीरु कृष्णे ! तुमने जो मधु दैत्य नाशक श्रीकृष्ण के गमन के समय शान्ति के लिए वचन कहे थे, कि हे कृष्ण ! यदि तुम लोग सन्धि चाहते हो-तो न तो ये मेरे पति हैं, न कोई पुत्र है और न कोई भ्राता है। तुमने पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण

ने बड़े ही तीव्र वचन कहे थे। वे सारे क्षत्रिय-धर्म के योग्य थे, वे तुमको याद होंगे ॥२८-३०॥

हतो दुर्योधनः पापो राज्यस्य परिपन्थिकः।

दुःशासनस्य रुधिरं पीतं विस्फुरतो मया ॥३१॥

वैरस्य गतमानृण्यं न स्म वाच्या विवक्षताम्।

हमारे राज्यप्राप्ति का कांटा आज राजा दुर्योधन मारा गया है। मैंने तड़फड़ाते हुए दुःशासन का रुधिर का भी पान कर दिखाया। हमने वैर का बदला चुका दिया और अब विद्वानों में हम निन्दित न रहे ॥३१॥

जित्वा मुक्तो द्रोणपुत्रो ब्राह्मण्याद् गौरवेण च ॥३२॥

यशोऽस्य पतितं देवि शरीरं त्ववशेषितम्।

वियोजितश्च मणिना भ्रंशितश्चायुधं भुवि ॥३३॥

हे देवि! द्रोण-पुत्र अश्वत्थामा को जीत लिया गया और उसे ब्राह्मण होने के गौरव से छोड़ दिया। उसका यश शरीर तो नष्ट हो चुका अब तो उसका केवल भौतिक शरीर बचा हुआ है। उसको दिव्य मणि से वियुक्त कर दिया गया और उसका युद्ध भूमि में आयुध नष्ट करके दिखा दिया गया ॥३२-३३॥

द्रौपद्युवाच—केवलानृण्यमाप्ताऽस्मि गुरुपुत्रो गुरुर्मम।

शिरस्येतं मणिं राजा प्रतिबध्नातु भारत ॥३४॥

द्रौपदी ने कहा—हे भारत! मैं तो केवल उऋण होना चाहती थी अर्थात् इस धर्षणा का प्रतीकार दिखाना चाहती थी, अन्यथा

गुरुपुत्र तो गुरुवत ही पूज्य हैं। अब इस मणि को राजा युधिष्ठिर अपने मस्तक में सुशोभित करें ॥३४॥

तं गृहीत्वा ततो राजा शिरस्येवाकरोत्तदा ।
गुरोरुच्छिष्टमित्येव द्रौपद्या वचनादपि ॥३५॥

ततो दिव्यं मणिवरं शिरसा धारयन्प्रभुः ।
शुशुभे स तदा राजा सचन्द्र इव पर्वतः ॥३६॥

उस मणि को लेकर धर्मराज ने उसे गुरु प्रसादी या द्रौपदी के वचनों के गौरव से अपने मस्तक पर धारण कर लिया । इस दिव्यमणि के शिर पर धारण करते ही राजा युधिष्ठिर चन्द्रमा के उदय से युक्त पर्वत की भांति सुशोभित हो उठे ॥३४-३६॥

उत्तस्थौ पुत्रशोकार्त्ता ततः कृष्णा मनस्विनी ।
कृष्णं चापि महाबाहुः परिपप्रच्छ धर्मराट् ॥३७॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां सौप्तिकपर्वान्तर्गत ऐषीके पर्वणि द्रौपदीसांत्वनायां षोडशोऽध्यायः ॥१६॥

इसके बाद पुत्रशोकार्त मनस्विनी द्रौपदी खड़ी होकर चली गई । अब महाबाहु धर्मराज ने श्रीकृष्ण से यह प्रश्न किया ॥३१॥

इति श्रीमहाभारत सौप्तिकपर्वान्तर्गत ऐषीकपर्व में (अश्वत्थामा पराजय के वर्णन और) द्रौपदी सान्त्वना का सोलहवां अध्याय समाप्त हुआ ।

सत्रहवां अध्याय

वैशम्पायन उवाच— हतेषु सर्वसैन्येषु सौप्तिके तै रथैस्त्रिभिः

शोचन्युधिष्ठिरो राजा दाशार्हमिदमब्रवीत् ॥१॥

वैशम्पायन बोले—हे भरतर्षभ ! जब तीनों महारथी अश्वत्थामा, कृपाचार्य और कृतवर्मा ने शयनकाल में सारी पाण्डवसेना मार गिराई-तो उसकी चिन्ता करते हुए धर्मराज राजा युधिष्ठिर, दशार्हवंश श्रेष्ठ श्रीकृष्ण से यह वचन बोले ॥१॥

कथं नु कृष्ण पापेन क्षुद्रेणाकृतकर्मणा ।

द्रौणिना निहताः सर्वे मम पुत्रा महारथाः ॥२॥

तथा कृतास्त्रविक्रान्ता सहस्र शतयोधिनः ।

द्रुपदस्यात्मजाश्चैव द्रोणपुत्रेण पातिताः ॥३॥

हे कृष्ण ! दुष्ट-कर्मकारी, क्षुद्रात्मा, पापी, द्रोण-पुत्र अश्वत्थामा ने मेरे सारे महारथी पुत्र मार डाले । इसी तरह विद्या कुशल, महापराक्रमी और लाखों की सेना में घुस कर पराक्रम दिखाने वाले, द्रुपद के पुत्र भी अश्वत्थामा ने मार गिराए ॥२-३॥

यस्य द्रोणो महेष्वासो न प्रादादाहवे मुखम् ।

निजघ्ने रथिनां श्रेष्ठं धृष्टद्युम्नं कथं नु सः ॥४॥

महाधनुर्धर द्रोणाचार्य भी जिसके सन्मुख युद्ध में खड़े होते चकराते थे, उन रथिश्रेष्ठ धृष्टद्युम्न को भी दुष्ट ने मार गिराया ।

किं नु तेन कृतं कर्म तथायुक्तं नरर्षभ ।
यदेकः समरे सर्वानवधीन्नो गुरोः सुतः ॥५॥

हे नरर्षभ ! गुरु-पुत्र अश्वत्थामा के यह क्या मन में आई, जो उस अकेले दुर्मति ने इतना अयोग्य कर्म करके युद्ध में मेरे सारे वीर मार डाले ॥५॥

श्रीभगवानुवाच—नूनं स देवदेवानामीश्वरेश्वरमव्ययम् ।
जगाम शरणं द्रौणिरेकस्तेनावधीद्बहून् ॥६॥

श्रीकृष्ण ने कहा—हे धर्मराज ! द्रोण-पुत्र अश्वत्थामा, देवाधिदेव, परमेश्वर, अव्यय शक्ति भगवान् शङ्कर की शरण में पहुंच गया था, इसी से उसने बहुत से पाण्डववीर मार गिराए ।

प्रसन्नो हि महादेवो दद्यादमरतामपि ।
वीर्यं च गिरिशो दद्याद्येनेन्द्रमपि शातयेत् ॥७॥

जब महादेवजी प्रसन्न हो जाते हैं, तो वे अमर पदवी भी दे डालते हैं । भगवान शङ्कर इतना बल प्रदान कर देते हैं, कि जिससे इन्द्र को भी पराजित किया जा सकता है ॥७॥

वेदाहं हि महादेवं तत्वेन भरतर्षभ ।
यानि चास्य पुराणानि कर्माणि विविधानि च ॥८॥
आदिरेष हि भूतानां मध्यमन्तश्च भारत ।
विचेष्टते जगच्चेदं सर्वमस्यैव कर्मणा ॥९॥

हे भरतर्षभ ! मैं शङ्कर और उनके प्राचीन बहुत से दिव्य कर्मों को जानता हूं । हे भारत ! ये महादेव ही सारे भूतों का आदि और

मध्य तथा अन्त हैं। इसी की लीला से यह सारा जगत चेष्टा कर रहा है ॥९॥

एवं सिसृक्षुर्भूतानि ददर्श प्रथमं विभुः ।
पितामहोऽब्रवीच्चैनं भूतानि सृज मा चिरम् ॥१०॥

जब ब्रह्मा ने प्रथम सृष्टि बनानी चाही, तो प्रथम भगवान् शङ्कर के ही दर्शन किए थे। पितामह ब्रह्मा ने इनसे कहा, कि तुम भूतों को रचो-देर न करो ॥१०॥

हरिकेशस्तथेत्युक्त्वा भूतानां दोषदर्शिवान् ।
दीर्घकालं तपस्तेपे मग्नोऽम्भसि महातपाः ॥११॥

भगवान् शङ्कर ने ब्रह्मा से कहा—अच्छी बात है, परन्तु फिर भूतों के दोषों को दिखाया। महातपस्वी शंकर ने जल में मग्न होकर दीर्घ काल तक तपस्या की ॥११॥

सुमहान्तं ततः कालं प्रतीक्ष्यैनं पितामहः ।
स्रष्टारं सर्वभूतानां ससर्ज मनसाऽपरम् ॥१२॥

पितामह ब्रह्मा बहुत लम्बे काल तक सर्वसृष्टिकारक महादेवजी की प्रतीक्षा करता रहा। अब ब्रह्मा ने दूसरे पुरुष की रचना की ॥१२॥

सोऽब्रवीत्पितरं दृष्ट्वा गिरिशं सुप्तमम्भसि ।
यदि मे नाग्रजोऽस्त्यन्यस्ततः स्रक्ष्याम्यहं प्रजाः १३॥

उस पुरुष ने उत्पन्न होकर जल में सुप्त शंकर को देखा और कहा-यदि मुझसे पूर्व कोई उत्पन्न न हो, तो मैं सृष्टि की रचना करूं ॥१३॥

तमब्रवीत्पिता नास्ति त्वदन्यः पुरुषोऽग्रजः ।
स्थाणुरेष जले मग्नो विस्रब्धः कुरु वैकृतम् ॥१४॥

पितामह ब्रह्मा ने उससे कहा—कि तुमसे पूर्व कोई पुरुष उत्पन्न नहीं हुआ है । यह तो भगवान शंकर जल में सो रहे हैं । तुम अपनी रचना निःशङ्क भाव से करो ॥१४॥

भूतान्यन्वसृजत्सप्त दक्षादींस्तु प्रजापतीन् ।
यैरिमं व्यकरोत्सर्वं भूतग्रामं चतुर्विधम् ॥१५॥
ताः सृष्टमात्राः क्षुधिताः प्रजाः सर्वाः प्रजापतिम् ।
बिभक्षयिषवो राजन्सहसा प्राद्रवंस्तदा ॥१६॥
स भक्ष्यमाणस्त्राणार्थी पितामहमुपाद्रवत् ।
आभ्यो मां भगवांस्त्रातु वृत्तिरासां विधीयताम् ॥१७॥
ततस्ताभ्यो ददावन्नमोषधीः स्थावराणि च ।
जङ्गमानि च भूतानि दुर्बलानि बलीयसाम् ॥१८॥

उस पुरुष ने सारे भूत और दक्षादि प्रजापति रचे । हे राजन्! प्रजा उत्पन्न होते ही भूख से व्याकुल होकर प्रजापति को खाने को एकदम दौड़ी । जब उसने प्रजापति को खाना चाहा तो वह अपनी रक्षा के निमित्त पितामह ब्रह्मा के पास दौड़ा । हे भगवन् ! आप इस प्रजा से मेरी रक्षा करें और उनकी वृत्ति का कोई ढंग बनाओ । ब्रह्माजी ने उनको जड़ ओषधी अन्न आदि खाने को दिता दिए तथा बलवान जन्तुओं को निर्बल जन्तु का भोज्य बनाया ।

विहितान्नाः प्रजास्तास्तु जग्मुः सृष्टा यथागतम् ।
ततो ववृधिरे राजन्प्रीतिमत्यः स्वयोनिषु ॥१६॥

जब प्रजा के भोजन का प्रबन्ध कर दिया गया, तो वह अपनी २ इच्छा के अनुसार चली गई। हे राजन् ! इस तरह आनन्दित होकर अपनी २ योनि में प्रजा बढ़ने लगी ॥१६॥

भूतग्रामे विवृद्धे तु तुष्टे लोकगुरावपि ।
उदतिष्ठज्जलाज्ज्येष्ठः प्रजाश्चेमा ददर्श सः ॥२०॥

जब सारी सृष्टि की रचना हो चुकी और लोक पूज्य भगवान् शङ्कर सन्तुष्ट हुए-तो वे सर्वश्रेष्ठ, महादेव जल में से उठे और उन्होंने इस सारी प्रजा को देखा ॥२०॥

बहुरूपाः प्रजा सृष्टा विवृद्धाश्च स्वतेजसा ।
चुक्रोध भगवान् रुद्रो लिङ्गं स्वं चाप्यविध्यत ॥२१॥
तत्प्रविद्धं तथा भूमौ तथैव प्रत्यतिष्ठत ।
तमुवाचाव्ययो ब्रह्मा वचोभिः शमयन्निव ॥२२॥
किं कृतं सलिले शर्व चिरकालस्थितेन ते ।
किमर्थं चेदमुत्पाद्य लिङ्गं भूमौ प्रवेशितम् ॥२३॥

बहुत प्रकार की प्रजा रची गई और वह अपने तेज से बढ़ चली। अब भगवान् रुद्र कुपित हुए और उन्होंने अपने लिङ्ग को काट डाला। वह छिन्न-भिन्न लिङ्ग भूमि में स्थित हो गया। अब अपने वचनों से उस लिङ्ग को शान्त करते हुए ब्रह्मा बोले। हे भगवन ! आपने यह लिङ्ग क्यों प्रकट किया और क्यों इसे

भूमि में स्थापित किया है। हे शर्व ! आपने चिरकाल तक जल में स्थित होकर क्या किया। इस लिङ्ग को उत्पादित करके भूमि में क्यों प्रविष्ट किया है ॥२१-२३॥

सोऽब्रवीज्जातसंरम्भस्तथा लोकगुरुर्गुरुम् ।
प्रजाः सृष्टाः परेणेमाः किं करिष्याम्यनेन वै ॥२४॥
तपसाऽधिगतं चान्नं प्रजार्थं मे पितामह ।
ओषध्यः परिवर्त्तेरन्यथैवं सततं प्रजाः ॥२५॥

सारे संसार के पूज्य भगवान् शंकर आवेश में ब्रह्माजी से कहने लगे-कि तुमने प्रजा दूसरे व्यक्ति से उत्पन्न करा ली। अब मैं इस लिङ्ग को रख कर क्या करूंगा। हे पितामह ! तुमने प्रजा के लिए तप से अन्न भी प्राप्त कर लिया और ओषधी भी रचली, जिससे यह प्रजा चिरकाल तक रह सकेगी ॥२४-२५॥

एवमुक्त्वा स सक्रोधो जगाम विमना भवः ।
गिरेर्मुञ्जवतः पादं तपस्तप्तुं महातपाः ॥२६॥

इति श्रीमहाभारत शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां सौप्तिकपर्वान्तर्गत ऐषीकेपर्वणि युधिष्ठिरकृष्णसंवादे सप्तदशोऽध्यायः ॥१७॥

हे राजन् ! इतना कह कर उदास हुए महातपस्वी महादेव तप करने को क्रोधपूर्वक मुञ्जवान् पर्वत पर चले गए ॥२६॥

इति श्रीमहाभारत सौप्तिकपर्वान्तर्गत ऐषीकपर्व में धर्मराज, कृष्ण सम्वाद रूप में शिव महिमा वर्णन का सत्रहवां अध्याय समाप्त हुआ।

अट्ठारहवां अध्याय

श्रीभगवानुवाच—ततो देवयुगेऽतीते देवा वै समकल्पयन् ।
यज्ञं वेदप्रमाणेन विधिवद्यष्टुमीप्सवः ॥१॥

श्रीकृष्ण बोले—हे राजन्! देवयुग (सत्युग) के व्यतीत होने पर देवों ने वेद के प्रमाण से यज्ञ का निर्माण किया और उसका विधि-पूर्वक यजन करना चाहा ॥१॥

कल्पयामासुरथ ते साधनानि हवींषि च ।
भागार्हा देवताश्चैव यज्ञियं द्रव्यमेव च ॥२॥

उन्होंने यज्ञ के साधन पात्र हविः तथा भाग पाने वाले देवताओं और यज्ञ के योग्य द्रव्यों (वस्तु) की भी रचना की ॥२॥

ता वै रुद्रमजानंत्यो याथातथ्येन देवताः ।
नाकल्पयन्त देवस्य स्थाणोर्भागं नराधिप ॥३॥

हे नराधिप! उन देवों को भगवान् रुद्र की महिमा का ठीक २ ज्ञान नहीं हुआ, इसलिए उन्होंने स्थाणु (रुद्र) देव का यज्ञ में कोई भाग कल्पित नहीं किया ॥३॥

सोऽकल्प्यमाने भागे तु कृत्तिवासा मखेऽमरैः ।
ततः साधनमन्विच्छन्धनुरादौ ससर्ज ह ।

जब देवों ने यज्ञ में रुद्र का भाग कल्पित नहीं किया-तो भगवान् शङ्कर ने साधन रचने की अभिलाषा से प्रथम धनुष को रचा ॥४॥

लोकयज्ञः क्रियायज्ञो गृहयज्ञः सनातनः ।
पञ्चभूतनृयज्ञश्च जज्ञे सर्वमिदं जगत् ॥५॥

भगवान् रुद्र ने लोकयज्ञ, क्रियायज्ञ, गृहयज्ञ, पञ्चयज्ञ, भूतयज्ञ, अतिथि यज्ञ आदि सनातन यज्ञों का निर्माण किया। इसके अनन्तर जगत् की रचना की ॥५॥

लोकयज्ञैर्नृयज्ञैश्च कपर्दी विदधे धनुः ।
धनुः सृष्टमभूत्तस्य पञ्चकिष्कुप्रमाणतः ॥६॥

इनमें लोकयज्ञ और अतिथियज्ञ के द्वारा रुद्र ने धनुष की रचना की। यह जो धनुष की रचना की गई, उसका प्रमाण पांच किष्कु (पांच हाथ से कुछ न्यून) था ॥६॥

वषट्कारोऽभवज्ज्या तु धनुषस्तस्य भारत ।
यज्ञाङ्गानि च चत्वारि तस्य संनहनेऽभवन् ॥७॥

हे भारत ! इस धनुष की प्रत्यञ्चा वषट्कार बनाई गई। उस धनुष के शरीर में चारों यज्ञाङ्ग स्थित हुए ॥७॥

ततः क्रुद्धो महादेवस्तदुपादाय कार्मुकम् ।
आजगामाथ तत्रैव यत्र देवाः समीजिरे ॥८॥

अब महादेव ने कुपित होकर उस धनुष को उठाया और वे वहीं आकर उपस्थित हुए-जहां पर देवता यज्ञ कर रहे थे ॥८॥

तमात्तकार्मुकं दृष्ट्वा ब्रह्मचारिणमव्ययम् ।
विव्यथे पृथिवी देवी पर्वताश्च चकम्पिरे ॥९॥

ब्रह्मचारी, रूपधारी, अविनाशी, धनुर्धर महादेव को देखकर पृथिवी व्यथित हो गई और पर्वत कांपने लगे ॥९॥

न ववौ पवनश्चैव नाग्निर्जज्वाल चैधितः ।
व्यभ्रमच्चापि संविग्नं दिवि नक्षत्रमण्डलम् ॥१०॥
न बभौ भास्करश्चापि सोमः श्रीमुक्तमण्डलः ।
तिमिरेणाकुलं सर्वमाकाशं चाभवद्वृतम् ॥११॥

इस समय पवन चलती रुक गई और अग्नि का जलना बन्द हो गया। आकाश में नक्षत्रमण्डल चकरा कर घूमने लगा। सूर्य चमक हीन हो गया और चन्द्रमा की कान्ति फीकी पड़ गई। सारा आकाश अन्धेरे से व्याप्त हो गया ॥१२-११॥

अभिभूतास्ततो देवा विषयान्न प्रजज्ञिरे ।
न प्रत्यभाच्च यज्ञः स देवतास्त्रेसिरे तथा ॥१२॥

इस अन्धकार से देवों की दृष्टि लुप्त हो गई और वे विषयों के ग्रहण करने में भी असमर्थ हो गए। उनको अपना यज्ञ भी प्रतीत नहीं हुआ और वे बड़े ही व्याकुल हो गए ॥१२॥

ततः स यज्ञं विव्याध रौद्रेण हृदि पत्रिणा ।
अपक्रान्तस्ततो यज्ञो मृगो भूत्वा सपावकः ॥१३॥

भगवान् रुद्र ने एक बाण उस यज्ञ के हृदय में मारा। उस बाण से व्याकुल होकर वह यज्ञ, अग्नि सहित मृग बन कर भाग गया ॥१३॥

स तु तेनैव रूपेण दिव्यं प्राप्य व्यराजत ।

अन्वीयमानो रुद्रेण युधिष्ठिर नभस्तले ॥१४॥

हे युधिष्ठिर ! वह मृग उसी रूप में आकाश में जाकर चमकने लगा । आकाश में उसके पीछे २ भगवान् रुद्र भी पहुंचे ।

अपक्रान्ते ततो यज्ञे संज्ञा न प्रत्यभात्सुरान् ।

नष्टसंज्ञेषु देवेषु न प्राज्ञायत किंचन ॥१५॥

जब यज्ञ भाग गया, तो देवों को कुछ चेत ही न रह गया । इस प्रकार देवों की संज्ञा नष्ट होने पर उन्हें कुछ भी ज्ञान नहीं होता था ॥१५॥

त्र्यम्बकः सवितुर्बाहू भगस्य नयने तथा ।

पूष्णश्च दशनान् क्रुद्धो धनुष्कोट्या व्यशातयत् ॥

महादेवजी ने क्रुद्ध होकर सविता देव की भुजा, भगदेव के । और पूषादेव के दांत अपनी धनुष की कोटि से नष्ट कर डाले ॥१६॥

प्राद्रवन्त ततो देवा यज्ञाङ्गानि च सर्वशः ।

केचित्तत्रैव घूर्णन्तो गतासव इवाभवन् ॥१७॥

अब देवता और यज्ञाङ्ग इधर उधर खसक गए और कुछ देव वहीं पर चक्कर खाते हुए मृतक से स्थित हुए ॥१७॥

स तु विद्राव्य तत्सर्वं शितिकण्ठोऽवहस्य च ।

अवष्टभ्य धनुष्कोटिं रुरोध विबुधांस्ततः ॥१८॥

जब नीलकण्ठ देव ने वहां से सारे देव और यज्ञाङ्ग भगा दिए-तो वे हंसने लगे। उन्होंने धनुप की कोटि आगे अड़ा कर देवों को भागने से रोक लिया ॥१८॥

ततो वागमरैरुक्ता ज्यां तस्य धनुषोऽच्छिनत् ।
अथ तत्सहसा राजंश्छिन्नज्यं विस्फुरद्धनुः ॥१६॥

देवों ने अपनी वाणी का उच्चारण किया और उस धनुप की डोरी काट डाली। हे राजन्! छिन्न-भिन्न प्रत्यञ्चा वाला वह शिव धनुष एकदम चमक उठा ॥१६॥

ततो विधनुषं देवा देवश्रेष्ठमुपागमन् ।
शरणं सह यज्ञेन प्रसादं चाकरोत्प्रभुः ॥२०॥

जब भगवान् रुद्र धनुप हीन हो गए-तो देवता उनके समीप आए। वे यज्ञ सहित उनकी शरण में हुए और उनको प्रसन्न करने लगे ॥२०॥

ततः प्रसन्नो भगवान् स्थाप्य कोपं जलाशये ।
स जलं पावको भूत्वा शोषयत्यनिशं प्रभो ॥२१॥

अब भगवान रुद्र प्रसन्न हो गए और उन्होंने अपने कोप को कुवें में रख दिया। हे प्रभो! वह कोप ही जल में अग्नि होकर जल को रात दिन जलाता रहता हैं ॥२१॥

भगस्य नयने चैव बाहू च सवितुस्तथा ।
प्रादात्पूष्णश्च दशनान्पुनर्यज्ञांश्च पाण्डव ॥२२॥

हे पाण्डव ! भग के नेत्र, सवितादेव के बाहु और पूषादेव के दांत महादेव जी ने फिर दे दिए तथा देवों को यज्ञ प्रदान किया।

ततः सुस्थमिदं सर्वं बभूव पुनरेव हि।
सर्वाणि च हवींष्यस्य देवा भागमकल्पयन् ॥२३॥

इसके अनन्तर यह सारी सृष्टि फिर शान्त हो गई। सारी हवियां आकर उपस्थित हो गई। देवों ने रुद्र के भाग की कल्पना कर दी ॥२३॥

तस्मिन् क्रुद्धेऽभवत्सर्वमसुस्थं भुवनं प्रभो।
प्रसन्ने च पुनः सुस्थं प्रसन्नोऽस्य च वीर्यवान् ॥

हे प्रभो ! भगवान् रुद्र के कुपित होने पर सारे जगत् में खलबली पड़ गई। जब भगवान् प्रसन्न हो गए-तो सारा जगत् प्रसन्न हो गया। इस जगत की प्रसन्नता वीर्यवान् शङ्कर की प्रसन्नता में ही है ॥२४॥

ततस्ते निहताः सर्वे तव पुत्रा महारथाः।
अन्ये च बहवः शूराः पांचालस्य पदानुगाः ॥२५॥

हे राजन् ! इसी कारण से तुम्हारे सारे महारथी और पुत्र मारे गए तथा पञ्चालों के पदानुचर बहुत से शूरवीर भी मारे गए।

न तन्मनसि कर्त्तव्यं न च तद् द्रौणिना कृतम्।
महादेवप्रसादेन कुरु कार्यमनन्तरम् ॥२६॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां सौप्तिकपर्वान्तर्गत ऐषीके पर्वणि अष्टादशोऽध्यायः

ऐषीकं पर्व समाप्तम्

तुम इस विषय में यह न समझो, कि यह कार्य अश्वत्थामा ने किया है। यह तो जो कुछ हुआ है, वह भगवान् शंकर की इच्छा से ही हुआ है ॥२६॥

इति श्रीमहाभारत सौप्तिकपर्वान्तर्गत ऐपीकपर्व में अट्ठारहवां अध्याय सम्पूर्ण हुआ तथा यहीं पर ऐपीकपर्व भी समाप्त हो गया।

सौप्तिकं ऐपीकं च पर्वद्वयमिदं संलग्नम्।

अस्यानन्तरं स्त्रीपर्व भविष्यति तस्यायमाद्यः श्लोकः

जनमेजय उवाच—हते दुर्योधने चैव हते सैन्ये च सर्वशः।
धृतराष्ट्रो महाराज श्रुत्वा किमकरोन्मुने ॥१॥





श्रीमहर्षिव्यासप्रणीतम्

महाभारत

स्त्रीपर्व



पहिला अध्याय

श्रीगणेशाय नमः । श्रीवेदव्यासाय नमः ।

नारायणं नमस्कृत्य नरं चैव नरोत्तमम् ।

देवीं सरस्वतीं चैव ततो जयमुदीरयेत् ॥१॥

जनमेजय उवाच—हते दुर्योधने चैव हते सैन्ये च सर्वशः ।

धृतराष्ट्रो महाराजः श्रुत्वा किमकरोन्मुने ॥१॥

जनमेजय बोले—हे मुने ! जब राजा दुर्योधन मारे गए और सारी सेना का विध्वंस हो गया-तो इस सारे वृत्तान्त को सुनकर महाराज धृतराष्ट्र ने क्या किया ॥१॥

तथैव कौरवो राजा धर्मपुत्रो महामनाः ।
कृपप्रभृतयश्चैव किमकुर्वत ते त्रयः ॥२॥

उधर कौरवों के राजा धर्म-पुत्र महामनस्वी युधिष्ठिर तथा कृप आदि तीन कौरव महारथियों ने क्या २ किया ॥२॥

अश्वत्थाम्नः श्रुतं कर्म शापादन्योन्यकारितान् ।
वृत्तान्तमुत्तरं ब्रूहि यदभाषत सञ्जयः ॥३॥

अश्वत्थामा और श्रीकृष्ण में जो एक दूसरे में झड़प हुई था शाप हुए-वे सारे कर्म हमने सुन लिए। अब तुम आगे का वृत्तान्त सुनाओ, कि सञ्जय ने राजा धृतराष्ट्र को आगे क्या सुनाया ॥३॥

वैशम्पायन उवाच—हते पुत्रशते दीनं छिन्नशाखमिव द्रुमम् ।
पुत्रशोकाभिसन्तप्तं धृतराष्ट्रं महीपतिम् ॥४॥
ध्यानमूकत्वमापन्नं चिन्तया समभिप्लुतम् ।
अभिगम्य महाराज सञ्जयो वाक्यमब्रवीत् ॥५॥

वैशम्पायन बोले—हे महाराज ! अपने सौ पुत्रों के मारे जाने से दीन भाव को प्राप्त हुए, कटी हुई मूल वाले वृक्ष की तरह मुरझाए हुए, पुत्र शोक से व्याप्त, ध्यान से मूक बने हुए, चिन्तातुर राजा धृतराष्ट्र के पास पहुंच कर सञ्जय ने यह वचन कहा ॥५॥

किं शोचसि महाराज नास्ति शोके सहायता ।
अक्षौहिण्यो हताश्चाष्टौ दशचैव विशाम्पते ॥६॥

हे महाराज ! आप क्या शोक कर रहे हैं । शोक से कोई सहायता नहीं मिलती है। हे विशाम्पते ! इस युद्ध में आठ और दश, अट्ठारह अक्षौहिणी सेना मारी जा चुकी है ॥६॥

निर्जनेयं वसुमती शून्या संप्रति केवला ।
नानादिग्भ्यः समागम्य नानादेश्या नराधिपाः ॥
सहैव तव पुत्रेण सर्वे वै निधनं गताः ।

आज तो यह सारी पृथिवी निर्जन और बिल्कुल शून्य हो रही है। अनेक दिशा और अनेक देशों से राजा लोग इस युद्ध में आए और वे सारे तुम्हारे पुत्र के साथ २ नष्ट होते चले गए।

पितॄणां पुत्रपौत्राणां ज्ञातीनां सुहृदां तथा ।
गुरूणां चानुपूर्व्येण प्रेतकार्याणि कारय ॥८॥

अब तो तुम, पिता पुत्र, पौत्र, बन्धु, बान्धव, मित्र और पूज्यों का क्रम से प्रेत कर्म करो ॥८॥

वैशम्पायन उवाच—तच्छ्रुत्वा करुणं वाक्यं पुत्रपौत्रवधार्दितः
पपात भुवि दुर्धर्षो वाताहत इव द्रुमः ॥९॥

वैशम्पायन बोले—हे राजन ! पुत्र, पौत्र के वध से व्याकुल महाबली राजा धृतराष्ट्र करुणा पूर्ण वचन सुनकर वायु से उखाड़े हुए वृक्ष की भांति भूमि में गिर गया ॥९॥

धृतराष्ट्र उवाच—हतपुत्रो हतामात्यो हतसर्वसुहृज्जनः ।
दुःखं नूनं भविष्यामि विचरन्पृथिवीमिमाम् ॥१०॥
किं नु बन्धुविहीनस्य जीवितेन ममाद्य वै ।
लूनपक्षस्य इव मे जराजीर्णस्य पक्षिणः ॥११॥

धृतराष्ट्र ने कहा—हे सञ्जय! मेरे पुत्र अमात्य, सारे सुहृज्जन मारे गए। अब मैं इस पृथिवी पर दुःख के साथ घूमता रहूंगा ।

बन्धुओं से विहीन होकर अब मेरे जीवन से क्या लाभ है। वृद्धावस्था से जीर्ण शीर्ण हुए, मेरी पंख उखाड़े हुए पक्षी की सी दशा हो रही है ॥१०-११॥

हतराज्यो हतबन्धुर्हतचक्षुश्च वै तथा ।
न भ्राजिष्ये महाप्राज्ञ क्षीणरश्मिरिवांशुमान् ॥१२॥

मेरा राज्य छीना गया-बन्धु बान्धव मारे गए और मैं आंखों से स्वयं हीन हूं। हे महाप्राज्ञ ! अब मैं क्षीण तेज वाले सूर्य के समान प्रकाश हीन हो गया हूँ ॥१२॥

न कृतं सुहृदां वाक्यं जामदग्न्यस्य जल्पतः ।
नारदस्य च देवर्षेः कृष्णद्वैपायनस्य च ॥१३॥
सभामध्ये तु कृष्णेन यच्छ्रेयोऽभिहितं मम ।
अलं वैरेण ते राजन्पुत्रः सङ्गृह्यतामिति ॥१४॥
तच्च वाक्यमकृत्वाऽहं भृशं तप्यामि दुर्मतिः ।
न हि श्रोताऽस्मि भीष्मस्य धर्मयुक्तं प्रभाषितम् ॥१५॥

मैंने अपनें सुहृद्, जमदग्नि-पुत्र परशुराम, देवर्षि नारद तथा कृष्णद्वैपायन व्यास आदि किसी की भी बात नहीं सुनी। सभा के मध्य में कृष्ण ने जो कल्याणकारी बात कही थी, कि हे राजन् ! तुम वैर को छोड़ो और अपने पुत्रों को रोक कर रखो ! मुझ दुर्मति ने उनके वाक्यों को नहीं माना, इससे मैं बहुत ही दुःखी हूँ। मैंने भीष्म के धर्म युक्त वचन भी नहीं सुने ॥१३-१५॥

दुर्योधनस्य च तथा वृषभस्येव नर्दतः
दुःशासनवधं श्रुत्वा कर्णस्य च विपर्ययम् ॥१६॥
द्रोणसूर्योपरागं च हृदयं मे विदीर्यते ।

वृषभ की भाँति गरजने वाले राजा दुर्योधन, दुःशासन और कर्ण की मृत्यु तथा द्रोणाचार्य रूपी सूर्य को लगा हुआ ग्रहण सुन कर मेरा हृदय फटता जा रहा है ॥१६॥

न स्मराम्यात्मनः किञ्चित्पुरा सञ्जय दुष्कृतम् ॥१७॥
यस्येदं फलमद्येह मया मूढेन भुज्यते ।

हे सञ्जय ! मुझे तो पूर्वकाल में किया हुआ कोई अपना दुष्कर्म भी याद नहीं आता, जिसका फल मैं मूर्ख आज भोग रहा हूँ ॥१७॥

नूनं व्यपकृतं किञ्चिन्मया पूर्वेषु जन्मसु ॥१८॥
येन मां दुःखभागेषु धाता कर्मसु युक्तवान् ।

मैंने पूर्वजन्म में अवश्य कोई दुष्कर्म किया होगा, जिससे विधाता ने मुझे इस दुःख पूर्ण कर्मों में प्रयुक्त किया है ॥१८॥

परिणामश्च वयसः सर्वबन्धुक्षयश्च मे ॥१९॥
सुहृन्मित्रविनाशश्च दैवयोगादुपागतः ।
कोऽन्योऽस्ति दुःखिततरो मत्तोऽन्यो हि पुमान्भुवि ॥

इधर तो मेरी आयु पक चुकी, उधर पुत्रादि बन्धुओं का क्षय हो चुका। दैव की प्रेरणा से मेरे सुहृद् मित्रादि का भी विनाश

हो गया। मुझसे अधिक संसार में दुःखी अन्य कौन पुरुष होगा ॥१९-२०॥

तन्ममाद्यैव पश्यन्तु पाण्डवाः संशितव्रताः।

विवृतं ब्रह्मलोकस्य दीर्घमध्वानमास्थितम् ॥२१॥

अपने व्रत परायण पाण्डव, आज ही यह देख लेंगे, कि मैं खुले किवाड़ों वाले ब्रह्मलोक के दीर्घ मार्ग को चल दूंगा ॥२१॥

वैशम्पायन उवाच—तस्य लालप्यमानस्य बहुशोकं वितन्वतः।

शोकापहं नरेन्द्रस्य सञ्जयो वाक्यमब्रवीत्।

वैशम्पायन बोले—हे राजन्! इस प्रकार विलाप के साथ कहते हुए और बहुत से शोक का विस्तार करते हुए राजा धृतराष्ट्र से सञ्जय ने शोक-नाशक यह वचन कहा ॥२२॥

शोकं राजन्व्यपनुद श्रुतास्ते वेदनिश्चयाः।

शास्त्रागमाश्च विविधा वृद्धेभ्यो नृपसत्तम ॥२३॥

हे राजन्! तुम शोक को छोड़ो। तुमने तो वेद का सिद्धान्त सुन रखा है। हे नृपसत्तम! वृद्ध पुरुषों से शास्त्रों की अनेक प्रकार की चर्चा भी तुमने सुन रखी है ॥२३॥

सृञ्जये पुत्रशोकार्ते यदूचुर्मुनयः पुरा।

यथा यौवनजं दर्पमास्थिते ते सुते नृप ॥२४॥

न त्वया सुहृदां वाक्यं ब्रुवतामवधारितम्।

स्वार्थश्च न कृतः कश्चिल्लुब्धेन फलगृद्धिना ॥२५॥

हे नृप ! जब पुत्र के शोक में व्याकुल राजा सृञ्जय थे, तो उनको मुनियों ने ये ही वचन सुनाए थे। उन पुत्रों के यौवन के अभिमान के समान ही तुम्हारे पुत्रों को भी अभिमान हुआ था। तुमने भी समझाने वाले सुहृदों के वचनों पर कुछ भी ध्यान नहीं किया। फल चाहने वाले लालची पुरुष की तरह तुमने अपना स्वार्थ भी सिद्ध नहीं किया ॥२४-२५॥

असिनैवैकधारेण स्वबुद्ध्या तु विचेष्टितम् ।

प्रायशोऽवृत्तसम्पन्नाः सततं पर्युपासिताः ॥२६॥

तुमने एक धार वाली तलवार की भाँति अपनी ही बुद्धि से काम लिया। तुमने प्रायः वृत्तहीन पुरुषों की उपासना की है ॥२६॥

यस्य दुःशासनो मंत्री राधेयश्च दुरात्मवान् ।

शकुनिश्चैव दुष्टात्मा चित्रसेनश्च दुर्मतिः ॥२७॥

शल्यश्च येन वै सर्वं शल्यभूतं कृतं जगत् ।

जिसका दुःशासन, दुरात्मा राधा-पुत्र कर्ण, दुष्टात्मा शकुनि, दुर्मति चित्रसेन मन्त्री था तथा शल्य को जिसने अमात्य बनाया, जिसने सारे जगत में दुःख की कील गाड़ दी ॥२७॥

कुरुवृद्धस्य भीष्मस्य गान्धार्या विदुरस्य च ॥२८॥

द्रोणस्य च महाराज कृपस्य च शरद्वतः ।

कृष्णस्य च महाबाहो नारदस्य च धीमतः ॥२९॥

ऋषीणां च तथाऽन्येषां व्यासस्यामिततेजसः ।

न कृतं तेन वचनं तव पुत्रेण भारत ।
न धर्मः सत्कृतः कश्चिन्नित्यं युद्धमभीप्सता ॥३०॥
अल्पबुद्धिरहङ्कारी नित्यं युद्धमिति ब्रुवन् ।
क्रूरो दुर्मर्षणो नित्यमसन्तुष्टश्च वीर्यवान् ॥३१॥

हे महाराज ! कुरुवंश के वृद्ध भीष्मपितामह, गान्धारी, विदुर, द्रोणाचार्य, शरद्वान-पुत्र कृपाचार्य, श्रीकृष्ण, महाबुद्धिमान नारद, अन्य ऋषि तथा अत्यन्त तेजस्वी व्यास के वचन तुमने और तुम्हारे पुत्र दुर्योधनादि ने नहीं माने । उन्होंने धर्म की भी परवाह न की । वे तो नित्य ही युद्ध की इच्छा करते रहे । राजा दुर्योधन अल्प बुद्धि, अहङ्कारी नित्य युद्ध २ रटता रहता था । वह क्रूर, दुर्मर्षण, सदा असन्तोषी और वीर्यवान् था ॥२८-३१॥

श्रुतवानसि मेधावी सत्यवांश्चैव नित्यदा ।
न मुह्यन्तीदृशाः सन्तो बुद्धिमन्तो भवादृशाः ॥३२॥

तुम बड़े शास्त्र के ज्ञाता, मेधावी और सत्यवादी हो । तुम जैसे बुद्धिमान कभी मोह नहीं किया करते ॥३२॥

न धर्मः सत्कृतः कश्चित्तव पुत्रेण मारिष ।
क्षपिताः क्षत्रियाः सर्वे शत्रूणां वर्धितं यशः ॥३३॥
मध्यस्थो हि त्वमप्यासीर्न क्षमं किञ्चिदुक्तवान् ।
दुर्धरेण त्वया भारस्तुलया न समं धृतः ॥३४॥

हे आर्य ! तुम्हारे पुत्रों ने कभी धर्म का आदर नहीं किया । उन्होंने सारे क्षत्रियवीरों का नाश करवा दिया और शत्रुओं को

यश बढ़ाया। तुम इस झगड़े के मध्यस्थ थे, परन्तु तुमने भी कुछ नहीं कहा। तुमने समझदार होकर भी तराजू की डण्डी बराबर नहीं पकड़ी ॥३३-३४॥

आदावेव मनुष्येण वर्तितव्यं यथाक्षमम् ।
यथा नातीतमर्थं वै पश्चात्तापेन युज्यते ॥३५॥

मनुष्य को प्रथम ही यथायोग्य व्यवहार करना चाहिए, जिससे समय के व्यतीत हो जाने पर पीछे पछिताना न पड़े ॥३५॥

पुत्रगृद्ध्या त्वया राजन् प्रियं तस्य चिकीर्षितम् ।
पश्चात्तापमिमं प्राप्तो न त्वं शोचितुमर्हसि ॥३६॥

हे राजन ! तुमने पुत्र के मोह से दुर्योधन का भला चाहा। उसी का तुमको यह पश्चात्ताप प्राप्त हुआ है। अब तुम शोक न करो ॥३६॥

मधु यः केवलं दृष्ट्वा प्रपातं नानुपश्यति ।
स भ्रष्टो मधुलोभेन शोचत्येवं यथा भवान् ॥३७॥

जो मनुष्य, मधु के मिठास को देखता है और उसके तोड़ने के समय दैवात् होने वाले पतन को नहीं देखता, वह मधु लोभ से नष्ट होकर अन्त में शोक करता है। तुम भी उसी तरह चिन्ता में फंस गए हो ॥३७॥

अर्थान्न शोचन्प्राप्नोति न शोचन्विन्दते फलम् ।
न शोचन् श्रियमाप्नोति न शोचन्विन्दते परम् ॥३८॥

कोई मनुष्य शोक करने से अपने काम को सिद्ध नहीं कर सकता और न शोक करने से कोई फल निकलता है। शोक से न तो राज्यलक्ष्मी मिलती है और न शत्रु विजय ही हो सकता है ॥३८॥

स्वयमुत्पादयित्वाऽग्निं वस्त्रेण परिवेष्टयन् ।
दह्यमानो मनस्तापं भजते न स पण्डितः ॥३६॥

जो मनुष्य स्वयं अग्नि को उत्पन्न करके वस्त्र से ढकता है, वह जलने पर मन में दुःख प्राप्त करता है। उसे पण्डित नहीं समझना चाहिए ॥३६॥

त्वयैव ससुतेनायं वाक्यवायुसमीरितः ।
लोभाज्येन च संसिक्तो ज्वलितः पार्थपावकः ॥४०॥
तस्मिन् समिद्धे पतिताः शलभा इव ते सुताः ।
तान्वै शराग्निनिर्दग्धान्न त्वं शोचितुमर्हसि ॥४१॥

तुमने अपने पुत्र के साथ वाणी रूपी वायु छोड़ दी। उसमें लोभ का घृत था, जिससे अर्जुन रूपी अग्नि प्रज्वलित हो उठा। जब वह अग्नि प्रज्वलित हो उठा-तो उसमें शलभ (पतङ्ग) की भांति तुम्हारे पुत्र गिर गए। उन शर-रूपी अग्नि में दग्ध अपने पुत्रों का तुम्हें शोक नहीं करना चाहिए ॥४१॥

यच्चाश्रुपातात्कलिलं वदनं वहसे नृप ।
अशास्त्रदृष्टमेतद्धि न प्रशंसन्ति पण्डिताः ॥४२॥
विस्फुलिङ्गा इव ह्येतान्दहन्ति किल दानवान् ।
जहीहि मन्युं बुद्ध्या वै धारयात्मानमात्मना ॥४३॥

हे नृप ! अब तुम परिणाम में अश्रुपात से भीगे हुए मुख को धारण किए हुए हो-यह शास्त्र के विरुद्ध है। इस व्यवहार की पण्डित लोग प्रशंसा नहीं करते हैं। ये अश्रुबिन्दु चिनगारी की तरह मनुष्यों को जला देते हैं। अब तुम अपनी बुद्धि का सहारा लेकर अपने आपको सम्हालो ॥४३॥

वैशम्पायन उवाच--एवमाश्वासितस्तेन संजयेन महात्मना ।

विदुरो भूय एवाह बुद्धिपूर्वं परंतप ॥४४॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां स्त्रीपर्वणि जलप्रदानिकपर्वणि विशोककरणे प्रथमोऽध्यायः ॥१॥

वैशम्पायन कहने लगे—हे परन्तप ! जब महात्मा सञ्जय ने राजा धृतराष्ट्र को इस तरह आश्वासन दिया-तो उसी समय महात्मा विदुर भी वहां बुद्धि-पूर्वक यह वचन कहने लगा ॥४४॥

इति श्रीमहाभारत स्त्रीपर्वान्तर्गत जलप्रदानिकपर्व में राजा धृतराष्ट्र के सञ्जय द्वारा शोकापनोदन के वर्णन का पहिला अध्याय समाप्त हुआ।

दूसरा अध्याय

वैशम्पायन उवाच- ततोऽमृतसमैर्वाक्यैर्ह्लादयन्पुरुषर्षभम् ।
वैचित्रवीर्यं विदुरो यदुवाच निबोध तत् ॥१॥

वैशम्पायन बोले—हे जनमेजय ! अब अमृत के समान वचनों से पुरुषश्रेष्ठ, विचित्रवीर्य के पुत्र धृतराष्ट्र को महात्मा विदुर ने जिस तरह आह्लादित किया-वह मैं तुमको सुनाता हूं ॥१॥

विदुर उवाच— उत्तिष्ठ राजन्किं शेषे धारयात्मानमात्मना ।
एषा वै सर्वसत्वानां लोकेश्वर परा गतिः ॥२॥

विदुर ने कहा—हे राजन ! उठो ? क्यों पड़े हो । अब तुम अपने आपको सम्हालो । हे लोकेश्वर ! सारे प्राणियों की यही तो अन्तिम गति है ॥२॥

सर्वे क्षयान्ता निचयाः पतनान्ताः समुच्छ्रयाः ।
संयोगा विप्रयोगान्ता मरणान्तं च जीवितम् ॥३॥

जितने संग्रह है, वे एक दिन समाप्त होते हैं । जो उन्नत हैं, वे एक दिन गिरते हैं । जिनके संयोग हैं, उनका वियोग होना है और जिन्होंने जीवन धारण किया है, उनको एक दिन मरना है ।

यदा शूरं च भीरुं च यमः कर्षति भारत ।
तत्किं न योत्स्यन्ति हि ते क्षत्रियाः क्षत्रियर्षभ ॥४॥

हे भारत ! क्षत्रिय श्रेष्ठ ! जब शूर और कायर दोनों को ही यमराज खींच लेता है, तो फिर क्षत्रियवीर युद्ध से कैसे मुख मोड़ सकते हैं ॥४॥

अयुध्यमानो म्रियते युध्यमानश्च जीवति ।
कालं प्राप्य महाराज न कश्चिदतिवर्तते ॥५॥

हे महाराज ! कभी संग्राम में तो जो युद्ध नहीं करके मरता है—वही मरता है और जो युद्ध करके मरता है, वह तो जीवित है । समय पाकर तो कोई भी काल के शासन को नहीं उलांघ सकता है ॥५॥

अभावादीनि भूतानि भावमध्यानि भारत ।
अभावनिधनान्येव तत्र का परिदेवना ॥६॥

हे भारत ! आदि में प्राणियों का अभाव होता है, फिर मध्य में भाव हो जाता है और फिर मृत्यु से अभाव हो जाता है, तो ऐसी दशा में पश्चात्ताप करने की क्या आवश्यकता है ॥६॥

न शोचन्मृतमन्वेति न शोचन्म्रियते नरः ।
एवं सांसिद्धिके लोके किमर्थमनुशोचसि ॥७॥

शोक करता हुआ मनुष्य मृतक के पीछे नहीं जा सकता और न सोच करता हुआ मनुष्य मर ही सकता है । जब संसार का यह स्वभाव है, तो फिर शोक करने से क्या प्रयोजन है ॥७॥

कालः कर्षति भूतानि सर्वाणि विविधान्युत ।
न कालस्य प्रियः कश्चिन्न द्वेष्यः कुरुसत्तम ॥८॥

हे कुरुसत्तम ! यह काल सारे प्राणियों को अपनी ओर खैंचता रहता है । काल का न तो कोई प्रिय है और न वह किसी से खास तौर पर द्वेष ही करता है ॥८॥

यथा वायुस्तृणाग्राणि संवर्तयति सर्वशः ।
तथा कालवशं यान्ति भूतानि भरतर्षभ ॥९॥

हे भरतर्षभ ! जिस तरह वायु, तृणों के अग्र भागों को समयानुसार झुकाता रहता है-उसी तरह प्राणी भी काल के वश में इधर उधर होते रहते हैं ॥९॥

एकसार्थप्रयातानां सर्वेषां तत्र गामिनाम् ।
यस्य कालः प्रयात्यग्रे तत्र का परिदेवना ॥१०॥

एक साथ सारे प्राणी चल रहे हैं और सारे प्राणियों को वहीं चलना भी है, परन्तु पहिले वही चल देता है, जिसका काल उपस्थित हो जाता है, इसमें रोने से क्या लाभ है ॥१०॥

न चाप्येतान्हतान्युद्धे राजन् शोचितुमर्हसि ।
प्रमाणं यदि शास्त्राणि गतास्ते परमां गतिम् ॥११॥

हे राजन् ! तुमको युद्ध में मरे हुए प्राणियों का शोक नहीं करना चाहिए । यदि शास्त्र सच्चे हैं, तो तुम्हारे पुत्रों को परमगति प्राप्त हो गई ॥११॥

सर्वे स्वाध्यायवन्तो हि सर्वे च चरितव्रताः ।
सर्वे चाभिमुखाः क्षीणास्तत्र का परिदेवना ॥१२॥

तुम्हारे सारे पुत्र स्वाध्याय शील और सदाचारी थे । ये सारे रण में सन्मुख लड़ते हुए क्षीण हुए हैं, फिर शोक करने का क्या स्थान है ॥१२॥

अदर्शनादापतिताः पुनश्चादर्शनं गताः ।
नैते तव न तेषां त्वं तत्र का परिदेवना ॥१३॥

ये सारे पुत्र प्रथम तुमको दिखाई नहीं देते थे, फिर उत्पन्न होकर तुम्हारे दर्शन में आए। इन पुत्रों का तुमसे और तुम्हारा इनसे कोई सम्बन्ध नहीं है। इस विषय में तुम क्यों रोते हो १३।

हतोऽपि लभते स्वर्गं हत्वा च लभते यशः ।
उभयं नो बहुगुणं नास्ति निष्फलता रणे ॥१४॥

जो मनुष्य युद्ध में मारा जाता है, वह स्वर्ग पाता है और जो मार लेता है, वह यश पाता है। हम क्षत्रियों के इस युद्ध में दोनों हाथों में लड्डू रहते हैं। युद्ध तो किसी तरह भी निरर्थक नहीं है।

तेषां कामदुघाल्लोकानिन्द्रः सङ्कल्पयिष्यति ।
इन्द्रस्यातिथयो ह्येते भवन्ति भरतर्षभ ॥१५॥

हे भरतर्षभ ! इन वीरों को कामना के देने वाले लोकों की इन्द्र रचना करता है। ये लोग तो इन्द्र के अतिथि बन जाया करते हैं ॥१५॥

न यज्ञैर्दक्षिणावद्भिर्न तपोभिर्न विद्यया ।
स्वर्गं यान्ति यथा मर्त्या यथा शूरा रणे हताः ॥१६॥

मनुष्य, दक्षिणा युक्त यज्ञ, तप, ज्ञान आदि उत्तम वस्तुओं से इतना शीघ्र स्वर्ग नहीं पा सकते हैं, जितना शीघ्र शूरवीर रण में मृत्यु पाकर स्वर्ग पहुंच जाता है ॥१६॥

शरीराग्निषु शूराणां जुहुवुस्ते शराहुतीः ।
हूयमानान् शरांश्चैव सेहुस्तेजस्विनो मिथः ॥१७॥

शूरवीरों के शरीर रूपी अग्नियों में इन वीरों ने बाणरूपी आहुति डाली हैं । इन आहुति रूप बाणों को परस्पर तेजस्वी वीर सहते रहते हैं ॥१७॥

एवं राजंस्तवाचक्षे स्वर्ग्यं पन्थानमुत्तमम् ।
न युद्धादधिकं किञ्चित्क्षत्रियस्येह विद्यते ॥१८॥

हे राजन ! यह तुमको मैंने स्वर्ग का उत्तम मार्ग बता दिया है। क्षत्रिय को तो युद्ध से अधिक कल्याणकारी कोई मार्ग ही नहीं है ॥१८॥

क्षत्रियास्ते महात्मानः शूराः समितिशोभनाः ।
आशिषः परमाः प्राप्ता न शोच्याः सर्व एव हि ॥

ये महावीर युद्ध में शोभा पाने वाले महात्मा क्षत्रिय बड़े उत्तम आशीषों (लोकों) को पा चुके । ये सारे शोक करने के योग्य नहीं हैं ॥१९॥

आत्मानमात्मनाऽऽश्वास्य मा शुचः पुरुषर्षभ ।
नाद्य शोकाभिभूतस्त्वं कायमुत्स्रष्टुमर्हसि ॥२०॥

हे पुरुषर्षभ ! तुम अब अपने आपको सान्त्वना दो । तुम्हें शोक में निमग्न होकर अपने शरीर छोड़ने का प्रयत्न नहीं करना चाहिए ॥२०॥

मातापितृसहस्राणि पुत्रदारशतानि च ।
संसारेष्वनुभूतानि कस्य ते कस्य वा वयम् ॥२१॥

प्राणी के सहस्रों माता पिता और सहस्रों ही पुत्र स्त्रियां हो चुकीं। ये सारे संसार में यही अनुभव कर रहे हैं, परन्तु यह तो बताओ, कि ये किसके क्या हैं और हम किसके क्या लगते हैं २१॥

शोकस्थानसहस्राणि भयस्थानशतानि च ।
दिवसे दिवसे मूढमाविशन्ति न पण्डितम् ॥२२॥

सैकड़ों शोक के स्थान हैं और सैकड़ों भय के स्थान हैं। ये दिन प्रतिदिन मूर्ख मनुष्य को सताते हैं। पण्डित को इनसे कोई क्लेश नहीं है। २२॥

न कालस्य प्रियः कश्चिन्न द्वेष्यः कुरुसत्तम ।
न मध्यस्थः क्वचित्कालः सर्वं कालः प्रकर्षति ॥२३॥

हे कुरुसत्तम! काल का न तो कोई प्रिय न कोई शत्रु है और न कोई मध्यस्थ माना गया है। वह तो सबको पकड़ कर अपनी ओर खैंच लेता है ॥२३॥

कालः पचति भूतानि कालः संहरते प्रजाः ।
कालः सुप्तेषु जागर्ति कालो हि दुरतिक्रमः ॥२४॥

हे नृप! काल ही सारे प्राणियों को पैदा करता है और काल ही सारी प्रजा का संहार करता है। काल मनुष्य के सोने पर भी जागता है। इस काल का कोई अतिक्रमण नहीं कर सकता है।

अनित्यं यौवनं रूपं जीवितं द्रव्यसञ्चयः ।
आरोग्यं प्रियसंवासो गृद्ध्येदेषु न पण्डितः ॥२५॥

यौवन, रूप, जीवन, द्रव्य-सञ्चय, आरोग्य, प्रिय-संवाद आदि अनित्य हैं। पण्डित मनुष्य इनमें नहीं फंसता है ॥२५॥

न जानपदिकं दुःखमेकः शोचितुमर्हसि ।
अप्यभावेन युज्येत तच्चास्य न निवर्तते ॥२६॥

इस संसार के दुःख को तुम अकेले अपने ऊपर न उठाओ। जो अभाव होने वाला है, उसको कोई मिटा नहीं सकता है ॥२६॥

अशोचन्प्रतिकुर्वीत यदि पश्येत्पराक्रमम् ।
भैषज्यमेतद्दुःखस्य यदेतन्नानुचिन्तयेत् ॥२७॥
चिन्त्यमानं हि न व्येति भूयश्चापि प्रवर्धते ।

यदि किसी कार्य में पराक्रम करने से शान्ति मिल जावे-तो विना शोक किए उसका प्रतीकार कर डाले। यही दुःख की औषधि है, कि उसका निरर्थक चिन्तन न करे। शोक स्थान का बार २ चिन्तन करने से शोक न्यून नहीं होता है, किन्तु वह बढ़ जाता है ॥२७॥

अनिष्टसम्प्रयोगाच्च विप्रयोगात्प्रियस्य च ॥२८॥
मानुषा मानसैर्दुःखैर्दह्यन्ते चाल्पबुद्धयः ।
नार्थो न धर्मो न सुखं यदेतदनुशोचसि ॥२९॥
न च नापैति कार्यार्थो त्रिवर्गाच्चैव हीयते ।

हे राजन्! अनिष्ट के सम्पर्क और इष्ट के वियोग से क्षुद्र बुद्धि मनुष्य अपने मानस दुःखों से जलते रहते हैं। बार २ शोक के चिन्तन से न तो कोई प्रयोजन निकलता है, न धर्म होता है

और न सुख ही मिलता है। उनके सारे कार्य अवश्य बिगड़ जाते हैं और वह धर्म, धन और काम से रहित हो जाता है ॥२८-२९॥

अन्यामन्यां धनावस्थां प्राप्य वैशेषिकीं नराः।
असंतुष्टाः प्रमुह्यन्ति सन्तोषं यान्ति पण्डिताः ॥३०॥

मनुष्य, धन होने पर धन नाश को पाकर बड़े चिन्तित होते हैं, वे मूर्छित हो जाते हैं, परन्तु पण्डित तो इन बातों से सन्तोष ही पाते हैं ॥३०॥

प्रज्ञया मानसं दुःखं हन्याच्छारीरमौषधैः।
एतद्विज्ञानसामर्थ्यं न बालैः समतामियात् ॥३१॥

अपनी बुद्धि से मानसिक और औषध से शरीर दुःखों का नाश करे। मनुष्य की तो यही विज्ञान की शक्ति है। इससे आगे करके मूर्खों के बराबर नहीं बन जाना चाहिए ॥३१॥

शयानं चानुशेते हि तिष्ठन्तं चानुतिष्ठति।
अनुधावति धावन्तं कर्म पूर्वकृतं नरम् ॥३२॥

मनुष्य का पूर्व कृत कर्म सोते हुए के साथ सोता है, ठहरे हुए के साथ ठहरता है और दौड़ते हुए मनुष्य के साथ दौड़ता रहता है ॥३२॥

यस्यां यस्यामवस्थायां यत्करोति शुभाशुभम्।
तस्यां तस्यामवस्थायां तत्फलं समुपाश्नुते ॥३३॥

जो मनुष्य, जिस २ अवस्था में जैसा २ शुभ या अशुभ कर्म करता है, उसी २ अवस्था में उसको उसका फल प्राप्त होता रहता है ॥३३॥

येन येन शरीरेण यद्यत्कर्म करोति यः ।

तेन तेन शरीरेण तत्फलं समुपाश्नुते ॥३४॥

जिस २ शरीर से मनुष्य, जो २ कर्म करता है, उसी २ तरह के शरीर प्राप्त करके वह उसका फल भोगता है ॥३४॥

आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः ।

आत्मैव ह्यात्मनः साक्षी कृतस्यापकृतस्य च ॥३५॥

अपने आत्मा का मनुष्य आप ही बन्धु है और अपने आपका मनुष्य आप ही शत्रु है। अपने किए हुए शुभ या अशुभ कर्मों का भी मनुष्य अपने आप ही साक्षी है ॥३५॥

शुभेन कर्मणा सौख्यं दुःखं पापेन कर्मणा ।

कृतं भवति सर्वत्र नाकृतं विद्यते क्वचित् ॥३६॥

जो मनुष्य शुभ कर्म करता है, उसको सुख और जो पाप कर्म करता है, उसको दुःख मिलता है। जो कुछ मनुष्य कर्म करता है, उसको उसका फल मिलता है, विना किए हुए किसी को कहीं कुछ नहीं मिलता ॥३६॥

न हि ज्ञानविरुद्धेषु बह्वपायेषु कर्मसु ।

मूलघातिषु सज्जन्ते बुद्धिमन्तो भवद्विधाः ॥३७॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां स्त्रीपर्वणि जलप्रदानिकपर्वणि धृतराष्ट्रविशोककरणे द्वितीयोऽध्यायः ॥२॥

हे राजन ! ज्ञान के विरुद्ध बहुत दुःखदायी कर्मों में तुम जैसे बुद्धिमान् पुरुषों को नहीं उलझ जाना चाहिए । ऐसे कर्म तो मनुष्य के मूल कल्याण का विनाश कर देते हैं ।।३७।।

इति श्रीमहाभारत स्त्रीपर्वान्तर्गत जलप्रदानिकपर्व में धृतराष्ट्र के शोक शान्ति के लिए किए गए विदुर के उपदेश का दूसरा अध्याय समाप्त हुआ ।

तीसरा अध्याय

धृतराष्ट्र उवाच — सुभाषितैर्महाप्राज्ञ शोकोऽयं विगतो मम ।
भूय एव तु वाक्यानि श्रोतुमिच्छामि तत्वतः ।।१।।

धृतराष्ट्र बोले—हे महाप्राज्ञ ! विदुर ! तुम्हारे इस उत्तम उपदेश से मेरे सारे शोक का नाश हो गया है । अब मैं ऐसे ही अन्य उपदेश भी अच्छी तरह फिर सुनना चाहता हूं ।।१।।

अनिष्टानां च संसर्गादिष्टानां च विसर्जनात् ।
कथं हि मानसैर्दुःखैः प्रमुच्यन्ते तु पण्डिताः ।।२।।

जब मनुष्य को अनिष्ट पदार्थों की प्राप्ति और इष्ट पदार्थों की अप्राप्ति होती है, तो फिर पण्डित किस ढङ्ग से इससे होने वाले मानस दुःख से छुटकारा पा लेता है ।।२।।

विदुर उवाच— यतो यतो मनो दुःखात्सुखाद्वा विप्रमुच्यते
ततस्ततो नियम्यैतच्छान्तिं विन्देत वै बुधः ।।३।।

विदुरजी कहने लगे—हे राजन्! मनुष्य, जब २ दुःख और सुख से आसक्त होता है, तब उसे दुःख होता है। पण्डित को चाहिए, कि वह वहां २ से अपने मन का नियन्त्रण करे-तो वह शान्ति पा सकता है ॥३॥

अशाश्वतमिदं सर्वं चिन्त्यमानं नरर्षभ।
कदलीसन्निभो लोकः सारो ह्यस्य न विद्यते ॥४॥

हे नरर्षभ! जो कुछ तुम विचार रहे हो-यह सब अनित्य है। यह सारा संसार कदली के पेड़ के समान है। इसमें सार कुछ भी नहीं है ॥४॥

यदा प्राज्ञाश्च मूढाश्च धनवन्तोऽथ निर्धनाः।
सर्वे पितृवनं प्राप्य स्वपन्ति विगतज्वराः ॥५॥

जब पण्डित और मूर्ख, धनवान् और निर्धन, श्मशान को पाकर निश्चिन्त सोते हैं, तो फिर चिन्ता किस बात की है ॥५॥

निर्मांसैरस्थिभूयिष्ठैर्गात्रैः स्नायुनिबन्धिभिः।
किं विशेषं प्रपश्यन्ति तत्र तेषां परे जनाः ॥६॥

उस समय श्मशान में प्रत्येक मनुष्य में मांस का अभाव, अस्थि की अधिकता और नसनाड़ियों का बन्धन दिखाई देता है, अन्य मनुष्य उन मृत मनुष्यों में धन, विद्या आदि की क्या विशेषता देखते हैं ॥६॥

ये न प्रत्यवगच्छेयुः कुलरूपविशेषणम्।
कस्मादन्योन्यमिच्छन्ति विप्रलब्धधियो नराः ॥७॥

जब मरणानन्तर कुल और रूप की विशेषता का कुछ भी पता नहीं है, तो फिर बुद्धिविहीन लोग क्यों एक दूसरे को चाहते हैं।

गृहाएयेव हि मर्त्यानामाहुर्देहानि पण्डिताः ।
कालेन विनियुज्यन्ते सत्वमेकं तु शाश्वतम् ॥८॥

पण्डित लोग मनुष्यों के देहों को घर बताते हैं। ये देह समय पर बिखर जाते हैं, परन्तु इनमें आत्मतत्व सर्वदा बना रहता है ॥८॥

यथा जीर्णमजीर्णं वा वस्त्रं त्यक्त्वा तु पूरुषः ।
अन्यद्रोचयते वस्त्रमेवं देहाः शरीरिणाम् ॥९॥

जिस प्रकार पुरुष जीर्ण या नवीन वस्त्र का त्याग या धारण करता रहता है, उसी तरह आत्मा भी देह का धारण या त्याग करता है ॥९॥

वैचित्रवीर्य साध्यं हि दुःखं वा यदि वा सुखम् ।
प्राप्नुवन्तीह भूतानि स्वकृतेनैव कर्मणा ॥१०॥

हे धृतराष्ट्र ! जो दुःख या सुख साधनों से प्राप्त होते हैं, उनको प्राणी अपने २ किए हुए कर्मों के अनुसार ही प्राप्त कर पाते हैं।

कर्मणा प्राप्यते स्वर्गः सुखं दुःखं च भारत ।
ततो वहति तं भारमवशः स्ववशोऽपि वा ॥११॥

हे भारत ! मनुष्य कर्मानुसार स्वर्ग में सुख या दुःख प्राप्त करता है। मनुष्य पर जो बोझा आ पड़ता है, तो उसे स्वतन्त्रता या परतन्त्रता से अवश्य भोगना पड़ता है ॥११॥

यथा च मृन्मयं भाण्डं चक्रारूढं विपद्यते ।
किञ्चित्प्रक्रियमाणं वा कृतमात्रमथापि वा ॥१२॥
छन्नं वाप्यवरोप्यन्तमवतीर्णमथापि वा ।
आर्द्रं वाऽप्यथवा शुष्कं पच्यमानमथापि वा ॥१३॥
उत्तार्यमाणमापाकादुद्धृतं चापि भारत ।
अथवा परिभुज्जन्तमेवं देहाः शरीरिणाम् ॥१४॥
गर्भस्थो वा प्रसूतो वाऽप्यथवा दिवसान्तरः ।
अर्धमासगतो वाऽपि मासमात्रगतोऽपि वा ॥१५॥
संवत्सरगतो वापि द्विसंवत्सर एव वा ।
यौवनस्थोऽथ मध्यस्थो वृद्धो वाऽपि विपद्यते ॥१६॥
प्राक्कर्मभिस्तु भूतानि भवन्ति न भवन्ति च ।
एवं सांसिद्धिके लोके किमर्थमनुतप्यसे ॥१७॥

हे राजन् ! कोई मिट्टी का पात्र तो चक्र पर चढ़ा हुआ फूट जाता है और कुछ पात्र साधारण क्रिया करने पर और कुछ बनते २ फूट जाते हैं। कुछ फैलाए जाते, कुछ चाक पर से उतारे जाते, कुछ उतारे हुए, कुछ गीले, कुछ शुष्क, कुछ पकाए जाते हुए, कुछ पके हुए, कुछ हवे से निकाले हुए और कुछ आंच दिखाए जाते हुए नष्ट हो जाते हैं, इसी तरह मनुष्यों के देह समझो। कोई गर्भ में, कोई उत्पन्न होकर, कोई कुछ दिन में, कोई पक्ष में, कोई मास में, कोई वर्ष भर में, कोई दो वर्ष में, कोई युवा, कोई प्रौढ़ और कोई वृद्धावस्था में चल बसता है। इसका सार यही है, कि

प्राणी, पूर्व जन्म के कर्मों के अनुसार होते और मिट जाते हैं। जब संसार का स्वभाव ही ऐसा है-तो तुम व्यर्थ क्यों पश्चात्ताप कर रहे हो ॥१८-१९॥

यथा तु सलिलं राजन् क्रीडार्थमनुसन्तरत् ।
उन्मज्जेच्च निमज्जेच्च किञ्चित्सत्वं नराधिप ॥१८॥
एवं संसारगहने उन्मज्जननिमज्जने ।
कर्मभोगेन बध्यन्ते क्लिश्यन्ते चाल्पबुद्धयः ॥१९॥

हे राजन ! जैसे मनुष्य अपने विलास के लिए पानी में तैरता है, उसमें कभी डुबकी लगाता है और कभी ऊपर उठता है, उसी तरह गहन संसार रूपी समुद्र में मनुष्य ऊपर नीचे आता है। मनुष्य तो कर्म भोग से बंधता है, परन्तु थोड़ी बुद्धि वाले मनुष्य क्लेश पाया करते हैं ॥१८-१९॥

ये तु प्राज्ञाः स्थिताः सत्वे संसारेऽस्मिन् हितैपिणः ।
समागमज्ञा भूतानां ते यान्ति परमां गतिम् ॥२०॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां
स्त्रीपर्वणि जलप्रदानिकपर्वणि विशोककरणे
तृतीयोऽध्यायः ॥३ ।

इस संसार में अपना हित चाहने वाले वे ही बुद्धिमान् मनुष्य हैं, जो आत्म ज्ञान में निरत हैं। जो बुद्धिमान् प्राणियों के समागम के इस रहस्य को जानता है, वह परम गति को प्राप्त होता है।

इति श्रीमहाभारत स्त्रीपर्वान्तर्गत जलप्रदानिकपर्व में राजा धृतराष्ट्र को विदुर के ज्ञान देने के वर्णन का तीसरा अध्याय समाप्त हुआ।

चौथा अध्याय

धृतराष्ट्र उवा कथं संसारगहनं विज्ञेयं वदतां वर।
एतदिच्छाम्यहं श्रोतुं तत्त्वमाख्याहि पृच्छतः ॥१॥

धृतराष्ट्र ने कहा—हे वक्तावर! इस गहन संसार का कैसे ज्ञान हो सकता है, मैं यह सुनना चाहता हूं, मैं इस बात को पूछता हूँ-तुम इसका तत्व बताओ ॥१॥

विदुर उवाच—जन्मप्रभृति भूतानां क्रिया सर्वोपलक्ष्यते।
पूर्वमेवेह कलिले वसते किञ्चिदन्तरम् ॥२॥
ततः स पञ्चमेऽतीते मासे वासमकल्पयत्।
ततः सर्वाङ्गसम्पूर्णो गर्भो वै स तु जायते ॥३॥
अमेध्यमध्ये वसति मांसशोणितलेपने।
ततस्तु वायुवेगेन ऊर्ध्वपादो ह्यधः शिराः ॥४॥
योनिद्वारमुपागम्य बहून क्लेशान्स मृच्छति।
योनिसम्पीडनाच्चैव पूर्वकर्मभिरन्वितः ॥५॥
तस्मान्मुक्तः स संसारादन्यान्पश्यत्युपद्रवान्।
ग्रहास्तमनुगच्छन्ति सारमेया इवामिषम् ॥६॥

विदुरजी बोले—हे राजन! जन्म से ही प्राणियों में सारी क्रियाएँ दिखाई देती हैं। यह प्राणी प्रथम तो कुछ दिन गर्भ के कलल (रजवीर्य के संयोग) में बसता है। उसके बाद पांचवें महीने में बालक देह में वास करता है अर्थात विकास को प्राप्त होता है, फिर सर्वाङ्ग पूर्ण होकर यह गर्भ रूप में दिखाई देता है। वहां मांस और रक्त में लिपटा हुआ अशुचि पदार्थों के मध्य में इस जीव को निवास करना पड़ता है। वहां वायु की प्रेरणा से ऊपर को पाद और नीचे को शिर करके लटकता हुआ योनिद्वार में आ फंसता है। वहां बड़े क्लेश का अनुभव करता है। अपने २ पूर्वजन्म के अनुसार योनि पीड़ा को भोगता है। इसके बाद यह प्राणी गर्भ से छुटकारा पाकर संसार में आ टपकता है और यह अनेक उपद्रव देखता है। इसके पीछे ग्रह दशा (कर्म भोग) भी इस तरह भागते रहते हैं, जैसे कुत्ते मांस की ओर बढ़ते हैं ॥२-६॥

ततः प्राप्तोत्तरे काले व्याधयश्चापि तं तथा।
उपसर्पन्ति जीवन्तं वध्यमानं स्वकर्मभिः ॥७॥

जब यह प्राणी कुछ बढ़ने लगता है, तो इसके साथ व्याधि चल पड़ती हैं और इसकी वृद्धि के साथ २ कर्मानुसार बंधे हुए इस जीव धारी को वे पीड़ा पहुंचाती रहती हैं ॥७॥

तं बद्धमिन्द्रियैः पाशैः सङ्गस्वादुभिरावृतम्।
व्यसनान्यपि वर्तन्ते विविधानि नराधिप ॥८॥

हे नराधिप ! युवावस्था में यह इन्द्रियपाश से बंधता जाता है और इन्द्रिय विषयों के सङ्ग के आस्वाद में लीन हो जाता है। इस समय इसको अनेक प्रकार के विषय आ घेरते हैं ॥८॥

बध्यमानश्च तैर्भूयो नैव तृप्तिमुपैति सः।
तदा नावैति चैवायं प्रकुर्वन्साध्वसाधु वा ॥९॥

इन व्यसनों में फंसा हुआ प्राणी कभी आनन्द नहीं पाता है। इनके बन्धन में पड़ा हुआ यह अच्छे बुरे कर्म का विचार छोड़ बैठता है ॥९॥

तथैव परिरक्षन्ति ये ध्यानपरिनिष्ठिताः।
अयं न बुद्ध्यते तावद्यमलोकमथागतम् ॥१०॥
यमदूतैर्विकृष्यंश्च मृत्युं कालेन गच्छति।

इस समय भी परमात्मा के ध्यान में संलग्न रहने वाले व्यक्ति अपनी रक्षा कर लेते हैं। विषयी प्राणी को तो यह पता भी नहीं लगता है, फिर वह यमराज के फंदे में फंस गया है। थोड़े दिन बाद उसको मृत्यु आ पकड़ती है और इसे यम के दूत खैंचने लगते हैं ॥१०॥

वाग्घीनस्य च यन्मात्रमिष्टानिष्टं कृतं मुखे॥
भूय एवात्मनाऽऽत्मानं बध्यमानमुपेक्षते ॥११॥

उस समय यह प्राणी वाणी-विहीन हुआ, मुख में ही सब कुछ किये हुए इष्ट अनिष्ट कर्मों के विषय में कहता रहता है, परन्तु जब यह फिर संसार में आता है, तब अपने बन्धन की फिर उपेक्षा कर बैठता है ॥११॥

अहो विनिकृतो लोको लोभेन च वशीकृतः।
लोभक्रोधभयोन्मत्तो नात्मानमवबुध्यते ॥१२॥

आश्चर्य तो यह है, कि इस संसार को इन विषयों ने फंसा रखा है। मनुष्य लोभ के वश में चक्कर लगा रहा है। यह प्राणी लोभ, क्रोध और भय से उन्मत्त होकर अपना कुछ भी पता नहीं लगा पाता ॥१२॥

कुलीनत्वे च रमते दुष्कुलीनान्विकुत्सयन्।
धनदर्पेण दृप्तश्च दरिद्रान्परिकुत्सयन् ॥१३॥

यह अपने को कुलीन मानकर घमण्ड करता है और अन्य नीच कुल वालों की निन्दा करता है। यह मूर्ख प्राणी धन के मद में उद्धत होकर दरिद्र व्यक्ति से घृणा करने लगता है ॥१३॥

मूर्खानिति परानाह नात्मनं समवेक्षते।
दोषान्क्षिपति चान्येषां नात्मानं शास्तुमिच्छति ॥१४॥

अन्य व्यक्तियों को यह मदोद्धत, मूर्ख कहता है और अपनी ओर कुछ भी नहीं देखता। यह अन्य के ही दोषों का उद्घाटन करने में लगा रहता है-परन्तु अपने शासन की इच्छा नहीं करता

यदा प्राज्ञाश्च मूर्खाश्च धनवन्तश्च निर्धनाः।
कुलीनाश्चाकुलीनाश्च मानिनोऽथाप्यमानिनः ॥१५॥
सर्वे पितृवनं प्राप्ताः स्वपन्ति विगतत्वचः।
निर्मांसैरस्थिभूयिष्ठैर्गात्रैः स्नायुनिबन्धनैः ॥१६॥

विशेषं न प्रपश्यन्ति तत्र तेषां परे जनाः।
ये न प्रत्यवगच्छेयुः कुलरूपविशेषणम् ॥१७॥
यदा सर्वे समं न्यस्ताः स्वपन्ति धरणीतले।
कस्मादन्योन्यमिच्छन्ति प्रलब्धुमिह दुर्बुधाः ॥१८॥

जब पण्डित और मूर्ख, धनवान और निर्धन, कुलीन और अकुलीन, मानी और मानहीन सारे ही श्मशान में जाकर अस्थि रूप में सोये पड़े रहते हैं। यहां मृतक का शरीर मांसहीन, अस्थिमात्रावशिष्ट, नाड़ियों के बन्धन मात्र से युक्त, शरीर दिखाई देते हैं। वहां खड़े हुए मनुष्य उनमें जब कुछ भी विद्वान् मूर्ख और धनी निर्धन का भेद नहीं पाते, वहां पर ये लोग उनका कुछ भी कुल रूप आदि का भेद नहीं देख पाते, जब सारे ही श्मशान में पड़े हुए पृथिवी में सोते हैं, तो फिर न मालूम ये मूर्ख मनुष्य क्यों एक दूसरे के ठगने का प्रयत्न कर रहे हैं ॥१५-१८॥

प्रत्यक्षं च परोक्षञ्च यो निशम्य श्रुतिं त्विमाम्।
अध्रुवे जीवलोकेऽस्मिन् यो धर्ममनुपालयन्।
जन्मप्रभृति वर्तेत प्राप्नुयात्परमां गतिम् ॥१९॥

जो मनुष्य प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में इस श्रुति प्रतिपादित मत को सुन लेता है और फिर चल संसार में धर्म का अनुपालन जन्म से ही करने लग जाता है, तो वह परम गति अवश्य पाता है।

एवं सर्वं विदित्वा वै यस्तत्वमनुवर्तते।
स प्रमोक्षयते सर्वान्पन्थानो मनुजेश्वर ॥२०॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां स्त्रीपर्वणि जलप्रदानिकपर्वणि विशोककरणे चतुर्थोऽध्यायः ४॥

हे मनुजेश्वर! इस प्रकार जो मनुष्य सब कुछ जानकर तत्त्व का अनुसरण करता है। वह मनुष्य सारे अन्य मनुष्यों को भी इन यममार्ग से मुक्त करा देता है ॥२०॥

इति महाभारत स्त्रीपर्वान्तर्गत जलप्रदानिकपर्व में विदुर के उपदेश का चौथा अध्याय समाप्त हुआ।

पांचवां अध्याय

धृतराष्ट्र उवाच—यदिदं धर्मगहनं बुद्ध्या समनुगम्यते।
तद्धि विस्तरतः सर्वं बुद्धिमार्गं प्रशंस मे।

धृतराष्ट्र बोले—हे विदुर! तुमने जिस धर्म का वर्णन किया, यह बड़ा गहन है। इसकी प्राप्ति बुद्धि से ही हो सकती है, इससे तुम प्रथम बुद्धिमार्ग का उपदेश करो ॥१॥

विदुर उवाच—अत्र ते वर्तयिष्यामि नमस्कृत्वा स्वयंभुवे।
यथा संसारगहनं वदन्ति परमर्षयः ॥२॥

विदुर ने कहा—हे राजन! मैं स्वयम्भू परमात्मा को नमस्कार करके आपको वही उपदेश करता हूं-जिस तरह महर्षियों ने इस संसार की गहनता बताई है ॥२॥

कश्चिन्महति कान्तारे वर्तमानो द्विजः किल ।
महद् र्गमनुप्राप्तो वनं क्रव्यादसंकुलम् ॥३॥
सिंहव्याघ्रगजर्क्षौघैरतिघोरं महास्वनैः ।
पिशितादैरतिभयैर्महोग्राकृतिभिस्तथा ॥४॥
समन्तात्सम्परिक्षिप्तं यत्स्म दृष्ट्वा त्रसेद्यमः ।
तदस्य दृष्ट्वा हृदयमुद्वेगमगमत्परम् ॥५॥

हे भरतर्षभ ! किसी एक महान् निर्जन वन में एक ब्राह्मण किसी प्रकार पहुँच गया । यह वन मांसभोजी सिंहादि से व्याप्त और बड़ा दुर्गम था । इसमें सिंह, व्याघ्र, गज और रीछों के घोर शब्द हो रहे थे, जिनसे यह बड़ा भयानक हो रहा था । बड़ी २ आकृति वाले मांसभोजी जन्तुओं से भरा होने से भी भयङ्कर था । यह सब ओर से गहन था, कि इसको देखकर यम भी डर सकता था । इस वन को देखकर इसके हृदय में बड़ी घबराहट हुई॥३-५॥

अभ्युच्छ्रयं च रोम्णां वै विक्रियाश्च परन्तप ।
स तद्वनं व्यनुसरन्संप्रधावन्नितस्ततः ॥६॥
वीक्षमाणो दिशः सर्वाः शरणं क्व भवेदिति ।
स तेषां छिद्रमन्विच्छन्प्रद्रुतो भयपीडितः ॥७॥
न च निर्याति वै दूरं न वातैर्विप्रमुच्यते ।

हे परन्तप ! इस समय इस ब्राह्मण के सारे रोमाञ्च खड़े हो गए । अब यह ब्राह्मण, इस वन में घूमने लगा और इधर उधर दौड़ने लगा । यह सारी दिशाओं को देख रहा था, कि

उसे कोई रक्षा स्थान मिले। वह इन भयानक प्राणियों से बचता हुआ, उनका मार्ग छोड़ २ कर भागने लगा। वह उस वन से दूर नहीं निकल सका और न बाघ के झोंकों से बच पाया ॥६-७॥

अथापश्यद्वनं घोरं समंताद्वागुरावृतम् ॥८॥
बाहुभ्यां सम्परिक्षिप्तं स्त्रिया परमघोरया ।
पञ्चशीर्षधरैर्नागैः शैलैरिव समुन्नतैः ॥९॥
नभः स्पृशैर्महावृक्षैः परिक्षिप्तं महावनम् ।

हे राजन ! इसके बाद इस ब्राह्मण ने लता बेलों के जाल से सब ओर से आवृत घोर वन को देखा। इसमें एक महाघोर रूपधारिणी स्त्री भुजा उठाए दिखाई पड़ी। यह वन पांच शिरधारी नागों के तुल्य पांच पर्वतों और आकाश को छूने वाले बड़े २ से व्याप्त था ॥८-९॥

वनमध्ये च तत्राभूदुदपानः समावृतः ॥१०॥
वल्लीभिस्तृणछन्नाभिर्दृढाभिरभिसंवृतः ।

इस वन के मध्य में जाल आदि के वृक्षों से ढका हुआ एक कुआ था। इस जाल पर दृढ़ तृण लता आदि छाए हुए थे ॥१०॥

पपात स द्विजस्तत्र निगूढे सलिलाशये ॥११॥
विलग्नश्चाभवत्तस्मिँल्लतासन्तानसंकुले ।
पनसस्य यथाजातं वृन्तबद्धं महाफलम् ॥१२॥

हे राजन ! यह ब्राह्मण इस गहरे कुए में गिर पड़ा और लतासमूह में उलझ गया। वहां अपने डांड से जुड़े हुए पनसफल (कटहल) की भांति यह ब्राह्मण लटकता दिखाई दिया ॥११-१२॥

स तथा लम्बते तत्र ह्यूर्ध्वपादो ह्यधः शिराः ।
अथ तत्रापि चान्योऽस्य भूयो जात उपद्रवः ॥१३॥

वह ब्राह्मण उस कूप में ऊपर को पैर और नीचे को शिर करके लटक रहा था, अब वहाँ इसको अन्य उपद्रव ने घेर लिया।

कूपमध्ये महानागमपश्यत महाबलम् ।
कूपवीनाहवेलायामपश्यत महागजम् ॥१४॥
षड्वक्त्रं कृष्णशुक्लं च द्विषट्कपदचारिणम् ।
क्रमेण परिसर्पन्तं वल्लीवृक्षसमावृतम् ॥१५॥

इसने कुवे के मध्य में एक महाबली महा फणधारी सर्प देखा। जब उसने कुवे की मुंडेर की ओर दृष्टि उठाई-तो वहां पर एक महागज को खड़े देखा. जिसके छः मुख और बारह पाद थे उसका रंग काला और श्वेत था । वह उस लता वल्लियों से आवृत्त स्थान की ओर सरक रहा था ॥१३-१५॥

तस्य चापि प्रशाखासु वृक्षशाखावलम्बिनः ।
नानारूपा मधुकरा घोररूपा भयावहाः ॥१६॥
आसते मधु संवृत्य पूर्वमेव निकेतजाः ।

उस ही वृक्ष की शाखा में महाभयानक रूपधारी अनेक मधु मक्खी थीं। वे वहां पूर्व से ही अपना घर (छत्ता) बनाकर स्थित थी, जिसमें मधु संवृत था ॥१६॥

भूयोभूयः समीहन्ते मधूनि भरतर्षभ ॥१७॥
स्वादनीयानिमू तानां यैर्बालो विप्रकृष्यते ।

यह मधु बहुत स्वाद युक्त होता है। लोग इसकी बहुत इच्छा करते हैं। इसी आस्वाद में मूर्ख मनुष्य फंस जाता है ॥१७॥

तेषां मधूनां बहुधा धारा प्रस्रवते तदा ॥१८॥
आलम्बमानः स पुमान् धारां पिबति सर्वदा।

उस छत्ते से कई मधु धारा निकल कर इस मनुष्य पर पड़ रही थी। वह लटकता हुआ पुरुष उन मधुधाराओं को पीने लगा ॥१८॥

न चास्य तृष्णा विरता पिबमानस्य सङ्कटे ॥१९॥
अभीप्सति तदा नित्यमतृप्तः स पुनः पुनः।

इस सङ्कट के समय भी मधुधारा का पान करता हुआ यह उसमें लिप्त हो गया। यह उसी को चाहता रहा और उसे बार २ पीता हुआ भी तृप्त नहीं हुआ ॥१९॥

न चास्य जीविते राजन्निर्वेदः समजायत ॥२०॥
तत्रैव च मनुष्यस्य जीविताशा प्रतिष्ठिता।

हे राजन! इस दशा में भी उस ब्राह्मण को वैराग्य नहीं हुआ। इस जीवन में मनुष्य को बहुत ही आशा लगी रहती है ॥२०॥

कृष्णाः श्वेताश्च तं वृक्षं कुट्टयन्ति च मूषिकाः ॥२१॥
व्यालैश्च वनदुर्गान्ते स्त्रिया च परमोग्रया।
कूपाधस्ताच्च नागेन वीनाहे कुञ्जरेण च ॥२२॥
वृक्षप्रपाताच्च भयं मूषिकेभ्यश्च पञ्चमम्।
मधुलोभान्मधुकरैः षष्ठमाहुर्महद्भयम् ॥२३॥

उस वृक्ष की शाखा को काले श्वेत दो चूहे काट रहे थे। इस दुर्गम वन में भयानक वनैले जन्तु भयङ्कर रूप धारिणी (भूतनी) स्त्री विद्यमान थीं। कूप के अधःस्थल में अजगर पड़ा था। कूप की मुंडेर पर हाथी स्थित था। इस वृक्ष के गिर जाने का भय था और पांचवां भय उन मूषकों का था। इस ब्राह्मण को मधु लोभ लगा था, इससे मधुमक्खियों का भी छठा महाभय बना था॥२१-२३॥

एवं स वसते तत्र क्षिप्तः संसारसागरे।
न चैव जीविताशायां निर्वेदमुपगच्छति ॥२४॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां स्त्रीपर्वणि जलप्रदानिकपर्वणि विशोककरणे पंचमोऽध्यायः ॥५॥

इस तरह यह ब्राह्मण इस संसार सागर में पड़ा था, परन्तु उसको अब भी जीवन की आशा लगी थी और उसे निर्वेद नहीं होता था ॥२४॥

इति श्रीमहाभारत स्त्रीपर्वान्तर्गत जलप्रदानिकपर्व में राजा धृतराष्ट्र को वैराग्य उपदेश करने का पांचवां अध्याय समाप्त हुआ।

छठा अध्याय

धृतराष्ट्र उवाच—अहो खलु महद्दुःखं कृच्छ्रवासश्च तस्य ह।
कथं तस्य रतिस्तत्र तुष्टिर्वा वदतां वर ॥१॥

धृतराष्ट्र बोले—हे महात्मन! यह तो बड़े दुःख की बात है। उस ब्राह्मण का तो बहुत दुःखदायी जीवन था। हे वाग्मिन! आप यह बताओ. कि उसे इस जीवन में क्या आनन्द और सन्तोष था।

स देशः क्व नु यत्रासौ वसते धर्मसङ्कटे।
कथं वा स विमुच्येत नरस्तस्मान्महाभयात् ॥२॥

हे महाभाग! वह स्थान कहां है-जहाँ इस प्रकार के धर्म सङ्कट में वह प्राणी पड़ा है। वह मनुष्य इस महाभय से कैसे छुटकारा पा सकता है ॥२॥

एतन्मे सर्वमाचक्ष्व साधु चेष्टामहे तदा।
कृपा मे महती जाता तस्याभ्युद्धरणेन हि ॥३॥

हे महात्मन! यह सब कुछ मुझे सुनाओ। मैं उसके उद्धार में बड़ी चेष्टा करूंगा। मुझे उस ब्राह्मण के उद्धार में बहुत दया उत्पन्न हो गई है ॥३॥

विदुर उवाच—उपमानमिदं राजन्मोक्षविद्भिरुदाहृतम्।
सुकृतं विन्दते येन परलोकेषु मानवः ॥४॥

विदुरजी बोले—हे भरतवंशश्रेष्ठ! यह कोई सत्य घटना नहीं है। यह तो मोक्षवादी पुरुषों ने अलङ्कार बनाया है। इसको जानकर मनुष्य परलोक में पुण्य का भोग करता है ॥४॥

उच्यते यत्तु कान्तारं महासंसार एव सः ।
वनं दुर्गं हि यच्चैतत्संसारगहनं हि तत् ॥५॥
ये च ते कथिता व्याला व्याधयस्ते प्रकीर्तिताः ।
या सा नारी बृहत्काया अध्यतिष्ठत तत्र वै ॥६॥
तामाहुस्तु जरां प्राज्ञा रूपवर्णविनाशिनीम् ।

यह जो हमने तुमको महावन बताया, यह तो महासंसार है और जो उसमें दुर्गम वन था, यह प्राणी का संसार है। इसमें जो व्याल, (वनैले जन्तुऐं) वे व्याधि समझनी चाहिए । इसमें जो भयानक आकर वाली नारी बताई थी, वह रूप वर्ण बिगाड़ने वाली जरा है ॥५-६॥

यस्तत्र कूपो नृपते स तु देहः शरीरिणाम् ॥७॥
यस्तत्र वसतेऽधस्तान्महाहिः काल एव स ।
अन्तकः सर्वभूतानां देहिनां सर्वहार्यसौ ॥८॥

हे नृपते ! यह जो कूप बताया, यह मनुष्यों का शरीर है। समें जो नीचे अजगर पड़ा था, वह काल समझना चाहिए। यही नब देहधारी प्राणियों का अन्तक तथा संहारकारी है ॥७-८॥

कूपमध्ये च या जाता वल्ली यत्र स मानवः ।
प्रताने लम्बते लग्नो जीविताशा शरीरिणाम् ॥९॥

कूप के मध्य में जो लता बताई और जिसकी शाखा में मनुष्य लटकता था, यह जीवन की आशा समझनी चाहिए ॥९॥

स यस्तु कूपवीनाहे तं वृक्षं परिसर्पति ।
षड्वक्त्रः कुञ्जरो राजन्स तु संवत्सरः स्मृतः ॥१०॥
मुखानि ऋतवो मासाः पादा द्वादशकीर्तिताः ।

हे राजन् ! वह जो कूप के ऊपर छः मुख वाला हाथी, वृक्ष की ओर सरक रहा था, वह षड् ऋतुओं से युक्त संवत्सर जानना चाहिए। इसके ऋतु मुख और बारह मास पाद थे ॥१०॥

ये तु वृक्षं निकृन्तन्ति मूषिकाः पन्नगास्तथा ॥११॥
रात्र्यहानि तु तान्याहुर्भूतानां परिचिन्तकाः ।

जो ये श्वेत और कृष्ण मूषक जन्तु, उस वृक्ष को काट रहे थे, ये प्राणियों को सम्हालने वाले रात दिन थे ॥११॥

ये ते मधुकरास्तत्र कामास्ते परिकीर्तिताः ॥१२॥
यास्तु ता बहुशो धाराः स्रवन्ति मधुनिस्रवम् ।
तां स्तु कामरसान्विद्याद्यत्र मज्जन्ति मानवाः ॥१३॥

इसमें जो मधु मक्खी थी, वे मनुष्य की कामनाएँ मानी गई हैं। उसमें जो मधु की धारा बह रही थी, ये सब विषयरस की धाराएँ थी, जिनमें मनुष्य फंसा रहता है ॥१२-१३॥

एवं संसारचक्रस्य परिवृत्तिं विदुर्बुधाः ।
येन संसारचक्रस्य पाशांश्छिन्दन्ति वै बुधाः ॥१४॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां
स्त्रीपर्वणि जलप्रदानिकपर्वणि विशोककरणे
षष्ठोऽध्यायः ॥६॥

हे राजन् ! इस तरह इस संसार चक्र के परिवर्तन को बुद्धिमान् मनुष्य जान लेते हैं। इसको जानकर ही इस संसारचक्र की पाशों के काटने में मनुष्य समर्थ हो पाता है ॥२५॥

इति श्रीमहाभारत स्त्रीपर्वान्तर्गत जलप्रदानिकपर्व में धृतराष्ट्र के शोक हटाने के उपदेश के वर्णन का छठा अध्याय समाप्त हुआ।

सातवां अध्याय

धृतराष्ट्र उवाच-अहोऽभिहितमाख्यानं भवता तत्त्वदर्शिना ।
भूय एव तु मे हर्षः श्रुत्वा वागमृतं तव ॥१॥

धृतराष्ट्र ने कहा—हे विदुर ! तुम बड़े तत्त्वदर्शी हो, तुमने बड़ा अच्छा उपाख्यान सुनाया। तुम्हारी वाणी रूपी अमृत के पाने से मुझे बड़ा हर्ष और तृप्ति प्राप्त होती है ॥१॥

विदुर उवाच-शृणु भूयः प्रवक्ष्यामि मार्गस्यैतस्य विस्तरम् ।
यच्छ्रुत्वा विप्रमुच्यन्ते संसारेभ्यो विचक्षणाः ॥२॥

विदुर ने कहा—हे राजन ! मैं तुमको इस मार्ग का फिर से विस्तार सुनाता हूँ, जिसको सुनकर विद्वान् मनुष्य, इस संसार चक्र से छुटकारा पा जाते हैं ॥२॥

यथा तु पुरुषो राजन्दीर्घमध्वानमास्थितः ।
क्वचित्क्वचिच्छ्रमाच्छ्रान्तः कुरुते वासमेव वा ॥३॥

एवं संसारपर्याये गर्भवासेषु भारत ।
कुर्वन्ति दुर्बुधा वासं मुच्यन्ते तत्र पण्डिताः ।४॥

हे राजन ! जैसे पुरुष, दीर्घमार्ग में चलता है और थक २ कहीं पर वास कर लेता है, उसी तरह इस संसार में बार २ मनुष्य गर्भ में वास करता है। इसमें मूर्ख तो फंस जाते हैं और पण्डित बच निकलते हैं ॥३-४॥

तस्मादध्वानमेवैतमाहुः शास्त्रविदो जनाः ।
यत्तु संसारगहनं वनमाहुर्मनीषिणः ॥५॥

हे नृप ! इस गहन संसार को विद्वानों ने वन कहा है और इस गर्भवास को लम्बा मार्ग माना है ॥५॥

सोऽयं लोकसमावर्त्तो मर्त्यानां भरतर्षभ ।
चराणां स्थावराणां च न गृध्येत्तत्र पण्डितः ॥६॥

हे भरतर्षभ ! सारे प्राणियों को इसी तरह संसार चक्र में घूमना पड़ता है। कोई चर और स्थावर योनियों में फंसता रहता है, परन्तु पण्डित मनुष्य इसमें आसक्ति नहीं करता है ॥६॥

शारीरा मानसाश्चैव मर्त्यानां ये तु व्याधयः ।
प्रत्यक्षाश्च परोक्षाश्च ते व्यालाः कथिता बुधैः ॥७॥

जो शरीर और मन की व्याधि मनुष्य के पीछे लगी हैं, वे प्रत्यक्ष अप्रत्यक्ष रूप से बुद्धिमानों ने वन के जन्तु माने हैं ॥७॥

क्लिश्यमानाश्च तैर्नित्यं वार्यमाणाश्च भारत ।
स्वकर्मभिर्महाव्यालैर्नोद्विजन्त्यल्पबुद्धयः ॥८॥

हे भारत ! मनुष्य इनसे क्लेशित हैं और इन व्याधियों ने ही इसे उलझा रखा है। इसमें अपने २ कर्मरूपी बड़े २ भयानक जन्तु हैं, जिनसे अल्प बुद्धि वाले मनुष्य दुःख नहीं मानते हैं॥८॥

अथापि तैर्विमुच्येत व्याधिभिः पुरुषो नृप ।
आवृणोत्येव तं पश्चाज्जरा रूपविनाशिनी ॥९॥

हे नृप ! यदि किसी प्रकार कोई मनुष्य इन व्याधियों से छुटकारा भी पा जावे-तो सारे सुख और रूप को नष्ट कर देने वाली जरा उसको आ दबोचती है ॥९॥

शब्दरूपरसस्पर्शैर्गन्धैश्च विविधैरपि ।
मज्जमांसमहापङ्के निरालम्बे समन्ततः ॥१०॥
संवत्सराश्च मासाश्च पक्षाहोरात्रसन्धयः ।
क्रमेणास्योपयुञ्जन्ति रूपमायुस्तथैव च ॥११॥
एते कालस्य निधयो नैतान् जानन्ति दुर्बुधाः ।
धात्राऽभिलिखितान्याहुः सर्वभूतानि कर्मणा ॥१२॥
रथः शरीरं भूतानां सत्वमाहुस्तु सारथिम् ।
इन्द्रियाणि हयानाहुः कर्मबुद्धिस्तु रश्मयः ॥१३॥

यह प्राणी अनेक प्रकार के शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्धों के सेवन से सब ओर से निरालम्ब मासमज्जा की महा कीचड़ स्वरूप इस शरीर में फँस जाता है। संवत्सर, मास, पक्ष, दिनरात संध्याकाल, ये सब इस मनुष्य के रूप और आयु का विनाश करते रहते हैं। ये संवत्सर आदि काल के प्रतिनिधि हैं, परन्तु

मूर्ख लोग नहीं जान पाते हैं। विधाता ने अपने २ कर्मों के अनुसार सारे प्राणियों में सुख दुःख को पूर्व से ही लिखकर निश्चित कर दिया है ॥११-१३॥

तेषां हयानां यो वेगं धावतामनुधावति ।
स तु संसारचक्रेऽस्मिंश्चक्रवत्परिवर्तते ॥१४॥

प्राणियों का शरीर तो एक प्रकार से रथ है, मन उसका सारथि है। इन्द्रियां अश्व हैं। कर्मप्रेरक बुद्धि उसकी रास है। जो मनुष्य इन भागते हुए इन्द्रिय रूपी घोड़ों के साथ २ दौड़ता है, वह इस संसार में चक्र की तरह घूमता रहता है ॥१४॥

यस्तान्संयमते बुद्ध्या संयतो न निवर्तते ।
ये तु संसारचक्रेऽस्मिंश्चक्रवत्परिवर्तिते ॥१५॥
भ्रममाणा न मुह्यन्ति संसारे न भ्रमन्ति ते ।

जो मनुष्य इन इन्द्रिय अश्वों को अपनी बुद्धि से रोक रखता है, वह संयमी होकर फिर नहीं लौटता, चक्र की तरह घूमते हुए इस संसार चक्र में वे प्राणी मोह को प्राप्त नहीं होते और फिर इस संसार में उनका घूमना ही बन्द हो जाता है ॥

संसारे भ्रमतां राजन् दुःखमेतद्धि जायते ॥१६॥
तस्मादस्य निवृत्त्यर्थं यत्नमेवाचरेद् बुधः ।
उपेक्षा नात्र कर्तव्या शतशाखः प्रवर्धते ॥१७॥

हे राजन्! संसार में घूमने वाले पुरुषों को अवश्य दुःख में फंसना पड़ता है, इसलिए इसकी निवृत्ति के लिए बुद्धिमान

मनुष्य प्रयत्न करता रहे। हे राजन्! इस विषय में उपेक्षा नहीं करनी चाहिए। यदि इसकी उपेक्षा की गई, तो यह सैकड़ों शाखाओं में बढ़ जाता है ॥१६-१७॥

यतेन्द्रियो नरो राजन् क्रोधलोभनिराकृतः ।
सन्तुष्टः सत्यवादी यः स शान्तिमधिगच्छति ॥१८॥

हे राजन्! जो मनुष्य अपनी इन्द्रियों को वश में रखता है, क्रोध और लोभ से बचा हुआ है तथा जो संतोषी और सत्यवादी है, वही शान्ति को प्राप्त करता है ॥१८॥

याम्यमाहू रथं ह्येनं मुह्यन्ते येन दुर्बुधाः ।
स चैतत्प्राप्नुयाद्राजन्यस्त्वं प्राप्तो नराधिप ॥१९॥

हे नराधिप! यह शरीर रूपी रथ तो यम का रथ है, मूर्ख लोग इसमें बैठकर मोहित हो जाते हैं। जो मनुष्य इस रथ का मोह करता है, वह इसी तरह क्लेशों में फंसता है, जिस तरह तुम क्लेश पङ्क में फंसे हो ॥१९॥

अनुतर्षुलमेवैतद्दुःखं भवति मारिष ।
राज्यनाशं सुहृन्नाशं सुतनाशं च भारत ।
साधुः परमदुःखानां दुःखभैषज्यमाचरेत् ॥२०॥
ज्ञानौषधमवाप्येह दूरपारं महौषधम् ।
छिन्द्याद्दुःखमहाव्याधिं नरः संयतमानसः ॥२१॥

हे आर्य! भारत! जो मनुष्य अधिक तृष्णा में फंस गया है, उसे ही राज्यनाश, सुहृद् नाश और सुतनाश का दुःख प्राप्त होता

है। महात्मा पुरुष, इन परम दुःख का सेवन करता रहे। इन दुःखों की औषध ज्ञान है, जो महौषध बड़ी दूर से लानी पड़ती है। मनुष्य अपने मन को वश में करके इस दुःखरूपी महाव्याधि को काट कर फेंक दे ॥२०-२१॥

न विक्रमो न चाप्यर्थो न मित्रं न सुहृज्जनः।
तथोन्मोचयते दुःखाद्यथाऽऽत्मा स्थिरसंयमः ॥२२॥

अपना पराक्रम, धन, मित्र या सुहृद्जन कोई भी इतना दुःख से छुड़ाने वाला नहीं है, जितना अपना संयमी मन मनुष्य को क्लेशों से छुड़ाता है ॥२२॥

तस्मान्मैत्रं समास्थाय शीलमापद्य भारत।
दमस्त्यागोऽप्रमादश्च ते त्रयो ब्रह्मणो हयाः ॥२३॥

हे भारत! अब तुम सबसे मित्रभाव की स्थापना करके शीलधर्म का अनुसरण करो। दम, त्याग और अप्रमाद-ये तीन ब्रह्म के अश्व माने गए हैं ॥२३॥

शीलरश्मिसमायुक्तः स्थितो यो मानसे रथे।
त्यक्त्वा मृत्युभयं राजन्ब्रह्मलोकं स गच्छति ॥२४॥

हे राजन्! जो व्यक्ति, शीलधर्म की किरणों (रासों) से युक्त होकर अपने मन के संयमयुक्त रथ में स्थित है, वह मृत्यु भय से पार होकर ब्रह्मलोक को प्राप्त होता है ॥२४॥

अभयं सर्वभूतेभ्यो यो ददाति महीपते।
स गच्छति परं स्थानं विष्णोः पदमनामयम् ॥२५॥

हे महीपते ! जो मनुष्य अपनी ओर से सब को अभयदान देता है, वह अनामय विष्णु के उत्कृष्ट स्थान को अवश्य प्राप्त कर लेता है ॥२५॥

न तत्क्रतुसहस्रेण नोपवासैश्च नित्यशः ।
अभयस्य च दानेन यत्फलं प्राप्नुयान्नरः ॥२६॥

सहस्रों यज्ञ और नित्य के उपवासों से वह फल नहीं मिलता, जो शील द्वारा अभयदान करने से मनुष्य प्राप्त कर लेता है ।

न ह्यात्मनः प्रियतरं किञ्चिद्भूतेषु निश्चितम् ।
अनिष्टं सर्वभूतानां मरणं नाम भारत ॥२७॥
तस्मात्सर्वेषु भूतेषु दया कार्या विपश्चिता ।

हे भारत ! सारे प्राणियों को एक ही वस्तु कोई प्रिय ०। उसका निश्चयपूर्वक कथन नहीं किया जा सकता है, परन्तु मरण नामक पदार्थ सबके लिए एकसा अप्रिय पदार्थ है, इससे सारे प्राणियों में मनुष्य को दया अवश्य करनी चाहिए ॥२७॥

नानामोहसमायुक्ता बुद्धिजालेन संवृताः ॥२८॥
असूक्ष्मदृष्टयो मन्दा भ्राम्यन्ते तत्र तत्र ह ।
सुसूक्ष्मदृष्टयो राजन्व्रजन्ति ब्रह्म शाश्वतम् । २९॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां स्त्रीपर्वणि जलप्रदानिकपर्वणि विशोककरणे सप्तमोऽध्यायः ॥७॥

हे राजन् ! अनेक प्रकार के मोह से युक्त, बुद्धिजाल से आवृत, सूक्ष्म दृष्टिरहित मूर्ख लोग ही बार २ यत्र तत्र योनियों मे घूमते रहते हैं, परन्तु जिनकी सूक्ष्म दृष्टि है, वे ब्रह्म के सनातन पद को प्राप्त होते हैं ॥२८-२६॥

इति श्रीमहाभारत स्त्रीपर्वान्तर्गत जलप्रदानिकपर्व में धृतराष्ट्र को विदुर के उपदेश का सातवां अध्याय समाप्त हुआ।

आठवां अध्याय

वैशम्पायन उवाच— विदुरस्य तु तद्वाक्यं निशम्य कुरुसत्तमः
पुत्रशोकाभिसन्तप्तः पपात भुवि मूर्च्छितः ॥१॥

वैशम्पायन बोले—हे राजन् ! महात्मा विदुर के ये वचन सुनकर अपने पुत्र के शोक से सन्तप्त हुआ राजा धृतराष्ट्र मूर्च्छित होकर पृथिवी में गिर गया ॥१॥

तं तथा पतितं भूमौ निःसंज्ञं प्रेक्ष्य बान्धवाः ।
कृष्णद्वैपायनश्चैव क्षत्ता च विदुरस्तथा ॥२॥
सञ्जयः सुहृदश्चान्ये द्वाःस्था ये चास्य संमताः ।
जलेन सुखशीतेन तालवृन्तैश्च भारत ॥३॥
पस्पर्शुश्च करैर्गात्रं वीज्यमानश्च यत्नतः ।
आश्वास्य तु चिरं कालं धृतराष्ट्रं तथागतम् ॥४॥

हे भारत ! इस प्रकार संज्ञाहीन होकर भूमि में पड़े हुए राजा धृतराष्ट्र को बान्धवगण, कृष्णद्वैपायन व्यास, महात्मा विदुर, सञ्जय, सुहृद् तथा अन्य द्वारस्थित प्रेमी व्यक्ति देखकर सुखकारी शीतल जल से छिड़कने तथा तालवृन्तों से पवन करने और हाथों से छूने लगे। इस दशा में पहुंचे हुए राजा धृतराष्ट्र को ये लोग देर तक आश्वासन देते रहे ॥२-४॥

अथ दीर्घस्य कालस्य लब्धसंज्ञो महीपतिः ।
विललाप चिरं कालं पुत्राधिभिरभिप्लुतः ॥५॥

इसके बाद लम्बे उपचार से राजा धृतराष्ट्र को चेतनता आई। अब वह पुत्र-चिन्ता से व्याप्त होकर फिर बहुत देर तक विलाप करता रहा ॥५॥

धिगस्तु खलु मानुष्यं मानुषेषु परिग्रहे ।
यतो मूलानि दुःखानि सम्भवन्ति मुहुर्मुहुः ॥६॥

इस मनुष्य जन्म को धिक्कार है और मनुष्यों के प्रेमपाश में बंध जाने को भी महा धिक्कार है। बस ? दुःख तो बारबार इन ही के कारण से होते हैं ॥६॥

पुत्रनाशेऽर्थनाशे च ज्ञातिसम्बन्धिनामथ ।
प्राप्यते सुमहद्दुःखं विषाग्निप्रतिमं विभो ॥७॥

हे विभो ! पुत्र, धन, जाति और सम्बन्धियों के नाश होने पर आज मुझे विष और अग्नि पीड़ा के सदृश महादुःख की प्राप्ति हो रही है ॥७॥

येन दह्यन्ति गात्राणि येन प्रज्ञा विनश्यति ।
येनाभिभूतः पुरुषो मरणं बहु मन्यते ॥८॥

इस दुःख में शरीर जलते रहते हैं और सारी बुद्धि नष्ट हो जाती है। इस दुःख से आक्रान्त हुआ व्यक्ति मरण तक को अच्छा समझ लेता है ॥८॥

तदिदं व्यसनं प्राप्तं मया भाग्यविपर्ययात् ।
तस्यान्तं नाधिगच्छामि ऋते प्राणविमोक्षणात् ॥९॥
तथैवाहं करिष्यामि अद्यैव द्विजसत्तम ।

आज मुझे मेरे भाग्य के विपरीत हो जाने से इस संकट की प्राप्ति हुई है, जिसकी समाप्ति, बिना प्राणान्त हुए नहीं हो सकती है द्विजसत्तम ! आज मैं अपने प्राणों का ही मोक्षण किए देता हूं ॥९॥

इत्युक्त्वा तु महात्मानं पितरं ब्रह्मवित्तमम् ॥१०॥
धृतराष्ट्रोऽभवन्मूढः स शोकं परमं गतः ।
अभूच्च तूष्णीं राजाऽसौ ध्यायमानो महीमते ॥११॥

हे राजन् ! अपने पिता ब्रह्मज्ञानी व्यास से इतना कहकर राजा धृतराष्ट्र पागल सा हो गया और वह बहुत ही शोक में निमग्न हुआ । हे महीपते ! राजा धृतराष्ट्र तो अपने पुत्रों के ध्यान में बिलकुल ही चिन्ता के साथ अब चुप होकर बैठ गया ।

तस्य तद्वचनं श्रुत्वा कृष्णद्वैपायनः प्रभुः ।
पुत्रशोकाभिसन्तप्तं पुत्रं वचनमब्रवीत् ॥१२॥

राजा धृतराष्ट्र के वचन सुनकर भगवान् कृष्णद्वैपायन मुनि, पुत्र शोक से अभिसन्तप्त अपने पुत्र धृतराष्ट्र से यह वचन कहने लगे।

व्यास उवाच— धृतराष्ट्र महाबाहो यत्त्वां वक्ष्यामि तच्छृणु
श्रुतवानसि मेधावी धर्मार्थकुशलः प्रभो ॥१३॥

व्यासजी बोले—हे महाबाहो ! धृतराष्ट्र ! तुम शास्त्र के ज्ञाता मेधावी, धर्म और नीति के जानने वाले पुरुष हो । अब जो मैं तुमसे कहता हूं-तुम उसको ध्यान से सुनो ॥१३॥

न तेऽस्त्यविदितं किञ्चिद्वेदितव्यं परन्तप ।
अनित्यतां हि मर्त्यानां विजानासि न संशयः ॥१४॥

हे परन्तप ! तुमको कुछ जानने के लिए अवशिष्ट नहीं है। तुम प्राणियों की अनित्यता को अच्छी तरह जानते हो-इसमें भी सन्देह नहीं है ॥१४॥

अध्रुवे जीवलोके च स्थाने वाशाश्वते सति ।
जीविते मरणान्ते च कस्माच्छोचसि भारत ॥१५॥

हे भारत ! इस अस्थिर जगत् में मनुष्य की स्थिति भी चञ्चल ही है, फिर इसमें जीने और मरने का तुम क्या शोक कर रहे हो ॥१५॥

प्रत्यक्षं तव राजेन्द्र वैरस्यास्य समुद्भवः ।
पुत्रं ते कारणं कृत्वा कालयोगेन कारितः ॥१६॥

हे राजेन्द्र ! तुम्हारे नेत्रों के सन्मुख इस वैर की उत्पत्ति हुई। यह सब कुछ तुम्हारे पुत्र को कारण बनाकर समय ने यह सब कुछ किया है ॥१६॥

अवश्यं भवितव्ये च कुरूणां वैशसे नृप ।
कस्माच्छोचसि तान्शूरान् गतान्परमिकां गतिम् ।

हे नृप ! यह तो कौरवों का विनाश अवश्यम्भावी था। अब तुम परम गति में पहुँचे इन शूरवीरों की क्या चिन्ता कर रहे हो।

जानता च महाबाहो विदुरेण महात्मना ।
यतितं सर्वयत्नेन शमं प्रति जनेश्वर ॥१८॥

न च दैवकृतो मार्गः शक्यो भूतेन केनचित् ।
घटताऽपि चिरं कालं नियन्तुमिति मे मतिः ॥१९॥

हे महाबाहो ! जनेश्वर ! सब कुछ समझने वाले, महात्मा विदुर ने पूरा बल लगाकर सन्धि करानी चाही, परन्तु दैव के बनाए मार्ग को लम्बे काल तक प्रयत्न करने पर भी कोई प्राणी कभी नहीं रोक सकता है-ऐसी मेरी मति है ॥१८॥

देवतानां हि यत्कार्यं मया प्रत्यक्षतः श्रुतम् ।
तत्तेऽहं सम्प्रवक्ष्यामि यथा स्थैर्यं भवेत्तव ॥२०॥

मैंने देवताओं का जो कार्य था, वह प्रत्यक्ष सुना है-उसे ही मैं तुमको सुनाता हूँ-तुम ध्यान से सुनो-उसके सुनने से तुमको बहुत ही धैर्य प्राप्त होगा ॥२०॥

पुराऽहं त्वरितो यातः सभामैन्द्रीं जितक्लमः ।
अपश्यं तत्र च तदा समवेतान्दिवौकसः ॥२१॥

एक बार मैं पूर्वकाल में विना किसी क्लेश के इन्द्र की सभा में पहुंचा। वहां पर मैंने इकट्ठे हुए देवताओं को देखा ॥२१॥

नारदप्रमुखाश्चापि सर्वे देवर्षयोऽनघ ।
तत्र चापि मया दृष्टा पृथिवी पृथिवीपते ॥२२॥
कार्यार्थमुपसम्प्राप्ता देवतानां समीपतः ।

हे अनघ ! पृथिवीपते ! वहां पर मैंने इस पृथिवी को भी देवों के समीप स्थित देखा-जो अपने किसी कार्य के निमित्त वहां पहुंची हुई थी। नारद आदि देवर्षिगण भी वहां उपस्थित थे ॥२२॥

उपगम्य तदा धात्री देवानाह समागतान् ॥२३॥
यत्कार्यं मम युष्माभिर्ब्रह्मणः सदने तदा ।
प्रतिज्ञातं महाभागास्तच्छीघ्रं संविधीयताम् ॥२४॥

वहां पर उपस्थित पृथिवी आये हुए देवों से यह वचन कहने लगी। हे महाभागो ! आप लोगों ने पूर्वकाल में ब्रह्मलोक में जिस मेरे कार्य के पूर्ण करने की प्रतिज्ञा की थी, अब उसे शीघ्र पूरा करो ॥२३-२४॥

तस्यास्तद्वचनं श्रुत्वा विष्णुर्लोकनमस्कृतः ।
उवाच वाक्यं प्रहसन् पृथिवीं देवसंसदि ॥२५॥
धृतराष्ट्रस्य पुत्राणां यस्तु ज्येष्ठः शतस्य वै ।
दुर्योधन इति ख्यातः स ते कार्यं करिष्यति ॥२६॥
तं च प्राप्य महीपालं कृतकृत्या भविष्यसि ।
तस्यार्थे पृथिवीपालाः कुरुक्षेत्रसमागताः ॥२७॥
अन्योन्यं घातयिष्यन्ति दृढैः शस्त्रैः प्रहारिणः ।
ततस्ते भविता देवि भारस्य युधि नाशनम् ॥२८॥

पृथिवी के इन वचनों को सुनकर संसार से नमस्कृत भगवान विष्णु मुसकुराते हुए देवसभा में पृथिवी से यह वचन बोले, कि राजा धृतराष्ट्र का जो सौ पुत्रों में ज्येष्ठ पुत्र राजा दुर्योधन है, वह तेरा सारा कार्य पूरा करने का साधन जुटा देगा। तुम उस राजा दुर्योधन की प्राप्ति से अपने कार्य को पूर्ण हुआ देख सकोगी। उस कुरुराज की सहायता के निमित्त अनेक राजा कुरुक्षेत्र में पहुंचेंगे। ये प्रहार करने में कुशल, महीपति अपने २ दृढ़ शस्त्रों से एक दूसरे को मार डालेंगे। हे देवि! उस समय तेरा काम बन जावेगा और उस युद्ध में तेरा भार नष्ट होगा ॥२८॥

गच्छ शीघ्रं स्वकं स्थानं लोकान्धारय शोभने।
य एष ते सुतो राजन् लोकसंहारकारणात् ॥२६॥
कलेरंशः समुत्पन्नो गान्धार्या जठरे नृप।

हे शोभने! अब तुम अपने स्थान को जाओ और लोकों को धारण करो। हे नृप! वही यह तुम्हारा पुत्र दुर्योधन लोक के संहार के निमित्त कलि के अंश से गान्धारी के गर्भ से उत्पन्न हुआ था ॥२६॥

अमर्षी चपलश्चापि क्रोधनो दुष्प्रसाधनः ॥३०॥
दैवयोगात्समुत्पन्ना भ्रातरश्चास्य तादृशाः।

हे राजन्! यह बड़ा क्रोधी, चपल, आवेशयुक्त और कूटनीति के साधनों से चलने वाला था। दैवयोग से इसके भ्राता भी ऐसे ही उत्पन्न हो गए ॥३०॥

शकुनिर्मातुलश्चैव कर्णश्च परमः सखा ॥३१॥
समुत्पन्ना विनाशार्थं पृथिव्यां सहिता नृपाः ।

इसका मातुल शकुनि और कर्ण परम सखा भी ऐसे ही कूट-नीति के पोषक थे । ये सारे इकट्ठे राजा जगत का नाश कराने को पृथिवी पर उत्पन्न हुए थे ॥३१॥

यादृशो जायते राजा तादृशोऽस्य जनो भवेत् ॥३२॥
अधर्मो धर्मतां याति स्वामी चेद्धार्मिको भवेत् ।
स्वामिनो गुणदोषाभ्यां भृत्याः स्युर्नात्रसंशयः ॥३३॥

जिस स्वभाव का राजा होता है, उसी तरह के परिजन भी हो जाते हैं । यदि स्वामी धार्मिक होवे-तो अधर्मी सेवक भी धार्मिक बन जाता है । स्वामी के गुण और दोषों से सेवक गुणी और दोषी होते रहते हैं-इसमें सन्देह नहीं है ॥३२-३३॥

दुष्टं राजानमासाद्य गतास्ते तनया नृप ।
एतमर्थं महाबाहो नारदो वेद तत्त्ववित् ॥३४॥

हे महाबाहो ! नृप ! दुष्ट राजा को प्राप्त करके तुम्हारे अन्य पुत्र भी मारे गए । तत्वज्ञानी नारद इस सारे रहस्य को अच्छी तरह जानता है ॥३४॥

आत्मापराधात्पुत्रास्ते विनष्टाः पृथिवीपते ।
मा तान् शोचस्व राजेन्द्र न हि शोकेऽस्ति कारणम्

हे पृथिवीपते ! तुम्हारे पुत्र अपने अपराध से ही नष्ट हुए हैं । हे राजेन्द्र ! तुम उनका शोक न करो । इसमें शोक करने की कोई बात नहीं है ॥३५॥

न हि ते पाण्डवाः स्वल्पमपराध्यन्ति भारत ।
पुत्रास्तव दुरात्मानो यैरियं घातिता मही ॥३६॥

हे भारत ! पाण्डव, तुम्हारा स्वल्प भी अपराध नहीं करेंगे। तुम्हारे तो पुत्र ही दुरात्मा थे, जिन्होंने इस सारी पृथिवी का नाश करा डाला ॥३६॥

नारदेन च भद्रं ते पूर्वमेव न संशयः ।
युधिष्ठिरस्य समितौ राजसूये निवेदितम् ।३७॥

हे राजन ! नारद ने पूर्वकाल में ही निश्चय के साथ राजसूय यज्ञ के समय में धर्मराज की सभा में कह दिया था ॥३७॥

पाण्डवाः कौरवाः सर्वे समासाद्य परस्परम् ।
न भविष्यन्ति कौन्तेय यत्ते कृत्यं तदाचर ॥३८॥
नारदस्य वचः श्रुत्वा तदाऽशोचन्त पाण्डवाः ।

उसने कहा था—हे कौन्तेय ! अब पाण्डव और कौरव परस्पर टकरा जाने वाले हैं, इनमें दोनों पक्षों का विनाश हो जावेगा-इसका जो उपाय हो सके-तो करो । नारदजी के वचन सुनकर पाण्डवों को बड़ी चिन्ता हुई थी ॥३८॥

एवं ते सर्वमाख्यातं देवगुह्यं सनातनम् ॥३९॥
कथं ते शोकनाशः स्यात्प्राणेषु च दया प्रभो ।
स्नेहश्च पाण्डुपुत्रेषु ज्ञात्वा दैवकृतं विधिम् ॥४०॥
एष चार्थो महाबाहो पूर्वमेव मया श्रुतः ।
कथितो धर्मराजस्य राजसूये क्रतूत्तमे ॥४१॥

हे राजन् ! मैंने यह सनातन देवों के पास सुरक्षित वृत्तान्त को तुमको सुना दिया है। अब तुम्हारा किसी प्रकार शोक नष्ट हो जाना चाहिए। तुम प्राणियों पर दया करते रहो तथा इसको दैवी घटना समझ कर पाण्डवों पर भी स्नेह ही प्रदर्शन करो। हे महाबाहो ! इस घटना को मैंने तो होने से पूर्व ही जान लिया था, धर्मराज को राजसूय यज्ञ में यह मैंने सुना भी दिया था।

यतितं धर्मपुत्रेण मया गुह्ये निवेदिते ।
अविग्रहे कौरवाणां दैवं तु बलवत्तरम् ॥४२॥

मेरी गुप्त बात सुनकर धर्म-पुत्र युधिष्ठिर ने कौरवों के साथ युद्ध नहीं होने देने का प्रयत्न भी बहुत किया-परन्तु दैव तो अत्यन्त बलवान होता है ॥४२॥

अनतिक्रमणीयो हि विधी राजन्कथश्चन ।
कृतान्तस्य तु भूतेन स्थावरेण चरेण च ॥४३॥

हे राजन् ! विधाता की लीला का कभी अतिक्रमण नहीं किया जा सकता है और न काल की गति को कोई स्थावर जङ्गम प्राणी मेट सकता है ॥४३॥

भवान्धर्मपरो यत्र बुद्धिश्रेष्ठश्च भारत ।
मुह्यते प्राणिनां ज्ञात्वा गतिं चागतिमेव च ॥४४॥

हे भारत ! आप बड़े धर्मशील और बुद्धिमान मनुष्य हैं, फिर तुम प्राणियों की गति और अगति के तत्व को जानकर भी कैसे मोह को प्राप्त हो रहे हो ॥४४॥

त्वां तु शोकेन सन्तप्तं मुह्यमानं मुहुर्मुहुः ।

ज्ञात्वा युधिष्ठिरो राजा प्राणानपि परित्यजेत् ॥४५॥

हे राजन ! जब राजा युधिष्ठिर को तुम शोक सन्तप्त होकर बार २ मोहित होते दिखाई दोगे, तो वह इस दुःख से प्राणों को भी छोड़ देगा ॥४५॥

कृपालुर्नित्यशो वीरस्तिर्यग्योनिगतेष्वपि ।

स कथं त्वयि राजेन्द्र कृपां नैव करिष्यति ॥४६॥

हे राजेन्द्र ! यह वीर धर्मराज, पशु पक्षियों पर भी नित्य दया दिखाता रहता है, फिर क्या तुम पर दया नहीं रखेगा ॥४६॥

मम चैव नियोगेन विधेश्चाप्यनिवर्तनात् ।

पाण्डवानां च कारुण्यात्प्राणान्धारय भारत ॥४७॥

हे भारत ! मेरी प्रेरणा और विधि के विधान तथा पाण्डवों के करुणाशील होने से तुम अभी प्राण धारण किए रहो ॥४७॥

एवं ते वर्तमानस्य लोके कीर्तिर्भविष्यति ।

धर्मार्थः सुमहांस्तात तप्तं स्याच्च तपश्चिरात् ॥४८॥

हे तात ! तुम्हारे ऐसा करने से तुम्हारी जगत् में कीर्ति फैलेगी तथा धर्म, अर्थ की सिद्धि और बहुत काल तक तप का अर्जन होता रहेगा ॥४८॥

पुत्रशोकसमुत्पन्नं हुताशं ज्वलितं यथा ।

प्रज्ञाऽम्भसा महाभाग निर्वापय सदा सदा ॥४९॥

हे महाभाग ! तुम अपनी बुद्धिरूपी जल से पुत्र शोक से उत्पन्न प्रज्वलित अग्नि को सदा के लिए शान्त करो ॥४९॥

वैशम्पायन उवाच—

तच्छ्रुत्वा तस्य वचनं व्यासस्यामिततेजसः ।
मुहूर्तं समनुध्यायन्धृतराष्ट्रोऽभ्यभाषत ॥५०॥

वैशम्पायन बोले—हे राजन् ! अत्यन्त ओजस्वी, व्यासजी के वचन सुनकर राजा धृतराष्ट्र थोड़ी देर के लिए विचार में पड़ गए और वे व्यासजी से इस प्रकार कहने लगे ॥५०॥

महता शोकजालेन प्रणुन्नोऽस्मि द्विजोत्तम ।
नात्मानमवबुध्यामि मुह्यमानो मुहुर्मुहुः ॥५१॥

हे द्विजोत्तम ! मैं बड़े भारी शोक जाल में फंस रहा हूं । मुझे बार २ इतना मोह का आवेग होता है, कि मुझे अपना भी कुछ पता नहीं लगता है ॥५१॥

इदं तु वचनं श्रुत्वा तव देव नियोगजम् ।
धारयिष्याम्यहं प्राणान् घटिष्ये न तु शोचितुम् ॥

हे देव ! अब मैं आपके इस आदेश को सुनकर अपने प्राणों को धारण करूंगा और यथाशक्ति इस शोक के शान्त करने का उपाय करता रहूंगा ॥५२॥

एतच्छ्रुत्वा तु वचनं सत्यवतीसुतः ।
धृतराष्ट्रस्य राजेन्द्र तत्रैवान्तरधीयत ॥५३॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां स्त्रीपर्वणि जलप्रदानिकपर्वणि धृतराष्ट्रविशोककरणे अष्टमोऽध्यायः ॥८॥

हे राजेन्द्र ! इस प्रकार सत्यवती-पुत्र भगवान् वेदव्यास राजा धृतराष्ट्र के ये वचन सुनकर वहां से अलक्षित हो गए ॥५३॥

इति श्रीमहाभारत स्त्रीपर्वान्तर्गत जलप्रदानिकपर्व में धृतराष्ट्र के शोक रहित करने के वर्णन का आठवां अध्याय समाप्त हुआ

नौवां अध्याय

जनमेजय उवाच— गते भगवति व्यासे धृतराष्ट्रो महीपतिः ।
किमचेष्टत विप्रर्षे तन्मे व्याख्यातुमर्हसि ॥१॥

जनमेजय बोले—हे विप्रर्षे ! भगवान् कृष्णद्वैपायन व्यास के चले जाने पर राजा धृतराष्ट्र ने क्या किया-आप मुझे यह बात सुनाओ ॥१॥

तथैव कौरवो राजा धर्मपुत्रो महामनाः ।
कृपप्रभृतयश्चैव किमकुर्वत ते त्रयः ॥२॥

इसी तरह अब कौरव वंश के राजा महामनस्वी धर्मराज तथा कृपाचार्य, कृतवर्मा और अश्वत्थामा ने क्या २ किया ॥२॥

अश्वत्थाम्नः श्रुतं कर्म शापश्चान्योन्यकारितः ।
वृत्तान्तमुत्तरं ब्रूहि यदभाषत सञ्जयः ॥३॥

हमने अश्वत्थामा का कर्म सुन लिया। श्रीकृष्ण और अश्वत्थामा के परस्पर शाप का भी वृत्तान्त सुना। अब तुम इसके आगे का वृत्तान्त सुनाओ, कि सञ्जय ने क्या कहा ॥३॥

वैशम्पायन उवाच— हते दुर्योधने चैव हते सैन्ये च सर्वशः।
सञ्जयो विगतप्रज्ञो धृतराष्ट्रमुपस्थितः ॥४॥

वैशम्पायन बोले—हे राजन्! जब राजा दुर्योधन मर चुके और उसकी सारी सेना समाप्त हो गई। अब किंकर्तव्य विमूढ़ हुआ सञ्जय, राजा धृतराष्ट्र के समीप उपस्थित हुआ ॥४॥

सञ्जय उवाच— आगम्य नानादेशेभ्यो नानाजनपदेश्वराः।
पितृलोकगता राजन् सर्वे तव सुतैः सह ॥५॥

सञ्जय ने कहा—हे राजन! अनेक देशों से अनेक २ देशों के अधीश्वर इस महायुद्ध में आए और सारे ही तेरे पुत्र के साथ पितृलोक पहुंच गए ॥५॥

याच्यमानेन सततं तव पुत्रेण भारत।
घातिता पृथिवी सर्वा वैरस्यान्तं विधित्सता ॥६॥

हे भारत! तुम्हारे पुत्र दुर्योधन से सर्वदा सबने शान्ति की भिक्षा मांगी, परन्तु उसने तो इस वैर का अन्त करते २ सारी पृथिवी का विनाश करवा ही डाला ॥६॥

पुत्राणामथ पौत्राणां पितृणां च महीपते।
आनुपूर्व्येण सर्वेषां प्रेतकार्याणि कारय ॥७॥

हे महीपते! अब तुम पुत्र, पौत्र, पिता आदि जैसा जिससे सम्बन्ध हो-उनके क्रम से प्रेतकृत्यों को सम्पादित करो ॥७॥

वैशम्पायन उवाच– तच्छ्रुत्वा वचनं घोरं सञ्जयस्य महीपतिः

गतासुरिव निश्चेष्टो न्यपतत्पृथिवीतले ॥८॥

वैशम्पायन बोले—हे महाभाग ! राजा धृतराष्ट्र, सञ्जय के शोक पूर्ण घोर वचन सुनकर प्राणविहीन सा हुआ, चेष्टारहित होकर पृथिवी में गिर गया ।।८।।

तं शयानमुपागम्य पृथिव्यां पृथिवीपतिम् ।

विदुरः सर्वधर्मज्ञ इदं वचनमब्रवीत् ॥९॥

उत्तिष्ठ राजन् किं शेषे मा शुचो भरतर्षभ ।

एषा वै सर्वसत्वानां लोकेश्वरपरा गतिः ॥१०॥

हे भरतर्षभ ! यह देखकर सब धर्मों के ज्ञाता, विदुर, यह वचन बोले कि हे राजन ! उठो-क्यों पड़े हो-तुमको शोक नहीं करना चाहिए-तुम जानते हो. कि सारे प्राणियों की अन्य लोक के सिवा अन्य गति नहीं है ॥१०॥

अभावादीनि भूतानि भावमध्यानि भारत ।

अभावनिधनान्येव तत्र का परिदेवना ॥११॥

हे भारत ! आदि में कोई भी प्राणी दिखाई नहीं देता, फिर मध्य में उनके दर्शन होने लगते हैं । जब मृत्यु हो जाती है, तो फिर अभाव हो जाता है, इसमें पश्चात्ताप की क्या बात है ॥११॥

न शोचन् मृतमन्वेति न शोचन् म्रियते नरः ।

एवं सांसिद्धिके लोके किमर्थमनुशोचसि ॥१२॥

शोक करने से कोई मनुष्य मृत के साथ नहीं जा सकता और न शोक करने से मृत्यु ही हो सकती है। संसार का तो यह नि त स्वभाव है। अब तुम किसलिए शोक कर रहे हो ॥१२॥

अयुध्यमानो म्रियते युध्यमानस्तु जीवति ।
कालं प्राप्य महाराज न कश्चिदतिवर्तते ॥१३॥

हे महाराज ! जो विना युद्ध किये मरता है-वह मरा हुआ जानना चाहिए और युद्ध में मरा हुआ तो जीवित ही है। हे राजन ! काल पाकर तो प्रत्येक प्राणी समाप्त होकर ही रहेगा, क्योंकि काल का कोई अतिक्रमण नहीं कर सकता है ॥१३॥

कालः कर्षति भूतानि सर्वाणि विविधानि च ।
न कालस्य प्रियः कश्चिन्न द्वेष्यः कुरुसत्तम ॥१४॥

काल अनेक भांति से इन सारे प्राणियों को अपनी ओर खैंचता रहता है। हे कुरुसत्तम ! काल का न तो कोई प्रिय है और न उसका कोई शत्रु ही है ॥१४॥

यथा वायुस्तृणाग्राणि संवर्तयति सर्वतः ।
तथा कालवशं यान्ति भूतानि भरतर्षभ ॥१५॥

हे भरतर्षभ ! जिस तरह तृण के अग्र भागों को वायु सब ओर झुकाता रहता है, उसी तरह प्राणी काल के वश में होते रहते हैं ॥१५॥

एकसार्थप्रयातानां सर्वेषां तत्र गामिनाम् ।
यस्य कालः प्रयात्यग्रे तत्र का परिदेवना ॥१६॥

इस संसार में एक साथ यात्रा करके अपने उद्देश्य पर पहुंचने वाले प्राणियों में जिसका काल पूर्व में आता है, वही आगे चल देता है, फिर इसमें रोना क्या है ॥१६॥

यांश्चापि निहतान्युद्धे राजंस्त्वमनुशोचसि ।
न शोच्या हि महात्मानः सर्वे ते त्रिदिवं गताः ।

हे राजन् ! जिन मृत पुत्रादि का आप शोक कर रहे हो, वे युद्ध में मरे हैं । ये लोग महावीर थे । इनका शोक नहीं करना चाहिए । ये तो सारे स्वर्ग पहुंच चुके ॥१७॥

न यज्ञैर्दक्षिणावद्भिर्न तपोभिर्न विद्यया ।
तथा स्वर्गमुपायान्ति यथा शूरास्तनुत्यजः ॥१८॥

मनुष्य दक्षिणा वाले, यज्ञ, तप, विद्या आदि किसी भी साधन से इतनी शीघ्र स्वर्ग नहीं जा सकते हैं-जितना झटपट युद्ध में शरीर छोड़ने वाले वीर चले जाते हैं ॥१८॥

सर्वे वेदविदः शूराः सर्वे सुचरितव्रताः ।
सर्वे चाभिमुखाः क्षीणास्तत्र का परिदेवना ॥१९॥

ये सारे वेद के ज्ञाता, सदाचारी शूरवीर थे । इन्होंने युद्ध में सन्मुख युद्ध करते २ प्राण छोड़े हैं । इनका शोक करना उचित नहीं है ॥१९॥

शरीराग्निषु शूराणां जुहुवुस्ते शराहुतीः ।
हूयमानान् शरांश्चैव सेहुरुत्तमपूरुषाः ॥२०॥

इन वीरों ने वीरों के शरीर रूपी अग्नि में अपने बाणों की आहुति डाल दी। उन डाली हुई बाणों की आहुतियों को बड़े २ उत्तम पुरुषों ने सहन किया है ॥२०॥

एवं राजंस्तवाचक्षे स्वर्ग्यं पन्थानमुत्तमम् ।
न युद्धादधिकं किञ्चित्क्षत्रियस्येह विद्यते ॥२१॥

हे राजन् ! अब मैं तुमको स्वर्गोपयोगी मार्ग का उपदेश करता हूं। क्षत्रिय वीर को युद्ध से अधिक श्रेयस्कर अन्य कोई वस्तु नहीं है ॥२१॥

क्षत्रियास्ते महात्मानः शूराः समितिशोभनाः ।
आशिषं परमा प्राप्ता न शोच्याः सर्व एव हि ॥२२॥

ये महावीर क्षत्रिय बड़े शूरवीर युद्ध शोभी महानुभाव थे। इनको बड़ी कीर्ति प्राप्त हुई है। तुमको इन सबका कोई शोक नहीं करना चाहिए ॥२२॥

आत्मनाऽऽत्मानमाश्वास्य मा शुचः पुरुषर्षभ ।
नाद्य शोकाभिभूतस्त्वं कार्यमुत्स्रष्टुमर्हसि ॥२३॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां स्त्रीपर्वणि जलप्रदानिकपर्वणि विदुरवाक्ये नवमोऽध्यायः

हे पुरुषर्षभ ! अब तुम अपने आपको सम्हालो-शोक न करो। तुमको शोक में लीन होकर अपने शुभ कर्मों का परित्याग नहीं करना चाहिए ॥२३॥

इति श्रीमहाभारत स्त्रीपर्वान्तर्गत जलप्रदानिकपर्व में विदुर के आश्वासन देने का नौवां अध्याय समाप्त हुआ।

दसवां अध्याय

वैशम्पायन उवाच-विदुरस्य तु तद्वाक्यं श्रुत्वा तु पुरुषर्षभः ।
युज्यतां यानमित्युक्त्वा पुनर्वचनमब्रवीत् ॥१॥

वैशम्पायन बोले—हे राजन ! महात्मा विदुर के वचन सुनकर पुरुषश्रेष्ठ राजा धृतराष्ट्र ने कहा—तुम लोग सवारी तय्यार कराओ इतना कह कर उन्होंने फिर यह वचन कहना आरम्भ किया। १॥

धृतराष्ट्र उवाच-शीघ्रमानय गान्धारीं सर्वाश्च रतास्त्रियः ।
वधूं कुन्तीमुपादाय याश्चान्यास्तत्र योषितः ॥२॥

धृतराष्ट्र बोले—हे विदुर ! तुम गान्धारी, भरतवंश की अन्य वधू और वधू कुन्ती को लेकर शीघ्र आओ तथा अन्य जो स्त्रियां हों उनको भी लेते आना ॥२॥

एवमुक्त्वा स धर्मात्मा विदुरं धर्मवित्तमम् ।
शोकविप्रहतज्ञानो यानमेवान्वपद्यत ॥३॥

धर्मात्मा राजा धृतराष्ट्र, धर्म ज्ञाता विदुर से इतना कहकर शोकाहत ज्ञान वाला होकर अपने यान पर जा चढ़ा ॥३॥

गान्धारी पुत्रशोकार्ता भर्तुर्वचननोदिता ।
सह कुन्त्या यतो राजा सह स्त्रीभिरुपाद्रवत् ॥४॥

गान्धारी-पुत्र शोक से व्याकुल हो रही थी। वह भी अपने पति की आज्ञा मान कर कुन्ती के साथ चल दी। राजा धृतराष्ट्र भी अपने शोक को रोकते हुए स्त्रियों के साथ चल दिए ॥४॥

ताः समासाद्य राजानं भृशं शोकसमन्विताः ।
आमंत्र्यान्योन्यमीयुः स्म भृशमुच्चुक्रुशुस्ततः ।।५।।

ये कौरव स्त्रियां अत्यन्त ही शोक से व्याकुल हो रहीं थीं। ये राजा धृतराष्ट्र के पास पहुंची। ये परस्पर एक दूसरे का नाम लेकर पुकारने लगी और उच्चस्वर में रोने लगी ।।५।।

ताः समाश्वासयत्क्षत्ता ताभ्यश्चार्ततरः स्वयम् ।
अश्रुकण्ठीः समारोप्य ततोऽसौ निर्ययौ पुरात् ।।६।।

महात्मा विदुर उनको समझाने लगा, परन्तु वह स्वयं उनसे भी अधिक व्याकुल हो उठा। इन स्त्रियों के आंसुओं से गले भरे हुए थे। वे उनको रथ पर चढ़ा कर पुर से बाहर हो गया ।।६।।

ततः प्रणादः सञ्जज्ञे सर्वेषु कुरुवेश्मसु ।
आकुमारं पुरं सर्वमभवच्छोककर्शितम् ।।७।।

इस समय सारे कौरवों के भवनों में रुदन मच गया। बच्चों से लेकर वृद्ध तक सारे मनुष्य शोक से व्याकुल हो उठे ।।७।।

अदृष्टपूर्वा या नार्यः पुरा देवगणैरपि ।
पृथग्जनेन दृश्यन्ते तास्तदा निहतेश्वराः ।।८।।

जिन स्त्रियों को पूर्व-काल में देवता भी नहीं देख पाते थे, वे ही अपने स्वामियों के मारे जाने से साधारण मनुष्यों के सन्मुख होकर निकल चली ।।८।।

प्रकीर्य केशान् सुशुभान् भूषणान्यवमुच्य च ।
एकवस्त्रधरा नार्यः परिपेतुरनाथवत् ॥९॥

इन्होंने अपने सुन्दर केश खोल लिए और भूषण उतार डाले। स्त्रियां एक वस्त्र धारण किये हुए अनाथ सी हुई चल पड़ीं ॥९॥

श्वेतपर्वतरूपेभ्यो गृहेभ्यस्तास्त्वपाक्रमन् ।
गुहाभ्य इव शैलानां पृषत्यो हतयूथपाः ॥१०॥

पर्वत के समान आकार धारी श्वेत महलों से कौरव स्त्रियां इस तरह उतर कर चल दी, जैसे अपने यूथपति के मर जाने पर हथिनियाँ गुफाओं से निकल पड़ती हैं ॥१०॥

तान्युदीर्णानि नारीणां तदा वृन्दान्यनेकशः ।
शोकार्तान्यद्रवन् राजन्किशोरीणामिवाङ्गने ॥११॥

हे राजन् ! इस समय स्त्रियों के अनेक झुंड शोक में व्याप्त हुए इस तरह निकल पड़े, जिस तरह नृत्यक्षेत्र में अश्व किशोरी (बछेरी) निकल पड़ी हों ॥११॥

प्रगृह्य बाहून् क्रोशन्त्यः पुत्रान् भ्रातॄन्पितॄनपि ।
दर्शयन्तीव ता ह स्म युगान्ते लोकसंक्षयम् ॥१२॥

ये रोती हुई स्त्रियां एक दूसरी को भुजा पकड़ कर अपने पुत्र, भ्राता और पिताओं को पुकार रहीं थीं और मानो प्रलयकालीन जन संहार का दृश्य दिखा रहीं थीं ॥१२॥

विलपन्त्यो रुदन्त्यश्च धावमानास्ततस्ततः ।
शोकेनोपहतज्ञानाः कर्तव्यं न प्रजज्ञिरे ॥१३॥

ये विलाप करती हुई, रोती हुई, इधर उधर पागल की भांति घूमती थीं। शोक से इनका सारा ज्ञान नष्ट हो चुका था और इन्हें अब अपने कर्तव्य का कुछ भी ज्ञान नहीं था ॥१३॥

व्रीडां जग्मुः पुरा याः स्म सखीनामपि योषितः ।
ता एकवस्त्रा निर्लज्जाः श्वश्रूणां पुरतोऽभवन् ॥१४॥

जो स्त्रियां अपनी सखियों के सामने भी निकलती हुई लज्जित होती थीं, वे एक वस्त्र पहिने हुए लज्जाहीन हुई अपनी सासों के सन्मुख भी निकल आईं॥१४॥

परस्परं सुसूक्ष्मेषु शोकेष्वाश्वासयंस्तदा ।
ता शोकविह्वला राजन्नवैक्षन्त परस्परम् ॥१५॥

ये सारी स्त्रियां गहरे शोक में व्याप्त हुई भी परस्पर एक दूसरी स्त्री को समझाने लगी। हे राजन्! ये शोकातुर हुई परस्पर एक दूसरी स्त्री को देख रही थीं ॥१५॥

ताभिः परिवृतो राजा रुदतीभिः सहस्रशः ।
निर्ययौ नगराद्दीनस्तूर्णमायोधनं प्रति ॥१६॥

इन सहस्रों रोती चिल्लाती हुई स्त्रियों से युक्त राजा धृतराष्ट्र बड़ी दीनता के साथ शीघ्र नगर से बाहर युद्धभूमि की ओर चल पड़ा ॥१६॥

शिल्पिनो वणिजो वैश्या सर्वकर्मोपजीविनः ।
ते पार्थिवं पुरस्कृत्य निर्ययुर्नगराद्बहिः ॥१७॥

शिल्पी, व्यापारी, वैश्य तथा अनेक भांति के कर्मों से जीविका करने वाले, प्रजा के मनुष्य, राजा धृतराष्ट्र को आगे करके पुर से बाहर निकल पड़े ॥१७॥

तासां विक्रोशमानानामार्तानां कुरुसंक्षये ।
प्रादुरासीन्महान् शब्दो व्यथयन् भुवनान्युत ॥

इस कुरुवंश के प्रलय के समय उन शोकातुर चिल्लाती हुई स्त्रियों का महान शब्द भुवनों को पीड़ित करता हुआ सर्वत्र छा गया ॥१८॥

युगान्तकाले संप्राप्ते भूतानां दह्यतामिव ।
अभावः स्यादयं प्राप्त इति भूतानि मेनिरे ॥१९॥

जब प्रलय-काल उपस्थित होता है, उस समय प्राणी दग्ध होने लगते हैं। तब जैसा जनों का संहार हो जाता है, उसी तरह यह समय उपस्थित हुआ है-ऐसा लोगों ने समझा ॥१९॥

भृशमुद्विग्नमनसस्ते पौराः कुरुसंक्षये ।
प्राक्रोशन्त महाराज स्वनुरक्तास्तदा भृशम् ॥२०॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां
स्त्रीपर्वणि जलप्रदानिकपर्वणि धृतराष्ट्रनिर्गमने
दशमोऽध्यायः ॥१०॥

हे महाराज! इस कौरववंश के संहार के इस समय में अनुरक्त पुरवासी अत्यन्त व्याकुल होकर रोने चिल्लाने लगे ॥२०॥

इति श्रीमहाभारत स्त्रीपर्वान्तर्गत जलप्रदानिकपर्व में धृतराष्ट्र के रण गमन के वर्णन का दशवां अध्याय समाप्त हुआ।

ग्यारहवां अध्याय

वैशम्पायन उवाच-क्रोशमात्रं ततो गत्वा ददृशुस्तान्महारथान्।

शारद्वतं कृपं द्रौणिं कृतवर्माणमेव च ॥१॥

ते तु दृष्ट्वैव राजानं प्रज्ञाचक्षुषमीश्वरम्।

अश्रुकण्ठा विनिःश्वस्य रुदन्तमिदमब्रुवन् ॥२॥

वैशम्पायन बोले—हे महाराज! कोश भर की दूरी पर पहुंचते ही इन लोगों ने महारथी शरद्वान-पुत्र कृपाचार्य, द्रोण-पुत्र अश्वत्थामा और यदुवंशश्रेष्ठ कृतवर्मा को देखा। लोचन-विहीन राजा धृतराष्ट्र को रोते देखकर इन महारथियों का भी कण्ठ अश्रुओं से भर गया। वे कुछ धैर्य धारण करके कहने लगे ॥२॥

पुत्रस्तव महाराज कृत्वा कर्म सुदुष्करम्।

गतः सानुचरो राजन् शक्रलोकं महीपते ॥३॥

हे महीपते! आपका पुत्र राजा दुर्योधन दुष्कर कर्म करके अपनी सेना सहित इन्द्र लोक में पहुंच गया है ॥३॥

दुर्योधनबलान्मुक्ता वयमेव त्रयो रथाः।

सर्वमन्यत्परिक्षीणं सैन्यं ते भरतर्षभ ॥४॥

हे राजन्! राजा दुर्योधन की सेना में हम तीन ही महारथी बचे हैं। हे भरतर्षभ! शेष तुम्हारी सारी सेना नष्ट हो चुकी ॥४॥

इत्येवमुक्त्वा राजानं कृपः शारद्वतस्ततः।

गान्धारीं पुत्रशोकार्तामिदं वचनमब्रवीत् ॥५॥

शरद्वान्-पुत्र कृपाचार्य राजा धृतराष्ट्र से इतना कह कर पुत्र शोक से व्याकुल गान्धारी से यह वचन बोले ॥५॥

अभीता युध्यमानास्ते घ्नन्तः शत्रुगणान्बहून् ।
वीरकर्माणि कुर्वाणाः पुत्रास्ते निधनं गताः ॥६॥

हे देवि ! निर्भीक भाव से युद्ध करते हुए, तुम्हारे सारे पुत्रों ने बहुत से शत्रुगणों को मार गिराया। वे वीर कर्म करते हुए अन्त में मृत्यु को प्राप्त हुए ॥६॥

ध्रुवं संप्राप्य लोकांस्ते निर्मलान् शस्त्रनिर्जितान् ।
भास्वरं देहमास्थाय विहरन्त्यमरा इव ॥७॥

इन्होंने शस्त्र से प्राप्त होने वाले, निर्मल लोकों को अवश्य प्राप्त कर लिया है। ये तेजोमय भास्वर देह प्राप्त करके देवों के समान विहार करते हैं ॥७॥

न हि कश्चिद्धि शूराणां युद्ध्यमानः पराङ्मुखः ।
शस्त्रेण निधनं प्राप्तो न च कश्चित्कृताञ्जलिः ॥८॥

इन शूरवीरों में युद्ध करता हुआ कोई भी युद्ध से पराङ्-मुख नहीं हुआ। सब की मृत्यु शस्त्र से हुई है। किसी ने भी दीन भाव को प्राप्त होकर हाथ नहीं जोड़े ॥८॥

एवं तां क्षत्रियस्याहुः पुराणाः परमां गतिम् ।
शस्त्रेण निधनं संख्ये तन्न शोचितुमर्हसि ॥९॥

प्राचीन ऋषि गणों ने कहा है, कि इस तरह युद्ध में मरने वाले क्षत्रिय वीर गति पाते हैं। जो शस्त्र से युद्ध में मरता

है-उसकी सद्गति होती है, इसमें तुमको उनका शोक नहीं करना चाहिए ॥९॥

न चापि शत्रवस्तेषामृद्ध्यन्ते राज्ञि पाण्डवाः ।
शृणु यत्कृतमस्माभिरश्वत्थामपुरोगमैः ॥१०॥

हे रानी ! तुम्हारे पुत्रों के शत्रु पाण्डव भी सुरक्षित नहीं रहे। अश्वत्थामा को साथ लेकर हमने जो किया-तुम उसको भी सुनो ॥१०॥

अधर्मेण हतं श्रुत्वा भीमसेनेन ते सुतम् ।
सुप्तं शिबिरमासाद्य पाण्डूनां कदनं कृतम् ॥११॥

जब हमने सुना, कि तुम्हारे पुत्र राजा दुर्योधन को भीमसेन ने अधर्म से मार डाला, तो हमने भी सोते हुए पाण्डव शिबिर पर आक्रमण कर दिया और पाण्डवसेना का विध्वंस उड़ा दिया।

पञ्चाला निहताः सर्वे धृष्टद्युम्नपुरोगमाः ।
द्रुपदस्यात्मजाश्चैव द्रौपदेयाश्च पातिताः ॥१२॥

हमने धृष्टद्युम्न आदि से लेकर सारे पञ्चाल, सारे द्रुपद और द्रौपदी-पुत्र भी मार गिराए ॥१२॥

तथा विशसनं कृत्वा पुत्रशत्रुगणस्य ते ।
प्राद्रवाम रणे स्थातुं न हि शक्यामहे त्रयः ॥१३॥

हे राजन् ! तुम्हारे पुत्र के शत्रुसमूह का इस प्रकार विनाश करके हम लोग वहां से भाग निकले, क्योंकि हम केवल तीन ही थे, जिससे रण में स्थित नहीं हो सकते थे ॥१३॥

ते हि शूरा महेष्वासाः क्षिप्रमेष्यन्ति पाण्डवाः ।

अमर्षवशमापन्ना वैरं प्रतिजिहीर्षवः ॥१४॥

वे महाधनुर्धर, वीर पाण्डव क्रोध में भर कर अपने वैर का बदला लेने को अवश्य आने वाले थे ॥१४॥

ते हतानात्मजान् श्रुत्वा प्रमत्ताः पुरुषर्षभाः ।

निर्गच्छन्तः पदं शूराः क्षिप्रमेव यशस्विनि ॥१५॥

तेषां तु कदनं कृत्वा संस्थातुं नोत्सहामहे ।

अनुजानीहि नो राज्ञि मा च शोके मनः कृथाः ॥

हे यशस्विनी ! गान्धारी ! जब वे पुरुषप्रवीर अपने पुत्रों को नष्ट हुए सुनेंगे, तो हमारे चरणचिन्हों को खोजते हुए बड़ी शीघ्रता से आवेंगे। हम लोगों ने उनका बहुत विध्वंस कर दिया है, अब हम यहां ठहर नहीं सकते हैं। हे रानी ! अब हमको जाने की आज्ञा दो और तुम मन में शोक न करो ॥१५-१६॥

राजंस्त्वमनुजानीहि धैर्यमातिष्ठ चोत्तमम् ।

दिष्टान्तं पश्य चापि त्वं क्षात्रं धर्मं च केवलम् ॥१७॥

हे राजन् ! आप हमें आज्ञा दें और उत्तम धैर्य का अवलम्बन करें। तुम दैव के ऊपर भरोसा करो और केवल क्षात्रधर्म को देखो ॥१७॥

इत्येवमुक्त्वा राजानं कृत्वा चाभिप्रदक्षिणम् ।

कृपश्च कृतवर्मा च द्रोणपुत्रश्च भारत ॥१८॥

अवेक्षमाणा राजानं धृतराष्ट्रं मनीषिणम् ।
गङ्गामनु महाराज तूर्णमश्वानचोदयन् ॥१६॥

हे भरतवंशश्रेष्ठ ! महाराज ! इस प्रकार राजा धृतराष्ट्र से कह कर और उनकी प्रदक्षिणा करके मनीषी राजा धृतराष्ट्र को देखते हुए कृपाचार्य, कृतवर्मा और अश्वत्थामा ने अपने २ अश्वों को शीघ्रता के साथ गङ्गा तट की ओर चलते कर दिए ॥१८-१६॥

अपक्रम्य तु ते राजन् सर्वे एव महारथाः ।
आमंत्र्यान्योन्यमुद्विग्नास्त्रिधा ते प्रययुस्तदा ॥२०॥

हे राजन् ! वे सारे महारथी, वहां से निकल कर गङ्गा तट पर पहुंचे । उन्होंने एक दूसरे से आज्ञा ली और वे उदासीनता के साथ पृथक् २ होकर चल दिए ॥२०॥

जगाम हास्तिनपुरं कृपः शारद्वतस्तदा ।
स्वमेव राष्ट्रं हार्दिक्यो द्रौणिर्व्यासाश्रमं ययौ ॥

अब शरद्वान्-पुत्र कृपाचार्य तो हस्तिनापुर, हृदिक-पुत्र कृतवर्मा अपने देश द्वारका और द्रोण-पुत्र अश्वत्थामा, व्यासजी के आश्रम में पहुंचा ॥२१॥

एवं ते प्रययुर्वीरा वीक्षमाणाः परस्परम् ।
भयार्ताः पाण्डुपुत्राणामागस्कृत्वा महात्मनाम् ॥२२॥

ये वीर परस्पर देखते हुए चल दिए । इन्होंने महावीर पाण्डवों का अपराध किया था, इससे ये भयातुर हो रहे थे ॥२२॥

समेत्य वीरा राजानं तदा त्वनुदिते रवौ ।
विप्रजग्मुर्महात्मानो यथेच्छकमरिन्दमाः ॥२३॥

जब ये तीनों महारथी, राजा धृतराष्ट्र से मिले थे, उस समय सूर्य उदित नहीं हुए थे । ये अरिमर्दन महावीर इसी समय अपनी अपनी इच्छानुसार चलते बने ॥२३॥

समासाद्याथ वै द्रौणिं पाण्डुपुत्रा महारथाः ।
व्यजयंस्ते रणे राजन् विक्रम्य तदनन्तरम् ॥२४॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां स्त्रीपर्वणि जलप्रदानिकपर्वणि कृपद्रौणिभोजदर्शने एकादशोऽध्यायः ॥११॥

महारथी पाण्डु-पुत्रों ने द्रोण-पुत्र अश्वत्थामा को जा घेरा । हे राजन् ! उन्होंने जो वहां पहुंचकर पराक्रम दिखाया-उसका तुमको वर्णन कर दिया है ॥२४॥

इति श्रीमहाभारत स्त्रीपर्वान्तर्गत जलप्रदानिकपर्व में कृप, कृतवर्मा और अश्वत्थामा के अपने २ स्थान को जाने के वर्णन का ग्यारहवां अध्याय सम्पूर्ण हुआ ।

बारहवां अध्याय

वैशम्पायन उवाच-हतेषु सर्वसैन्येषु धर्मराजो युधिष्ठिरः ।

शुश्रुवे पितरं वृद्धं निर्यान्तं गजसाह्वयात् ॥१॥

सोऽभ्ययात्पुत्रशोकार्तः पुत्रशोकपरिप्लुतम् ।

शोचमानं महाराज भ्रातृभिः सहितस्तदा ॥२॥

वैशम्पायन बोले—हे राजन्! कौरवों की सारी सेना मारी गई, इससे शोकातुर वृद्ध पिता राजा धृतराष्ट्र हस्तिनापुर से चल दिए। यह समाचार धर्मराज युधिष्ठिर ने सुना। हे महाराज! यद्यपि धर्मराज भी अपने पुत्रों के शोक से व्याकुल थे, तो भी वे पुत्रशोक से विह्वल राजा धृतराष्ट्र के समीप अपने भाइयों के साथ चल दिए ॥१-२॥

अन्वीयमानो वीरेण दाशार्हेण महात्मना ।

युयुधानेन च तथा तथैव च युयुत्सुना ॥३॥

तमन्वगात्सुदुःखार्ता द्रौपदी शोककर्शिता ।

सह पाञ्चालयोषिद्भिर्यास्तत्रासन्समागताः ॥४॥

राजा युधिष्ठिर के साथ दशार्हवंशश्रेष्ठ श्रीकृष्ण, महावीर सात्यकि और युयुत्सु थे। इन ही के पीछे २ शोक से दुर्बल दुःखिनी द्रौपदी चल रही थी। इसके साथ जो वहां पर उपस्थित थी, वे पञ्चाल स्त्रियां भी चली ॥३-४॥

स गङ्गामनु वृन्दानि स्त्रीणां भरतसत्तम ।

कुररीणामिवार्तानां क्रोशन्तीनां ददर्श ह ॥५॥

हे भरतसत्तम ! राजा युधिष्ठिर ने कुररी पक्षिणी की तरह व्याकुल होकर चिल्लाती हुई, कौरव स्त्रियों के समूह को गङ्गा तट की ओर जाते देखा ॥५॥

ताभिः परिवृतो राजा क्रोशन्तीभिः सहस्रश ।

ऊर्ध्वबाहुभिरार्ताभि रुदतीभिः प्रियाप्रियैः ॥६॥

राजा धृतराष्ट्र, इन सहस्रों ऊपर भुजा उठाकर आर्तस्वर में प्रिय अप्रिय वचन कह कर रोती हुई स्त्रियों से घिरे हुए थे ॥६॥

क्व नु धर्मज्ञता राज्ञः क्व नु साऽद्यानृशंसता ।

यत्रावधीत्पितॄन् भ्रातॄन् गुरुपुत्रान् सखीनपि ॥७॥

वे कह रही थीं-हे धर्मराज ! तुम्हारी कहां तो वह धर्मज्ञता थी और कहां आज यह बर्बरता प्रकट हो रही है, जिससे पिता, भ्राता, गुरुपुत्र, मित्र आदि को भी तुमने मार डाला ॥७॥

घातयित्वा कथं द्रोणं भीष्मं चापि पितामहम् ।

मनस्तेऽभून्महाबाहो हत्वा चापि जयद्रथम् ॥८॥

हे महाबाहो ! द्रोणाचार्य, भीष्म पितामह और राजा जयद्रथ को मार कर आज तुम्हारे मन की क्या दशा होगी ॥८॥

किं नु राज्येन ते कार्यं पितॄन् भ्रातॄनपश्यतः ।

अभिमन्युं च दुर्धर्षं द्रौपदेयांश्च भारत ॥९॥

हे युधिष्ठिर ! अब अपने पिता, भ्राता, महापराक्रमी अभिमन्यु और अन्य द्रौपदी-पुत्रों के बिना राज्य प्राप्त कर लेने में तुमको क्या आनन्द आवेगा ॥६॥

अतीत्य ता महाबाहुः क्रोशन्तीः कुररीरिव ।
ववन्दे पितरं ज्येष्ठं धर्मराजो युधिष्ठिरः ॥१०॥

कुररी की भांति चिल्लाती हुई उन स्त्रियों को उलांघ कर महाबाहु राजा युधिष्ठिर, अपने वृद्ध पिता राजा धृतराष्ट्र के पास पहुंचे और उन्हें वन्दना की ॥१०॥

ततोऽभिवाद्य पितरं धर्मेणामित्रकर्षणः ।
न्यवेदयन्त नामानि पाण्डवास्तेऽपि सर्वशः ॥११॥

शत्रु-नाशक, धर्मराज ने धर्म-पूर्वक अपने ज्येष्ठ पिता राजा धृतराष्ट्र को प्रणाम किया। इसी तरह अन्य पाण्डवों ने भी प्रणाम किए और अपने २ नाम बताए ॥११॥

तमात्मजान्तकरणं पिता पुत्रवधार्दितः ।
अप्रीयमाणः शोकार्तः पाण्डवं परिषस्वजे ॥१२॥

अब अपने पुत्र के वध से व्याकुल पिता धृतराष्ट्र ने शोक के साथ २ बिना प्रेम धर्मराज से आलिङ्गन किया ॥१२॥

धर्मराजं परिस्वज्य सांत्वयित्वा च भारत ।
दुष्टात्मा भीममन्वैच्छद्दिधक्षुरिव पावकः ॥१३॥

हे भारत ! धर्मराज से आलिङ्गन करके और उससे सान्त्वना पूर्ण वार्तालाप करके दुष्ट अभिप्राय से युक्त होकर अग्नि के

सहसा दग्ध करने की इच्छा से राजा धृतराष्ट्र ने भीम से मिलने की इच्छा प्रकट की ॥१३॥

स कोपपावकस्तस्य शोकवायुसमीरितः ।
भीमसेनमयं दावं दिधक्षुरिव दृश्यते ॥१४॥

उस समय धृतराष्ट्र के कोप की आग शोकरूपी वायु से तीव्र हो रही थी। वह भीमसेन रूपी वन को दग्ध करती सी दिखाई देने लगी ॥१४॥

तस्य सङ्कल्पमाज्ञाय भीमं प्रत्यशुभं हरिः ।
भीममाक्षिप्य पाणिभ्यां प्रददौ भीममायसम् ॥१५॥

राजा धृतराष्ट्र का भीम के प्रति दुष्ट सङ्कल्प जानकर भगवान् कृष्ण ने अपने हाथों से भीमसेन को खैंच कर लोह निर्मित भीमसेन को आगे कर दिया ॥१५॥

प्रागेव तु महाबुद्धिर्बुद्ध्वा तस्येङ्गितं हरिः ।
संविधानं महाप्राज्ञस्तत्र चक्रे जनार्दनः ॥१६॥

महाबुद्धिमान श्रीकृष्ण, राजा धृतराष्ट्र के अभिप्राय को पूर्व से ही जान चुके थे। इसी से महाप्राज्ञ जनार्दन कृष्ण ने यह उपाय पूर्व से ही सोच रखा था ॥१६॥

तं गृहीत्वैव पाणिभ्यां भीमसेनमयस्मयम् ।
बभञ्ज बलवान् राजा मन्यमानो वृकोदरम् ॥१७॥

राजा धृतराष्ट्र ने लोहमय भीमसेन को अपने हाथों से पकड़ा और उसे वृकोदर भीम समझ कर चूर्ण कर डाला, क्योंकि राजा धृतराष्ट्र बहुत ही बलवान् थे ॥१७॥

नागायुतबलप्राणः स राजा भीममायसम् ।
भङ्क्त्वा विमथितोरस्कः सुस्राव रुधिरं मुखात् ॥

राजा धृतराष्ट्र में भी दश सहस्र हाथियों का बल था । उसने लोहमय भीम को पीस डाला । इससे इसकी छाती फट गई और मुख से रुधिर बहने लगा ॥१८॥

ततः पपात मेदिन्यां तथैव रुधिरोक्षितः ।
प्रपुष्पिताग्रशिखरः पारिजात इव द्रुमः ॥१९॥

रुधिर में भीगा हुआ राजा धृतराष्ट्र, इस तरह पृथिवी में गिर गया, जैसे पुष्पों से भरा हुआ कल्पवृक्ष भूमि में गिर गया हो ॥१९॥

प्रत्यगृह्णाच्च तं विद्वान् सूतो गावल्गणिस्तदा ।
मैवमित्यब्रवीच्चैनं शमयन्सांत्वयन्निव ॥२०॥

अब गवल्गण-पुत्र विद्वान् सञ्जय ने उन्हें पकड़ लिया और उनको समझाते और सान्त्वना देते हुए कहा-आप ऐसा न करें ।

स तु कोपं समुत्सृज्य गतमन्युर्महामनाः ।
हाहा भीमेति चुक्रोश नृप शोकसमन्वितः ॥२१॥

अब महामनस्वी राजा धृतराष्ट्र का कोप ठण्डा हो गया-वह क्रोध रहित और शोकातुर होकर हाय भीम ? हाय भीम ? इस तरह रोने चिल्लाने लगा ॥२१॥

तं विदित्वा गतक्रोधं भीमसेनवधार्दितम् ।
वासुदेवो वरः पुंसामिदं वचनमब्रवीत् ॥२२॥

जब क्रोधहीन भीमसेन के वध कर देने से व्याकुल राजा धृतराष्ट्र को देखा-तो पुरुषश्रेष्ठ श्रीकृष्ण यह वचन बोले ॥२२॥

मा शुचो धृतराष्ट्र त्वं नैष भीमस्त्वया हतः।
आयसी प्रतिमा ह्येषा त्वया निष्पातिताः विभो ॥

हे धृतराष्ट्र ! तुम शोक न करो-यह तुमने भीमसेन नहीं मारा है। हे विभो ! यह लोह की प्रतिमा थी, जिसका तुमने विनाश किया है ॥२३॥

त्वां क्रोधवशमापन्नं विदित्वा भरतर्षभ ।
मयाऽपकृष्टः कौन्तेयो मृत्योर्दंष्ट्रान्तरं गतः ॥२४॥

हे भरतर्षभ ! जब तुमको क्रोधाविष्ट देखा-तो। मैंने ही मृत्यु की दाढ़ों में पहुंचे हुए कुन्ती-पुत्र भीमसेन को वहां से खैंच लिया था ॥२४॥

न हि ते राजशार्दूल बले तुल्योऽस्ति कश्चन ।
कः सहेत महाबाहो बाह्वोर्विग्रहणं नरः ॥२५॥

हे राजशार्दूल ! महाबाहो ! बल में आपके समान शक्तिशाली कोई नहीं है। कौन ऐसा मनुष्य हो सकता है, जो तुम्हारी भुजाओं की कैंची में फंसकर भी बच निकले ॥२५॥

यथान्तकमनुप्राप्य जीवन्कश्चिन्न मुच्यते ।
एवं बाह्वन्तरं प्राप्य तव जीवेन्न कश्चन ॥२६॥

जिस तरह यमराज की भुजाओं के फंदे में पड़कर कोई जीवित नहीं बच सकता-उसी तरह तुम्हारी भुजाओं की कैंची से भी कोई वीर नहीं बच सकता है ॥२६॥

तस्मात्पुत्रेण या तेऽसौ प्रतिमा कारिताऽऽयसी ।

भीमस्य सेयं कौरव्य तवैवोपहृता मया ॥२७॥

हे कौरव्य ! जो तुम्हारे पुत्र दुर्योधन ने भीमसेन की लोह की मूर्ति बनवा रखी थी, मैंने उसी मूर्ति को तुम्हारे सामने सरका दिया ॥२७॥

पुत्रशोकाभिसन्तप्तं धर्मादपकृतं मनः ।

तव राजेन्द्र तेन त्वं भीमसेनं जिघांससि ॥२८॥

हे राजेन्द्र ! पुत्र शोक से सन्तप्त होने के कारण तुम्हारा मन, धर्म से पीछे हट गया था, इसीसे तुम भीमसेन को मार देने की इच्छा कर रहे थे ॥२८॥

न त्वेतत्ते क्षमं राजन् हन्यास्त्वं यद्वृकोदरम् ।

न हि पुत्रा महाराज जीवेयुस्ते कथञ्चन ॥२९॥

हे राजन ! तुमको वृकोदर भीम को मार देना योग्य न है । हे महाराज ! इस तरह अधर्म करने से तुम्हारे पुत्र जीवि नहीं हो सकते ॥२९॥

तस्माद्यत्कृतमस्माभिर्मन्यमानैः शमं प्रति ।

अनुमन्यस्व तत्सर्वं मा च शोके मनः कृथाः ॥३०॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां स्त्रीपर्वणि जलप्रदानिकपर्वणि आयसभीमभंगे द्वादशोऽध्यायः ॥१२॥

हे राजन ! हमने जो शान्ति के लिए प्रयत्न किया-आप उसका स्मरण करो और इस सारी घटना को आनन्द के साथ सहन करो। अब आपको शोक करने का अवसर नहीं है ॥३०॥

इति श्रीमहाभारत स्त्रीपर्वान्तर्गत जलप्रदानिकपर्व में लोहमय भीम के चूर्ण करने का बारहवां अध्याय समाप्त हुआ



तेरहवां अध्याय

वैशम्पायन उवाच—तत एनमुपातिष्ठन् शौचार्थं परिचारिकाः

कृतशौचं पुनश्चैनं प्रोवाच मधुसूदनः ॥१॥

वैशम्पायन बोले—हे भरतर्षभ ! अब राजा धृतराष्ट्र के समीप शौच निवृत्ति के लिए सेवक आ पहुंचे। जब वे शौच क्रिया से निवृत्त हो चुके-तो उनसे मधुसूदन कृष्ण फिर यह वचन बोले ॥१॥

राजन्नधीता वेदास्ते शास्त्राणि विविधानि च।

श्रुतानि च पुराणानि राजधर्माश्च केवलाः ॥२॥

हे राजन ! आपने वेद और अनेक शास्त्र पढ़े हैं। आपने पुराण और राजधर्मों का अच्छी तरह श्रवण किया है ॥२॥

एवं विद्वान्महाप्राज्ञः समर्थः सबलाबले।

आत्मापराधात्कस्मात्त्वं कुरुपे कोपमीदृशम् ॥३॥

आप बड़े विद्वान और बुद्धिमान् हैं। शास्त्र के बल और अबल को जानते हैं। अपने ही अपराध के कारण भी तुम क्यों इतना क्रोध कर रहे हो ॥३॥

उक्तवांस्त्वां तदैवाहं भीष्मद्रोणौ च भारत।
विदुरः सञ्जयश्चैव वाक्यं राजन्न तत्कृथाः ॥४॥

हे भारत! मैंने तो उसी समय राजसभा में तुम से कह दिया था। भीष्म और द्रोण भी कहते रहे। हे राजन! महात्मा विदुर और सञ्जय ने भी आपको बहुत समझाया था, परन्तु आपने उनके वाक्य भी नहीं माने ॥४॥

स वार्यमाणो नास्माकमकार्षीर्वचनं तदा।
पाण्डवानधिकान् जानन्बले शौर्ये च कौरव ॥५॥

हे कौरव! हमने राजा दुर्योधन को भी बहुत समझाया परन्तु वह बल और शौर्य में अपने को पाण्डवों से अधिक जानकर शान्त न हुआ ॥५॥

राजा हि यः स्थिरप्रज्ञः स्वयं दोषानवेक्षते।
देशकालविभागं च परं श्रेयः स विन्दति ॥६॥

जो राजा स्थिर बुद्धि वाला होता है, वह अपने दोषों को स्वयं देखता है। जो देश और काल का विभाग जानता है, वह परम कल्याण पाता है ॥६॥

उच्यमानस्तु यः श्रेयो गृह्णीते नो हिताहिते।
आपदः समनुप्राप्य स शोचत्यनये स्थितः ॥७॥

जिसको कहा जावे, यदि वह हित या अहित का ग्रहण न करे, तो वह अनीति मार्ग में स्थिर होने के कारण परिणाम में शोक करता है ॥७॥

ततोऽन्यवृत्तमात्मानं समवेक्षस्व भारत ।

राजंस्त्वं ह्यविधेयात्मा दुर्योधनवशे स्थितः ॥८॥

हे भारत! आपकी वृत्ति उस समय दूसरी ओर लगी थी-तुम उसकी ओर देखो। हे राजन! तुम अपने को वश में न रख सके और राजा दुर्योधन के वश में स्थित हो गए ॥८॥

आत्मापराधादापन्नस्तत्किं भीमं जिघांससि ।

तस्मात्संयच्छ कोपं त्वं स्वमनुस्मर दुष्कृतम् ॥९॥

जब तुमने स्वयं अपराध किया है, तो फिर क्यों भीमसेन का वध करना चाहते हो। अब तुम अपने कोप को रोको और अपने दुष्कर्मों का स्मरण करो ॥९॥

यस्तु तां स्पर्धया क्षुद्रः पाञ्चालीमानयत्सभाम् ।

स हतो भीमसेनेन वैरं प्रतिजिहीर्षता ॥१०॥

जिस नीच ने स्पर्धा करके द्रौपदी को राजसभा में अपमानित किया, उसी को वैर का बदला लेते हुए भीमसेन ने मारा है-इसमें उसका क्या अपराध है ॥१०॥

आत्मनोऽतिक्रमं पश्य पुत्रस्य च दुरात्मनः ।

यदनागसि पाण्डूनां परित्यागस्त्वया कृतः ॥११॥

तुम अपना नियमातिक्रमण और अपने दुरात्मा पुत्र राजा दुर्योधन के अपराध को देखो। तुम लोगों ने निरपराधी पाण्डवों को घर से वन में निकाल दिया था ॥११॥

वैशम्पायन उवाच–एवमुक्तः स कृष्णेन सर्वं सत्यं जनाधिप ।
उवाच देवकीपुत्रं धृतराष्ट्रो महीपतिः ॥१२॥

वैशम्पायन बोले—हे जनाधिप ! जब इस प्रकार भगवान् कृष्ण ने उनको सत्य बातें सुनाईं-तब देवकी-पुत्र श्रीकृष्ण से राजा धृतराष्ट्र कहने लगे ॥१२॥

एवमेतन्महाबाहो यथा वदसि माधव ।
पुत्रस्नेहस्तु बलवान्धैर्यान्मां समचालयत् ॥१३॥

हे महाबाहो ! माधव ! आप जो कह रहे हैं, वह सब सत्य है, परन्तु पुत्र के स्नेह ने मुझे अपने धैर्य से विचलित कर दिया।

दिष्टया तु पुरुषव्याघ्रो बलवान्सत्यविक्रमः ।
त्वद्गुप्तो नागमत्कृष्ण भीमो बाह्वन्तरं मम ॥१४॥

हे कृष्ण ! यह बड़ी अच्छी बात हुई, कि पुरुषप्रवीर, सत्य पराक्रमी, बलवान भीमसेन तुम्हारी रक्षा के कारण मेरी भुजाओं के मध्य में नहीं आया ॥१४॥

इदानीं त्वहमव्यग्रो गतमन्युर्गतज्वरः ।
मध्यमं पाण्डवं वीरं द्रष्टुमिच्छामि माधव ॥१५॥

हे माधव ! अब मैं व्यग्रतारहित होकर क्रोधहीन और चिन्ताशून्य हो गया हूं। अब तो मैं मध्यम पाण्डु-पुत्र अर्जुन से मिलना चाहता हूं ॥१५॥

हतेषु पार्थिवेन्द्रेषु पुत्रेषु निहतेषु च ।
पाण्डुपुत्रेषु वै शर्म प्रीतिश्चाप्यवतिष्ठते ॥१६॥

सारे राजा मारे जा चुके, मेरे पुत्र भी मर गए । अब तो मैं पाण्डु-पुत्रों का कल्याण चाहता हूं और उनमें ही मेरी प्रीति बढ़ रही है ॥१६॥

ततः स भीमं च धनञ्जयं च माद्र्याश्च पुत्रौ पुरुषप्रवीरौ ।
पस्पर्श गात्रैः प्ररुदन् सुगात्रानाश्वास्य कल्याणमुवाच चैतान्
इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां
स्त्रीपर्वणि जलप्रदानिकपर्वणि धृतराष्ट्रकोपविमोचने
पाण्डवपरिष्वङ्गो नाम त्रयोदशोऽध्यायः ॥१३॥

अब उसने भीम, अर्जुन, पुरुषप्रवीर माद्री-पुत्र नकुल सहदेव से रोते २ भेंट की। अपने शरीर से उनके शरीर का स्पर्श किया। इसके बाद उनको सान्त्वना देकर कल्याण युक्त वाणी कही। इति श्रीमहाभारत स्त्रीपर्वान्तर्गत जलप्रदानिकपर्व में धृतराष्ट्र के कोप शान्त करने के वर्णन का तेरहवां अध्याय समाप्त हुआ

चौदहवां अध्याय

वैशम्पायन उवाच—धृतराष्ट्राभ्यनुज्ञातास्ततस्ते कुरुपाण्डवाः ।
अभ्ययुर्भ्रातरः सर्वे गान्धारीं सह केशवाः ॥१॥

वैशम्पायन बोले—हे भरतर्षभ ! अब धृतराष्ट्र से आज्ञा लेकर कुरुवंशोत्तम सारे पाण्डव भ्राता श्रीकृष्णसहित गान्धारी के पास पहुंचे ॥१॥

ततो ज्ञात्वा हतामित्रं युधिष्ठिरमुपागतम् ।
गान्धारी पुत्रशोकार्ता शप्तुमैच्छदनिन्दिता ॥२॥

जब प्रशंसनीय गान्धारी ने शत्रुवध करके आये हुए धर्मराज को अपने पास उपस्थित देखा-तो वह पुत्र शोक से व्याकुल हुई, उनको शाप देने की इच्छा करने लगी ॥२॥

तस्याः पापमभिप्रायं विदित्वा पाण्डवान्प्रति ।
ऋषिः सत्यवतीपुत्रः प्रागेव समबुध्यत ॥३॥

हे राजन ! गान्धारी के पाण्डवों के प्रति दुष्ट अभिप्राय को सत्यवती-पुत्र महर्षि व्यास ने प्रथम ही जान लिया था ॥३॥

स गङ्गायामुपस्पृश्य पुण्यगन्धि पयः शुचि ।
तं देशमुपसम्पेदे परमर्षिर्मनोजवः ॥४॥

ये महर्षि गङ्गा जी के उत्तम गन्ध वाले पवित्र जल का आचमन करके मनोवेग से उस स्थान पर पहुँचे ॥४॥

दिव्येन चक्षुषा पश्यन् मनसा तद्गतेन च ।
सर्वप्राणभृतां भावं स तत्र समबुध्यत ॥५॥

ये ऋषि जिस वस्तु में अपने मन को लगाते थे, उस ही वस्तु को दिव्य चक्षु से देख लेते थे। ये तो एक स्थान पर बैठे ही, सारे प्राणियों के भावों को जान लेते थे ॥५॥

सम्नुपामब्रवीत्काले कल्पवादी महातपाः ।
शापकालमवाक्षिप्य शमकालमुदीरयन् ॥६॥

सिद्धान्तवादी इस महातपस्वी ने शाप के विचार का खण्डन ..के शान्ति धारण के विचार की पुष्टि करते हुए अपनी वधू गान्धारी से कहा—॥६॥

न कोपः पाण्डवे कार्यो गान्धारि शममाप्नुहि ।
वचो निगृह्यतामेतच्छृणु चेदं वचो मम ॥७॥

हे गान्धारी ! तुम्हें पाण्डवों पर कोप नहीं करना चाहिए । अब तुम शान्ति धारण करो । तुम अपने शाप के वचन का निग्रह करो और मेरी बात सुनो ॥७॥

उक्ताऽस्यष्टादशाहानि पुत्रेण जयमिच्छता ।
जयमाशास्व मे मातुर्युध्यमानस्य शत्रुभिः ॥८॥

हे भद्रे ! विजय की अभिलाषा से तुम्हारे पुत्र दुर्योधन ने अट्ठारह दिन तक तुम से कहा था, कि हे माता ! मैं शत्रुओं से युद्ध कर रहा हूं-तुम मुझे विजय की आशीष दो ॥८॥

सा तथा याच्यमाना त्वं काले काले जयैषिणा ।
उक्तवत्यसि गान्धारि यतो धर्मस्ततो जयः ॥९॥

हे गान्धारी ! विजय के इच्छुक दुर्योधन ने तुम से समय २ पर बहुत ही याचना की, परन्तु तुमने यही उत्तर दिया, कि जहां धर्म होता है, वहीं पर विजय होगी ॥९॥

न चाप्यतीतां गान्धारि वाचं ते वितथामहम् ।
स्मरामि तोषमाणायास्तथा प्रणिहिता ह्यसि ॥१०॥

हे गान्धारी ! तुम्हारी यह भूतकाल की वार्ता को मैं मिथ्या नहीं देख रहा हूं । मुझे तो याद है, कि तुम उस समय भी सन्तुष्ट भाव से स्थित रहीं और विचलित नहीं हुई ॥१०॥

विग्रहे तुमुले राज्ञां गत्वा परमसंशयम् ।
जितं पाण्डुसुतैर्युद्धे नूनं धर्मस्ततोऽधिकः ॥११॥

इस क्षत्रियों के घोर युद्ध में निश्चय पाण्डव विजयी हो गए और इस युद्ध समुद्र के पार पहुंच गए । इसका कारण धर्म की अधिकता ही है ॥११॥

क्षमाशीला पुरा भूत्वा साऽद्य न क्षमसे कथम् ।
अधर्मं जहि धर्मज्ञे यतो धर्मस्ततो जयः ॥१२॥

तुम तो पूर्व-काल में बड़ी क्षमा शील थीं, आज कैसे अपने क्षमा के व्रत को छोड़ रही हो । हे धर्मज्ञे ! तुम अधर्म का नाश करो । जिधर धर्म होता है उधर ही विजय होती है ॥११॥

स्वं च धर्मं परिस्मृत्य वाचं चोक्तां मनस्विनि ।
कोपं संयच्छ गान्धारि मैवं भूः सत्यवादिनी ॥१३॥

हे मनस्विनी ! तुम अपने धर्म और वचन का स्मरण करो । हे गान्धारी ! अपने कोप को रोको । हे सत्यवादिनी ! तुम ऐसी न बनो ॥१३॥

गान्धार्युवाच—भगवन्नाभ्यसूयामि नैतानिच्छामि नश्यतः ।

पुत्रशोकेन तु बलान्मनो विह्वलतीव मे ॥१४॥

गान्धारी बोली—हे भगवन ! मैं तो इनकी कोई निन्दा नहीं करती हूं और न मैं इनको नष्ट होते देखना चाहती हूं, परन्तु पुत्र शोक ने मेरे मन को बल-पूर्वक विह्वल कर रखा है ॥१४॥

यथैव कुन्त्या कौन्तेया रक्षितव्यास्तथा मया ।

तथैव धृतराष्ट्रेण रक्षितव्या यथा त्वया ॥१५॥

जिस तरह कुन्ती, पाण्डवों की रक्षा करती है, उसी तरह मुझे करनी चाहिए और जिस तरह तुम उनकी रक्षा करते हो, उसी तरह राजा धृतराष्ट्र को भी उनकी रक्षा करनी उचित है ॥१५॥

दुर्योधनापराधेन शकुनेः सौबलस्य च ।

कर्णदुःशासनाभ्यां च कृतोऽयं कुरुसंक्षयः ॥१६॥

दुर्योधन, सुबल-पुत्र शकुनि, कर्ण और दुःशासन के अपराध से यह कुरुकुल का विनाश उपस्थित हुआ है ॥१६॥

नापराध्यति बीभत्सुर्न च पार्थो वृकोदरः ।

नकुलः सहदेवश्च नैव जातु युधिष्ठिरः ॥१७॥

अर्जुन, वृकोदर भीम, नकुल, सहदेव और राजा युधिष्ठिर कभी अपराध करने वाले नहीं हैं ॥१७॥

युध्यमाना हि कौरव्याः कृतमानाः परस्परम् ।

निहताः सहिताश्चान्यैस्तत्र नास्त्यप्रियं मम ॥१८॥

किं तु कर्माकरोद्भीमो वासुदेवस्य पश्यतः ।
दुर्योधनं समाहूय गदायुद्धे महामनाः ॥१९॥
शिक्षयाऽभ्यधिकं ज्ञात्वा चरन्तं बहुधा रणे ।
अधो नाभ्याः प्रहृतवांस्तन्मे कोपमवर्धयत् ॥२०॥

कौरव कुल के वीर पुरुषों में युद्ध हुआ और परस्पर उनके मान की मर्यादा रही। उनकी बहुत सी संख्या भी विरोधियों ने मार दी, मुझे इससे कुछ भी कोप नहीं है । किन्तु महामनस्वी, भीमसेन ने गदायुद्ध में दुर्योधन को ललकार कर श्रीकृष्ण के देखते २ अधर्मपूर्ण कृत्य कर डाला। वह दुर्योधन को गदायुद्ध में अपने से अधिक समझता था और दुर्योधन भी अनेक मार्ग दिखा रहा था, परन्तु भीमसेन ने दुर्योधन की नाभि से नीचे प्रहार किया-इससे मेरा कोप बढ़ रहा है ॥१८-२०॥

कथं नु धर्मं धर्मज्ञैः समुद्दिष्टं महात्मभिः ।
त्यजेयुराहवे शूराः प्राणहेतोः कथञ्चन ॥२१॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां स्त्रीपर्वणि जलप्रदानिकपर्वणि गान्धारीसांत्वनायां चतुर्दशोऽध्यायः ॥१४॥

मेरी समझ में नहीं आता, कि धर्मात्मा महापुरुषों द्वारा निश्चित किए हुए धर्म को ये शूरवीर रण में प्राण के मोह से क्यों छोड़ बैठते हैं ॥२१॥

इति श्रीमहाभारत स्त्रीपर्वान्तर्गत जलप्रदानिकपर्व में गान्धारी सान्त्वना का चौदहवां अध्याय समाप्त हुआ ।

पन्द्रहवाँ अध्याय

वैशम्पायन उवाच-तच्छ्रुत्वा वचनं तस्या भीमसेनोऽथ भीतवत्
गान्धारीं प्रत्युवाचेदं वचः सानुनयं तदा ॥१॥

वैशम्पायन बोले—हे जनमेजय ! गान्धारी के वचन सुनकर भीमसेन भयभीत हो गया। वह विनय के साथ गान्धारी से यह वचन कहने लगा ॥१॥

अधर्मो यदि वा धर्मस्त्रासात्तत्र मया कृतः ।
आत्मानं त्रातुकामेन तन्मे त्वं क्षन्तुमर्हसि ॥२॥

हे देवि ! इस युद्ध में मैंने अधर्म या धर्म जो कुछ भी किया, यह प्राणों के भय से किया है। अपनी रक्षा करने के कारण मैंने यह सब कुछ किया, अब तुम उसको क्षमा करो ॥२॥

न हि युद्धेन पुत्रस्ते धर्म्येण स महाबलः ।
न शक्यः केनचिद्धन्तुमतो विषममाचरम् ॥३॥

हे भद्रे ! तुम्हारे पुत्र को कोई भी वीर धर्मयुद्ध में मार नहीं सकता था, क्योंकि वह महाबली था। मैंने यही सोचकर यह अनुचित कृत्य किया है ॥३॥

अधर्मेण जितः पूर्वं तेन चापि युधिष्ठिरः ।
निकृताश्च सदैव स्म ततो विषममाचरम् ॥४॥

राजा दुर्योधन ने भी तो धर्मराज को अधर्म से ही जीता था। हम लोगों को उसने बहुत ही अपमानित किया, इससे मैं इस अधर्म करने पर उतारू हो गया ॥४॥

सैन्यस्यैकोऽवशिष्टोऽयं गदायुद्धेन वीर्यवान् ।
मां हत्वा न हरेद्राज्यमिति वै तत्कृतं मया ॥५॥

महावीर्यवान् अकेला दुर्योधन बचा था, कहीं यह मुझे गदा-युद्ध द्वारा मार कर हमारे राज्य के छीनने को समर्थ न हो जावे, इससे मैंने यह अधर्म कर डाला ॥५॥

राजपुत्रीं च पाञ्चालीमेकवस्त्रां रजस्वलाम् ।
भवत्या विदितं सर्वमुक्तवान्यत्सुतस्तव ॥६॥

तुमको सब कुछ ज्ञात है, कि राज-पुत्री पञ्चालकन्या, एक-वस्त्रा, रजस्वला द्रौपदी को सभा में लाकर उसने कैसी अनुचित बातें सुनाई थीं ॥६॥

सुयोधनमसंगृह्य न शक्या भूः ससागरा ।
केवला भोक्तुमस्माभिरतश्चैतत्कृतं मया ॥७॥

राजा दुर्योधन के मारे विना समुद्रसहित पृथिवी को हम लोग भोग नहीं सकते थे, इसलिए यह पाप मैंने कर डाला है।

तथाऽप्यप्रियमस्माकं पुत्रस्ते समुपाचरत् ।
द्रौपद्या यत्सभामध्ये सव्यमूरुमदर्शयत् ॥८॥

तुम्हारे पुत्र दुर्योधन ने यह कितनी अनुचित बात की थी, कि जो सभा के मध्य में द्रौपदी के सन्मुख उसने अपनी दांयीं जांघ दिखाई थी ॥८॥

तदैव वध्यः सोऽस्माकं दुराचारश्च ते सुतः ।

धर्मराजाज्ञया चैव स्थिताः स्म समये तदा ॥९॥

यह तुम्हारा दुराचारी पुत्र हमको तभी से वध्य हो गया था। हम लोग तो राजा युधिष्ठिर की आज्ञा में स्थित हैं ॥९॥

वैरमुद्दीपितं राज्ञि पुत्रेण तव तन्महत् ।

क्लेशिताश्च वने नित्यं तत एतत्कृतं मया ॥१०॥

हे राज्ञि ! तुम्हारे पुत्र ने ही इस विशाल वैर की नींव डाली। हमको इसने वन में क्लेशित भी बहुत किया, इससे मैंने यह सब कुछ कर डाला है ॥१०॥

वैरस्यास्य गताः पारं हत्वा दुर्योधनं रणे ।

राज्यं युधिष्ठिरः प्राप्तो वयं च गतमन्यवः ॥११॥

अब रण में राजा दुर्योधन को मार कर हम इस वैर के पार पहुंच गए हैं । राजा युधिष्ठिर राज्य प्राप्त कर चुके-इससे हमारा क्रोध शान्त हो चुका है ॥११॥

गांधार्युवाच–न तस्यैष वधस्तात यत्प्रशंससि मे सुतम् ।

कृतवांश्चापि तत्सर्वं यदिदं भाषसे मयि ॥१२॥

हताश्वे नकुले यत्तु वृषसेनेन भारत ।

अपिबः शोणितं संख्ये दुःशासनशरीरजम् ॥१३॥

गान्धारी कहने लगी—हे तात ! तुमने जो मेरे पुत्र दुर्योधन के वध की बात सुनाई-वह सब कुछ तुमने किया है। हे भारत !

जब नकुल के अश्वों को वृषसेन ने मार दिया-तो उस समय तुमने पहुंच कर अन्याय किया और दुःशासन के शरीर के रक्त का पान किया ॥१२-१३॥

सद्भिर्विगर्हितं घोरमनार्यजनसेवितम् ।
क्रूरं कर्माकृथास्तस्मात्तदयुक्तं वृकोदर ॥१४॥

हे वृकोदर ! तुमने सज्जनों से निन्दित, अनार्यजन सेवित क्रूर कर्म कर डाले-जो तुमको करने नहीं चाहिए थे ॥१४॥

भीमसेन उवाच- अन्यस्यापि न पातव्यं रुधिरं किं पुनः स्वकम्
यथैवात्मा तथा भ्राता विशेषो नास्ति कश्चन ॥१५॥

भीमसेन ने कहा—हे गान्धारी ! रक्त तो किसी भी शत्रु का नहीं पीना चाहिए-इस पर अपने ही भ्राता का रुधिर पीना अतीव अनुचित है। जैसा अपना शरीर ऐसा ही भ्राता का है-इसमें क्या भेद हो सकता है ॥१५॥

रुधिरं न व्यतिक्रामदन्तोष्ठादम्ब मा शुचः ।
वैवस्वतस्तु तद्वेद हस्तौ मे रुधिरोक्षितौ ॥१६॥

हे माता ! मेरे दांत और ओष्ठों से आगे रुधिर न गया था-तुम शोक न करो। इस बात का सूर्य साक्षी है, कि केवल मेरे हाथ रक्त में सने हुए थे ॥१६॥

हताश्वं नकुलं दृष्ट्वा वृषसेनेन संयुगे ।
भ्रातॄणां संप्रहृष्टानां त्रासः सञ्जनितो मया ॥१७॥

इस घोर युद्ध में वृषसेन ने जब नकुल के अश्व मार लिए-तो हर्षोन्मत्त भ्राताओं के डराने को मुझे ऐसा मिथ्या नाटक करना पड़ा ॥१७॥

केशपक्षपरामर्शे द्रौपद्या द्यूतकारिते।
क्रोधाद्यदब्रुवं चाहं तच्च मे हृदि वर्तते ॥१८॥
क्षत्रधर्माच्च्युतो राज्ञि भवेयं शाश्वतीः समाः।
प्रतिज्ञां तामनिस्तीर्य ततस्तत्कृतवानहम् ॥१९॥

जब द्यूत रचाया गया और द्रौपदी के केशों को खैंचा गया, उस समय मैंने क्रोध से यह वचन कह दिया था, जो मेरे हृदय में स्थित था। हे राज्ञि ! यदि मैं इस प्रतिज्ञा को पूर्ण न कर देता-तो सदा के लिए क्षत्रिय धर्म से च्युत हो जाता। हे देवि ! इससे यह सब कुछ अनुचित कर्म मुझसे बन आए ॥१८-१९॥

न मामर्हसि गान्धारि दोषेण परिशङ्कितुम्।
अनिगृह्य पुरा पुत्रानस्मास्वनपकारिषु।
अधुना किं नु दोषेण परिशङ्कितुमर्हसि ॥२०॥

हे गान्धारी ! तुम मुझे दोष युक्त न समझो। प्रथम तो तुम अपने पुत्रों को हमारे अनुचित अपकारों से रोक नहीं सकी। अब तुम हम पर अपराध लगाती हो, यह उचित नहीं है ॥२०॥

गान्धार्युवाच— वृद्धस्यास्य शतं पुत्रान्निघ्नंस्त्वमपराजितः।
कस्मान्न शेषयेः किञ्चिद्येनाल्पमपराधितम् ॥२१॥

सन्तानमावयोस्तात वृद्धयोर्हृतराज्योः ।

कथमन्धद्वयस्यास्य यष्टिरेका न वर्जिता ॥२२॥

गान्धारी बोली—हे भीम ! तुम इतने बल वाले हुए, कि तुमने वृद्ध राजा धृतराष्ट्र के सौ पुत्रों को मार डाला । इनमें से किसी एक ने यदि थोड़ा अपराध किया था, तो उसे तो छोड़ देना चाहिए था । हे तात ! हम वृद्ध दम्पती का राज्य छीना गया और सन्तान भी मारी गई । तुमने हम दो अन्धों की एक भी आधारभूत लकड़ी न छोड़ी ॥२१-२२॥

शेषे ह्यवस्थिते तात पुत्राणामन्तके त्वयि ।

न मे दुःखं भवेदेतद्यदि त्वं धर्ममाचरेः ॥२३॥

हे तात ! यदि एक पुत्र शेष रहता और तुम धर्म-युद्ध में अन्य सारे पुत्रों का मार लेते-तो पुत्र-घाती तुम पर मेरा कोई कोप नहीं होता और न मुझे दुःख ही होता ॥२३॥

वैशम्पायन उवाच—एवमुक्त्वा तु गान्धारी युधिष्ठिरमपृच्छत ।

क्व स राजेति सक्रोधा पुत्रपौत्रवधार्दिता ॥२४॥

वैशम्पायन बोले—हे राजन् ! इतना कहकर पुत्र पौत्र के शोक से व्याकुल गान्धारी ने क्रोध-पूर्वक पूछा-कि राजा युधिष्ठिर कहां हैं ॥२४॥

तामभ्यगच्छद्राजेन्द्रो वेपमानः कृताञ्जलिः ।

युधिष्ठिरस्त्विदं तत्र मधुरं वाक्यमब्रवीत् ॥२५॥

इतना कहते ही धर्मराज, हाथ जोड़कर कांपते हुए, उसके पास पहुंचे और नम्रता युक्त वचनों में कहा, कि युधिष्ठिर तो यह खड़ा है ॥२५॥

पुत्रहन्ता नृशंसोऽहं तव देवि युधिष्ठिरः ।
शापार्हः पृथिवीनाशे हेतुभूतः शपस्व माम् ॥२६॥

हे देवि ! मैं नीच तुम्हारे पुत्रों का घाती हूं । मैं ही इस पृथिवी के नाश का कारण होने से शाप के योग्य हूं । आप मुझे शाप देकर दण्ड दे सकती हो ॥२६॥

न हि मे जीवितेनार्थो न राज्येन धनेन वा ।
तादृशान् सुहृदो हत्वा मूढस्यास्य सुहृद्द्रुहः ॥२७॥

अब मुझे जीवित रहने, राज्य या धन से कोई प्रयोजन नहीं मैं सुहृद् द्रोही, बुद्धिहीन दुष्ट पुरुष हूँ-जिसने इतने उत्तम २ सुहृदों को मार गिराया ॥२७॥

तमेवं वादिनं भीतं संनिकर्षगतं तदा ।
नोवाच किञ्चिद्गान्धारी निःश्वासपरमा भृशम् ॥२८॥

हे राजन् ! इस तरह कहते हुए समीप में स्थित, राजा युधिष्ठिर से गान्धारी कुछ न बोली और वह केवल शोक के श्वास छोड़ती रही ॥२८॥

तस्यावनतदेहस्य पादयोर्निपतिष्यतः ।
युधिष्ठिरस्य नृपतेर्धर्मज्ञा दीर्घदर्शिनी ॥२९॥

अङ्गुल्यग्राणि ददृशे देवीपट्टान्तरेण सा ।
ततः स कुनखीभूतो दर्शयन्नीखो नृपः ॥३०॥
तं दृष्ट्वा चार्जुनोऽगच्छद्वासुदेवस्य पृष्ठतः ।

राजा युधिष्ठिर झुके हुए थे और वे चरणों में गिरे जा रहे थे। इस समय राजमहिषी के योग्य वस्त्रों में से दीर्घदर्शिनी धर्मज्ञा गान्धारी को धर्मराज की अंगुलि के अग्रभाग दिखाई देने लगे। राजा युधिष्ठिर के बड़े सुन्दर नख थे, परन्तु अब उसके नख नीले पड़ गए। गान्धारी की दृष्टि के पड़ते ही नखों की यह दशा देखकर अर्जुन श्रीकृष्ण के पीछे जा छुपे ॥२६-३०॥

एवं सञ्चेष्टमानांस्तानितश्चेतश्च भारत ॥३१॥
गान्धारी विगतक्रोधा सांत्वयामास मातृवत् ।

हे भारत ! पाण्डवों को इधर उधर छुपते देखकर गान्धारी का कोप शान्त हो गया और उसने माता की तरह उनको सान्त्वना दी ॥३१॥

तया ते समनुज्ञाता मातरं वीरमातरम् ॥३२॥
अभ्यगच्छन्त सहिताः पृथां पृथुलवक्षसः ।

अब गान्धारी ने उनको जाने की आज्ञा दी, तो पुष्टवक्षस्थल धारी ये पाण्डव, अब वीरजननी अपनी माता कुन्ती के पास इकट्ठे ही पहुंचे ॥३२॥

चिरस्य दृष्ट्वा पुत्रान् सा पुत्राधिभिरभिप्लुता ॥३३॥
बाष्पमाहारयद्देवी वस्त्रेणावृत्य वै मुखम् ।

कुन्ती ने बहुत दिनों में अपने पुत्रों को देखा था। वह पुत्रों की चिन्ता से व्याकुल हो रही थी। आज वह देवी भी वस्त्र में अपने मुख को ढक कर रोने लगी ॥३३॥

ततो बाष्पं समुत्सृज्य सह पुत्रैस्तदा पृथा ॥३४॥
अपश्यदेतान् शस्त्रौघैर्बहुधा क्षतविक्षतान् ।

माता और पुत्र दोनों ने थोड़ी देर में अपने २ आंसू पोंछ डाले। कुन्ती ने शस्त्रसमूह से अनेक स्थानों पर उन्हें क्षत-विक्षत देखा ॥३४॥

सा तानेकैकशः पुत्रान् संस्पृशन्ती पुनः पुनः ॥३५॥
अन्वशोचन दुःखार्ता द्रौपदीं च हतात्मजाम् ।
रुदतीमथ पाञ्चालीं ददर्श पतितां भुवि ॥३६॥

इसने प्रत्येक पुत्र का पृथक् २ बार २ स्पर्श किया और पुत्र हीन हुई द्रौपदी का बहुत शोक किया तथा रोती हुई पाञ्चाली को भूमि में गिरती हुई देखा ॥३५ ३६॥

द्रौपद्युवाच— आर्ये पुत्राः क्व ते सर्वे सौभद्रसहिता गताः ।
न त्वां तेऽद्याभिगच्छन्ति चिरं दृष्ट्वा तपस्विनीम् ॥

द्रौपदी बोली—हे आर्ये ! तुम्हारे पुत्र अभिमन्यु आदि कहां गए। तुम दुःखिनी को बहुत दिन में देखकर भी वे तुम्हारे पास क्यों नहीं आ रहे हैं ॥३७॥

किं नु राज्येन वै कार्यं विहीनायाः सुतैर्मम ।
तां समाश्वासयामास पृथा पृथुललोचना ॥३८॥
उत्थाप्य याज्ञसेनीं तु रुदतीं शोककर्शिताम् ।

आज पुत्र-विहीन हो जाने पर मुझे अब राज्य का क्या करना है। इस तरह रोती हुई द्रौपदी को पुष्ट आंखों वाली कुन्ती ने बहुत कुछ धैर्य बंधाया और रोती हुई शोककर्शित यज्ञसेन-पुत्री द्रौपदी को पृथिवी से उठाया ॥३८॥

तयैव सहिता चापि पुत्रैरनुगता नृप ॥३६॥
अभ्यगच्छत गान्धारीमार्तामार्ततरा स्वयम् ।

हे नृपते ! इस प्रकार शोकातुर द्रौपदी और अपने पुत्रों के साथ कुन्ती अत्यन्त आतुर गान्धारी के पास गई, जो स्वयं भी कौरववंश के विनाश से बहुत ही क्लेशित हो रही थी ॥३६॥

वैशम्पायन उवाच—

तामुवाचाथ गान्धारी सह वध्वा यशस्विनीम् ॥४०॥
मैवं पुत्रीति शोकार्ता पश्य मामपि दुःखिताम् ।

वैशम्पायन बोले—हे राजन् ! शोकातुर गान्धारी ने अपनी पुत्र-वधू द्रौपदी के साथ उपस्थित यशस्विनी, कुन्ती से कहा—हे पुत्रि ! ऐसी कातर मत होओ। तुम मुझ दुःखिया की ओर तो देखो ॥४०॥

मन्ये लोकविनाशोऽयं कालपर्यायनोदितः ॥४१॥
अवश्यभावी सम्प्राप्तः स्वभावाल्लोमहर्षणः ।

यह लोक विनाश तो काल की इच्छा से ही उपस्थित हुआ है। यह अवश्य होना था, इससे स्वभाव से ही रोमाञ्चकारी यह विनाश हुआ है ॥४१॥

इदं तत्समनुप्राप्तं विदुरस्य वचो महत् ॥४२॥
असिद्धानुनये कृष्णे यदुवाच महामतिः ।

यह सब कुछ वही हुआ-जो महात्मा विदुर कहता था। महामति विदुर ने तो कृष्ण के सन्धि कराने में असफल होने ही यह सब कुछ कह दिया था ॥४२॥

तस्मिन्नपरिहार्येऽर्थे व्यतीते च विशेषतः ॥४३॥
मा शुचो न हि शोच्यास्ते संग्रामे निधनं गताः ।

यह तो अवश्यम्भावी घटना थी। जब यह विशेष रूप से हो चुकी-तो क्या सोच करना है। अब शोक नहीं करना चाहिए। ये तो संग्राम में वीर गति पा चुके हैं ॥४३॥

यथैवाहं तथैव त्वं को वामाश्वासयिष्यति ।
ममैव ह्यपराधेन कुलमग्र्यं विनाशितम् ॥४४॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां स्त्रीपर्वणि जलप्रदानिकपर्वणि पृथापुत्रदर्शने पंचदशोऽध्यायः ॥१५॥

जिस तरह मैं दुखिया हूं, उसी तरह तुम भी दुःखातुर हो, अब हमको कौन आश्वासन देगा। यह उत्तम कुरुकुल तो मेरी ही कुक्षि के अपराध से विनष्ट हुआ है ॥४४॥

इति श्रीमहाभारत स्त्रीपर्वान्तर्गत जलप्रदानिकपर्व में कुन्ती के पुत्रों के दर्शन का पन्द्रहवां अध्याय समाप्त हुआ और यहीं पर जलप्रदानिकपर्व भी समाप्त हो गया।

अथ स्त्रीविलापपर्व

सोलहवां अध्याय

वैशम्पायन उवाच—

एवमुक्त्वा तु गान्धारी कुरूणामवकर्तनम् ।
अपश्यत्तत्र तिष्ठन्ती सर्वं दिव्येन चक्षुषा ॥१॥

वैशम्पायन बोले—हे जनमेजय ! इतना कह कर वहीं स्थित गान्धारी ने अपनी दिव्यदृष्टि से सारा रणक्षेत्र में हुआ कौरवों का विनाश प्रत्यक्ष देख लिया ॥१॥

पतिव्रता महाभागा समानव्रतचारिणी ।
उग्रेण तपसा युक्ता सततं सत्यवादिनी ॥२॥

महाभागा गान्धारी, बड़ी पतिव्रता, पति के समान अन्धवत् आचरण करने वाली उग्र तप से संयुक्त और सत्यवादिनी थी ॥२॥

वरदानेन कृष्णस्य महर्षेः पुण्यकर्मणः ।
दिव्यज्ञानबलोपेता विविधं पर्यदेवयत् ॥३॥

पुण्यात्मा महर्षि कृष्णद्वैपायन के वरदान से गान्धारी दिव्य ज्ञान युक्त थी । इस समय यह अनेक प्रकार का विलाप करके रोने लगी ॥३॥

ददर्श सा बुद्धिमती दूरादपि यथान्तिके ।
रणाजिरं नृवीराणामद्भुतं लोमहर्षणम् ॥४॥
अस्थिकेशवसाकीर्णं शोणितौघपरिप्लुतम् ।
शरीरैर्बहुसाहस्रैर्विनिकीर्णं समन्ततः ॥५॥
गजाश्वरथयोधानामावृतं रुधिराविलैः ।
शरीरैरशिरस्कैश्च विदेहैश्च शिरोगणैः ॥६॥
गजाश्वनरनारीणां निःस्वनैरभिसंवृतम् ।
सृगालबककाकोलकङ्ककाकनिषेवितम् ॥७॥
रक्षसां पुरुषादानां मोदनं कुररकुलम् ।
अशिवाभिः शिवाभिश्च नादितं गृध्रसेवितम् ॥८॥

उस बुद्धिमती गान्धारी ने रणाङ्गण में बहुत ही अद्भुत लोमहर्षण मनुष्यों के विनाश रूप दृश्य को देखा । यद्यपि यह रणक्षेत्र दूर था, तो भी उसे सामने दिखाई देने लगा । इस समय रणक्षेत्र अस्थि, केश, वसा से संयुक्त, रक्तप्रवाह से व्याप्त तथा सब ओर से सहस्रों मनुष्य शरीरों से भरा पड़ा था । यह हाथी, अश्व, रथ और योद्धाओं के रक्त में भीगे हुए शरीरों से भी आवृत हो रहा था । विना शिर के शरीर और देह विना मस्तकों के गण तथा गज, अश्व, नर और नारियों के कोलाहल से बहुत ही आकीर्ण था । गीदड़, बक, काकोल कङ्क और काकों से संकीर्ण हो रहा था । मांसभोजी राक्षसों को आनन्ददायी था और कुरर आदि (चील) पक्षी गणों से भरा हुआ था । भयानक लोमड़ियां भी चीत्कार मचा रहीं थी तथा गीधों से सेवित था ॥४-८॥

ततो व्यासाभ्यनुज्ञातो धृतराष्ट्रो महीपतिः ।
पाण्डुपुत्राश्च ते सर्वे युधिष्ठिरपुरोगमाः ॥९॥
वासुदेवं पुरस्कृत्य हतबन्धुं च पार्थिवम् ।
कुरुस्त्रियः समासाद्य जग्मुरायोधनं प्रति ॥१०॥

इसके अनन्तर वेदव्यास की आज्ञानुसार राजा धृतराष्ट्र युद्ध-भूमि की ओर चले। युधिष्ठिर आदि सारे पाण्डव भी श्रीकृष्ण और बन्धु विहीन राजा धृतराष्ट्र को आगे करके तथा कुरुवंश की स्त्रियों को साथ लेकर युद्ध भूमि की ओर चल पड़े ॥९-१०॥

समासाद्य कुरुक्षेत्रं ताः स्त्रियो निहतेश्वराः ।
अपश्यन्त हतांस्तत्र पुत्रान् भ्रातृन्पितृन्पतीन् ॥११॥

अपने २ पतियों के मृत होने से विधवा, कुरुस्त्रियां, कुरुक्षेत्र पहुंची। वहां उन्होंने अपने मृत पुत्र, भ्राता, पिता और पतियों को देखा ॥११॥

क्रव्यादैर्भक्ष्यमाणान्वै गोमायुबलवायसैः ।
भूतैः पिशाचै रक्षोभिर्विविधैश्च निशाचरैः ॥१२॥

इनमें बहुत से वीरों के बहुत कुछ शरीर के भाग, मांसभोजी गीदड़, बल और वायस पक्षियों तथा अनेक भूत, पिशाच, राक्षस और निशाचरों ने खा रखे थे ॥१२॥

रुद्राक्रीडनिभं दृष्ट्वा तदा विशसनं स्त्रियः ।
महार्हेभ्योऽथ यानेभ्यो विक्रोशंत्यो निपेतिरे ॥१३॥

कुरुवंश की स्त्रियों ने जब रणक्षेत्र को रुद्र के क्रीड़ा स्थान के सदृश देखा, तो वे रोती चिल्लाती हुई, अपने २ उत्तम यानों से नीचे गिर पड़ीं ॥१३॥

अदृष्टपूर्वं पश्यंत्यो दुःखार्ता भरतस्त्रियः ।
शरीरेष्वस्खलन्नन्याः पतत्यश्चापरा भुवि ॥१४॥

भरत-स्त्रियों ने इस अदृष्टपूर्व दुःख को आज बड़े दुःख के साथ देखा। किसी के शरीर घूमने लगे और कोई पृथिवी में गिर गई ॥१४॥

श्रान्तानां चाप्यनाथानां नासीत्काचन चेतना ।
पाञ्चालकुरुयोषाणां कृपणं तदभून्महत् ॥१५॥
दुःखोपहतचित्ताभिः समन्तादनुनादितम् ।
दृष्ट्वाऽऽयोधनमत्युग्रं धर्मज्ञा सुबलात्मजा ॥१६॥
ततः सा पुण्डरीकाक्षमामंत्र्य पुरुषोत्तमम् ।
कुरूणां वैशसं दृष्ट्वा इदं वचनमब्रवीत् ॥१७॥

कौरव स्त्रियां बहुत थकी हुई थीं। इन अनाथों को इस समय कोई चेतना नहीं थी। पञ्चाल और कौरवस्त्रियों का यह दृश्य बड़ा ही करुणाजनक था, इन दुःख से व्याप्त दीन स्त्रियों के करुण क्रन्दन से रणक्षेत्र शब्दायमान हो उठा। इस अत्यन्त भीषण युद्धक्षेत्र को गान्धारी ने देखा। अब सुबल-पुत्री, धर्म जानने वाली गान्धारी ने पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण को बुलाया और इस कौरव विनाशक रणक्षेत्र को देखकर यह वचन कहा ॥१५-१७॥

पश्यैताः पुण्डरीकाक्ष स्नुषा मे निहतेश्वराः ।
प्रकीर्णकेशाः क्रोशन्तीः कुररीरिव माधव ॥१८॥

हे पुण्डरीकाक्ष ! तुम पतियों के मारे जाने से व्याकुल, बाल बखेरे हुए, चील की तरह चिल्लाती हुई मेरी इन पुत्र-वधुओं को देखो ॥१८॥

अमूस्त्वभिसमागम्य स्मरंत्यो भर्तृजान् गुणान् ।
पृथगेवाभिधावंत्यः पुत्रान्भ्रातृन्पितृन्पतीन् ॥१६॥

इस रणक्षेत्र में आते ही इनको अपने २ पतियों के गुण याद आ गए। देखो ? ये अपने २ पुत्र, भ्राता, पिता और पतियों को खोजती हुई किस तरह पृथक् २ भाग रहीं हैं ॥१६॥

वीरसूभिर्महाराज हतपुत्राभिरावृतम् ।
क्वचिच्च वीरपत्नीभिर्हतवीराभिरावृतम् ॥२०॥

हे महाराज ! ये वीर पुत्रों के उत्पन्न करने वाली आज पुत्र-विहीन हो चुकीं। वहुत सी तो अभी वीरपत्नी ही हैं, इनके सन्तान उत्पन्न ही नहीं हुई; जिनसे यह रणक्षेत्र आकीर्ण होरहा है

शोभितं पुरुषव्याघ्रैः कर्णभीष्माभिमन्युभिः ।
द्रोणद्रुपदशल्यैश्च ज्वलद्भिरिव पावकैः ॥२१॥
काञ्चनैः कवचैर्निष्कैर्मणिभिश्च महात्मनाम् ।
अङ्गदैर्हस्तकेयूरैः स्रग्भिश्च समलंकृतम् ॥२२॥

जो रणाङ्गण अग्नि के समान तेजस्वी, पुरुषप्रवीर कर्ण, भीष्म, अभिमन्यु, द्रोण, द्रुपद और शल्य आदि से सुशोभित

होता था, वही आज सुवर्ण के कवच, सुवर्णहार, महावीरों की मणि, अङ्गद, केयूर और मालाओं से भीषण होरहा है ॥२१-२२॥

वीरबाहुविसृष्टाभिः शक्तिभिः परिघैरपि ।
खड्गैश्च विविधैस्तीक्ष्णैः सशरैश्च शरासनैः ॥२३॥
क्रव्यादसङ्घैर्मुदितैस्तिष्ठद्भिः सहितैः क्वचित् ।
क्वचिदाक्रीडमानैश्च शयानैश्चापरैः क्वचित् ॥२४॥

हे कृष्ण ! वीरों की भुजाओं से छोड़े हुए शक्ति, परिघ आदि शस्त्र, खड्ग, तीक्ष्ण बाणों सहित धनुष, प्रसन्नचित्त मांसभोजी जन्तुओं के स्थित, कहीं २ क्रीड़ा करते हुए और कहीं पर सोते हुए यूथ दिखाई दे रहे हैं ॥२३-२४॥

एतदेवंविधं वीर सम्पश्यायोधनं विभो ।
पश्यमाना हि दह्यामि शोकेनाहं जनार्दन ॥२५॥

हे वीर ! जनार्दन ! इस प्रकार के वीभत्स इस रणक्षेत्र को देखकर आज मैं शोक से जली जा रही हूँ ॥२५॥

पञ्चालानां कुरूणां च विनाशे मधुसूदन ।
पञ्चानामपि भूतानामहं वधमचिन्तयम् ॥२६॥

हे मधुसूदन ! पाञ्चाल और कुरुवंश के विनाश से हमको तो यही प्रतीत हो रहा है, कि आज सारे ही पञ्चभूतों का नाश हो गया ॥२६॥

तान्सुपर्णाश्च गृध्राश्च कर्षयंत्यसृगुक्षिताः ।
विगृह्य चरणैर्गृध्रा भक्षयन्ति सहस्रशः ॥२७॥

इन रक्त में भीगे हुए वीरों को सुपर्ण और गीध खैंच रहे हैं। यह देखो ! सहस्रों गीध अपने चरणों से नोंच २ कर सहस्रों लोथों को खा रहे हैं ॥२७॥

जयद्रथस्य कर्णस्य तथैव द्रोणभीष्मयोः ।
अभिमन्योर्विनाशं च कश्चिन्तयितुमर्हति ॥२८॥

राजा जयद्रथ, कर्ण, द्रोण, भीष्म, अभिमन्यु आदि वीरों के विनाश को कौन मनुष्य याद कर सकता है, जिसके स्मरण से शोक उमड़ पड़ता है ॥२८॥

अवध्यकल्पान्निहतान् गतसत्वानचेतसः ।
गृध्रकङ्कबकश्येनश्वसृगालादनीकृतान् ॥२९॥

जो किसी से नहीं मारे जा सकते थे, उनको भी प्राण-विहीन अचेत पड़े देखते हैं। यह देखो ? उनको ही गीध, कङ्क, बक, श्येन कुत्ते, गीदड़ नोंच २ कर खा रहे हैं ॥२९॥

अमर्षवशमापन्नान् दुर्योधनवशे स्थितान् ।
पश्येमान्पुरुषव्याघ्रान् संशान्तान्पावकानिव ॥३०॥

दुर्योधन के वश में स्थित, आवेश में भरे हुए इन पुरुषश्रेष्ठ वीरों को देखो, कि जो बुझी हुई आग की तरह पड़े हैं ॥३०॥

शयाना ये पुरा सर्वे मृदूनि शयनानि च ।
विपन्नास्तेऽद्य वसुधां विवृतामधिशेरते ॥३१॥

जो पूर्वकाल में कोमल शयनों पर सोते थे, वे ही मृत होकर आज धूलि भरी हुई पृथिवी में सो रहे हैं ॥३१॥

वन्दिभिः सततं काले स्तुवद्भिरभिनन्दिताः ।

शिवानामशिवा घोराः शृण्वन्ति विविधा गिरः ॥

जो वीर स्तुति करने वाले वन्दियों से सदा आनन्दित किए जाते थे, वे आज गीदड़ों की भद्दी चीत्कारपूर्ण अनेक वाणी सुन रहे हैं ॥३२॥

ये पुरा शेरते वीराः शयनेषु यशस्विनः ।

चन्दनागुरुदिग्धाङ्गास्तेऽद्य पांसुषु शेरते ॥३३॥

जो यशस्वी वीर उत्तम २ शयनों पर सोते थे, वे ही चन्दन, अगर आदि से लिप्त शरीर वाले होकर आज मिट्टी में सो रहे हैं।

तेषामाभरणान्येते गृध्रगोमायुवायसाः ।

आक्षिपन्ति शिवा घोराः विनदंत्यः पुनः पुनः ॥

आज गीध, गीदड़ और वायस इन वीरों के आभूषणों को खैंचते हैं और बार २ भद्दी चीत्कार करते हैं ॥३४॥

बाणान्विनिशितान्पीतान्निस्त्रिंशान् विमला गदाः ।

युद्धाभिमानिनः सर्वे जीवन्त इव बिभ्रति ॥३५॥

युद्ध के अभिमान में चूर रहने वाले, ये वीर आज मृत हुए भी जीवितों की सी तरह तीक्ष्ण, विपपीत बाण, खड्ग और चमकती हुई गदाओं को धारण किए हुए हैं ॥३५॥

सुरूपवर्णा बहवः क्रव्यादैरवघट्टिताः ।

ऋषभप्रतिरूपाश्च शेरते हरितस्रजाः ॥३६॥

बड़े २ सुन्दर रूप और वर्ण धारी बहुत से वीरों को मांस-भोजी जन्तु खैंच रहे हैं। ये हरित मणियों की माला पहिने हुए वृषभों के समान उद्धत रूप से ही रणभूमि में पड़े हैं ॥३६॥

अपरे पुनरालिङ्ग्य गदाः परिघबाहवः ।
शेरतेऽभिमुखाः शूरा दयिता इव योषितः ॥३७॥

बहुत से परिघ के समान विशाल भुजाधारी मुख्य वीर अपनी गदा को प्रिय स्त्री की भांति चिपटाए हुए रणभूमि में पड़े हैं ॥३७॥

बिभ्रतः कवचान्यन्ये विमलान्यायुधानि च ।
न धर्षयन्ति क्रव्यादा जीवन्तीति जनार्दन ॥३८॥

हे जनार्दन! बहुत से वीर अभी तक निर्मल कवच और आयुध धारण किए हुए हैं। उन पर मांसभोजी जन्तु, जीवित समझ कर अभी तक आक्रमण नहीं कर पाए हैं ॥३८॥

क्रव्यादैः कृष्यमाणानामपरेषां महात्मनाम् ।
शातकौम्भ्यः स्रजश्चित्रा विप्रकीर्णाः समन्ततः ॥३९॥

बहुत से वीरों को मांसभोजी जन्तु खैंच रहे हैं। इन वीरों की बहुत सी सुवर्ण की मालाएँ इधर उधर फैली पड़ी हैं ॥३९॥

एते गोमायवो भीमा निहतानां यशस्विनाम् ।
कण्ठान्तरगतान्हारानाक्षिपन्ति सहस्रशः ॥४०॥

यह देखो? ये मारे हुए यशस्वी वीरों के कण्ठ में पड़े हुए हारों को सहस्रों गीदड़ खैंच रहे हैं ॥४०॥

सर्वेषपररात्रेषु या अनन्दत बन्दिनः ।
स्तुतिभिश्च परार्घ्याभिरुपचारैश्च शिक्षिताः ॥४१॥
तानिमाः परिदेवन्ति दुःखार्ताः परमाङ्गनाः ।
कृपणं वृष्णिशार्दूल दुःखशोकार्दिता भृशम् ॥४२॥

इन सारे वीरों को रात्रि के पिछले पहर में बन्दीजन उत्तम २ स्तुतियों और शिक्षित सेवक सेवाओं से आनन्दित करते थे, उनको ही आज बड़ी दुःखी होकर सुन्दर २ अङ्गना दुःख के साथ रो रही हैं। हे वृष्णिशार्दूल ! ये दुःख और शोक से आतुर कितना करुणपूर्ण क्रन्दन कर रही हैं ॥४१-४२॥

रक्तोत्पलवनानीव विभान्ति रुचिराणि च ।
मुखानि परमस्त्रीणां परिशुष्काणि केशव ॥४३॥

हे केशव ! इन सुन्दर स्त्रियों के मुख, रक्त कमल के समान सुन्दर थे, जो आज सूख गए हैं ॥४३॥

रुदिताद्विरता ह्येता ध्यायंत्यः सपरिच्छदाः ।
कुरुस्त्रियोऽभिगच्छन्ति तेन तेनैव दुःखिताः ॥४४॥

ये वस्त्रों से परिवेष्टित कुरुस्त्रियां रोने से विरत होकर अपने २ पतियों का ध्यान करती और उसी दुःख में निमग्न हुई चली जा रही हैं ॥४४॥

एतान्यादित्यवर्णानि तपनीयनिभानि च ।
शेषरोदनताम्राणि वक्त्राणि कुरुयोषिताम् ॥४५॥

ये सूर्य के समान तेजस्वी, सुवर्ण के समान उज्ज्वल, कु-स्त्रियों के मुख, क्रोध और रोदन से लाल हो रहे हैं ॥४५॥

श्यामानां वरवर्णानां गौरीणामेकवाससाम् ।
दुर्योधनवरस्त्रीणां पश्य वृन्दानि केशव ॥४६॥

हे केशव ! इन्हीं दुर्योधन की सुन्दर श्याम और गौर वर्ण वाली, एक वस्त्रधारिणी सुन्दर स्त्रियों के समूह को देखो ॥४६॥

आसामपरिपूर्णार्थं निशम्य परिदेवितम् ।
इतरेतरसंक्रन्दान्न विजानन्ति योषितः ॥४७॥

इनके पूर्ण अर्थ नहीं देने वाले रुदन को सुनते तो हैं, परन्तु एक दूसरे के क्रन्दन के कारण स्त्रियां समझ भी नहीं पाती हैं।

एता दीर्घमिवोच्छ्वस्य विक्रुश्य च विलप्य च ।
विस्पन्दमाना दुःखेन वीरा जहति जीवितम् ॥४८॥

ये स्त्रियां, लम्बे २ श्वास मार कर रोती, चिल्लाती और विलाप करती हैं। इनके इस विलाप को सुनकर वीर तड़फड़ा कर दुःख से प्राण छोड़ रहे हैं ॥४८॥

बह्व्यो दृष्ट्वा शरीराणि क्रोशन्ति विलपन्ति च ।
पाणिभिश्चापरा घ्नन्ति शिरांसि मृदुपाणयः ॥४९॥

बहुत सी स्त्रियां अपने पतियों के शरीरों को देखकर रोती चिल्लाती और बहुत सी कोमल हाथों वाली अपने शिरों को पीटती हैं ॥४९॥

शिरोभिः पतितैर्हस्तैः सर्वाङ्गैर्युथशः कृतैः ।
इतरेतरसम्पृक्तैराकीर्णा भाति मेदिनी ॥५०॥

गिरे हुए शिर, हाथ तथा इकट्ठे किए हुए एवं एक दूसरे से गुथे हुए सारे अङ्गों से आकीर्ण हुई रणभूमि, अद्भुत सी दिखाई देती है ॥५०॥

विशिरस्कानथो कायान् दृष्ट्वा ह्येतानानिन्दितान् ।
मुह्यन्त्यनुगता नार्यो विदेहानि शिरांसि च ॥५१॥

बहुत सी पतिव्रता स्त्रियां, इन प्रशंसनीय वीरों के शिरविहीन शरीर और देहरहित शिरों को देखकर अचेत हो रही हैं ॥५१॥

शिरः कायेन सन्धाय प्रेक्षमाणा विचेतसः ।
अपश्यन्त्यो परं तत्र नेदमस्येति दुःखिताः ॥५२॥

ये स्त्रियां इन शिरों को शरीरों से जोड़ती हैं और अचेत सी होकर देखती हैं । परन्तु जब उनका ठीक जोड़ नहीं होता, तो वे दुःख के साथ कहती हैं, कि इस शव का यह शिर नहीं है ॥५२॥

बाहूरुचरणानन्यान् विशिखोन्मथितान्पृथक् ।
सन्दधत्योऽसुखाविष्टा मूर्छन्त्येता पुनः पुनः ॥५३॥

इसी तरह बाणों से कटे हुए भिन्न २ बाहु, उरु और चरणों को दुःख के साथ मिलान करती हुई ये कुरुस्त्रियां, बार २ मूर्च्छित होती हैं ॥५३॥

उत्कृत्य शिरसश्चान्यान्विजग्धान्मृगपक्षिभिः ।
दृष्ट्वा काश्चिन्न जानन्ति भर्तॄन् भरतयोषितः ॥५४॥

पाणिभिश्चापरा घ्नन्ति शिरांसि मधुसूदन ।
प्रेक्ष्य भ्रातॄन्पितॄन्पुत्रान्पतींश्च निहतान्परैः ॥५५॥

बहुत से शिरों को वनैले जन्तु और पक्षियों से नोंचकर खाए हुए देखकर भरतवंश की नारियां अपने २ पतियों को नहीं पहिचान पाती हैं। हे मधुसूदन ! देखो ? भ्राता, पिता, पुत्र और पतियों को शत्रुओं द्वारा नष्ट किए देखकर किस तरह कुछ स्त्रियां हाथों से अपने शिरों को पीट रही हैं ॥५४-५५॥

बाहुभिश्च सखड्गैश्च शिरोभिश्च सकुण्डलैः ।
अगम्यकल्पा पृथिवी मांसशोणितकर्दमा ॥५६॥
बभूव भरतश्रेष्ठ प्राणिभिर्गतजीवितैः ।

हे भरतवंशश्रेष्ठ ! खड्ग सहित बाहु और कुण्डल सहित शिरों से युक्त पृथिवी, मांस और रक्त की कीचड़वाली होकर प्राण-विहीन वीरों से अगम्य हो रही है ॥५६॥

न दुःखेषूचिताः पूर्वं दुखं गाहन्त्यनिन्दिताः ॥५७॥
भ्रातृभिः पतिभिः पुत्रैरुपाकीर्णा वसुन्धरा ।

जिन सर्वाङ्ग सुन्दरियों ने कभी पूर्व में दुःख नहीं देखा था, वे भी आज दुःख में फंस गईं। इन स्त्रियों के भ्राता, पति और पुत्रों से रणभूमि व्याप्त हो रही है ॥५७॥

यूथानीव किशोरीणां सुकेशीनां जनार्दन ॥५८॥
स्नुषाणां धृतराष्ट्रस्य पश्य वृन्तान्यनेकशः ।

हे जनार्दन ! अश्व-किशोरियों (बछेरियों) के यूथों की तरह सुन्दर केशों वाली धृतराष्ट्र की पुत्र-वधुओं के अनेक वृन्दों को तुम देखो ॥५८॥

इतो दुःखतरं किन्नु केशव प्रतिभाति मे ॥५९॥

यदिमाः कुर्वते सर्वा रूपमुच्चावचं स्त्रियः ।

हे केशव ! इससे अधिक दुःख अन्य क्या होगा, जो ये स्त्रियां इस तरह करुणा-पूर्ण, बहुत बढ़ा हुआ नाटक सा दिखा रही हैं ॥५९॥

नूनमाचरितं पापं मया पूर्वेषु जन्मसु ॥६०॥

या पश्यामि हतान्पुत्रान् पौत्रान् भ्रातृंश्च माधवः ।

हे माधव ! मैंने पूर्व-जन्म में कोई बहुत ही बड़ा पाप किया था, जिससे अपने पुत्र-पौत्र और भ्राताओं को मृत देख रही हूं ।

एवमार्ता विलपती समाभाष्य जनार्दनम् ।

गान्धारी पुत्रशोकार्ता ददर्श निहतं सुतम् ॥६१॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां स्त्रीपर्वणि जलप्रदानिकपर्वणि आयोधनदर्शने षोडशोऽध्यायः॥१७॥

हे राजन् ! इस तरह करुण-स्वर में विलाप करके गान्धारी ने श्रीकृष्ण को यह सब कुछ दिखाया । इसके बाद पुत्र शोकार्त गान्धारी ने अपने मृत-पुत्र को देखा ॥६१॥

इति श्रीमहाभारत स्त्रीपर्वान्तर्गत स्त्रीविलापपर्व में गान्धारी को श्रीकृष्ण को युद्ध-भूमि दिखाने का सोलहवां अध्याय समाप्त हुआ।

सत्रहवां अध्याय

वैशम्पायन उवाच-दुर्योधनं हतं दृष्ट्वा गान्धारी शोककर्शिता
सहसा न्यपतद्भूमौ छिन्नेव कदली वने ॥१॥

वैशम्पायन बोले—हे राजन्! शोकातुर गान्धारी अपने मृत-पुत्र दुर्योधन को देखकर वन में कटे कदली के वृक्ष के समान एकदम भूमि में गिर पड़ी ॥१॥

सा तु लब्ध्वा पुनः संज्ञा विक्रुश्य च विलप्य च ।
दुर्योधनमभिप्रेक्ष्य शयनं रुधिरोक्षितम् ॥२॥
परिष्वज्य च गान्धारी कृपणं पर्यदेवयत् ।

थोड़ी देर में गान्धारी को चेत हुआ। वह चिल्ला २ कर विलाप करने लगी। जब गान्धारी ने रुधिर में भीगे हुए रणभूमि में पतित, अपने पुत्र दुर्योधन को देखा-तो दौड़कर उसके लिपट गई और करुणास्वर से चीत्कार करके चिल्लाने लगी ॥२॥

हा हा पुत्रेति शोकार्ता विललापाकुलेन्द्रिया ॥३॥
सुगूढजत्रुविपुलं हारनिष्कविभूषितम् ।

वारिणा नेत्रजेनोरः सिञ्चन्ती शोकतापिता ॥४॥
समीपस्थं हृषीकेशमिदं वचनमब्रवीत् ।

यह गान्धारी अपनी विशाल पुष्ट सुवर्ण हार से सुशोभित छाती को आंसुओं से धोती हुई शोक से विह्वल और व्याकुल होकर विलाप करती हुई समीप में स्थित श्रीकृष्ण से दुःख-पूर्वक यह बचन बोली ॥३-४॥

उपस्थितेऽस्मिन्संग्रामे ज्ञातीनां संक्षये विभो ।५॥
मामयं प्राह वार्ष्णेय प्राञ्जलिर्नृपसत्तमः ।
अस्मिन् ज्ञातिसमुद्धर्षे जयमम्बा ब्रवीतु मे ॥६॥

हे वार्ष्णेय ! जब यह कौरवकुल का विनाशक संग्राम उपस्थित हुआ-तो हाथ जोड़कर नृप-श्रेष्ठ दुर्योधन ने मुझसे पूछा। हे माता ! इस वान्धवों के युद्ध में किसकी विजय होगी-तुम मुझे यह बताओ ॥५-६॥

इत्युक्ते जानती सर्वमहं स्वव्यसनागमम् ।
अब्रुवं पुरुषव्याघ्र यतो धर्मस्ततो जयः ॥७॥

हे पुरुषव्याघ्र ! यद्यपि मैं यह सब कुछ अपने ऊपर आने वाली विपत्ति को जानती थी, तो भी मैंने कहा-हे पुत्र ! जिधर धर्म होगा-उधर ही विजय होगी ॥७॥

यथा च युध्यमानस्त्वं न वै मुह्यसि पुत्रक ।
ध्रुवं शस्त्रजितान् लोकान् प्राप्स्यस्यमरवत्प्रभो ॥८॥

हे पुत्रक ! यदि युद्ध करते हुए तुमको मोह नहीं हुआ, तो शस्त्र से प्राप्त होने वाले लोकों को तुम भी देवों की तरह प्राप्त करोगे ॥८॥

इत्येवमब्रुवन्पूर्वं नैनं शोचामि वै प्रभो ।
धृतराष्ट्रं तु शोचामि कृपणं हतबान्धवम् ॥६॥

हे प्रभो ! इस तरह मैंने इसको पूर्व में ही सचेत कर दिया था, इसमें दुर्योधन का मुझे कोई शोक नहीं है, परन्तु बन्धु-बान्धवों से हीन कातर हुए राजा धृतराष्ट्र की मुझे बहुत ही चिन्ता है ॥६॥

अमर्षणं युधां श्रेष्ठं कृतास्त्रं युद्धदुर्मदम् ।
शयानं वीरशयने पश्य माधव मे सुतम् ॥१०॥

हे माधव ! असहिष्णु, योद्धाओं में श्रेष्ठ, अस्त्र विद्या में कुशल, युद्ध-दुर्मद, वीर शयन में सुप्त, आप मेरे पुत्र को देखो ॥१०॥

योऽयं मूर्धावसिक्तानामग्रे याति परन्तपः ।
सोऽयं पांसुषु शेतेऽद्य पश्य कालस्य पर्ययम् ॥११॥

जो यह शत्रुतापी, सारे उत्तम २ राजाओं के आगे चलता था, आज वही वीर, धूलि में सो रहा है-काल की दुरन्त इस गति को देखो ॥११॥

ध्रुवं दुर्योधनो वीरो गतिं सुलभतां गतः ।
तथा ह्यभिमुखः शेते शयने वीरसेविते ॥१२॥

दुर्योधन वीर था, इससे युद्ध में सुलभ वीरगति को प्राप्त हो गया। यह आज वीरों को प्राप्त होने वाले इस वीरशयन में सन्मुख युद्ध करके सो रहा है ॥१२॥

यं पुरा पर्युपासीना रमयन्ति वरस्त्रियः ।
तं वीरशयने सुप्तं रमयंत्यशिवाः शिवाः ॥१३॥

पूर्व-काल में जिसके सोने पर उत्तम २ स्त्रियां सेवा करके जिसे आनन्दित करती रहती थीं; आज वीरशयन में सुप्त, दुर्योधन की ये भयानक गीदड़ियां सेवा कर रहीं हैं ॥१३॥

यं पुरा पर्युपासीना रमयन्ति महीक्षितः ।
महीतलस्थं निहतं गृध्रास्तं पर्युपासते ॥१४॥

जिसकी पूर्वकाल में राजा लोग सेवा करते थे, उसी मृत पृथिवी में स्थित, दुर्योधन की आज गीध सेवा कर रहे हैं ॥१४॥

यं पुरा व्यजनै रम्यैरुपवीजन्ति योषितः ।
तमद्य पक्षव्यजनैरुपवीजन्ति पक्षिणः ॥१५॥

जिस दुर्योधन की सुन्दर २ स्त्रियां सुन्दर पंखों से वायु करती रहती थीं, उसी की आज अपने २ पंखों से पक्षी पवन कर रहे हैं।

एष शेते महाबाहुर्बलवान् सत्यविक्रमः ।
सिंहेनेव द्विपः संख्ये भीमसेनेन पातितः ॥१६॥

महाबाहु, बलवान्, सत्यपराक्रमी दुर्योधन, भीमसेनरूपी सिंह से मारा हुआ गजराज की तरह रणभूमि में पड़ा है ॥१६॥

पश्य दुर्योधनं कृष्ण शयानं रुधिरोक्षितम् ।
निहतं भीमसेनेन गदां सम्मृज्य भारत ॥१७॥

हे कृष्ण ! रुधिर में भीगे हुए, रणाङ्गण में सुप्त, राजा दुर्योधन को देखो-जिसे गदा उठाकर भीमसेन ने मार गिराया है ॥१७॥

अक्षौहिणीर्महाबाहुर्दश चैकां च केशव ।
आनयद्यः पुरा संख्ये सोऽनयान्निधनं गतः ॥१८॥

हे केशव ! जिस महाबाहु दुर्योधन ने ग्यारह अक्षौहिणी सेना, युद्ध-भूमि में ला कर खड़ी कर दी; आज उसी की दुर्नीति से वह नष्ट हो चुकी है ॥१८॥

एष दुर्योधनः शेते महेष्वासो महाबलः ।
शार्दूल इव सिंहेन भीमसेनेन पातितः ॥१९॥

महाबली, महाधनुर्धर, शार्दूलोपम राजा दुर्योधन को सिंह के समान पराक्रमी भीम ने मार गिराया है ॥१९॥

विदुरं ह्यवमन्यैष पितरं चैव मन्दभाक् ।
बालो वृद्धावमानेन मन्दो मृत्युवशं गतः ॥२०॥

इस मन्द-बुद्धि ने महात्मा विदुर और अपने पिता धृतराष्ट्र की भी बात न मानी । आज यह मूर्ख, वृद्धों के अपमान के कारण मृत्यु के वश में हो गया है ॥२०॥

निःसपत्ना मही यस्य त्रयोदशसमाः स्थिता ।
स शेते निहतो भूमौ पुत्रो मे पृथिवीपतिः ॥२१॥

जिसने तेरह वर्ष तक शत्रु-हीन पृथिवी का उपभोग किया, वही मेरा पुत्र राजा दुर्योधन, आज मारा जाकर पृथ्वी में सो रहा है ॥२१॥

अपश्यं कृष्ण पृथिवीं धार्तराष्ट्रानुशासिताम् ।
पूर्णां हस्तिगवाश्वैश्च वार्ष्णेय न तु तच्चिरम् ॥२२॥
तामेवाद्य महाबाहो पश्याम्यन्यानुशासिताम् ।
हीनां हस्तिगवाश्वेन किं नु जीवामि माधव ॥२३॥

हे वृष्णिवंशांकुर ! कृष्ण ! मैंने दुर्योधन द्वारा अनुशासित पृथिवी को हाथी घोड़ों से परिपूर्ण देखा-परन्तु वह सब कुछ थोड़े ही दिन के लिए हुआ। हे महाबाहो ! माधव ! आज मैं उसी पृथिवी को हाथी, बैल और अश्वों से हीन अन्य द्वारा अनुशासित देख रही हूं ॥२२-२३॥

इदं कष्टतरं पश्य पुत्रस्यापि वधान्मम ।
यदिमाः पर्युपासन्ते हतान् शूरान् रणे स्त्रियः ॥२४॥

मुझे तो मेरे पुत्र की मृत्यु से भी अधिक कष्ट की बात यह हो रही है, कि जो रणाङ्गण में ये स्त्रियां मृतवीरों का विलाप कर रही हैं ॥२४॥

प्रकीर्णकेशां सुश्रोणीं दुर्योधनशुभाङ्कगाम् ।
रुक्मवेदीनिभां पश्य कृष्ण लक्ष्मणमातरम् ॥२५॥

हे कृष्ण ! सुन्दर नितम्बों वाली दुर्योधन की गोद में बैठने से कृतार्थ, सुवर्ण की वेदी के समान उज्ज्वल लक्ष्मण की माता को तो देखो ॥२५॥

नूनमेषा पुरा बाला जीवमाने महीभुजे ।
भुजावाश्रित्य रमते सुभुजस्य मनस्विनी ॥२६॥

जब महाभुजाधारी राजा दुर्योधन जीवित था, तो यह मनस्विनी उस सुन्दर भुजावाले दुर्योधन की भुजाओं के आधार पर रमण करती थीं ॥२६॥

कथं तु शतधा नेदं हृदयं मम दीर्यते ।
पश्यन्त्या निहतं पुत्रं पौत्रेण सहितं रणे ॥२७॥

आज जब मैं अपये पौत्रों के सहित पुत्रों को रणभूमि में मृत देख रही हूँ-तो फिर क्यों न मेरा हृदय छिन्न-भिन्न होगा ॥२७॥

पुत्रं रुधिरसंसिक्तमुपजिघ्रत्यनिन्दिता ।
दुर्योधनं तु वामोरूः पाणिना परिमार्जती ॥२८॥

यह सुन्दरी मनस्वनी रुधिर में भीगे हुए अपने पुत्र लक्ष्मण को सूँघ रही है और हाथ से राजा दुर्योधन के रक्त को पोंछती जाती है ॥२८॥

किं नु शोचति भर्तारं पुत्रं चैषा मनस्विनी ।
तथा ह्यवस्थिता भाति पुत्रं चाप्यभिवीक्ष्य सा ॥२९॥

आज यह मनस्विनी, अपने भर्ता और पुत्र का कितना शोक कर रही है । यह पुत्र की ओर देखती हुई, स्थित हुई, कैसी दीन दिखाई दे रही है ॥२९॥

स्वशिरः पञ्चाशाखाभ्यामभिहत्यायतेक्षणा ।
पतत्युरसि वीरस्य कुरुराजस्य माधव ॥३०॥

हे माधव ! बड़ी २ आंखों वाली मेरी पुत्रवधू, अपने हाथों से शिर को पीट रही है और कुरुराज वीर दुर्योधन की छाती पर बार २ गिरती है ॥३०॥

पुण्डरीकनिभा भाति पुण्डरीकान्तप्रभा ।
मुखं विमृज्य पुत्रस्य भर्तुश्चैव तपस्विनी ॥३१॥

यह तपस्विनी (दुखिया) कमल की कोमल पंखुरी के सदृश कान्ति धारण करने वाली है और कमल सदृश मुख से सुशोभित हो रही है। इसने अपने पति और पुत्र का मुख पोंछ दिया ॥३१॥

यदि सत्यागमाः सन्ति यदि वै श्रुतयस्तथा ।
ध्रुवं लोकानवाप्तोऽयं नृपो बाहुबलार्जितान् ॥३२॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां स्त्रीपर्वणि जलप्रदानिकपर्वणि दुर्योधनदर्शने सप्तमोऽध्यायः ॥१७॥

यदि शास्त्र या श्रुति सत्य है, तो राजा दुर्योधन को अपने बाहुबल के आश्रय पर अवश्य उत्तम लोकों की प्राप्ति हुई होगी।

इति श्रीमहाभारत स्त्रीपर्वान्तर्गत स्त्रीविलापपर्व में दुर्योधन की स्त्री के विलाप के वर्णन का सत्रहवां अध्याय समाप्त हुआ।

अट्ठारहवां अध्याय

गान्धार्युवाच—पश्य माधव पुत्रान्मे शतसंख्यान् जितक्लमान्।
गदया भीमसेनेन भूयिष्ठं निहतान् रणे ॥१॥

गान्धारी कहने लगी—हे माधव! तुम क्लेश नहीं मानने वाले मेरे सौ पुत्रों को देखो-जिनको रण में भीमसेन ने गदा से मार गिराया है ॥१॥

इदं दुःखतरं मेऽद्य यदिमा मुक्तमूर्धजाः।
हतपुत्रा रणे बालाः परिधावन्ति मे स्नुषाः ॥२॥

यह मेरे लिए बड़े ही दुःख की बात है, कि जो खुले बालों वाली ये मेरी बाला पुत्रवधू, पुत्रविहीन हुई रणभूमि में दौड़ रही है ॥२॥

प्रासादतलचारिण्यश्चरणैर्भूषणान्वितैः।
आपन्ना यत्स्पृशन्तीमां रुधिरार्द्रां वसुन्धराम् ॥३॥

कहां तो ये स्त्रियां भूषण पहिने हुई महलों में घूमती रहती थीं और कहां आज विपत्ति में फंसी हुई, रुधिर में भीगी रणभूमि में घूमती हैं ॥३॥

कृच्छ्रादुत्सारयन्ति स्म गृध्रगोमायुवायसान्।
दुःखेनार्ता विघूर्णन्त्यो मत्ता इव चरन्त्युत ॥४॥

ये क्लेशातुर हुई बड़ी कठिनाई से गीध, गीदड़ और कव्वों को हटा पाती हैं। ये दुःख से इतनी व्याकुल हो रही हैं, जैसे कोई पागल स्त्री घूम रही है ॥४॥

एषाऽन्या त्वनवद्याङ्गी करसंमितमध्यमा ।
घोरमायोधनं दृष्ट्वा निपतत्यतिदुःखिता ॥५॥

यह देखो ? यह दूसरी बड़ी सुन्दरी पतली कमर धारण करने वाली पुत्र-वधू इस भयङ्कर रण-क्षेत्र को देखकर बड़े दुःख से उसमें गिर रही है ॥५॥

दृष्ट्वा मे पार्थिवसुतामेतां लक्ष्मणमातरम् ।
राजपुत्रीं महाबाहो मनो न ह्युपशाम्यति ॥६॥

हे महाबाहो ! लक्ष्मण की माता, राजपुत्री, कुलीन दुर्योधन की इस वधू को देखकर तो मेरा मन बहुत ही अशान्त हो रहा है ॥६॥

भ्रातॄंश्चान्याः पितॄंश्चान्याः पुत्रांश्च निहतान् भुवि ।
दृष्ट्वा परिपतन्त्येताः प्रगृह्य सुमहाभुजान् ॥७॥

यह देखो ? यह स्त्रियां, अपने २ महाभुजधारी, भ्राता, पिता और पुत्रों को देखकर और उनके लिपटकर रणभूमि में गिर रही हैं ॥

मध्यमानां तु नारीणां वृद्धानां चापराजित ।
आक्रन्दं हतबन्धूनां दारुणे वैशसे शृणु ॥८॥

हे अच्युत ! प्रौढ़ आयु वाली और वृद्ध स्त्रियों के इस घोर भयङ्कर मारकाट से युक्त रणक्षेत्र में आर्तनाद को आप सुन रहे होंगे । जिनके अपने बन्धु-बान्धव मारे जा चुके हैं ॥८॥

रथनीडानि देहांश्च हतानां गजवाजिनाम् ।
आश्रित्य श्रममोहार्ताः स्थिताः पश्य महाभुज ।९॥

हे महाभुज ! रथ की छतरियां, मृत हाथी, घोड़ों के शरीरों को श्रम और मोह से आश्रय बना कर देखो ? किस दीनता से कौरव स्त्रियां खड़ी हैं ॥९॥

अन्यां चापहृतं कायाच्चारुकुण्डलमुन्नसम् ।
स्वस्य बन्धोः शिरः कृष्ण गृहीत्वा पश्य तिष्ठतीम्

हे कृष्ण ! एक कौरव कुलवधू, सुन्दर कुण्डलधारी, उन्नत नासिका से सुन्दर, शरीर से पृथक् अपने किसी बन्धु का मस्तक उठाकर किस तरह खड़ी है, तुम दृष्टि उठाकर उसकी ओर तो देखो ॥१०॥

पूर्वजातिकृतं पापं मन्ये नाल्पमिवानघ ।
एताभिर्निरवद्याभिर्मया चैवाल्पमेधया ॥११॥
यदिदं धर्मराजेन घातितं नो जनार्दन ।
न हि नाशोऽस्ति वार्ष्णेय कर्मणोः शुभपापयोः ॥

हे अनघ ! पूर्वजन्म में इन भाग्यहीन सुन्दरियों ने बहुत ही पाप किए हैं। हे जनार्दन ! जिनके कारण धर्मराज ने इस तरह हमारे परिवार का विनाश कर दिया । हे वार्ष्णेय ! पूर्व-जन्म कृत पाप और पुण्य का बिना भोगे कभी नाश नहीं हो सकता है ॥११-१२॥

प्रत्यग्रवयसः पश्य दर्शनीयकुचाननाः ।
कुलेषु जाता ह्रीमत्यः कृष्णपक्ष्माक्षिमूर्धजाः ॥१३॥
हंसगद्गदभाषिण्यो दुःखशोकप्रमोहिताः ।
सारस्य इव वाशंत्यः पतिताः पश्य माधव ॥१४॥

हे माधव ! यह देखो ? सुन्दर स्तनों और मुखों वाली, नवयुवति, कुलोत्पन्न, लज्जाशील, कृष्ण पलक, नेत्र और बालों वाली, हंस की भांति चलने में कुशल, दुःख शोक से मोहित, इन कुरुकुल वधुओं को देखो ? जो सारस वधुओं की तरह बोलती हुई रणभूमि में गिर रही हैं ॥१३-१४॥

फुल्लपद्मप्रकाशानि पुण्डरीकाक्षयोषिताम् ।
अनवद्यानि वक्त्राणि तापयत्येष रश्मिवान् ॥१५॥

कमल के समान नेत्रों वाली, स्त्रियों के विकसित कमल के समान सुन्दर मुखों को यह सूर्य सन्तापित कर रहा है ॥१५॥

ईर्ष्यूणां मम पुत्राणां वासुदेवावरोधनम् ।
मत्तमातङ्गदर्पाणां पश्यन्त्यद्य पृथग्जनाः ॥१६॥

हे कृष्ण ! मदोद्धत हाथी के समान गर्वधारी, अपनी स्त्रियों की ओर किसी के आंख उठाने की भी ईर्ष्या रखने वाले, मेरे पुत्रों का यह रनिवास है, जिसे आज प्रत्येक मनुष्य देख रहा है।

शतचन्द्राणि चर्माणि ध्वजांश्चादित्यवर्चसः ।
रौक्माणि चैव वर्माणि निष्कानपि च काञ्चनान् ॥
शीर्षत्राणानि चैतानि पुत्राणां मे महीतले ।
पश्य दीप्तानि गोविन्द पावकान्सुहुतानिव ॥१८॥

हे गोविन्द ! सैंकड़ों चन्द्रों से उज्ज्वल ढ़ाल, सूर्य समान प्रदीप्त ध्वजा, सुवर्ण के कवच तथा सुवर्ण रचित हार और ऐसे

ही प्रदीप्त मेरे पुत्रों के शिरस्त्राण, घृत से प्रदीप्त अग्नि के तुल्य देदीप्यमान दिखाई दे रहे हैं ॥१७-१८॥

एष दुःशासनः शेते शूरेणामित्रघातिना ।
पीतशोणितसर्वाङ्गो युधि भीमेन पातित ॥१९॥

शत्रुघाती शूरवीर भीमसेन द्वारा रण में मारा हुआ यह दुःशासन सो रहा है, जिसका भीमसेन ने रक्त पान किया था ।

गदया भीमसेनेन पश्य माधव मे सुतम् ।
द्यूतक्लेशाननुस्मृत्य द्रौपदीनोदितेन च ॥२०॥

हे माधव ! द्यूत में हुए अपमान और द्रौपदी की आज्ञा से भीमसेन ने अपनी गदा द्वारा मेरे पुत्र दुर्योधन को मार गिराया ।

उक्ता ह्यनेन पाञ्चाली सभायां द्यूतनिर्जिता ।
प्रियं चिकीर्षता भ्रातुः कर्णस्य च जनार्दन ॥२१॥
सहैव सहदेवेन नकुलेनार्जुनेन च ।
दासीभूताऽसि पाञ्चालि क्षिप्रं प्रविश नो गृहान् ॥

हे जनार्दन ! इस दुर्योधन ने अपने भ्राता दुःशासन की प्रसन्नता के लिए द्यूत में जीती हुई पञ्चाल-पुत्री द्रौपदी से सभा में कहा था, कि हे पाञ्चाली ! अब तू सहदेव, नकुल और अर्जुन के साथ हमारी दासी हो चुकी । अब तुझे हमारे रनिवास में प्रविष्ट हो जाना चाहिए ॥२१-२२॥

ततोऽहमब्रुवं कृष्ण तदा दुर्योधनं नृपम् ।
मृत्युपाशपरिक्षिप्तं शकुनिं पुत्र वर्जय ॥२३॥

हे कृष्ण ! उसी समय मैंने राजा दुर्योधन से कहा था, कि हे पुत्र ! तुम मृत्यु की पाश में पड़े हुए इस शकुनि को छोड़ दो।

निशोधनं सुदुर्बुद्धिं मातुलं कलहप्रियम्।
क्षिप्रमेनं परित्यज्य पुत्र शाम्यस्व पाण्डवैः ॥२४॥

यह तुम्हारा मातुल बड़ा दुर्बुद्धि और कलहप्रिय है, जो नित्य तुमको ऐसी ही बातें सुझाता रहता है। अब तुम शीघ्र ही इसका परित्याग करके पाण्डवों से सन्धि कर लो ॥२४॥

न बुद्ध्यसे त्वं दुर्बुद्धे भीमसेनममर्षणम्।
वाङ्नाराचैस्तुदंस्तीक्ष्णैरुल्काभिरिव कुञ्जरम् ॥२५॥

हे दुर्बुद्धे ! क्या तुम असहिष्णु भीमसेन को नहीं जानते हो, जो उल्काओं से हाथी की तरह वाणीरूपी बाणों से उसे पीड़ित कर रहे हो ॥२५॥

तानेवं रहसि क्रुद्धो वाक्शल्यानवधारयन्।
उत्ससर्ज विषं तेषु सर्पो गोवृषभेष्विव ॥२६॥

बस ? भीमसेन, भीतर ही भीतर जल उठा और ये वाक्य-बाण उसके हृदय में खटकते रहे। आज उसने वृषभों में सर्प की तरह अपने विष को छोड़ दिया है ॥२६॥

एष दुःशासनः शेते विक्षिप्य विपुलौ भुजौ।
निहतो भीमसेनेन सिंहेनेव महागजः ॥२७॥

हे कृष्ण ! जिस तरह सिंह मदोद्धत हाथी को मार गिराता है, उसी तरह भीमसेन ने इस दुःशासन को मार गिराया, जो अपनी विपुल भुजा फैला कर आज रणक्षेत्र में पड़ा है ॥२७॥

अत्यर्थमकरोद्रौद्रं भीमसेनोऽत्यमर्षणः ।

दुःशासनस्य यत्क्रुद्धोऽपिबच्छोणितमाहवे ॥२८॥

इति श्रीमहाभारते० स्त्रीपर्वणि स्त्रीविलापपर्वणि

गांधारीवाक्ये अष्टादशोऽध्यायः ॥१८॥

अत्यन्त क्रोधातुर भीमसेन ने यह बहुत ही भयानक कर्म किया, जो रण में अपने शत्रु दुःशासन का क्रोध-पूर्वक रक्त पान करके ही छोड़ा ॥२८॥

इति श्रीमहाभारत स्त्रीपर्वान्तर्गत स्त्रीविलापपर्व में गान्धारी वाक्य का अट्ठारहवां अध्याय समाप्त हुआ।



उन्नीसवाँ अध्याय

गान्धार्युवाच—एष माधव पुत्रो मे विकर्णः प्राज्ञसम्मतः ।

भूमौ विनिहतः शेते भीमेन शतधाकृतः ॥१॥

गान्धारी बोली—हे माधव ! यह मेरा पुत्र विकर्ण है, जिसकी बुद्धिमान् मनुष्य प्रशंसा करते थे। आज जिसके भीमसेन ने सैंकड़ों टुकड़े कर दिए, वह भी रणभूमि में पड़ा है ॥१॥

गजमध्ये हतः शेते विकर्णो मधुसूदन ।

नीलमेघपरिक्षिप्तः शरदीव निशाकरः ॥२॥

ततो यमौ द्रुपदविराटकेकया युधिष्ठिरश्चाऽपि परां मुदं ययुः
वृकोदरं भृशमनुपूजयंश्च ते यथाऽन्धके प्रतिनिहते हरं सुराः

अब नकुल सहदेव, द्रुपद, विराट, केकयराज, और राजा युधिष्ठिर बड़े प्रसन्न हुए। इन्होंने भीमसेन का इतना आदर किया, जितना अंधकासुर के मारने पर भगवान् शंकर का देवों ने किया था ॥४४॥

ततःसुतास्तेवरुणात्मजोपमारुषान्विताःसहगुरुणामहात्मना
वृकोदरं सरथपदातिकुञ्जरा युयुत्सवो भृशमभिपर्यवारयन् ॥

हे नृपते ! अब वरुणकुमारों के तुल्य तुम्हारे पुत्र, क्रोध में भरे हुए अपने महावीर गुरु द्रोणाचार्य तथा रथ, पैदल और हाथियों को साथ लेकर युद्ध की अभिलाषा से भीमसेन पर झपटे।

ततोऽभवत्तिमिरघनैरिवावृते महाभये भयदमतीव दारुणम् ।
निशामुखे वृकबलगृध्रमोदनं महात्मनां नृपवर युद्धमद्भुतम् ।

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां
द्रोणपर्वणि घटोत्कचवधपर्वणि रात्रियुद्धे भीमपराक्रमे
पञ्चपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः॥१४७॥

हे नृपवर ! अब गाढ़े तिमिर से भरे हुए, महाभयदायी, अर्ध रात के समय में भेड़िये, गीध और बल पक्षियों को आनन्द देने वाला, अत्यन्त दारुण, भयानक, इन वीरों का अद्भुत युद्ध होने लगा ॥४६॥

इति श्रीमहाभारत द्रोणपर्वान्तर्गत घटोत्कचवधपर्व में रात्रियुद्ध का और दुर्मद और दुष्कर्ण की मृत्यु के वर्णन का एक सौ पचपनवां अध्याय समाप्त हुआ।

एक सौ छप्पनवां अध्याय

सञ्जय उवाच—प्रायोपविष्टे तु हते पुत्रे सात्यकिना तदा।
सोमदत्तो भृशं क्रुद्धः सात्यकिं वाक्यमब्रवीत् ॥१॥

सञ्जय ने कहा—हे भरत! युद्ध-भूमि में मुनि के समान व्रत करके चुप बैठे हुए अपने पुत्र भूरिश्रवा के सात्यकि द्वारा मार लेने पर राजा सोमदत्त बड़े ही कुपित हो रहे थे। वे अब सात्यकि से यह वाक्य बोले ॥१॥

क्षत्रधर्मः पुरा दृष्टो यस्तु देवर्महात्मभिः।
तं त्वं सात्वत सन्त्यज्य दस्युधर्मे कथं रतः ॥२॥

हे सात्वत! महात्मा विद्वानों ने पूर्वकाल से जो क्षत्रियों के युद्ध धर्म नियत किये हैं, तुमने उनको छोड़कर दस्युधर्म में कैसे प्रेम किया ॥२॥

पराङ्मुखाय दीनाय न्यस्तशस्त्राय सात्यके।
क्षत्रधर्मरतः प्राज्ञः कथं नु प्रहरेद्रणे ॥३॥

हे सात्यके! जो रण का परित्याग कर चुका और जिसने उदास होकर शस्त्र त्याग कर दिए-ऐसे व्यक्ति पर क्षत्रियधर्म से

प्रेम करनेवाला तुम जैसा व्यक्ति, कैसे रण में प्रहार कर सकता है ॥३॥

> द्वावेव किल वृष्णीनां तत्र ख्यातौ महारथौ ।
> प्रद्युम्नश्च महाबाहुस्त्वं चैव युधि सात्वत ॥४॥
> कथं प्रयोपविष्टाय पार्थेन छिन्नबाहवे ।
> नृशंसं पतनीयं च तादृशं कृतवानसि ॥५॥

हे सात्वत ! वृष्णिवंश में दो महारथी वीर ही बड़े प्रसिद्ध हैं-एक तो तुम और दूसरे महाबाहु प्रद्युम्न । जब तुम इतने माननीय वीर हो-तो तुमने मुनि की भांति उपवास में बैठे हुए और अर्जुन द्वारा भुजा के कट जाने से व्याकुल, भूरिश्रवा के साथ इतना नीच और पतन योग्य कार्य कैसे कर डाला ॥५॥

> कर्मणस्तस्य दुर्वृत्त फलं प्राप्नुहि संयुगे ।
> अद्य छेत्स्यामि ते मूढ शिरो विक्रम्य पत्रिणा ॥६॥

हे दुर्वृत्त-मूढ़ ! आज तुम अपने उस दुष्कर्म का इस रण में फल पाओगे-मैं अभी पराक्रम दिखाकर बाण से तुम्हारा शिर काटे डालता हूँ ॥६॥

> शपे सात्वत पुत्राभ्यामिष्टेन सुकृतेन च ।
> अनतीतामिमां रात्रिं यदि त्वां वीरमानिनम् ॥७॥
> अरक्ष्यमाणं पार्थेन जिष्णुना ससुतानुजम् ।
> न हन्यां नरके घोरे पतेयं वृष्णिपांसन ॥८॥

हे सात्यकि ! मैं अपने दोनों पुत्र, इष्टदेव और पुण्य की शपथ खाकर कहता हूं, कि इस रात के बीतने से पहिले २ तुझ वीरमानी को मैं तेरे पुत्र और भाई के साथ मार गिराऊँगा, जो अर्जुन रक्षा में नहीं आ पहुंचेगा। हे वृष्णिपामर ! यदि मैं न मार सकूँ तो ईश्वर मुझे घोर नरक में डाल दे ॥७-८॥

एवमुक्त्वा सुसंक्रुद्धः सोमदत्तो महाबलः ।
दध्मौ शङ्खं च तारेण सिंहनादं ननाद च ॥९॥

हे राजन् ! इतना कहकर महाबली राजा सोमदत्त क्रोध में भर गया और उसने बड़े उच्चस्वर में शङ्ख बजाकर सिंहनाद किया।

ततः कमलपत्राक्षः सिंहनादं दुरासदः ।
सात्यकिर्भृशसंक्रुद्धः सोमदत्तमथाऽब्रवीत् ॥१०॥

अब कमलपत्र के समान नेत्रधारी, सिंह की दाढ़ों के समान दाढ़ों वाला दुरासह सात्यकि, अत्यन्त क्रुद्ध हो उठा और राजा सोमदत्त से बोला ॥१०॥

कौरवेय न मे त्रासः कथञ्चिदपि विद्यते ।
त्वया सार्धमथाऽन्यैश्च युध्यतो हृदि कश्चन ॥११॥

हे कौरवेय ! तुम तथा अन्य किसी भी कौरववीर के साथ युद्ध करते हुए मेरे हृदय में कुछ भी भय का सञ्चार नहीं होता है ॥११॥

यदि सर्वेण सैन्येन गुप्तो मां योधयिष्यसि ।
तथापि न व्यथा काचित्त्वयि स्यान्मम कौरव ॥१२॥

हे कौरव ! यदि तुम सारी सेना से सुरक्षित होकर भी मेरे साथ युद्ध करो-तो भी मुझे तुमसे कोई पीड़ा या भीति नहीं हो सकती है ॥१२॥

युद्धसारेण वाक्येन असतां सम्मतेन च ।
नाऽहं भीषयितुं शक्यः क्षत्रवृत्ते स्थितस्त्वया ॥१३॥

हे वीर ! तुम युद्ध की डींग से भरे हुए, असज्जनों के व्यवहार में लाने योग्य, वाक्यजाल से मुझे उड़ा नहीं सकते हो, क्योंकि मैं क्षत्रियों के धर्म में स्थित हूँ।

यदि तेऽस्ति युयुत्साऽद्य मया सह नराधिप ।
निर्दयो निशितैर्बाणैः प्रहर प्रहरामि ते । १४॥

हे नराधिप ! यदि तुम्हें आज मेरे साथ युद्ध की इच्छा है, तो तुम निर्दयता के साथ बाणों का प्रहार करो-मैं भी खुलकर बाणों का प्रहार करता हूँ ॥१४॥

हतो भूरिश्रवा वीरस्तव पुत्रो महारथः ।
शलश्चैव महाराज भ्रातृव्यसनकर्षितः ॥१५।
त्वां चाऽप्यद्य वधिष्यामि सहपुत्रं सबान्धवम् ।
तिष्ठेदानीं रणे यत्तः कौरवोऽसि महारथः ॥१६॥

हे महाराज ! मैंने तुम्हारे वीर महारथी पुत्र भूरिश्रवा का वध किया और भाई के दुःख से पीड़ित होकर आक्रमण करने वाले तुम्हारे दूसरे पुत्र शाल का भी मैंने ही वध किया है। आज अपने बचे हुए पुत्र और बन्धु बान्धवों के सहित तेरा भी नाश

करूँगा। अब तू सावधान होकर रण में स्थित हो जा-देख तू कौरवों का महारथी है-भाग न जाना ॥१५-१६॥

यस्मिन्दानं दमः शौचमहिंसा ह्रीर्धृतिः क्षमा।
अनपायानि सर्वाणि नित्यं राज्ञि युधिष्ठिरे ॥१७॥
मृदङ्गकेतो तस्य त्वं तेजसा निहतः पुरा।
सकर्णसौबलः संख्ये विनाशमुपयास्यसि ॥१८॥

हे मृदङ्ग-केतो! जिस राजा युधिष्ठिर में दान, दम, शौच, अहिंसा, ह्री, धृति, क्षमा और सारे उत्तम २ कर्म विद्यमान हैं, उसके तेज से तो तुम प्रथम से ही विनष्ट हो रहे हो-अब कर्ण और सुबलपुत्र शकुनि के साथ तुम रण में विनाश प्राप्त करोगे।

शपेऽहं कृष्णचरणैरिष्टापूर्तेन चैव ह।
यदि त्वां ससुतं पापं न हन्यां युधि रोपितः ॥१९॥
अपयास्यसि चेत्युक्त्वा रणं मुक्तो भविष्यसि।

मैं भी श्रीकृष्ण के चरणों तथा इष्टापूर्त आदि यज्ञ की शपथ खाता हूं, जो युद्ध में क्रोध-पूर्वक तेरा वध न कर दूं। हां! यदि तू पूर्वोक्त वचन कहकर भी भाग जावेगा-तो छुटकारा प्राप्त कर सकेगा ॥१९॥

एवमाभाष्य चाऽन्योन्यं क्रोधसंरक्तलोचनौ ॥२०॥
प्रवृत्तौ शरसम्पातं कर्तुं पुरुषसत्तमौ।

हे राजन्! इस प्रकार एक दूसरे ने परस्पर कटूक्तियां कही और दोनों की आंखें लाल हो उठीं। ये दोनों पुरुष-श्रेष्ठ अब बाण छोड़ने में प्रवृत्त हुए ॥२०॥

ततो रथसहस्रेण नागानामयुतेन च ॥२१॥
दुर्योधनः सोमदत्तं परिवार्य समन्ततः ।
शकुनिश्च सुसंक्रुद्धः सर्वशस्त्रभृतां वरः ॥२२॥
पुत्रपौत्रैः परिवृतो भ्रातृभिश्चेन्द्रविक्रमैः।
स्यालस्तव महाबाहुर्वज्रसंहनो युवा ॥२३॥
साग्रं शतसहस्रं तु हयानां तस्य धीमतः ।
सोमदत्तं महेष्वासं समन्तात्पर्यरक्षत ॥२४॥
रक्ष्यमाणश्च बलिभिश्छादयामास सात्यकिम् ।

हे राजन् ! इस समय एक सहस्र हाथी लेकर राजा दुर्योधन सब ओर से राजा सोमदत्त को सुरक्षित करके खड़ा हो गया। दूसरी ओर धनुर्धर श्रेष्ठ, शकुनि भी क्रोध में भरकर अपने पुत्र-पौत्र और इन्द्र के समान पराक्रमी भाइयों को लेकर महा-धनुर्धर राजा सोमदत्त की रक्षा में आकर उपस्थित हो गया। हे राजन् ! यह शकुनि तुम्हारा साला, बड़ी भुजाओं का धारण करने वाला वज्र के समान देहधारी युवा है । इस महावीर के साथ कोई एक लाख घुड़सवार सेना होगी । इसने अपने को बलवान् वीरों से सुरक्षित करके सात्यकि को अपने बाणों से आच्छादित कर दिया ॥२१-२४॥

तं छाद्यमानं विशिखैर्दृष्ट्वा सन्नतपर्वभिः ॥२५॥
धृष्टद्युम्नोऽभ्ययात्क्रुद्धः प्रगृह्य महतीं चमूम् ।

जब पाण्डव सेनापति धृष्टद्युम्न ने देखा, कि सात्यकि को नतपर्वधारी बाणों से शकुनि आदि कौरव वीरों ने आच्छादित कर दिया-तो वह विशाल-सेना लेकर क्रोध-पूर्वक आगे बढ़ा ॥२५॥

चण्डवाताभिसृष्टानामुदधीनामिव स्वनः ॥२६॥
आसीद्राजन्बलौघानामन्योन्यमभिनिघ्नताम् ।

हे राजन्! अब एक सेना दूसरी सेना पर प्रहार करने लगी-उस समय इस सेना समूह में प्रचण्ड वायु से उछाले हुए समुद्र की सी महाध्वनि होने लगी ॥२६॥

विव्याध सोमदत्तस्तु सात्वतं नवभिः शरैः ॥२७॥
सात्यकिर्नवभिश्चैनमवधीत्कुरुपुङ्गवम् ।

अब राजा सोमदत्त ने नौ बाण मारकर सात्वतवीर सात्यकि को बींध दिया तथा सात्यकि ने भी इस कौरव वीर राजा सोमदत्त को नौ बाणों से आहत किया ॥२७॥

सोऽतिविद्धो बलवता समरे दृढधन्विना ॥२८॥
रथोपस्थं समासाद्य मुमोह गतचेतनः ।

जब दृढ़ धनुर्धर बलवान् सात्यकि द्वारा रण में राजा सोमदत्त आहत किया गया-तो वह अचेत हो गया और रथ के मध्य में चुपचाप बैठ गया ॥२८॥

तं विमूढं समालक्ष्य सारथिस्त्वरया युतः ॥२९॥
अपोवाह रणाद्वीरं सोमदत्तं महारथम् ।

जब सारथि ने देखा, कि राजा सोमदत्त मूर्च्छित हो गए हैं, तो वे शीघ्रता से युक्त होकर महारथि वीर राजा सोमदत्त को रण से बाहर ले भागा ॥२९॥

तं विसंज्ञं समालक्ष्य युयुधानशरार्दितम् ॥३०॥
अभ्यद्रवत्ततो द्रोणो यदुवीरजिघांसया ।

जब आचार्य द्रोण ने सात्यकि को बाण से पीड़ित और मूर्च्छित राजा सोमदत्त को देखा-तो वे यदुवीर सात्यकि के मार देने को उस पर वेग से झपटे ॥३०॥

तमायान्तमभिप्रेक्ष्य युधिष्ठिरपुरोगमाः ॥३१॥
परिवव्रुर्महात्मानं परीप्सन्तो यदूत्तमम् ।

जब राजा युधिष्ठिर आदि ने द्रोणाचार्य को लपकते देखा तो वे भी यदुवंशश्रेष्ठ सात्यकि के बचाने को उसको घेर कर खड़े हो गए ॥३१॥

ततः प्रववृते युद्धं द्रोणस्य सह पाण्डवैः ॥३२॥
बलेरिव सुरैः पूर्वं त्रैलोक्यजयकांक्षया ।

अब पाण्डवों के साथ द्रोणाचार्य का इस ढंग से युद्ध होने लगा-जैसा त्रिलोकी की विजय की अभिलाषा से युद्ध करने वाले बलि दैत्य और देवों का युद्ध हुआ था ॥३२॥

ततः सायकजालेन पाण्डवानीकमावृणोत् ॥३३॥
भारद्वाजो महातेजा विव्याध च युधिष्ठिरम् ।

अब भरद्वाज-वंशोत्पन्न महा-तेजस्वी द्रोणाचार्य ने अपने बाण जाल से सारी पाण्डव सेना को पाट दिया और राजा युधिष्ठिर को भी आहत कर दिया ॥३३॥

सात्यकिं दशभिर्बाणैर्विंशत्या पार्षतं शरः ॥३४॥
भीमसेनं च नवभिर्नकुलं पञ्चभिस्तथा।
सहदेवं तथाऽष्टाभिः शतेन च शिखण्डिनम् ॥३५॥
द्रौपदेयान्महाबाहुः पञ्चभिः पञ्चभिः शरैः।
विराटं मत्स्यमष्टाभिद्रुपदं दशभिः शरैः ॥३६॥
युधामन्युं त्रिभिः षड्भिरुत्तमौजससाहवे।
अन्यांश्च सैनिकान्विद्ध्वा युधिष्ठिरमुपाद्रवत् ॥३७॥

महाबाहु आचार्य द्रोण, दश बाणों से सात्यकि, बीस से पर्षत-वंशोद्भव धृष्टद्युम्न, नौ से भीमसेन, पांच से नकुल, आठ से सहदेव, सौ से शिखण्डी, पांच २ बाणों से पांचो द्रोपदी के पुत्र, आठ से मत्स्याधिपति विराट, दश से राजा द्रुपद, तीन से युधामन्यु, छः से उत्तमौजा तथा इसी तरह अन्य पाण्डववीरों को रण में आहत करके धर्मराज युधिष्ठिर पर दौड़े ॥३४-३७॥

ते वध्यमाना द्रोणेन पाण्डुपुत्रस्य सैनिकाः।
प्राद्रवन्वै भयाद्राजन्सार्तनादा दिशो दश ॥३८॥

हे राजन्! द्रोणाचार्य द्वारा क्षतविक्षत किए हुए पाण्डवों के सेनापति चिल्लाते हुए भय के साथ दशों दिशाओं को भाग गए ॥

काल्यमानं तु तत्सैन्यं दृष्ट्वा द्रोणेन फाल्गुनः ।
किञ्चिदागतसंरम्भो गुरुं पार्थोऽभ्ययाद् द्रुतम् ॥३६॥

जब अर्जुन ने देखा, कि आचार्य द्रोण से सारी पाण्डवसेना इधर उधर भाग रही है, उनको कुछ आवेश आ गया और वेग से अपने गुरु द्रोण पर झपटे ॥३६॥

दृष्ट्वा द्रोणस्तु बीभत्सुमभिधावन्तमाहवे ।
संन्यवर्तत तत्सैन्यं पुनर्यौधिष्ठिरं बलम् ॥४०॥

जब द्रोणाचार्य ने रण में दौड़कर आते हुए अर्जुन को देखा-तो वे फिर उसी अर्जुन की सेना की ओर लौटे और उसी समय राजा युधिष्ठिर की सेना भी लौट पड़ी ॥४०॥

ततो युद्धमभूद्भूयो भारद्वाजस्य पाण्डवैः ।
द्रोणस्तव सुतै राजन्सर्वतः परिवारितः ॥४१॥
व्यधमत्पाण्डुसैन्यानि तूलराशिमिवाऽनलः ।

हे राजन् ! अब भरद्वाज-पुत्र द्रोण और पाण्डवों का युद्ध होने लगा । द्रोणाचार्य को तुम्हारे पुत्रों ने सब ओर से घेर कर सुरक्षित कर रखा था । आचार्य द्रोण, रुई की ढेरी को आग की भांति इस समय पाण्डव सेना को भस्म करने लगे ॥४१॥

तं ज्वलन्तमिवाऽऽदित्यं दीप्तानलसमद्युतिम् ॥४२॥
राजन्ननिशमत्यन्तं दृष्ट्वा द्रोणं शरार्चिषम् ।
मण्डलीकृतधन्वानं तपन्तमिव भास्करम् ॥४३॥
दहन्तमहितान्सैन्ये नैनं कश्चिदवारयत् ।

हे राजन् ! सूर्य के समान देदीप्यमान, अग्नि के तुल्य प्रदीप्त, बाणरूपी ज्वालाओं से लगातार अत्यन्त जाज्वल्यमान, मध्याह्न काल के सूर्य के समान धनुष का मण्डल बनाकर प्रदीप्त हुए और शत्रुओं को दग्ध करते हुए द्रोणाचार्य को उस समय पाण्डव सेना का कोई भी वीर नहीं रोक सका ।।४२-४३।।

यो यो हि प्रमुखे तस्य तस्थौ द्रोणस्य पूरुषः ।।४४।।
तस्य तस्य शिरश्छित्वा ययुर्द्रोणशराः क्षितिम् ।

जो २ महारथी वीर या सैनिक, आचार्य के सन्मुख आया, उसी २ के शिर को काटकर द्रोण के बाण पृथ्वी में घुस गए ।।४४।।

एवं सा पाण्डवी सेना वध्यमाना महात्मना ।।४५
प्रदुद्राव पुनर्भीता पश्यतः सव्यसाचिनः ।

इस प्रकार महाशक्तिशाली द्रोणाचार्य से आहत की गई पाण्डवों की सेना भयभीत होकर भाग निकली और अर्जुन इस दृश्य को अपनी आंखों से खड़ा २ देखता रहा ।।४५।।

सम्प्रभग्नं बलं दृष्ट्वा द्रोणेन निशि भारत ।।४६।।
गोविन्दमब्रवीज्जिष्णुर्गच्छ द्रोणरथं प्रति ।

हे भारत ! जब इस रात्रि युद्ध में द्रोण द्वारा अपनी सेना को भगाई हुई देखा-तो अर्जुन ने श्रीकृष्ण से कहा-अब तुम सब से प्रथम द्रोणाचार्य के रथ की ओर बढ़ो ।।४६।।

ततो रजतगोक्षीरकुन्देन्दुसदृशप्रभान् ।।४७।।
चोदयामास दाशार्हो हयान्द्रोणरथं प्रति ।

अब चांदी, गोदुग्ध, चमेली, और चन्द्रमा के समान श्वेत वर्ण धारी अश्वों को दशार्हवंशश्रेष्ठ श्रीकृष्ण ने द्रोण के रथ के प्रति दौड़ाया ॥४७॥

भीमसेनोऽपि तं दृष्ट्वा यान्तं द्रोणाय फाल्गुनम् ॥
स्वसारथिमुवाचेदं द्रोणानीकाय मां वह ।

जब भीमसेन ने अर्जुन को द्रोणाचार्य की ओर बढ़ते देखा-तो उसने भी अपने सारथि से कहा-कि तुम मुझे भी द्रोणाचार्य की सेना की ओर ले चलो ॥४८॥

सोऽपि तस्य वचः श्रुत्वा विशोको वाहयद्धयान् ॥
पृष्ठतः सत्यसन्धस्य जिष्णो र्भरतसत्तम ।

हे भरत सत्तम ! भीमसेन का सारथि विशोक भी भीमसेन के वचन सुनकर अपने २ अश्वों को सत्य-प्रतिज्ञ अर्जुन के पीछे ले चला ॥४९॥

तौ दृष्ट्वा भ्रातरौ यत्तौ द्रोणानीकमभिद्रुतौ ॥५०॥
पञ्चालाः सृञ्जया मत्स्याश्चेदिकारूपकोसलाः ।
अन्वगच्छन्महाराज केकयाश्च महारथाः ॥५१॥

हे महाराज ! जब दोनों भ्राता भीम और अर्जुन को बड़ी सावधानी से द्रोणाचार्य की सेना की ओर बढ़ते देखा-तो पाञ्चाल, सृञ्जय, मत्स्य चेदि, कारूप, कोसल और महारथी केकयवीर, भी इनके पीछे २ हो लिए ॥५०-५१॥

ततो राजन्नभूद्घोरः संग्रामो लोमहर्षणः ।
बीभत्सुर्दक्षिणं पार्श्वमुत्तरं च वृकोदरः ॥५२॥
महद्भ्यां रथवृन्दाभ्यां बलं जगृहतुस्तव ।

हे राजन्! अब महाघोर लोमों को खड़ा कर देने वाला युद्ध होने लगा। इस युद्ध में अर्जुन दांयी ओर और भीमसेन बांयी ओर थे। इन्होंने बड़ी भारी रथसेना के साथ तुम्हारी सेना को घेर लिया ॥५२॥

तौ दृष्ट्वा पुरुषव्याघ्रौ भीमसेनधनञ्जयौ ॥५३॥
धृष्टद्युम्नोऽभ्ययाद्राजन्सात्यकिश्च महाबलः ।

हे राजन्! जब पुरुषश्रेष्ठ भीमसेन और अर्जुन को आगे बढ़ते देखा-तो द्रुपद पुत्र धृष्टद्युम्न और महाबलवान् सात्यकि भी आगे बढ़े ॥५३॥

चण्डवाताभिपन्नानामुदधीनामिव स्वनः ॥५४॥
आसीद्राजन्बलौघानां तदाऽन्योन्यमभिघ्नताम् ।

हे राजन्! अब दूसरे पर आघात करने वाले इन सैनिकों में इतना घोर कोलाहल हो रहा था, जैसे-प्रचण्ड-वायु से समुद्र में शब्द उठा दिया गया हो ॥५४॥

सौमदत्तिवधात्क्रुद्धो दृष्ट्वा सात्यकिमाहवे ॥५५॥
द्रौणिरभ्यद्रवद्राजन्वधाय कृतनिश्चयः ।

हे राजन्! सोमदत्तपुत्र भूरिश्रवा के वध से कुपित हुए द्रोणपुत्र अश्वत्थामा भी रण में सात्यकि को देखकर उसके वध का निश्चय कर वधकर देने को आगे लपका ॥५५॥

तमापयन्तं सम्प्रेक्ष्य शैनेयस्य रथं प्रति ॥५६॥
भैमसेनिः सुसंक्रुद्धः प्रत्यमित्रमवारयत् ।

अश्वत्थामा को शिनिपौत्र सात्यकि के रथ की ओर बढ़ता देखकर भीमसेन का पुत्र, घटोत्कच, क्रोध के साथ अपने शत्रु अश्वत्थामा को रोकने लगा ॥५६॥

कार्ष्णायसं महाघोरमृक्षचर्मपरिच्छदम् ॥५७॥
महान्तं रथमास्थाय त्रिंशन्नल्वान्तरान्तरम् ।
विक्षिप्तयन्त्रसन्नाहं महामेघौघनिःस्वनम् ॥५८॥
युक्तं गजनिभैर्वाहैर्न हयैर्नाऽपि वारणैः ।
विक्षिप्तपक्षचरणविवृताक्षेण कूजता ॥५९॥
ध्वजेनोच्छ्रितदण्डेन गृध्रराजेन राजितम् ।
लोहितार्द्रपताकं तु अन्त्रमालाविभूषितम् ॥६०॥
अष्टचक्रसमायुक्तमास्थाय विपुलं रथम् ।
शूलमुद्गरधारिण्या शैलपादपहस्तया ॥६१॥
रक्षसां घोररूपाणामक्षौहिण्या समावृतः ।

घटोत्कच का रथ बड़े दृढ़ लोह का बना हुआ था, जो बड़ा भीषण दिखाई देता था और जिसमें रीछकी खाल बिछी हुई थी । इसमें बैठने का स्थान तीसनल्व के परिमाण में था । इसमें यन्त्र सञ्चालन कवचका काम कर रहा था और इस रथ के चलने से महामेघ की सी ध्वनि होती थी । इसमें हाथी के बराबर ऊँचे अश्व जुते थे, जिनको न तो हाथी ही और न अश्व ही कहा जा सकता है ।

अपने चरण और पक्ष फैलाकर खुली आखों वाले शब्द करते हुए गीधपक्षी के चिन्ह से अङ्कित बड़े ऊँचे दण्डे में लगी हुई ध्वजा से यह रथ मण्डित था। इसमें लाल गीली झंडियां लगी थी और आंतों की मालाएँ लटका रखी थी। इस आठ पहियों के रथ में बैठकर शूल और मुद्गर धारण करने वाली तथा पर्वत और वृक्षों को हाथ में उठाये हुए घोर रूप वाली राक्षसों की सेना से युक्त होकर घटोत्कच आगे बढ़ा ॥५७॥

तमुद्यतमहाचापं निशम्य व्यथिता नृपाः ॥६२॥
युगान्तकालसमये दण्डहस्तमिवाऽन्तकम् ।

महा धनुष को उठाये हुए घटोत्कच को आगे बढ़ता देखकर राजा लोग बड़े व्यथित हुए। यह प्रलय काल में दण्डपाणि काल सा प्रतीत होता था ॥६२॥

ततस्तं गिरिश्रृङ्गाभं भीमरूपं भयावहम् ॥६३॥
दंष्ट्राकरालोग्रमुखं शंकुकर्णं महाहनुम् ।
ऊर्ध्वकेशं विरूपाक्षं दीप्तास्यं निम्नितोदरम् ॥६४॥
महाभ्रवद्गलद्वारं किरीटच्छन्नमूर्धजम् ।
त्रासनं सर्वभूतानां व्यात्ताननमिवाऽन्तकम् ॥६५॥
वीक्ष्य दीप्तमिवाऽऽयान्तं रिपुविक्षोभकारिणम् ।
तमुद्यतमहाचापं राक्षसेन्द्रं घटोत्कचम् ॥६६॥
भयार्दिता प्रचुक्षोभ पुत्रस्य तव वाहिनी ।
वायुना क्षोभितावर्ता गंगेवोर्ध्वतरङ्गिणी ॥६७॥

कर्ण भार्या बोली—हे देव ! तुमको तो अपने आचार्य परशुराम के शाप ने नष्ट कर डाला, जिसके कारण पृथिवी ने तुम्हारे पहियों को ग्रस लिया। युद्ध करने में कुशल अर्जुन ने उसी समय अपने बाण से तुम्हारा शिर रण में काट गिराया ॥११॥

हा हा धिगेषा पतिता विसंज्ञा समीक्ष्य जाम्बूनदबद्धकक्षम् ।
कर्णं महाबाहुमदीनसत्वं सुषेणमाता रुदती भृशार्ता ॥१२॥

हे कृष्ण ! सुवर्ण के कवच से बद्ध कक्ष वाले, अत्यन्त पराक्रमी महाबाहु कर्ण को रण में पड़ा देखकर सुषेण की माता, कर्णपत्नी, अत्यन्त करुणापूर्ण स्वर से रोती हुई अचेत होकर गिर रही है। हाय ? हाय ? यह कितना दयनीय दृश्य है ॥१२॥

अल्पावशेषोऽपि कृतो महात्मा शरीरभक्षैः परिभक्षयद्भिः ।
द्रष्टुं न नः प्रीतिकरः शशीव कृष्णस्य पक्षस्य चतुर्दशाहे ॥

शरीर के खा जाने वाले, पक्षियों से खाया जाने पर महावीर कर्ण का शरीर का भाग बहुत थोड़ा बच गया है। अब यह कृष्ण पक्ष की चतुर्दशी के चन्द्रमा की भांति हमको रुचिकर नहीं दिखाई देता है ॥१३॥

सा वर्तमाना पतिता पृथिव्यामुत्थाय दीना पुनरेव चैषा ।
कर्णस्य वक्त्रं परिजिघ्रमाणा रोरूयते पुत्रवधाभितप्ता ॥१४॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां
स्त्रीपर्वणि स्त्रीविलापपर्वणि कर्णदर्शनो
नामैकविंशतितमोऽध्यायः ॥२१॥

यह कर्णपत्नी पृथिवी में पड़ी हुई तड़फड़ा रही और फिर उठती है। यह दीन, पुत्र के वध से अभितप्त हुई, कर्ण के मुख को सूंघती हुई वार २ रोती जाती है ॥१४॥

इति श्रीमहाभारत स्त्रीपर्वान्तर्गत स्त्रीविलापपर्व में कर्ण के रणभूमि में दर्शन का इक्कीसवां अध्याय सम्पूर्ण हुआ।

बाईसवां अध्याय

गान्धार्युवाच—आवन्त्यं भीमसेनेन भक्षयन्ति निपातितम्।

गृध्रगोमायवः शूरं वहुवन्धुमवन्धुवत् ॥१॥

गान्धारी वोली—हे कृष्ण ! अवन्ती देश के राजा को भीमसेन ने मार गिराया। इस शूरवीर के वहुत से वान्धव थे, परन्तु आज वन्धु-हीन की भांति, इसको गीध और गीदड़ खा रहे हैं ॥१॥

तं पश्य कदनं कृत्वा शूराणां मधुसूदन।

शयानं वीरशयने रुधिरेण समुक्षितम् ॥२॥

हे मधुसूदन ! यह शूरवीरों का विध्वंस उड़ा कर अन्त में धेर से लिप्त होकर स्वयं भी रणभूमि में वीरशयन पर सो रा है-तुम इसकी ओर दृष्टि उठाकर देखो ॥२॥

तं सृगालाश्च कङ्काश्च क्रव्यादाश्च पृथग्विधाः।

तेन तेन विकर्षन्ति पश्य कालस्य पर्ययम् ॥३॥

इस वीर को गीदड़, भिन्न २ कङ्क, तथा इसी प्रकार के अन्य मांसभोजी जन्तु, अपनी २ ओर खैंच रहे हैं, तुम काल की इस विपरीत गति को तो देखो ? ॥३॥

शयानं वीरशयने शूरमाक्रन्दकारिणम् ।
आवन्त्यमभितो नार्यो रुदत्यः पर्युपासते ॥ ४॥

बड़ा घोर युद्ध मचाने वाले, शूरवीर, अवन्ति देश के अधिपति को वीरशय्या पर पड़े देखो, कि उसके चारों ओर उसकी स्त्रियां उसे घेरे हुए रो रही हैं ॥४॥

प्रातिपेयं महेष्वासं हतं भल्लेन वाह्लिकम् ।
प्रसुप्तमिव शार्दूलं पश्य कृष्ण मनस्विनम् ॥५॥

महाधनुर्धर, भल्ल संज्ञक बाण से नष्ट हुए प्रतीपवंशोद्भव मनस्वी वाह्लिकराज को देखो, जो शार्दूल की भांति रणाङ्गण में पड़ा है ॥५॥

अतीवमुखवर्णोऽस्य निहतस्यापि शोभते ।
सोमस्येवाभिपूर्णस्य पौर्णमास्यां समुद्यतः ॥६॥

यद्यपि वाह्लिकराज मारे जा चुके, परन्तु अभी तक इनके मुख की कान्ति पूर्णमासी में उदित हुए पूर्ण चन्द्रमा के समान, प्रकाशित हो रही है ॥६॥

पुत्रशोकाभितप्तेन प्रतिज्ञां चाभिरक्षता ।
पाकशासनिना संख्ये वार्धक्षत्रिर्निपातितः ॥७॥

अपने पुत्र अभिमन्यु के शोक में सन्तप्त होकर प्रतिज्ञा करने वाले, इन्द्र अर्जुनपुत्र ने वृद्धक्षत्र के पुत्र राजा जयद्रथ को मार कर अपनी प्रतिज्ञा को पूर्ण कर दिखाया ॥१७॥

एकादशचमूर्भित्त्वा रक्ष्यमाणं महात्मभिः ।
सत्यं चिकीर्षता पश्य हतमेनं जयद्रथम् ॥८॥

बड़े २ महारथी वीर राजा जयद्रथ की रक्षा कर रहे थे, परन्तु अर्जुन एकादश अक्षौहिणी सेना को चीर कर उसमें घुस गया और उसने अपनी प्रतिज्ञा को सत्य कर दिखाने को राजा जयद्रथ को मार गिराया ॥१८॥

सिन्धुसौवीरभर्तारं दर्पपूर्णं मनस्विनम् ।
भक्षयन्ति शिवा गृध्रा जनार्दन जयद्रथम् ॥६॥

हे जनार्दन ! जो सिन्धु और सौवीर देश का अधिपति बड़ा घमण्डी और मनस्वी था, आज गीदड़ और गीध रण में पड़े हुए उसी राजा जयद्रथ को नोंच २ कर खा रहे हैं ॥१६॥

संरक्ष्यमाणं भार्याभिरनुरक्ताभिरच्युत ।
भीषयन्त्यो विकर्षन्ति गहनं निम्नमन्तिकात् ॥१०॥

हे अच्युत ! इसकी अनुरक्त भार्या, रक्षा करना चाह रही हैं, परन्तु ये जन्तु, इनको डराकर उसे पास से नीचे की ओर वन में लेजाना चाहते हैं ॥१०॥

तमेताः पर्युपासन्ते रक्षमाणं महाभुजम् ।
सिन्धुसौवीरभर्तारं काम्बोजयवनास्त्रियः ॥११॥

सिन्धु और गांधार देश के अधिपति, सुरक्षित महाभुज धारी राजा जयद्रथ की काम्बोज और यवन देश की स्त्रियां उपासना कर रही हैं ॥११॥

यदा कृष्णामुपादाय प्राद्रवत्केकयैः सह ।
तदैव वध्यः पाण्डूनां जनार्दन जयद्रथः ॥१२॥
दुःशलां मानयद्भिस्तु तदा मुक्तो जयद्रथः ।
कथमद्य न तां कृष्ण मानयन्ति स्म ते पुनः ॥१३॥

हे जनार्दन ! जब केकयवीरों की सेना लेकर राजा जयद्रथ ने द्रौपदी का अपहरण करना चाहा, तभी पाण्डवों ने इसे मार लिया होता-परन्तु मेरी पुत्री दुःशला का आदर करते हुए पाण्डवों ने इसे उस समय छोड़ दिया था। हे कृष्ण ! आज उन्होंने उसका क्यों नहीं ध्यान रक्खा-इसका कारण नहीं जाना जाता है ॥१२-१३॥

सैषा मम सुता बाला विलपन्ती च दुःखिता ।
आत्मना हन्ति चात्मानमाक्रोशन्ती च पाण्डवान् ॥

यह वही मेरी दुखिया बालक कन्या, दुःशला विलाप कर रही है। यह अपने हाथों से ही अपने शिर और छाती को पीटती है और पाण्डवों को कोसती जाती है ॥१४॥

किं नु दुःखतरं कृष्ण परं मम भविष्यति ।
यत्सुता विधवा बाला स्नुषाश्च निहतेश्वरा ॥१५॥

हे कृष्ण ! मुझे इससे अधिक अन्य क्या दुःख होगा जो मेरी छोटी आयु की पुत्र और पुत्रवधू, विधवा हो गईं, जिनके पति ये मरे पड़े हैं ॥१५॥

हा हा धिग्दुःशलां पश्य वीतशोकभयामिव ।
शिरो भर्तुरनासाद्य धावमानामितस्ततः ॥१६॥

हे कृष्ण ! तुम शोक और भय से रहित हुई सी दुःशला को को देखो-जो अपने पति का शिर न पाकर इधर उधर दौड़ रही है ॥१६॥

वारयामास यः सर्वान्पाण्डवान्पुत्रगृद्धिनः ।
स हत्वा विपुलाः सेनाः स्वयं मृत्युवशं गतः ॥१७॥

इसी सिन्धुराज जयद्रथ ने अभिमन्यु की रक्षा में आगे बढ़ने वाले सारे पाण्डवों को रोक दिया और पाण्डवों की विशालसेना का बहुत बड़ा भाग मार गिराया-इसकी ओर तुम देखो, कि आज यह स्वयं भी मृत्यु के वश में पहुंच चुका है ॥१७॥

तं मत्तमिव मातङ्गं वीरं परमदुर्जयम् ।
परिवार्य रुदन्त्येताः स्त्रियश्चन्द्रोपमाननाः ॥१८॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां स्त्रीपर्वणि जलप्रदानिकपर्वणि गांधारीवाक्ये द्वाविंशोऽध्यायः ॥२२॥

यह वीर राजा जयद्रथ मदोन्मत्त हाथी की भांति अत्यन्त दुर्जय था । चन्द्रमा के समान मुख वाली इसकी स्त्रियां इसको घेर कर रोती जा रही हैं ॥१८॥

इति श्रीमहाभारत स्त्रीपर्वान्तर्गत स्त्रीविलापपर्व में गान्धारी बिलाप का बाईसवां अध्याय समाप्त हुआ



तेईसवां अध्याय

गान्धार्युवाच– एष शल्यो हतः शेते साक्षान्नकुलमातुलः ।

धर्मज्ञेन हतस्तात धर्मराजेन संयुगे ॥१॥

गान्धारी बोली–हे कृष्ण ! यह नकुल का मातुल मद्रराज शल्य मरा हुआ तुम्हारी आंखों के आगे पड़ा है। हे तात ! धर्मात्मा युधिष्ठिर ने रण में इसे मार गिराया है ॥१॥

यस्त्वया स्पर्धते नित्यं सर्वत्र पुरुषर्षभ ।

स एष निहतः शेते मद्रराजो महाबलः ॥२॥

हे पुरुषर्षभ ! यह वीर सदा तुम्हारी स्पर्धा किया करता था। वही मद्रराज महाबली शल्य, आज मारा जाकर रणभूमि में पड़ा है ॥२॥

येन संगृह्णता तात रथमाधिरथेर्युधि ।

जयार्थं पाण्डुपुत्राणां तदा तेजोवधः कृतः ॥३॥

हे तात ! इसने रणाङ्गण में अधिरथ-पुत्र का सारथि बनकर पाण्डवों के विजय के लिए कर्ण के तेज का वध किया था ॥३॥

अहो धिक्पश्य शल्यस्य पूर्णचन्द्रसुदर्शनम् ।

मुखं पद्मपलाशाक्षं काकैरादष्टमव्रणम् ॥४॥

इस शल्य का मुख, पूर्णचन्द्र के समान सुन्दर है। उसी कमल के समान उज्ज्वल, अव्रण मुख को आज कव्वे खाने की चेष्टा कर रहे हैं ॥४॥

अस्य चामीकराभस्य तप्तकाञ्चनसप्रभा ।
आस्याद्विनिःसृता जिह्वा भक्ष्यते कृष्णपक्षिभिः ॥५॥

राजा शल्य की कान्ति, सुवर्ण के समान उज्ज्वल थी, इसके मुख से प्रतप्त सुवर्ण के समान चमकीली जिह्वा मुख से बाहर निकली पड़ी है, जिसको कृष्णवर्ण के पक्षी नोंच रहे हैं ॥५॥

युधिष्ठिरेण निहतं शल्यं समितिशोभनम् ।
रुदत्यः पर्युपासन्ते मद्रराजं कुलाङ्गनाः ॥६॥

युद्ध में शोभा पाने वाले, मद्रराज शल्य को राजा युधिष्ठिर ने मार गिराया है। इसके पास वैठी हुई इसके कुल की स्त्रियां रो रही हैं ॥६॥

एताः सुसूक्ष्मवसना मद्रराजं नरर्षभम् ।
क्रोशंत्योऽथ समासाद्य क्षत्रियाः क्षत्रियर्षभम् ॥७॥

इन क्षत्रिय कुलाङ्गनाओं ने बड़े सूक्ष्म वस्त्र पहिन रखे हैं, जो क्षत्रियश्रेष्ठ, पुरुषप्रवीर मद्रराज शल्य के पास पहुंच कर उच्चस्वर में चिल्ला रही हैं ॥७॥

शल्यं निपातितं नार्यः परिवार्याभितः स्थिताः ।
वासिता गृष्टयः पङ्के परिमग्नमिव द्विपम् ॥८॥

रण में पड़े हुए राजा शल्य को घेर कर सब ओर उसकी रानियां खड़ी हैं, जिनकी दशा कीचड़ में फंसे हुए हाथी को निकाने वाली युवति, गर्भधारणोत्सुक हथिनियों की सी हो रही है ॥८॥

शल्यं शरणदं शूरं पश्येमं वृष्णिनन्दन ।
शयानं वीरशयने शरैर्विशकलीकृतम् ॥९॥

हे वृष्णिनन्दन ! राजा शल्य बड़े शूरवीर और भयातुर के रक्षक थे। इनका शरीर शरों से छिद रहा है और ये आज इस वीरशयन में सो रहे हैं ॥९॥

एष शैलालयो राजा भगदत्तः प्रतापवान् ।
गजांकुशधरः श्रीमान् शेते भुवि निपातितः ॥१०॥

यह पर्वतों का अधिपति, महाप्रतापी राजा भगदत्त है । यह तेजस्वी गजसेना का वल रख रखता था, वह भी मृत होकर रणभूमि में पड़ा है ॥१०॥

यस्य रुक्ममयी माला शिरस्येषा विराजते ।
श्वापदैर्भक्ष्यमाणस्य शोभयन्तीव मूर्धजान् ॥११॥

राजा भगदत्त के मस्तक पर सुवर्ण की माला सुशोभित हो रही है यद्यपि इस को वनैले जन्तु खाने लगे हैं तो भी वह माला, उसके वालों की शोभा वढ़ा रही हैं ॥११॥

एतेन किल पार्थस्य युद्धमासीत्सुदारुणम् ।
रोमहर्षणमत्युग्रं शक्रस्य त्वहिना यथा ॥१२॥

राजा भगदत्त का अर्जुन के साथ महाघोर युद्ध हुआ जो वृत्रासुर और इन्द्र के युद्ध के समान महाभयङ्कर और रोमहर्षण था ॥१२॥

योधयित्वा महाबाहुरेष पार्थं धनञ्जयम् ।
संशयं गमयित्वा च कुन्तीपुत्रेण पातितः ॥१३॥

महाबाहु, राजा भगदत्त का धनञ्जय अर्जुन से बड़ा भीषण युद्ध हुआ, जिसमें अर्जुन के पराजित होने का संशय हो गया था, उसको भी कुन्ती-पुत्र अर्जुन ने मार गिराया ॥१३॥

यस्य नास्ति समो लोके शौर्ये वीर्ये च कश्चन ।
स एष निहतः शेते भीष्मो भीष्मकृदाहवे ॥१४॥

शौर्य और वीर्य में संसार में कोई भी जिसके बराबर नहीं है। वह युद्ध में भीषण कर्म कर दिखाने वाला भीष्म, आज मृत होकर पड़ा है ॥१४॥

पश्य शान्तनवं कृष्ण शयानं सूर्यवर्चसम् ।
युगान्त इव कालेन पतितं सूर्यमम्बरात् ॥१५॥

हे कृष्ण ! सूर्य समान तेजस्वी, शान्तनु-पुत्र भीष्म, प्रलय काल में समय से परिपक्व होकर आकाश से गिरे हुए सूर्य के सदृश दिखाई दे रहा है ॥१५॥

एष तप्त्वा रणे शत्रून् शस्त्रातापेन वीर्यवान् ।
नरसूर्योऽस्तमभ्येति सूर्योऽस्तमिव केशव ॥१६॥

हे केशव ! यह महापराक्रमी भीष्म, रण में शस्त्रताप से शत्रुओं को सन्तप्त करके इस तरह अस्त हो रहा है, जैसे सूर्य अस्त हो जाता है ॥१६॥

शरतल्पगतं भीष्ममूर्ध्वरेतसमच्युतम् ।
शयानं वीरशयने पश्य शूरनिषेविते ॥१७॥

हे माधव ! शूरवीरों के सेवन करने योग्य, इस वीरशयन शरशय्या पर पड़े हुए, प्रतिज्ञा से नहीं हटने वाले, नैष्ठिक ब्रह्मचारी भीष्म की ओर तो तनक देखो ॥१७॥

कर्णिनालीकनाराचैरास्तीर्य शयनोत्तमम् ।
आविश्य शेते भगवान् स्कन्दः शरवणं यथा ॥१८॥

महातेजस्वी भीष्म, कर्णि, नालीक, नाराच आदि बाणों से अपने शयन को सुसज्जित करके उन पर इस तरह सो रहे हैं जैसे भगवान् स्कन्द शरवन में सो रहे हों ॥१८॥

अतूलपूर्णं गाङ्गेयस्त्रिभिर्बाणैः समन्वितम् ।
उपाधायोपधानाग्र्यं दत्तं गाण्डीवधन्वना ॥१९॥

गङ्गा-पुत्र भीष्म ने तूल (रूई) से रहित, तीनों बाणों से निर्मित वीरशयनोचित उपधान (तकिया) लगा रखा है, जिसे गाण्डीव धारी अर्जुन ने प्रदान किया है ॥१९॥

पालयानः पितुः शास्त्रमूर्ध्वरेता महायशाः ।
एष शान्तनवः शेते माधवाप्रतिमो युधि ॥२०॥

हे माधव ! यह महायशस्वी, बालब्रह्मचारी, पिता की आज्ञा का पालने वाला शान्तनु-पुत्र भीष्म, युद्ध में अद्वितीय था, जो रण में पड़ा शरशय्या पर सो रहा है ॥२०॥

धर्मात्मा तात सर्वज्ञः पारावर्येण निर्णये।
अमर्त्य इव मर्त्यः सन्नेप प्राणानधारयत् ॥२१॥

हे तात! भीष्म, बड़े धर्मात्मा, सब कुछ जानने वाले और
पथ के निर्णय करने में समर्थ हैं। यह मनुष्य होकर भी देवों
समान अपने प्राणों को शरशय्या पर भी धारण किए हुए हैं।

नास्ति युद्धे कृती कश्चिन्न विद्वान्न पराक्रमी ।
यत्र शान्तनवो भीष्मः शेतेऽद्य निहतः शरैः ॥२२॥

इसके समान कोई भी युद्ध में कुशल और पराक्रमी नहीं है
था न कोई इनके समान विद्वान ही है। वह शान्तनु-सुत भीष्म
भी आज बाणों से आहत होकर रणभूमि में पड़े हैं ॥२२॥

स्वयमेतेन शूरेण पृच्छमानेन पाण्डवैः।
धर्मज्ञेनाहवे मृत्युरादिष्टः सत्यवादिना ॥२३॥

पाण्डवों ने इनसे इनकी मृत्यु के विषय में प्रश्न किया, तो
इस सत्यवादी धर्मात्मा ने रणाङ्गण में अपनी मृत्यु आप ही
ता दी ॥२३॥

प्रनष्टः कुरुवंशश्च पुनर्येन समुद्धृतः।
स गतः कुरुभिः सार्धं महाबुद्धिः पराभवम् ॥२४॥

कुरुवंश एक प्रकार से नष्ट हो चुका था, परन्तु भीष्म ने ही
फेर उसका उद्धार किया, वह महाबुद्धि भी आज कौरवों के साथ
ाथ पराभव को प्राप्त हो गया है ॥२४॥

धर्मेषु कुरवः कं नु परि प्रक्ष्यन्ति माधव ।
गते देवव्रते स्वर्गं देवकल्पे नरर्षभे ॥२५॥

हे माधव ! देवों के समान ज्ञानी नरश्रेष्ठ देवव्रत भीष्म के स्वर्ग चले जाने पर कुरुवंशोद्भव मनुष्य, नगर में किससे धर्म के विषय में प्रश्न किया करेंगे ॥२५॥

अर्जुनस्य विनेतारमाचार्यं सात्यकेस्तथा ।
तं पश्य पतितं द्रोणं कुरूणां गुरुमुत्तमम् ॥२६॥

अर्जुन और सात्यकि के शिक्षक कौरवों के उत्तम गुरु आचार्य द्रोण, रणक्षेत्र में पड़े हैं, तुम उनको देखो ॥२६॥

अस्त्रं चतुर्विधं वेद यथैव त्रिदशेश्वरः ।
भार्गवो वा महावीर्यस्तथा द्रोणोऽपि माधव ॥२७॥

जिस तरह इन्द्र धनुर्विद्या को जानता है, उसी तरह धनुर्वेद के चारों अङ्गों को द्रोणाचार्य जानते थे । इन अस्त्रों को भृगुवंशोद्भव परशुराम या महापराक्रमी द्रोण ही जानते थे ॥२७॥

यस्य प्रसादाद्बीभत्सुः पाण्डवः कर्म दुष्करम् ।
चकार स हतः शेते नैनमस्त्राण्यपालयन् ॥२८॥

इसी द्रोणाचार्य के अनुग्रह से अर्जुन ने रण में दुष्कर कर्म दिखाए हैं, वह भी मारा जाकर रणभूमि में पड़ा है और शस्त्र उसकी रक्षा करने में समर्थ नहीं हो सके ॥२८॥

यं पुरोधाय कुरव आह्वयन्ति स्म पाण्डवान् ।
सोऽयं शस्त्रभृतां श्रेष्ठो द्रोणः शस्त्रैः परिक्षतः ॥२९॥

जिस द्रोणाचार्य को आगे करके ही कौरव, पाण्डवों को युद्ध का आह्वान करने में समर्थ होते थे, वही शस्त्रधारियों में श्रेष्ठ, द्रोण शस्त्रों से घायल होकर रणभूमि में पड़े हैं ॥२९॥

यस्य निर्दहतः सेनां गतिरग्नेरिवाभवत् ।
स भूमौ निहतः शेते शांतार्चिरिव पावकः ॥३०॥

जब यह सेना को दग्ध करता था, तो इसकी गति अग्नि के तुल्य हो जाती थी। वही द्रोणाचार्य आज शान्तज्वालावाले अग्नि की तरह भूमि में निहत होकर पड़े हैं ॥३०॥

धनुर्मुष्टिरशीर्णश्च हस्तावापश्च माधव ।
द्रोणस्य निहतस्याजौ दृश्यते जीवतो यथा ॥३१॥

हे माधव! द्रोणाचार्य के धनुष की मुट्ठी और हस्तावाप (हाथ का कवच) ज्यों के त्यों हैं! यद्यपि द्रोणाचार्य मर चुके तथापि वे जीवित से दिखाई दे रहे हैं ॥३१॥

वेदा यस्माच्च चत्वारः सर्वाण्यस्त्राणि केशव ।
अनपेतानि वै शूराद्यथैवादौ प्रजापतेः ॥३२॥

हे केशव! जिनसे चारों वेद और सारे सर्वाङ्ग-पूर्ण शस्त्रों को शूरवीर लोग इस तरह प्राप्त करते थे, जैसे सृष्टि के आदि में प्रजापति से ऋषियों ने वेद को प्राप्त किया था ॥३२॥

वन्दनार्हाविमौ तस्य बन्दिभिर्वन्दितौ शुभौ ।
गोमायवो विकर्षन्ति पादौ शिष्यशतार्चितौ ॥३३॥

सैकड़ों शिष्यों से पूजित, वन्दना के योग्य, वन्दना करने वालों से अभिवन्दित, द्रोणाचार्य के चरणों को गीदड़ खैंचे फिरते हैं ॥३३॥

द्रोणं द्रुपदपुत्रेण निहतं मधुसूदन ।
कृपी कृपणमन्वास्ते दुःखोपहतचेतना ॥३४॥

हे मधुसूदन ! द्रुपद-पुत्र धृष्टद्युम्न द्वारा मारे हुए द्रोणाचार्य के समीप दुःख से व्याकुल हुई उनकी भार्या कृपी बड़ी दीनता से यहां बैठी है ॥३४॥

तां पश्य रुदतीमार्तां मुक्तकेशीमधोमुखीम् ।
हतं पतिमुपासन्तीं द्रोणं शस्त्रभृतां वरम् ॥३५॥

यह देखो ? जिसके बाल बिखरे हुए, नीचे को मुख बनाए हुए, रोती हुई व्याकुल कृपी, शस्त्रधारियों में श्रेष्ठ अपने मृत पति द्रोणाचार्य के समीप बैठी हुई है ॥३५॥

बाणैर्भिन्नतनुत्राणं धृष्टद्युम्नेन केशव ।
उपास्ते वै मृधे द्रोणं जटिला ब्रह्मचारिणी ॥३६॥

प्रेतकृत्ये च यतते कृपी कृपणमातुरा ।
हतस्य समरे भर्तुः सुकुमारी यशस्विनी ॥३७॥

हे केशव ! धृष्टद्युम्न ने अपने बाणों से द्रोणाचार्य का कवच काट डाला । उसी आचार्य द्रोण की उपासना में जटाधारिणी ब्रह्मचारिणी कृपी उपस्थित हो रही है । यह अत्यन्त व्याकुल हुई कृपी, युद्ध में मृत द्रोणाचार्य के प्रेतकृत्य करने में प्रयत्न कर रही है, जो यशस्विनी बहुत ही जीर्ण-शीर्ण सी हो रही है ॥३७॥

अग्नीनाधाय विधिवच्चितां प्रज्वाल्य सर्वतः ।
द्रोणमाधाय गायन्ति त्रीणि सामानि सामगाः ॥

साम गान में समर्थ, शिष्यों ने विधि-पूर्वक अग्नि तय्यार की और सब ओर से चिता जलाई। वे द्रोणाचार्य को चिता में रख कर तीन साम सूक्तों का गान करने लगे ॥३८॥

कुर्वन्ति च चितामेते जटिला ब्रह्मचारिणः ।
धनुर्भिः शक्तिभिश्चैव रथनीडैश्च माधव ॥३९॥
शरैश्च विविधैरन्यैर्धक्ष्यते भूरितेजसम् ।
इति द्रोणं समाधाय शंसन्ति च रुदन्ति च ॥४०॥

हे माधव ! इन जटाधारी ब्रह्मचारी, शिष्यों ने धनुष, शक्ति और रथ की छतरी आदि से चिता बनाई। बहुत से बाण भी चिता में लगा दिए गए। अब इन्होंने अत्यन्त तेजस्वी, द्रोण का जलाना आरम्भ किया। ये इस प्रकार चिता में द्रोणाचार्य को रख कर उसकी रोते २ प्रशंसा करने लगे ॥३९-४०॥

सामभिस्त्रिभिरन्तस्थैरनुशंसन्ति चापरे ।
अग्नावग्निं समाधाय द्रोणं हुत्वा हुताशने ॥४१॥
गच्छन्त्यभिमुखा गङ्गां द्रोणशिष्या द्विजातयः ।
अपसव्यां चितिं कृत्वा पुरस्कृत्य कृपीं च ते ॥४२॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां
स्त्रीपर्वणि जलप्रदानिकपर्वणि गांधारीवचने
त्रयोविंशोऽध्यायः ॥२३॥

कुछ शिष्य, सामवेद के तीन सूक्तों से भीतर ही भीतर स्तुति करने लगे। द्रोणाचार्य को अग्नि में डाल कर अग्नि में मानो अग्नि को मिला दिया। द्रोणाचार्य के ब्राह्मण शिष्यों ने उस चिता को वांयी ओर और कृपी को आगे करके गङ्गा की ओर गमन किया ॥४१-४२॥

इति श्रीमहाभारत स्त्रीपर्वान्तर्गत स्त्रीविलापपर्व में गान्धारीविलाप और द्रोणाचार्य के शवदाह के वर्णन का तेईसवां अध्याय समाप्त हुआ।



चौबीसवां अध्याय

गान्धार्युवाच—सोमदत्तसुतं पश्य युयुधानेन पातितम्।
विद्यमानं च विहगैर्बहुभिर्माधवान्तिके ॥१॥

गान्धारी बोली—हे माधव! सात्यकि ने सोमदत्त-पुत्र भूरिश्रवा को मार गिराया, जिसके समीप बहुत से पक्षी उसको घेर कर खड़े हैं ॥१॥

पुत्रशोकाभिसन्तप्तः सोमदत्तो जनार्दन।
युयुधानं महेष्वासं गर्हन्निव दृश्यते ॥२॥

हे जनार्दन! पुत्र शोक से सन्तप्त राजा सोमदत्त, अब भी महाधनुर्धर सात्यकि की निन्दा सी करता दिखाई देता है ॥२॥

असौ हि भूरिश्रवसो माता शोकपरिप्लुता ।
आश्वासयति भर्तारं सोमदत्तमनिन्दिता ॥३॥

यह प्रशंसा के योग्य भूरिश्रवा की माता अपने मृतभर्ता सोमदत्त को सम्बोधित करके कहती है ॥३॥

दिष्ट्या नैनं महाराज दारुणं भरतक्षयम् ।
कुरुसंक्रन्दनं घोरं युगान्तमनुपश्यसि ॥४॥

हे महाराज ! यह दारुण भरतवंश का विनाश हो गया । प्रलय काल के सदृश कौरवों का घोर विध्वंस हुआ है, परन्तु आपने न देखा-यह बहुत ही अच्छा हुआ ॥४॥

दिष्ट्या यूपध्वजं पुत्रं वीरं भूरिसहस्रदम् ।
अनेकक्रतुयज्वानं निहतं नानुपश्यसि ॥५॥

यज्ञस्तम्भ का चिन्ह ध्वजा में रखने वाले, सहस्रों दक्षिणा में देने वाले, अनेक यज्ञकर्ता, अपने वीरपुत्र भूरिश्रवा की आज आपने मृत्यु नहीं देखी-यह अच्छी ही बात है ॥५॥

दिष्ट्या स्नुषाणामाक्रन्दे घोरं विलपितं बहु ।
न शृणोमि महाराज सारसीनामिवार्णवे ॥६॥

हे महाराज ! इस विनाशकारी युद्ध में आपने अपनी पुत्र वधुओं के घोर क्रन्दन को नहीं सुना, जो जलाशय पर सारसों के विलाप के समान है, यह अच्छा ही हुआ ॥६॥

एकवस्त्रार्धसंवीताः प्रकीर्णासितमूर्धजाः ।
स्नुषास्ते परिधावन्ति हतापत्या हतेश्वराः ॥७॥

हे राजन् ! आधा ओढ़े हुए एक वस्त्रधारिणी तुम्हारी पुत्र वधुओं के काले बाल फैले हुए हैं। आज तुम्हारी पुत्र वधू, अपने पुत्र और पति के मारे जाने पर पागल सी रणक्षेत्र में भाग रही हैं।

श्वापदैर्भक्ष्यमाणं त्वमहो दिष्ट्या न पश्यसि ।
छिन्नबाहुं नरव्याघ्रमर्जुनेन निपातितम् ॥८॥

हे राजन् ! यह बड़ी ही अच्छी बात हुई, जो तुम अर्जुन से गिराए हुए, छिन्नबाहु, नरश्रेष्ठ, अपने पुत्र भूरिश्रवा को वन के जन्तुओं से खाते नहीं देख रहे हो ॥८॥

शलं विनिहतं संख्ये भूरिश्रवसमेव च ।
स्नुषाश्च विविधाः सर्वा दिष्ट्या नाद्येह पश्यसि ॥

शल भी मारा गया और भूरिश्रवा भी मारा जा चुका। आज उनकी अनेक वधू, विलाप कर रही हैं और आप नहीं देख रहे यह बड़ी अच्छी बात हुई ॥६॥

दिष्ट्या तत्काञ्चनं छत्रं यूपकेतोर्महात्मनः ।
विनिकीर्णं रथोपस्थे सौमदत्तेर्न पश्यसि ॥१०॥

यूपचिन्हाङ्कित ध्वजाधारी महावीर भूरिश्रवा का सुवर्ण छत्र, रथ के पास पड़ा है, परन्तु आप नहीं देख रहे हैं-यह बहुत ही उत्तम बात हुई ॥१०॥

अमूस्तु भूरिश्रवसो भार्याः सात्यकिना हतम् ।
परिवार्यानुशोचन्ति भर्तारमसितेक्षणाः ॥११॥

ये कृष्णवर्ण की आंखों वाली भूरिश्रवा की भार्याएँ, सात्यकि द्वारा मारे हुए अपने पति भूरिश्रवा को घेर कर विलाप कर रही हैं ॥११॥

एता विलप्य करुणं भर्तृशोकेन कर्शिताः ।

पतन्त्यभिमुखा भूमौ कृपणं बत केशव ॥१२॥

भर्ता के शोक से आतुर यह करुणास्वर में विलाप करके, बड़ी दीनता से आपके सन्मुख गिर रही हैं । हे कृष्ण ! तुम ज़रा देख तो लो ॥१२॥

बीभत्सुरतिबीभत्सं कर्मेदमकरोत्कथम् ।

प्रमत्तस्य यदच्छैत्सीद्बाहुं शूरस्य यज्वनः ॥१३॥

अर्जुन तो बड़े धर्मात्मा थे, उन्होंने यह बीभत्सकर्म कैसे कर डाला, जो अनेक यज्ञ करने वाले शूरवीर अन्यमनस्क भूरिश्रवा की भुजा को अपने बाण से काट गिराया ॥१३॥

ततः पापतरं कर्म कृतवानपि सात्यकिः ।

यस्मात्प्रायोपविष्टस्य प्राहार्षीत्संशितात्मनः ॥१४॥

अर्जुन से भी अधिक पापकर्म सात्यकि ने कर डाला-जो प्रायोपवेशन करके रण में चुप बैठ जाने पर भी व्रत-शील भूरिश्रवा के मस्तक को काट गिराया ॥१४॥

एको द्वाभ्यां हतः शेषे त्वमधर्मेण धार्मिक ।

किं नु वक्ष्यति वै सत्सु गोष्ठीषु च सभासु च ॥१५॥

अपुण्यमयशस्यं च कर्मेदं सात्यकिः स्वयम् ।
इति यूपध्वजस्यैताः स्त्रियः क्रोशन्ति माधव ॥१६॥

हे धार्मिक ! भूरिश्रवा ! तुम अकेले को दो योद्धाओं ने अधर्म से मार गिराया है। अब ये लोग सज्जनों की गोष्ठी या सभाओं में कैसे लज्जा-हीन होकर बातें कर सकेंगे। यह सात्यकि का कर्म अयशकारी और पाप जनक है। हे माधव ! ये सारी यूप के चिन्ह वाले भूरिश्रवा की स्त्रियां हैं, जो तुम्हारे सन्मुख ही रो रही हैं ॥१५-१६॥

भार्या यूपध्वजस्यैषा करसम्मितमध्यमा ।
कृत्वोत्सङ्गे भुजं भर्तुः कृपणं परिदेवति ॥१७॥

यह यूप चिन्ह वाली ध्वजा का धारी भूरिश्रवा की प्रधान पत्नी है, जो अपने पति भूरिश्रवा की भुजा को गोदी में लेकर दुनस्वर से चिल्ला रही है ॥१७॥

अयं स हन्ता शूराणां मित्राणमभयप्रदः ।
प्रदाता गोसहस्राणां क्षत्रियान्तकरः करः ॥१८॥

यह भूरिश्रवा का हाथ, शत्रुवीरों का नाशक और मित्रों को अभय देने वाला था। इस क्षत्रिय विध्वंसक, हाथ ने यज्ञ में गौएँ दान कर डाली हैं ॥१८॥

अयं स रसनोत्कर्षी पीनस्तनविमर्दकः ।
नाभ्यूरुजघनस्पर्शी नीवीविस्रंसनः करः ॥१९॥

यही हाथ, मेरी रसना (तगड़ी) का हटाने वाला, पीनस्तन मर्दक, नाभि, ऊरु और नितम्बभाग का स्पर्श करने वाला और नीवी खोलने में कुशल था ॥१६॥

वासुदेवस्य सान्निध्ये पार्थेनाक्लिष्टकर्मणा ।
युध्यतः समरेऽन्येन प्रमत्तस्य निपातितः ॥२०॥

यह मेरा पति अन्य से युद्ध करने में लगा हुआ था और अर्जुन की ओर निःशङ्क था। बड़े खेद की बात है, कि श्रीकृष्ण के सन्मुख ही पराक्रमशाली अर्जुन ने अन्य से युद्ध करने वाले मेरे इस पति के इस हाथ को अचानक काट गिराया ॥१६-२०॥

किं नु वक्ष्यसि संसत्सु कथासु च जनार्दन ।
अर्जुनस्य महत्कर्म स्वयं वा स किरीटभृत् ॥२१॥

हे जनार्दन ! अब तुम सभा या बात चीत में कैसे अर्जुन की प्रशंसा करोगे या स्वयं अर्जुन अपने पराक्रम का क्या बखान कर सकेगा ॥२१॥

इत्येवं गर्हयित्वैषा तूष्णीमास्ते वराङ्गना ।
तामेतामनुशोचन्ति सपत्न्यः स्वामिव स्नुषाम् ॥

हे कृष्ण ! इतनी गर्हणा करके यह सुन्दरी चुप हो गई। अब इसकी सपत्नियां इस तरह इसकी चिन्ता कर रही हैं, जैसे अपनी पुत्रवधू की कर रही हो ॥२२॥

गान्धारराजः शकुनिर्बलवान् सत्यविक्रमः ।
निहतः सहदेवेन भागिनेयेन मातुलः ॥२३॥

गान्धारराज शकुनि भी बड़ा बलवान् और सत्यपराक्रमी भी था। उस अपने मातुल शकुनि को उसके ही भानजे सहदेव ने मार गिराया ॥२३॥

यः पुरा हेमदण्डाभ्यां व्यजनाभ्यां स्म वीज्यते ।
स एष पक्षिभिः पक्षैः शयान उपवीज्यते ॥२४॥

जिस शकुनि को पूर्व में सुवर्ण दण्डों वाले पंखों से झला जाता था, आज उनकी पक्षी अपनी २ पांखों से रण में पवन कर रहे हैं-यह कैसी दुःख की बात है ॥२४॥

यः स्वरूपाणि कुरुते शतशोऽथ सहस्रशः ।
तस्य मायाविनो माया दग्धाः पाण्डवतेजसा ॥२५॥

जो शकुनि, अपनी माया से सैंकड़ों हजारों रंग बदलता था, उस मायावी की माया को आज पाण्डु-पुत्रों के तेज ने नष्ट कर डाला ॥२५॥

मायया निकृतिप्रज्ञो जितवान् यो युधिष्ठिरम् ।
सभायां विपुलं राज्यं स पुनर्जीवितं जितः ॥२६॥

जिस छलकुशल शकुनि ने अपनी माया से राजा युधिष्ठिर के सारे राज्य को कौरवसभा में जीत लिया, आज उसी शकुनि के प्राणों को रण में जीत लिया गया है ॥२६॥

शकुन्ताः शकुनिं कृष्ण समन्तात्पर्युपासते ।
कैतवं मम पुत्राणां विनाशायोपशिक्षितम् ॥२७॥

हे कृष्ण ! आज शकुनि को सब ओर से शकुनि (पक्षी) घेरे हुए हैं। इस ने ही सारा कपट मेरे पुत्रों को उनके विनाश के लिए सिखाया था ॥२७॥

एतेनैतन्महद्वैरं प्रसक्तं पाण्डवैः सह।

वधाय मम पुत्राणामात्मनः सगणस्य च ॥२८॥

इसने यह पाण्डवों के साथ महान वैर का बीज, मेरे पुत्रों के विनाश के लिए ही क्या ? अपने भी सारी सेना सहित नाश के लिए बोया था ॥२८॥

यथैव मम पुत्राणां लोकाः शस्त्रजिताः प्रभो।

एवमस्यापि दुर्बुद्धेर्लोकाः शस्त्रेण वै जिताः ॥२९॥

हे प्रभो ! जिस तरह शस्त्रों से मेरे पुत्रों ने सारे लोक जीत कर प्राप्त कर लिए-इसी तरह इस दुर्बुद्धि ने भी शस्त्र के कारण सारे उत्तम लोक प्राप्त कर लिए ॥२६॥

कथं च नायं तत्रापि पुत्रान्मे भ्रातृभिः सह।

विरोधयेदृजुप्रज्ञाननृजुर्मधुसूदन ॥३०॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां स्त्रीपर्वणि स्त्रीविलापपर्वणि गांधारीवाक्ये चतुर्विंशोऽध्यायः ॥२४॥

हे मधुसूदन ! यह दुर्मति वहां भी पहुंच गया है। कहीं मेरे पुत्रों में वहां भी यह परस्पर झगड़ा कराकर उनको नष्ट न कर दे,

क्योंकि मेरे पुत्र तो बड़े ही सरलप्रकृति वाले हैं और यह बड़ा ही कुटिल है ॥३०॥

इति श्रीमहाभारत स्त्रीपर्वान्तर्गत स्त्रीविलापपर्व में गान्धारी के विलाप के वर्णन का चौबीसवां अध्याय समाप्त हो गया।

पच्चीसवां अध्याय

गान्धार्युवाच—काम्बोजं पश्य दुर्धर्षं काम्बोजास्तरणोचितम्

शयानमृषभस्कन्धं हतं पांसुषु माधव ॥१॥

यस्य क्षतजसन्दिग्धौ बाहू चन्दनभूषितौ ।

अवेक्ष्य करुणं भार्या विलपत्यतिदुःखिता ॥२॥

गान्धारी बोली—हे माधव ! काम्बोज देश के अत्यन्त उत्तम विस्तरों पर सोने वाले दुर्धर्ष वृषभ के समान स्कन्धों वाले, मृत होकर मिट्टी में लगे हुए इस काम्बोजाधिपति राजा सुदक्षिण को देखो-इसकी भुजा, चन्दन से विभूषित होकर रक्त में भीगी हुई हैं। इस दृश्य को देखकर इसकी स्त्री भी अत्यन्त दुःखयुक्त होकर बड़े करुणस्वर में चिल्लाती हुई कहती हैं ॥१-२॥

इमौ तौ परिघप्रख्यौ बाहू शुभतलाङ्गुली ।

ययोर्विवरमापन्नां न रतिर्मां पुराऽजहात् ॥३॥

हे नाथ ! ये वे ही परिघ (घन) के समान विशाल, शुभकरतल और अंगुलिवाली, भुजा हैं, जिनके घेरे (शिकञ्जे) में फँसकर मुझे पूर्वकाल में अत्यन्त रति होती थी ॥३॥

कां गतिं तु गमिष्यामि त्वया हीना जनेश्वरः ।
हतबन्धुरनाथा च वेपन्ति मधुरस्वरा ॥४॥

हे जनेश्वर ! मेरे साथी आपके मारे जाने से मैं अनाथ हो गई, अब न जाने आगे मैं तुमसे हीन होकर किस गति को प्राप्त होऊँगी। हे कृष्ण ! यह कांपती २ कितने मधुर स्वर में रो रही है।

आतपे क्लाम्यमानानां विविधामिव स्रजाम् ।
क्लान्तानामपि नारीणां न श्रीर्जहति वै तनूः ॥५॥

आतप में मुरझाई हुई वहुत सी मालाओं की तरह यद्यपि ये वहुत सी स्त्रियां मुरझा गई हैं, परन्तु इनकी शरीरकान्ति अभी तक फीकी नहीं पड़ी है ॥५॥

शयानमभितः शूरं कालिङ्गं मधुसूदन ।
पश्य दीप्तांगदयुगप्रतिनद्धमहाभुजम् ॥६॥

हे मधुसूदन ! तुम कलिङ्गराज को भी देखो ? जो शूरवीरों के मध्य में पड़ा है। इसकी दोनों भुजाओं में चमकीले सुवर्ण निर्मित अङ्गदपड़े हैं-तुम इसकी ओर तनिक देखो ॥६॥

मागधानामधिपतिं जयत्सेनं जनार्दन ।
आवार्य सर्वतः पत्न्यः प्ररुदन्त्यः सुविह्वलाः ॥७॥

हे जनार्दन! यह मगध देश का अधिपति जयत्सेन है, जिस को सब ओर से घेरकर उसकी स्त्रियां व्याकुलता के साथ रो रही हैं ॥७॥

आसामायतनेत्राणां सुस्वराणां जनार्दन।

मनः श्रुतिहरो नादो मनो मोहयतीव मे ॥८॥

हे जनार्दन! इन विशाल नेत्रों वाली स्त्रियों के सुस्वर की झंकार, मन और कानों को खैंच लेने वाली हैं, जिसको सुनकर मेरा मन मोहित हो जाता है ॥८॥

प्रकीर्णवस्त्राभरणा रुदत्यः शोककर्शिताः।

स्वास्तीर्णशयनोपेता मागध्यः शेरते भुवि ॥९॥

इनके वस्त्र आभरण बिखर गए हैं और ये शोक से आतुर होकर रो रही हैं। जो उत्तम बिस्तर युक्त शय्या पर सोने योग्य थीं, वे मगधराज की स्त्रियां भूमि में लेट रहीं हैं ॥९॥

कोसलानामधिपतिं राजपुत्रं बृहद्बलम्।

भर्तारं परिवार्यैताः पृथक् प्ररुदिताः स्त्रियः ॥१०॥

यह कोशलदेश का अधिपति, राजकुल में उत्पन्न बृहद्बल है, उस अपने पति को घेरकर उसकी भार्याएँ पृथक् २ स्पष्ट रोती श्रान्त हो रही हैं ॥१०॥

अस्य गात्रगतान् बाणान् कार्ष्णिबाहुबलार्पितान्।

उद्धरन्त्यसुखाविष्टा मूर्च्छमानाः पुनः पुनः ॥११॥

अर्जुनपुत्र अभिमन्यु की भुजाओं से निकले हुए बाण, इसके शरीर में जड़े हुए हैं, जिनको क्लेशातुर हुई ये स्त्रियां निकाल रही हैं और बार २ मूर्च्छित होती जाती हैं ॥११॥

आसां सर्वानवद्यानामातपेन परिश्रमात् ।
प्रम्लाननलिनाभानि भान्ति वक्त्राणि माधव ॥

हे माधव ! सर्वाङ्गसुन्दरी इन स्त्रियों के मुख, धूप और परिश्रम से मुरझाए हुए कमल के समान प्रतीत होते हैं ॥१२॥

द्रोणेन निहताः शूराः शेरते रुचिराङ्गदाः ।
धृष्टद्युम्नसुताः सर्वे शिशवो हेममालिनः ॥१३॥

सुन्दर २ अङ्गदधारी, द्रोणाचार्य से मारे हुए शूरवीर, सुवर्ण माला पहिने हुए धृष्टद्युम्न के युवा पुत्रों को देखो ? जो रणभूमि में पड़े हैं ॥१३॥

रथाग्न्यगारं चापार्चिं शरशक्तिगदेन्धनम् ।
द्रोणमासाद्य निर्दग्धाः शलभा इव पावकम् ॥१४॥

द्रोणाचार्य का रथ तो अग्निशाला, उसका धनुष अग्नि ज्वाला के बाण, शक्ति और गदा इन्धन हैं। इस प्रकार से प्रज्वलित द्रोणाचार्य रूपी अग्नि में ये धृष्टद्युम्न के पुत्र पतङ्ग की भांति भस्म हो गए ॥१४॥

तथैव निहताः शूराः शेरते रुचिराङ्गदाः ।
द्रोणेनाभिमुखाः सर्वे भ्रातरः पञ्च केकयाः ॥१५॥

ये रुचिर अङ्गदधारी, शूरवीर, पांचों भ्राता केकयराज है, जो द्रोणाचार्य के सन्मुख युद्ध करके मारे हुए रणाङ्गण में पड़े हैं ॥१५॥

तप्तकाञ्चनवर्माणस्तालध्वजरथव्रजाः ।

भासयन्ति महीं भासा ज्वलिता इव पावकाः ॥१६॥

इनके कवच बड़े सुन्दर और इनके रथ तालध्वजा से सुशोभित थे। ये अपनी कान्ति से पृथिवी को ऐसे प्रदीप्त कर रहे हैं, जैसे जाज्वल्यमान अग्नि, प्रदीप्त कर रहा हो। १६॥

द्रोणेन द्रुपदं संख्ये पश्य माधव पातितम् ।

महाद्विपमिवारण्ये सिंहेन महता हतम् ॥१७॥

हे माधव ! यह देखो ? द्रोणाचार्य ने इस द्रुपद को युद्ध में इस तरह मार गिराया है, जैसे महागज को वन में शक्तिशाली हाथी ने मार गिराया हो ॥१७॥

पाञ्चालराज्ञो विमलं पुण्डरीकाक्ष पाण्डुरम् ।

आतपत्रं समाभाति शरदीव निशाकरः ॥१८॥

हे पुण्डरीकाक्ष ! यह पाञ्चालराज द्रुपद का निर्मल श्वेत छत्र है, जो पड़ा हुआ शरद् ऋतु के चन्द्रमा के तुल्य सुशोभित दिखाई देता है ॥१८॥

एतास्तु द्रुपदं वृद्धं स्नुषा भार्याश्च दुःखिताः ।

दग्ध्वा गच्छन्ति पाञ्चाल्यं राजानमपसव्यतः ॥१९॥

ये द्रुपद की स्त्रियां और पुत्रवधू, दुःखी हुई पाञ्चालराज वृद्ध द्रुपद को भस्म करके उसकी दायीं ओर से जा रही हैं ॥१९॥

धृष्टकेतुं महात्मानं चेदिपुङ्गवमङ्गनाः ।
द्रोणेन निहतं शूरं हरन्ति हृतचेतसः ॥२०॥

चित्त को हरने वाली चेदिराज की स्त्रियां, द्रोण द्वारा मारे हुए, शूरवीर महात्मा चेदिराज धृष्टकेतु को लेजा रही हैं ॥२०॥

द्रोणास्त्रमभिहत्यैव विमर्दे मधुसूदन ।
महेष्वासो हतः शेते नद्या हृत इव द्रुमः ॥२१॥

हे मधुसूदन ! इस घोर युद्ध में इस वीर ने द्रोणाचार्य के अस्त्रों को विफल कर दिया था। अन्त में यह महाधनुर्धर भी नदी से तोड़े हुए वृक्ष की भांति रणभूमि में गिर गया ॥२१॥

एष चेदिपतिः शूरो धृष्टकेतुर्महारथः ।
शेते विनिहतः संख्ये हत्वा शत्रून् सहस्रशः ॥२२॥

इस महारथी, चेदिपति, धृष्टकेतु ने सहस्रों की संख्या में शत्रु शूर मार गिराए और अन्त में स्वयं भी मारा जाकर आज रणभूमि में पड़ा है ॥२२॥

वितुद्यमानं विहगैस्तं भार्याः पर्युपाश्रिताः ।
चेदिराजं हृषिकेश हतं सबलबान्धवम् ॥२३॥

हे हृषिकेश ! चेदिराज धृष्टकेतु अपनी सेना और बन्धु बान्धवों से सहित मारा गया। अब पक्षी उसको नोंच रहे हैं, और उनकी स्त्रियां उनके समीप खड़ी २ उनको उड़ाने की चेष्टा कर रही हैं ॥२३॥

दाशार्हपुत्रजं वीरं शयानं सत्यविक्रमम् ।
आरोप्याङ्के रुदन्त्येताश्चेदिराजवराङ्गनाः ॥२४॥

हे दशार्हवंशश्रेष्ठ ! कृष्ण ! यह सत्यपराक्रमी धृष्टकेतु दशार्हवंशोद्भव कन्या से उत्पन्न है। आज रणभूमि में सोते हुए इस चेदिराज वीर को इसकी सुन्दर स्त्रियां अपनी अङ्क में रख कर रो रही हैं ॥२४॥

अस्य पुत्रं हृषीकेश सुवक्त्रं चारुकुण्डलम् ।
द्रोणेन समरे पश्य निकृत्तं बहुधा शरैः ॥२५॥

हे हृषीकेश ! राजा धृष्टकेतु का पुत्र रुचिर कुण्डल धारी और सुन्दर मुखवाला है। इसको भी बहुत से बाणों से रण में द्रोणाचार्य ने काट गिराया है ॥२५॥

पितरं नूनमाजिस्थं युध्यमानं परैः सह ।
नाजहात्पितरं वीरमद्यापि मधुसूदन ॥२६॥

हे मधुसूदन ! जब इसके पिता राजा धृष्टकेतु, शत्रुओं से युद्ध करते हुए अपने पिता का साथ नहीं छोड़ते थे-वह प्रिय पुत्र आज भी अपने पिता के साथ रणभूमि में पड़ा हुआ उसका साथ नहीं छोड़ रहा है ॥२६॥

एवं ममापि पुत्रस्य पुत्रः पितरमन्वगात् ।
दुर्योधनं महाबाहो लक्ष्मणः परवीरहा ॥२७॥

हे महाबाहो ! इसी तरह मेरे पुत्र दुर्योधन का पुत्र शत्रुनाशक लक्ष्मण भी अपने पिता के साथ ही चल रहा है ॥२७॥

विन्दानुविन्दावावन्त्यौ पतितौ पश्य माधव ।
हिमान्ते पुष्पितौ शालौ मरुता गलिताविव ॥२८॥

हे माधव ! ये विन्दानुविन्द नामक दो अवन्ती राजकुमार हैं, जो ऋतु में वायु द्वारा गिराए हुए पुष्पों, से लदे हुए वृक्षों की भांति, रणाङ्गण में पड़े हैं-तुम इनकी ओर देखो।

काञ्चनाङ्गदवर्माणौ बाणखड्गधनुर्धरौ ।
ऋषभप्रतिरूपाक्षौ शयानौ विमलस्रजौ ॥२९॥

इनके सुवर्ण के अङ्गद और कवच हैं। ये बाण, धनुष और खड्गधारी, वृषभ के समान पुष्टनेत्र वाले हैं। उत्तम माला पहने हुए ये दोनों अवन्ती राजकुमार आज रण में सदा के लिए सोगए।

अवध्याः पाण्डवाः कृष्ण सर्व एव त्वया सह।
ये मुक्ता द्रोणभीष्माभ्यां कर्णाद्वैकर्तनात्कृपात् ॥३०॥
दुर्योधनाद् द्रोणसुतात्सैन्धवाच्च जयद्रथात् ।
सोमदत्ताद्विकर्णाच्च शूराच्च कृतवर्मणः ॥३१॥
ये हन्युः शस्त्रवेगेन देवानपि नरर्षभाः ।
त इमे निहताः संख्ये पश्य कालस्य पर्ययम् ॥३२॥

हे कृष्ण ! अब हमको पता लग गया कि तुम और ये सारे पाण्डव, किसी से भी नहीं मारे जा सकते, जो द्रोण, भीष्म, सूर्य-पुत्र कर्ण, कृपाचार्य, दुर्योधन, द्रोणसुत अश्वत्थामा, सिन्धुराज जयद्रथ, सोमदत्त, विकर्ण और शूरवीर कृतवर्मा से भी बच

निकले। ये पुरुषप्रवीर तो अपने शस्त्र के वेग से देवों को भी मार सकते थे। ये भी आज युद्ध में मारे गए-ये काल की विपरीत गति का दृश्य है ॥३२॥

नातिभारोऽस्ति दैवस्य ध्रुवं माधव कश्चन।
यदिमे निहताः शूराः क्षत्रियैः क्षत्रियर्षभाः ॥३३॥

हे माधव ! दैव को किसी बात का कुछ भी भय नहीं है, जो क्षत्रियवीरों द्वारा इन जैसे क्षत्रियवीरों को भी मरवा डलवाया।

तदैव निहताः कृष्ण मम पुत्रास्तरस्विनः।
यदैवाकृतकामस्त्वमुपप्लव्यं गतः पुनः ॥३४॥

हे कृष्ण ! मेरे वेगशाली पुत्र तो उसी समय मारे गए समझने चाहिए, जब आप सन्धि को आकर भी अकृतार्थ होकर वापिस पाण्डवों के उपप्लव्य (छावनी) नगर को लौट गए।

शन्तनोश्चैव पुत्रेण प्राज्ञेन विदुरेण च।
तदैवोक्ताऽस्मि मा स्नेहं कुरुष्वात्मसुतेष्विति ॥३५॥

मुझ से तो शान्तनु-पुत्र भीष्म और बुद्धिमान् महात्मा विदुर ने उसी समय कहा था, कि तुम अपने पुत्रों में अधिक स्नेह न बढ़ाओ।

तयोर्हि दर्शनं नैतन्मिथ्या भवितुमर्हति।
अचिरेणैव मे पुत्रा भस्मीभूता जनार्दन ॥३६॥

हे जनार्दन ! उनका यह भविष्यदर्शन मिथ्या कैसे हो सकता था। थोड़ा ही समय लगा कि मेरे सारे पुत्र; भस्मीभूत हो गए।

वैशम्पायन उवाच—

इत्युक्त्वा न्यपतद्भूमौ गान्धारी शोकमूर्च्छिता ।

दुःखोपहतविज्ञाना धैर्यमुत्सृज्य भारत ॥३७॥

वैशम्पायन बोले—हे भारत ! इतना कह कर गान्धारी शोक से व्याकुल होकर मूर्च्छित हो गई । उसको अब धैर्य न रहा, उसका सारा ज्ञान, शोक से छिन्न-भिन्न हो गया ॥३७॥

ततः कोपपरीताङ्गी पुत्रशोकपरिप्लुता ।

जगाम शौरिं दोषेण गान्धारी व्यथितेन्द्रिया ॥३८॥

इस समय गान्धारी को क्रोध चढ़ा हुआ था, वह पुत्र शोक से व्याकुल थी । इसकी सारी इन्द्रियां अपना काम करने में असमर्थ थी, इससे वह सारा दोष श्रीकृष्ण को ही दे रही थी ।

गान्धार्युवाच—पाण्डवा धार्त्तराष्ट्रश्च दग्धाः कृष्ण परस्परम्

उपेक्षिता विनश्यन्तस्त्वया कस्माज्जनार्दन ॥३९॥

हे कृष्ण ! पाण्डव और धार्तराष्ट्र, दोनों ही परस्पर युद्ध करके मर गए, परन्तु हे जनार्दन ! तुमने उनके नाश की कैसे उपेक्षा की ॥३९॥

शक्तेन बहुभृत्येन विपुले तिष्ठता बले ।

उभयत्र समर्थेन श्रुतवाक्येन चैव ह ॥४०॥

इच्छतोपेक्षितो नाशः कुरूणां मधुसूदन ।

यस्मात्त्वया महाबाहो फलं तस्मादवाप्नुहि ॥४१॥

पतिशुश्रूषया यन्मे तपः किंचिदुपार्जितम् ।
तेन त्वां दुरवापेन शप्स्ये चक्रगदाधरम् ॥४२॥

तुम तो शक्तिशाली, बहुत सेवकों से युक्त और विपुल बल-शाली थे। तुम्हारी दोनों ओर शक्ति चलती थी। तुम शास्त्र की व्याख्या से भी सबके समझाने में समर्थ थे। हे मधुसूदन ! आपने तो यह कुरुवंश के नाश की जान बूझ कर उपेक्षा की है। हे महाबाहो ! यह सब कुछ तुम्हारे कारण से हुआ-इसका तुम अब फल पाओगे। यदि मैंने पति की सेवा से कुछ तप का उपार्जन किया है, तो मैं उसी दुर्लभ तप के द्वारा तुम चक्र और गदा-धारी कृष्ण को आज शाप देती हूं ॥४०-४२॥

यस्मात्परस्परं घ्नन्तो ज्ञातयः कुरुपाण्डवाः ।
उपेक्षितास्ते गोविन्द तस्माज्ज्ञातीन्वधिष्यसि ॥४३॥

हे गोविन्द ! तुमने परस्पर लड़ते हुए बन्धुभूत कौरव और पाण्डवों की उपेक्षा की, इससे तुम्हारे कुल के नाश की भी तुम उपेक्षा करोगे ॥४३॥

त्वमप्युपस्थिते वर्षे षट्त्रिंशे मधुसूदन ।
हतज्ञातिर्हतामात्यो हतपुत्रो वनेचरः ॥४४॥
अनाथवदविज्ञातो लोकेष्वनभिलक्षितः ।
कुत्सितेनाभ्युपायेन निधनं समवाप्स्यसि ॥४५॥

हे मधुसूदन ! आज के छत्तीस वर्ष के बाद, तुम्हारे भी ज्ञातिबन्धु, अमात्य, पुत्र आदि मारे जावेंगे। लोग तुमको देख भी

नहीं पावेंगे। तुम सबसे छुपकर वन में अनाथ की भांति पहुंच जाओगे। वहां पर कुत्सित बाण से तुम मारे जाओगे ॥४४ ४५॥

तवाप्येवं हतसुता निहतज्ञातिबान्धवाः ।
स्त्रियः परिपतिष्यन्ति तथैता भरतस्त्रियः ॥४६॥

हे कृष्ण! जिस तरह ये भरतवंश की स्त्रियां आज सन्ताप कर २ के पछाड़ खा रही हैं, इसी तरह तुम्हारी स्त्रियां भी अपने पुत्र और बन्धु-बान्धव आदि से हीन होकर रोदन करेंगी ॥४५॥

वैशम्पायन उवाच—

तच्छ्रुत्वा वचनं घोरं वासुदेवो महामनाः ।
उवाच देवीं गान्धारीमीषदभ्युत्स्मयन्निव ॥४७॥

वैशम्पायन बोले—हे राजन्! महामनस्वी वसुदेव-पुत्र श्रीकृष्ण गान्धारी के ये वचन सुनकर कुछ मुसकुराते हुए उससे यों कहने लगे ॥४७॥

जानेऽहमेतदप्येवं चीर्णं चरसि क्षत्रिये ।
दैवादेव विनश्यन्ति वृष्णयो नात्र संशयः ॥४८॥

हे राजकन्ये! मैं यह सब कुछ जानता हूं। तुम तो मैं जो जानता हूं-उसी को जता रही हो और उसी का शाप दे रही हो। अब वृष्णिवंश का नाश दैव को भी अभीष्ट है, इसी से तुम ऐसा कहती हो-इसमें सन्देह नहीं है ॥४८॥

संहर्ता वृष्णिचक्रस्य नान्यो मद्विद्यते शुभे ।
अवध्यास्ते नरैरन्यैरपि वा देवदानवैः ॥४९॥
परस्परकृतं नाशं यतः प्राप्स्यन्ति यादवाः ।

हे भद्रे ! इस वृष्णिवंश का संहार करने वाला मेरे सिवा अन्य कौन हो सकता है अर्थात् मेरी उपेक्षा ही -इनके नाश का कारण होगी-अन्यथा ये तो अन्य मनुष्य या किसी देव और दानवों से भी नहीं मारे जा सकते हैं। अब तो यही प्रतीत होता है, कि यादव लोग भी परस्पर युद्ध करके ही नाश को प्राप्त होंगे।

इत्युक्तवति दाशार्हे पाण्डवास्त्रस्तचेतसः ॥
बभूवुर्भृशसंविग्ना निराशाश्चापि जीविते ॥५०॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां
स्त्रीपर्वणि स्त्रीविलापपर्वणि गांधारीशापदाने
पंचविंशोऽध्यायः ॥२५॥

जब दशार्हवंशश्रेष्ठ, श्रीकृष्ण ने इतना कहा-तो पाण्डव बहुत घबड़ाए। उनका चित्त व्याकुल हो उठा। वे इतने उद्विग्न हुए कि उनको अपने जीवन में निराशा हो गई ॥५५॥

इति श्रीमहाभारत स्त्रीपर्वान्तर्गत स्त्रीविलापपर्व में गान्धारी का श्रीकृष्ण को शाप देने का पचीसवां अध्याय समाप्त हुआ और यहीं पर स्त्रीविलापपर्व भी समाप्त हो गया।

अथ श्राद्धपर्व



छब्बीसवाँ अध्याय

श्रीभगवानुवाच—

उत्तिष्ठोत्तिष्ठ गान्धारि मा च शोके मनः कृथा ।
तथैव ह्यपराधेन कुरवो निधनं गताः ॥१॥

श्रीकृष्ण कहने लगे—हे गान्धारी! अब तुम उठो और मन में शोक न करो। यह तो तुम ही लोगों के अपराध से कौरव नष्ट हुए हैं ॥१॥

यस्त्वं पुत्रं दुरात्मानमीर्षुमन्तमानिनम् ।
दुर्योधनं पुरस्कृत्य दुष्कृतं साधु मन्यसे ॥२॥
निष्ठुरं वैरपुरुषं वृद्धानां शासनातिगम् ।
कथमात्मकृतं दोषं मय्याधातुमिहेच्छसि ॥३॥

तुम्हारा पुत्र राजा दुर्योधन, बड़ा अभिमानी, ईर्ष्या करने वाला, दुरात्मा था। तुम लोग, उसी को आगे करके दुष्कर्मों को सुकर्म समझ कर करते रहे। वह तो बड़ा कठोर वैर की मूर्ति और वृद्ध पुरुषों के शासन का अतिक्रमण करने वाला था। तुम लोग स्वयं तो अपराध करती हो और उसको मुझ पर थोपना चाहती हो ॥२-३॥

मृतं वा यदि वा नष्टं योऽतीतमनुशोचति ।
दुःखेन लभते दुःखं द्वावनर्थौ प्रपद्यते ॥४॥

मृत या खोई हुई या व्यतीत हुई बात का जो सोच करता वह पहले दुःख के साथ फिर और दुःख उठाता है । इस तरह उसको दुगुना दुःख उठाना पड़ता है ॥४॥

तपोर्थीयं ब्राह्मणी धत्त गर्भं गौर्वोढारं धावितारं तुरङ्गी ।
शूद्रा दासं पशुपालं च वैश्या वधार्थीयं त्वद्विधा राजपुत्री

सच्ची ब्राह्मणी तप करने, गौ भार ढ़ोहने, घोड़ी दौड़ने, शूद्रा दास वृत्ति करने, वैश्या पशु पालने को पुत्र उत्पन्न करती है, इसी तरह तुम जैसी राज-पुत्री क्षत्राणी, अपना पुत्र रण में मरने के लिए ही उत्पन्न करती हैं ॥५॥

वैशम्पायन उवाच—

तच्छ्रुत्वा वासुदेवस्य पुनरुक्तं वचोऽप्रियम् ।
तूष्णीं बभूव गान्धारी शोकव्याकुललोचना ॥६॥

वैशम्पायन बोले—हे राजन् ! इस तरह वसुदेव-पुत्र श्रीकृष्ण के अप्रिय वचन सुनकर शोक से व्याकुल चित्त गान्धारी चुप हो गई ॥६॥

धृतराष्ट्रस्तु राजर्षिर्निगृह्याबुद्धिजं तमः ।
पर्यपृच्छत धर्मज्ञो धर्मराजं युधिष्ठिरम् ॥७॥

धर्मज्ञाता, राजा धृतराष्ट्र भी अपने अज्ञान से उत्पन्न अन्धकार को रोक कर धर्मराज युधिष्ठिर से पूछने लगा ॥७॥

जीवतां परिमाणज्ञः सैन्यानामसि पाण्डव ।
हतानां यदि जानीषे परिमाणं वदस्व मे ॥८॥

हे पाण्डव ! तुम सेनाओं की शेष संख्या को जानते हो और मृत सेना की संख्या को भी जानते होगे-इनका परिमाण मुझे बताओ ॥८॥

युधिष्ठिर उवाच- दशायुतानामयुतं सहस्राणि च विंशतिः ।
कोटयः षष्टिश्च षट् चैव ह्यस्मिन् राजन् मृधे हतः ॥

धर्मराज कहने लगे—हे राजन् ! इस युद्ध में छियासठ करोड़, एक लाख तीस हजार, सेना मारी गई ॥६॥

अलक्षितानां वीराणां सहस्राणि चतुर्दश ।
दश चान्यानि राजेन्द्र शतं षष्टिश्च पञ्च च ॥१०॥

हे राजेन्द्र ! जिन वीरों की कोई पहचान भी नहीं कर सका-ऐसे वीर भी चौबीस हजार एक सौ पैंसठ होंगे ॥१०॥

धृतराष्ट्र उवाच—युधिष्ठिर गतिं कां ते गताः पुरुषसत्तम ।
आचक्ष्व मे महाबाहो सर्वज्ञो ह्यसि मे मतः ॥११॥

हे पुरुषसत्तम ! युधिष्ठिर ! इन वीरों को कौन गति प्राप्त हुई । हे महाबाहो ! तुम मुझे यह बताओ, क्योंकि तुम सर्वज्ञ हो ॥११॥

युधिष्ठिर उवाच-यैर्हुतानि शरीराणि हृष्टैः परमसंयुगे ।
देवराजसमाँल्लोकान् गतास्ते सत्यविक्रमाः ॥१२॥
ये त्वहृष्टेन मनसा मर्तव्यमिति भारत ।
युद्ध्यमाना हताः संख्ये गन्धर्वैः सह सङ्गताः ॥१३॥

धर्मराज बोले—हे राजन ! जिन वीरों ने बड़ी प्रसन्नता से अपने २ शरीर इस युद्ध की बलि वेदी में स्वाहा कर दिए, वे सत्यपराक्रमी इन्द्र के समान योग्य लोकों को प्राप्त हुए। हे भारत ! परन्तु जिन्होंने मरना है-ऐसा समझकर विना प्रसन्नता के इस युद्ध में प्राण दिए-वे गन्धर्व लोक में पहुंचे होंगे ॥१२-१३॥

ये च संग्रामभूमिष्ठा याचमानाः पराङ्मुखाः।
शस्त्रेण निधनं प्राप्ता गतास्ते गुह्यकान्प्रति ॥१४॥

हे राजन ! जो संग्राम भूमि में स्थित होकर भी प्राणभिक्षा मांगते हुए युद्ध में पराङ्मुख हो गए, परन्तु फिर भी शस्त्र से मारे गए-वे यक्षलोक में पहुंचे ॥१४॥

पात्यमानाः परैर्ये तु हीयमाना निरायुधाः।
ह्रीनिषेवा महात्मानः परानभिमुखा रणे ॥१५॥
छिद्यमानाः शितैः शस्त्रैः क्षत्रधर्मपरायणाः।
गतास्ते ब्रह्मसदनं न मेऽत्रास्ति विचारणा ॥१६॥

हे महाराज ! जिन वीरों को शत्रुओं ने गिरा दिया और वे सब साधनों से हीन होकर निरायुध भी हो गए। वे महावीर यद्यपि लज्जित थे, तो भी रण में शत्रुओं के साथ फिर झपट लेने की चेष्टा कर रहे थे, वे क्षत्रिय-धर्म-परायण वीर, तीक्ष्ण शस्त्रों से कट कर ब्रह्मलोक में गए-इसमें सन्देह नहीं है ॥१५-१६॥

ये त्वत्र निहताः राजन्नन्तरायोधनं प्रति।
यथा कथञ्चित्पुरुषास्ते गतास्तूत्तरान् कुरून् ॥१७॥

हे राजन् ! युद्धभूमि के मध्य में ही जो किसी प्रकार से भागते भूगते मारे गए- वे वीर, उत्तर कुरु देश में जन्म लेंगे ॥१७॥

धृतराष्ट्र उवाच—केन ज्ञानबलेनैवं पुत्र पश्यसि सिद्धवत् ।
तन्मे वद महाबाहो श्रोतव्यं यदि वै मया ॥१८॥

धृतराष्ट्र ने कहा—हे महाबाहो पुत्र ! तुम यह सब कुछ किस ज्ञान के बल से जानते हो। यदि मुझे बता सकते हो-तो बताओ।

युधिष्ठिर उवाच—निदेशाद्भवतः पूर्वं वने विचरता मया ।
तीर्थयात्राप्रसङ्गेन संप्राप्तोऽयमनुग्रहः ॥१९॥
देवर्षिर्लोमशो दृष्टस्ततः प्राप्तोऽस्म्यनुस्मृतिम् ।
दिव्यं चक्षुरपि प्राप्तं ज्ञानयोगेन वै पुरा ॥२०॥

धर्मराज कहने लगे—हे राजन् ! मैं जब आपकी आज्ञा से वन में घूम रहा था, तब तीर्थयात्रा के प्रसङ्ग में मुझे लोमश ऋषि मिल गए। उनकी कृपा से ही यह बात उपलब्ध हुई है। मुझे सब कुछ पिछला स्मरण और ज्ञानयोग के साथ दिव्य चक्षु भी प्राप्त किए ॥१९-२०॥

धृतराष्ट्र उवाच—अनाथानां जनानां च सनाथानां च भारत
कच्चित्तेषां शरीराणि धक्ष्यसे विधिपूर्वकम् ॥२१॥
न येषामस्ति संस्कर्ता न च येऽत्राहिताग्नयः ।
वयं च कस्य कुर्यामो बहुत्वात्तात कर्मणाम् ॥२२॥
यान्सुपर्णाश्च गृध्राश्च विकर्षन्ति यतस्ततः ।
तेषां तु कर्मणा लोका भविष्यन्ति युधिष्ठिर ॥२३॥

धृतराष्ट्र बोले—हे भारत ! अब तुम अनाथ सनाथ, सारे वीरों के शरीरों का दाहसंस्कार विधि-पूर्वक करोगे ही, जिनके कोई संस्कार करने वाले नहीं बचे और न जो आहिताग्नि (नित्य हवन करने वाले) हैं। हे तात ! हम लोग तो किसी भी कर्मशील का संस्कार नहीं कर सकते हैं, क्योंकि उनकी संख्या भी बहुत अधिक है। हे युधिष्ठिर ! जिन लोगों को चील, गीध, इधर उधर खैंच ले गए-उनको तो अपने कर्मों के अनुसार स्वयं उत्तम लोकों की प्राप्ति हो ही जावेगी ॥२१-२३॥

वैशम्पायन उवाच—

एवमुक्तो महाराज कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ।
आदिदेश सुधर्माणं धौम्यं सूतं च सञ्जयम् ॥२४॥
विदुरं च महाबुद्धिं युयुत्सुं चैव कौरवम् ।
इन्द्रसेनमुखांश्चैव भृत्यान् सूतांश्च सर्वशः ॥२५॥
भवन्तः कारयन्त्वेषां प्रेतकार्याण्यशेषतः ।
यथा चानाथवत्किञ्चिच्छरीरं न विनश्यति ॥२६॥

वैशम्पायन बोले—हे महाराज ! जब राजा धृतराष्ट्र ने इतना कहा—तो कुन्ती-पुत्र राजा युधिष्ठिर ने कौरव पुरोहित सुधर्मा, पाण्डव पुरोहित धौम्य, सूतवंशोद्भव सञ्जय, महाबुद्धिमान विदुर, कुरुवंशोत्पन्न युयुत्सु, इन्द्रसेन आदि सारथि, नौकर, अन्य सारथि आदि को आज्ञा दी, कि तुम लोग, इन सबके यथाशक्ति प्रेत कार्य करवावो, जिससे किसी का भी शरीर अनाथ की तरह पड़ा न रह जावे ॥२४-२६॥

शासनाद्धर्मराजस्य क्षत्ता सूतश्च सञ्जयः ।
सुधर्मा धौम्यसहित इन्द्रसेनादयस्तथा ॥२७॥
चन्दनागुरुकाष्ठानि तथा कालीयकान्युत ।
घृतं तैलं च गन्धांश्च क्षौमाणि वसनानि च ॥२८॥
समाहृत्य महार्हाणि दारूणां चैव सञ्चयान् ।
रथांश्च मृदितांस्तत्र नानाप्रहरणानि च ॥२९॥
चिताः कृत्वा प्रयत्नेन यथा मुख्यान्नराधिपान् ।
दाहयामासुरव्यग्राः शास्त्रदृष्टेनकर्मणा ॥३०॥

हे राजन्! धर्मराज की आज्ञा से विदुर, सञ्जय, सुधर्म, धौम्य और इन्द्रसेन आदि सारथियों ने चन्दन, अगर, काष्ठ, कालीयक, (काष्ठविशेष) घृत, तेल, सुगन्धि द्रव्य बहुत से मूल्य वाले रेशमी वस्त्र इकट्ठे किए। बहुत तरह की लकड़ी इकट्ठी हो गई। बहुत से रथ वहां टूटे पड़े थे, अनेक काष्ठ के बैंसे वाले शस्त्र थे, इन सबकी प्रयत्न-पूर्वक चिता बनवाई गई, जैसा राजा था, उसकी वैसी ही चिता बनी। इन धौम्य आदि महानुभावों ने बिना किसी घबराहट के शास्त्रविधि के अनुसार सबको फूंक फांक दिया ॥२७-३०॥

दुर्योधनं च राजानं भ्रातृंश्चास्य शताधिकान् ।
शल्यं शलं च राजानं भूरिश्रवसमेव च ॥३१॥
जयद्रथं च राजानमभिमन्युं च भारत ।
दौःशासनिं लक्ष्मणं च धृष्टकेतुं च पार्थिवम् ॥३२॥

बृहन्तं सोमदत्तं च सृञ्जयांश्च शताधिकान् ।
राजानं क्षेमधन्वानं विराटद्रुपदौ तथा ॥३३॥
शिखण्डिनं च पाञ्चाल्यं धृष्टद्युम्नं च पार्षतम् ।
युधामन्युं च विक्रान्तमुत्तमौजसमेव च ॥३४॥
कौसल्यं द्रौपदेयांश्च शकुनिं चापि सौबलम् ।
अचलं वृषकं चैव भगदत्तं च पार्थिवम् ॥३५॥
कर्णं वैकर्तनं चैव सहपुत्रममर्षणम् ।
केकयांश्च महेष्वासांस्त्रिगर्तांश्च महारथान् ॥३६॥
घटोत्कचं राक्षसेन्द्रं बकभ्रातरमेव च ।
अलम्बुषं राक्षसेन्द्रं जलसन्धं च पार्थिवम् ॥३७॥
एतांश्चान्यांश्च सुबहून्पार्थिवांश्च सहस्रशः ।
घृतधाराहुतैर्दीप्तैः पावकैः समदाहयन् ॥३८॥

हे भारत ! राजा दुर्योधन, इन सौ भ्राता, शल्य, शल, राजा भूरिश्रवा, राजा जयद्रथ, अभिमन्यु, दुःशासन-पुत्र, दुर्योधन-पुत्र लक्ष्मण, राजा धृष्टकेतु, बृहन्त, सोमदत्त, सैंकड़ों सृञ्जय, राजा क्षेमधन्वा, विराट, द्रुपद, शिखण्डी, पाञ्चालकुमार धृष्टद्युम्न, महापराक्रमी युधामन्यु, उत्तमौजा, कोसलराज, द्रौपदी-पुत्र, सुबल-पुत्र शकुनि, अचल, वृषक, राजा भगदत्त, पुत्रसहित असहिष्णु राजा कर्ण, महाधनुर्धर कैकयकुमार, महारथी त्रिगर्त वीर, राक्षसराज घटोत्कच, बक भ्राता राक्षसराज अलम्बुष

राजा जलसन्ध आदि क्षत्रियवीर तथा अन्य भी बहुत से राजाओं को प्रदीप्त घृत धाराओं के साथ अग्नि में भस्म कर दिया गया ॥३१-३८॥

पितृमेधाश्च केषाश्चित्प्रवर्तन्त महात्मनाम् ।
सामभिश्चाप्यगायन्त तेऽन्वशोचन्त चापरैः ॥३६॥

हे राजन् ! बहुत से महात्मा वीर राजाओं के पितृमेध नामक संस्कार किए गए। सामवेद का गान किया गया और अन्य राजाओं के साथ उनका बड़ा ही शोक मनाया गया ॥३६॥

साम्नामृचां च नादेन स्त्रीणां च रुदितस्वनैः ।
कश्मलं सर्वभूतानां निशायां समपद्यत ॥४०॥

सामवेद के नाद और स्त्रियों के रोने की ध्वनि से उस रात में सब प्राणियों के चित्त में बहुत ही उद्विग्नता रही ॥४०॥

ते विधूमाः प्रदीप्ताश्च दीप्यमानाश्च पावकाः ।
नभसीवान्वदृश्यन्त ग्रहास्तन्वभ्रसंवृताः ॥४१॥

वे धूमहीन, प्रदीप्त जाज्वल्यमान चिता की ज्वालाएँ, इस तरह दिखाई देने लगी-जैसे पतले बादलों में बड़े २ चमकीले ग्रह दिखाते हैं ॥४१॥

ये चाप्यनाथास्तत्रासन्नानादेशसमागताः ।
तांश्च सर्वान्समानाय्य राशीन्कृत्वा सहस्रशः ॥४२॥
चित्वा दारुभिरव्यग्रैः प्रभूतैः स्नेहपाचितैः ।
दाहयामास तान्सर्वान्विदुरो राजशासनात् ॥४३॥

जो अनेक देशों से बिना साथियों के आए थे या किसी का कोई साथी बच न पाया था, उन सहस्रों अनाथों को एक ही स्थान पर इकट्ठा किया गया। उनकी भी उत्तम काष्ठों से चिता चुनवाई गई और बहुत सा घृत डाला गया। राजा युधिष्ठिर की आज्ञा से महात्मा विदुर ने उन सबको भस्म करवा दिया ॥४२-४३॥

कारयित्वा क्रियास्तेषां कुरुराजो युधिष्ठिरः।
धृतराष्ट्रं पुरस्कृत्य गङ्गामभिमुखोऽगमत् ॥४४॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां श्राद्धपर्वणि कुरूणामौर्ध्वदेहिके षड्विंशोऽध्यायः ॥२६॥

इस प्रकार सबकी क्रिया करवा कर धर्मराज युधिष्ठिर, राजा धृतराष्ट्र को साथ लेकर गङ्गा की ओर चल दिए ॥४४॥

इति श्रीमहाभारत स्त्रीपर्वान्तर्गत श्राद्धपर्व में कौरवों की पारलौकिक क्रिया के वर्णन का छब्बीसवां अध्याय समाप्त हुआ

सत्ताईसवां अध्याय

वैशम्पायन उवाच—

ते समासाद्य गङ्गां तु शिवां पुण्यजलोचिताम्।
ह्रदिनीं च प्रसन्नां च महारूपां महाबलाम् ॥१॥
भूषणान्युत्तरीयाणि वेष्टनान्यवमुच्य च।
ततः पितृणां भ्रातॄणां पौत्राणां स्वजनस्य च ॥२॥

पुत्राणामार्यकाणां च पतीनां च कुरुस्त्रियः ।
उदकं चक्रिरे सर्वा रुदत्यो भृश दुःखिताः ॥३॥

वैशम्पायन बोले—हे भरतर्षभ ! अब ये सारे बन्धु बान्धव, पवित्र और कल्याण करने वाली, महारूपधारिणी, शक्तिशालिनी स्वच्छ गङ्गा नदी पर पहुंचे । वहां उन धर्मराज आदि वीरों ने अपने २ भूषण, दुपट्टे, पगड़ी, आदि वस्त्र उतार दिए । इसके बाद, इन लोगों ने अपने पिता, भ्राता, पौत्र, स्वजन और आर्यवीरों को जलाञ्जलि प्रदान की । कौरवस्त्रियों ने अपने अपने पति को जल प्रदान किया और इस समय बड़ी ही कातर होकर रोना आरम्भ किया ॥१-३॥

सुहृदां चापि धर्मज्ञाः प्रचक्रुः सलिलक्रियाः ।
उदके क्रियमाणे तु वीराणां वीरपत्निभिः ॥४॥
सूपतीर्थाभवद्गङ्गा भूयो विप्रससार च ।

इन धर्मात्मा युधिष्ठिर आदि ने अपने २ मित्रों की क्रिया समाप्त की । जब ये वीरों की वीरपत्नी उदक दान क... तो गङ्गा उनके निकलने के निमित्त स्वच्छ रूप में बहने लगी और फिर वेग के साथ प्रवाहित हुई ॥४॥

तन्महोदधिसङ्काशं निरानन्दमनुत्सवम् ॥५॥
वीरपत्नीभिराकीर्णं गंगातीरमशोभत ।

हे राजन् ! समुद्र के समान सुशोभित, आनन्द और उत्सव से शून्य गङ्गा तट पर वीरवधू कौरवस्त्रियां निकल कर खड़ी हो गईं ॥५॥

ततः कुन्ती महाराज सहसा शोककर्शिता ॥६॥
रुदती मन्दया वाचा पुत्रान्वचनमब्रवीत् ।

हे महाराज ! अब शोकातुर कुन्ती एकदम रोने लगी और वह अपने पुत्रों से धीरे २ इस प्रकार बोली ॥६॥

यः स वीरो महेष्वासो रथयूथपयूथपः ॥७॥
अर्जुनेन जितः संख्ये वीरलक्षणलक्षितः ।
यं सूतपुत्रं मन्यध्वं राधेयमिति पाण्डवाः ॥८॥
यो व्यराजच्चमूमध्ये दिवाकर इव प्रभुः ।
प्रत्ययुध्यत वः सर्वान्पुरा यः सपदानुगान् ॥९॥
दुर्योधनबलं सर्वं य प्रकर्षन् व्यरोचत ।
यस्य नास्ति समो वीर्ये पृथिव्यामपि पार्थिवः ॥१०॥
योऽवृणीत यशः शूरः प्राणैरपि सदा भुवि ।
कर्णस्य सत्यसन्धस्य संग्रामेष्वपलायिनः ॥११॥
कुरुध्वमुदकं तस्य भ्रातुरक्लिष्टकर्मणः ।
स हि वः पूर्वजो भ्राता भास्करान्मय्यजायत ॥१२॥
कुण्डली कवची शूरो दिवाकरसमप्रभः ।

हे पाण्डवो ! जो महाधनुर्धर, रथसेना का यूथपति और वीर लक्षणों से लक्षित था। जिसको अर्जुन ने संग्राम में जीत लिया। जिसको तुम सूत-पुत्र या राधा-पुत्र मानते थे, जो महारथी सेना के मध्य में सूर्य की भांति चमकता था, जिसने सेना सहित

तुम सब लोगों से वीरता के साथ युद्ध किया, जो राजा दुर्योधन की सेना का नेतृत्व करके उसके साथ चलता हुआ बड़ा ही सुशोभित होता था, जिसके समान पराक्रमी पृथिवी पर कोई शूरवीर नहीं था। जिस महापराक्रमी ने सदा प्राणों की अपेक्षा (परवा) न करके यश की ही आकांक्षा की युद्ध में पीछे नहीं हटने वाले, सत्यपराक्रमी, वीरकर्म करने वाले उसी अपने भ्राता कर्ण की तुम उदकक्रिया करो। यह तुम्हारा सबसे बड़ा भाई था और सूर्य द्वारा मुझ में उत्पन्न हुआ था। उसके जन्म से ही शरीर में कवच और कानों में कुण्डल थे। यह वीर कर्ण, सूर्य के समान कान्तिमान् था ॥७-१२॥

श्रुत्वा तु पाण्डवाः सर्वे मातुर्वचनमप्रियम् ॥१३॥
कर्णमेवानुशोचन्तो भृयः क्लान्ततराऽभवन् ।

हे राजन्! सारे पाण्डव अपनी माता कुन्ती के ये अप्रिय वचन सुनकर बड़े दुःखी हुए और वे महारथी कर्ण का बहुत ही शोक करने लगे ॥१३॥

ततः स पुरुषव्याघ्रः कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ॥१४॥
उवाच मातरं वीरो निःश्वसन्निव पन्नगः ।

इसके अनन्तर पुरुषश्रेष्ठ, कुन्ती-पुत्र राजा युधिष्ठिर, सर्प की तरह लम्बे २ श्वास लेते हुए कहने लगे ॥१४॥

यः शिरोर्मिर्ध्वजावर्तो महाभुजमहाग्रहः ॥१५॥
तलशब्दानुनादितो महारथमहाह्रदः ।

यस्येषुपातमासाद्य नान्यस्तिष्ठेद्धनञ्जयात् ॥१६॥
कथं पुत्रो भवत्याः स देवगर्भः पुराऽभवत् ।

हे भारत ! कर्ण के बाण तरङ्गों के समान थे, उसकी ध्वजा आवर्त के तुल्य थी। उसकी बड़ी २ भुजाएँ बड़े जलग्राह थे। इसकी करतलध्वनि समुद्रध्वनि थी। इसके महारथ बड़े २ ह्रद थे। इस तरह कर्ण बल का समुद्र था। उसके बाण की झपट में आया हुआ कोई भी वीर बच नहीं पाता था। केवल अर्जुन ही कर्ण का झटका झेलता था। हे माता ! यह कर्ण, किस तरह आपके गर्भ में सूर्यदेव द्वारा प्राप्त हुआ ॥१५-१६॥

यस्य बाहुप्रतापेन तापिताः सर्वतो वयम् ॥१७॥
तमग्निमिव वस्त्रेण कथं छादितवत्यसि ।

हम लोगों को जिसके बाहुप्रताप ने एकदम सन्तापित कर दिया, उसको तुमने अग्नि को वस्त्र की तरह किस लिए अब तक छुपाए रखा ॥१७॥

यस्य बाहुबलं नित्यं धार्तराष्ट्रैरुपासितम् ॥१८॥
उपासितं यथाऽस्माभिर्बलं गाण्डीवधन्वनः ।

जिस तरह हम लोग गाण्डीवधारी अर्जुन के बल का आश्रय पाए हुए थे, उसी तरह धृतराष्ट्र-पुत्र दुर्योधन को कर्ण के बाहुबल का नित्य सहारा था ॥१८॥

भूमिपानां च सर्वेषां बलं बलवतां वरः ॥१९॥
नान्यं कुन्तीसुतात्कर्णादगृह्णाद्रथिनां रथी ।

रथियों में महारथी, बलवानों में श्रेष्ठ, कोई ऐसा वीर कुन्ती-पुत्र कर्ण को छोड़कर नहीं था, जो सारे राजाओं की बलवान सेना को एकदम रोक देवे ॥१६॥

स नः प्रथमजो भ्राता सर्वशस्त्रभृतां वरः ॥२०॥
असूत तं भवत्यग्रे कथमद्भुतविक्रमम् ।

सारे शस्त्रधारियों में श्रेष्ठ, महारथी कर्ण हमारा सबसे बड़ा भ्राता था। आपने पूर्वकाल में इस अद्भुतपराक्रमी वीर को किस तरह देवों से उत्पन्न किया ॥२०॥

अहो भवत्या मंत्रस्य गूहनेन वयं हताः ॥२१॥
निधनेन हि कर्णस्य पीडितास्तु सबान्धवाः ।

हे माता ! तुमने तो अपनी बात किसी कारण से छुपाई रखी और इस छुपाने से हम लोग मारे गए। महारथी कर्ण के मरने से हम बान्धवों के सहित अत्यन्त पीड़ित हैं ॥२१॥

अभिमन्योर्विनाशेन द्रौपदेयवधेन च ॥२२॥
पाञ्चालानां विनाशेन कुरूणां पतनेन च ।
ततः शतगुणं दुःखमिदं मामस्पृशद्भृशम् ॥२३॥
कर्णमेवानुशोचामि दह्याम्यग्नाविवाहितः ।

हे माता ! यद्यपि हम लोग, अभिमन्यु, द्रौपदी-पुत्र तथा पञ्चालों के विनाश से प्रथम ही बहुत क्लेशित थे; परन्तु उससे भी सौ गुणा यह दुःख उपस्थित हो गया, जो कर्ण, हमारा बड़ा भ्राता निकल पड़ा ॥२२-२३

नेह स्म किंचिदप्राप्यं भवेदपि दिवि स्थितम् ॥२४॥
न चेदं वैशसं घोरं कौरवान्तकरं भवेत् ।

अब तो मुझे कर्ण का इतना सन्ताप हो रहा है, जैसे मैं अग्नि में पड़ा हुआ जल रहा होऊं। हमको यदि यह बात पूर्व में ज्ञात होती, तो यह घोर विनाशकारी युद्ध नहीं होता। हम लोगों को इस लोक या स्वर्गलोक में कुछ भी दुर्लभ नहीं था ॥२४॥

एवं विलप्य बहुलं धर्मराजो युधिष्ठिरः ॥२५॥
व्यरुदच्छनकै राजंश्चकारास्योदकं प्रभुः ।

हे राजन्! धर्मराज राजा युधिष्ठिर, इस प्रकार कह करके धीरे २ रोने लगे और फिर उन्होंने उसकी श्राद्धादि क्रिया की।

ततो विनेदुः सहसा स्त्रियस्ताः खलु सर्वशः ॥२६॥
अभितो या स्थितास्तत्र तस्मिन्नुदककर्मणि ।

हे राजन्! जब धर्मराज राजा युधिष्ठिर, जलाञ्जलि देने लगे, तो सब ओर स्थित कर्ण की स्त्रियों में करुण स्वर में रोदन का शब्द एकदम गूंज उठा ॥२६॥

तत आनाययामास कर्णस्य सपरिच्छदाः ॥२७॥
स्त्रियः कुरुपतिर्धीमान् भ्रातुः प्रेम्णा युधिष्ठिरः ।
स ताभिः सह धर्मात्मा प्रेतकृत्यमनन्तरम् ॥२८॥
चकार विधिवद्धीमान्धर्मराजो युधिष्ठिरः ।

इसके बाद कुरुपति बुद्धिमान् राजा युधिष्ठिर, अपने भ्राता कर्ण के प्रेम से उनकी सारी स्त्रियों को उनके परिवार के सहित अपने साथ ले आए। इन स्त्रियों के साथ धर्मात्मा महा बुद्धिमान्

राजा युधिष्ठिर ने विधि-पूर्वक अपने भ्राता कर्ण की प्रेत-क्रिया की ॥२७-२८॥

पापेनासौ मम श्रेष्ठो भ्राता ज्ञातिर्निपातितः ॥२६॥
अतो मनसि यद् गुह्यं स्त्रीणां तन्न भविष्यति ।

कुन्ती के मन के पाप के कारण ही मैंने अपना बन्धुभूत (भ्राता) कर्ण मार गिराया । अब से आगे स्त्रियों के मन में कोई भी बात गुप्त नहीं रहा करेगी ॥२६॥

इत्युक्त्वा स तु गङ्गाया उत्ततारकुलेन्द्रियः ।
भ्रातृभिः सहितः सर्वैर्गङ्गातीरमुपेयिवान् ॥३०॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां स्त्रीपर्वणि स्त्रीविलापपर्वणि कर्णगूढजत्वकथने सप्तविंशोऽध्यायः ॥२७॥

समाप्तमिदं स्त्रीपर्व ।

इस प्रकार कहते हुए बड़े व्याकुलचित्त धर्मराज युधिष्ठिर, गङ्गा नदी से बाहर आए और वहां आकर वे अपने भ्राताओं के सहित गङ्गा तट पर बैठ गए ॥३०॥

इति श्रीमहाभारत स्त्रीपर्वान्तर्गत स्त्रीविलापपर्व में कर्ण की उत्पत्ति के वर्णन का सत्ताईसवां अध्याय समाप्त हुआ और यहीं पर स्त्रीपर्व भी समाप्त हो गया ।

अतःपरं शांतिपर्व भविष्यति



श्रीमहर्षिव्यासप्रणीतम् ।

महाभारत



शान्तिपर्व

पहिला अध्याय

श्रीगणेशाय नमः श्रीवेदव्यासाय नमः ।
नारायणं नमस्कृत्य नरं चैव नरोत्तमम् ।
देवीं सरस्वतीं चैव ततो जयमुदीरयेत् ॥

वैशम्पायन उवाच– कृतोदकास्ते सुहृदां सर्वेषां पाण्डुनन्दनाः ।
विदुरो धृतराष्ट्रश्च सर्वाश्च भरतस्त्रियः ॥१॥
तत्र ते सुमहात्मानो न्यवसन्पाण्डुनन्दनाः ।
शौचं निर्वर्तयिष्यन्तो मासमात्रं बहिः पुरात् ॥२॥

वैशम्पायन बोले—हे जनमेजय ! युधिष्ठिर आदि पाण्डव, महात्मा विदुर, राजा धृतराष्ट्र और सारी कौरवकुल की स्त्रियों ने

अपने २ सम्बन्धियों की जलदान की क्रिया समाप्त की। महात्मा पाण्डव अपने आशौच की निवृत्ति के लिए सबके साथ एक महीने तक नगर के बाहर रहते रहे ॥१-२॥

कृतोदकं तु राजानं धर्मपुत्रं युधिष्ठिरम् ।
अभिजग्मुर्महात्मानः सिद्धा ब्रह्मर्षिसत्तमाः ॥३॥
द्वैपायनो नारदश्च देवलश्च महानृषिः ।
देवस्थानश्च कण्वश्च तेषां शिष्याश्च सत्तमाः ॥४॥
अन्ये च वेदविद्वांसः कृतप्रज्ञा द्विजातयः ।
गृहस्थाः स्नातकाः सन्तो ददृशुः कुरुसत्तमम् ॥५॥
तेऽभिगम्य महात्मानः पूजिताश्च यथाविधि ।
आसनेषु महार्हेषु विविशुस्ते महर्षयः ॥६॥

जब धर्म-पुत्र राजा युधिष्ठिर, उदकक्रिया से निवृत्त हो चुके, तो उनके पास बड़े २ महात्मा, सिद्ध, महर्षि, पहुंचे। जिनमें द्वैपायन व्यास, नारद, महर्षि देवल, देवस्थान, कण्व और उनके बड़े २ उत्तम शिष्य, बहुत से वेद के विद्वान् अनुभवी सज्जन ब्राह्मण, गृहस्थी, स्नातक, धर्मराज के पास पहुंचे। ज्योंही ये महात्मा वहां पहुंचे, धर्मराज ने उनकी विधि-पूर्वक पूजा की। इसके बाद ये महर्षि अमूल्य आसनों पर स्थित हो गए ॥३-६॥

प्रतिगृह्य ततः पूजां तत्कालसदृशीं तदा ।
पर्युपासन्यथान्यायं परिवार्य युधिष्ठिरम् ॥७॥

उस समय के योग्य धर्मराज से पूजा प्राप्त करके ये लोग, राजा युधिष्ठिर को घेर कर न्यायानुकूल स्थित हुए ॥७॥

पुण्ये भागीरथीतीरे शोकव्याकुलचेतसम् ।
आश्वासयन्तो राजानं विप्राः शतसहस्रशः ॥८॥

इन सैंकड़ों सहस्रों ब्राह्मणों ने भागीरथी गङ्गा के तट पर स्थित, शोकातुर चित्त राजा युधिष्ठिर को बहुत कुछ सान्त्वना दी।

नारदस्त्वब्रवीत्काले धर्मपुत्रं युधिष्ठिरम् ।
सम्भाष्य मुनिभिः सार्धं कृष्णद्वैपायनादिभिः ॥९॥

इस समय महर्षि नारद ने धर्म-पुत्र राजा युधिष्ठिर से कृष्ण-द्वैपायन आदि मुनियों की सम्मति से यह वचन कहा ॥९॥

भवता बाहुवीर्येण प्रसादान्माधवस्य च ।
जितेयमवनिः कृत्स्ना धर्मेण च युधिष्ठिर ॥१०॥

हे युधिष्ठिर ! आपने अपने बाहुबल और श्रीकृष्ण के अनुग्रह से धर्म-पूर्वक इस पृथिवी की विजय की है ॥१०॥

दिष्ट्या मुक्तस्तु सँग्रामादस्माल्लोकभयङ्करात् ।
क्षत्रधर्मरतश्चापि कच्चिन्मोदसि पाण्डव ॥११॥

हे पाण्डव ! यह बड़े हर्ष की बात हुई, कि इस लोकभयङ्कर युद्ध से तुम सुरक्षित बचे चले गए । अब क्षत्रिय धर्मानुकूल आचरण करने से तुम प्रसन्न तो हो ॥११॥

कच्चिच्च निहतामित्रः प्रीणासि सुहृदो नृप ।
कच्चिच्छ्रियमिमां प्राप्य न त्वां शोकः प्रबाधते ॥

हे नृप ! तुम्हारे शत्रु मारे जा चुके-अब तुम अपने सुहृदों को प्रसन्न करने का विचार कर रहे होगे । तुमको यह राज्यलक्ष्मी तो प्राप्त हुई, परन्तु इसमें घोर खून खच्चर हुआ, इसका तुमको शोक तो नहीं है ॥१२॥

युधिष्ठिर उवाच- विजितेयं मही कृत्स्ना कृष्णबाहुबलाश्रयात्
ब्राह्मणानां प्रसादेन भीमार्जुनबलेन च ॥१३॥
इदं मम महद्दुःखं वर्तते हृदि नित्यदा ।
कृत्वा ज्ञातिक्षयमिमं महान्तं लोभकारितम् ॥१४॥
सौभद्रं द्रौपदेयांश्च घातयित्वा सुतान् प्रियान् ।
जयोऽयमजयाकारो भगवन्प्रतिभाति मे ॥१५॥

राजा युधिष्ठिर ने कहा—हे मुनियो ! मैंने श्रीकृष्ण की भुजाओं के बल के आश्रय, ब्राह्मणों के अनुग्रह, भीम और अर्जुन के पराक्रम से यद्यपि यह सारी पृथिवी जीत ली, परन्तु मेरे मन में सर्वदा यह महादुःख चक्कर लगाता रहता है, कि मैंने लोभ के वश में यह महान् ज्ञातिवध कर डाला । इसी तरह सुभद्रा-पुत्र अभिमन्यु और अन्य द्रौपदी-पुत्रों को मरवा डाला । हे भगवन् ! यह मेरी विजय मुझे तो पराजय प्रतीत हो रही है ।

किं नु वक्ष्यात वार्ष्णेयी वधूर्मे मधुसूदनम् ।
द्वारकावासिनी कृष्णमितः प्रतिगतं हरिम् ॥१६॥

हे प्रभो ! वृष्णिवंशनन्दिनी मेरी भ्रातृ वधू, सुभद्रा, यहां से श्रीकृष्ण के द्वारका जाने पर द्वारका में रहतीहुई उससे क्या कहेगी ।

द्रौपदी हतपुत्रेयं कृपणा हतबान्धवा ।
अस्मत्प्रियहिते युक्ता भूयः पीडयतीव माम् ॥१७॥

द्रौपदी के पुत्र और बन्धु बान्धव सारे मारे गए, जो हमारे प्रिय करने में लगे हुए थे, उस तपस्विनी का स्मरण तो मुझे बहुत ही व्याकुल कर रहा है ॥१७॥

इदमन्यत्तु भगवन् यत्त्वां वक्ष्यामि नारद ।
मंत्रसंवरणेनास्मि कुन्त्या दुःखेन योजितः ॥१८॥

हे भगवन ! नारद ! यह एक अन्य बात तुमसे कह रहा हूं । कि मेरी माता कुन्ती ने अपने किसी रहस्य से एक घटना छुपाए रखी, जिसका ज्ञान होने से तो मुझे बहुत ही दुःख हो रहा है ॥१८॥

यः स नागयुतबलो लोकेऽप्रतिरथो रणे ।
सिंहखेलगतिर्धीमान् घृणी दाता यतव्रतः ॥१९॥
आश्रयो धार्तराष्ट्राणां मानी तीक्ष्णपराक्रमः ।
अमर्षी नित्यसंरंभी क्षेप्ताऽस्माकं रणे रणे ॥२०॥
शीघ्रास्त्रश्चित्रयोधी च कृती चाद्भुतविक्रमः ।
गूढोत्पन्नः सुतः कुन्त्या भ्रातास्माकमसौ किल ॥
तोयकर्मणि तं कुन्ती कथयामास सूर्यजम् ।

जो कर्ण दश सहस्र हाथियों के बल से सम्पन्न, जगत् में अप्रतिहत रथ से घूमने वाला, रण में सिंह के तुल्य सञ्चारी, बुद्धिमान्, दयाशील, उदार, दानी, व्रतशाली, धृतराष्ट्र-पुत्र राजा दुर्योधनादि

का आश्रयभूत, अभिमानी, तीक्ष्ण पराक्रमी, आवेशयुक्त, नित्य वीरभाव में भरा हुआ, प्रत्येक रण में हमको हटा देने वाला, शीघ्र अस्त्र चलाने में समर्थ, विचित्रयोधी, अस्त्रकुशल, अद्भुत पराक्रमी, गुप्तरीति से उत्पन्न महारथी कुन्तीपुत्र और हमारा भ्राता था। जब हमलोग, पितरों को जलदान करने लगे-तो हमको कुन्ती ने बताया, कि वह सूर्य से उत्पन्न मेरा ही पुत्र था॥

पुत्रं सर्वगुणोपेतमवकीर्णं जले पुरा ॥२२॥
मञ्जूषायां समाधाय गङ्गास्रोतस्यमज्जयत् ।
यं सूतपुत्रं लोकोऽयं राधेयं चाभ्यमन्यत ॥२३॥
स ज्येष्ठपुत्रः कुन्त्या वै भ्राताऽस्माकं च ।
अजानता मया भ्रात्रा राज्यलुब्धेन पातितः ॥२४॥
तन्मे दहति गात्राणि तूलराशिमिवानलः ।

इस प्रकार के सर्वगुणों से युक्त पुत्र को उत्पन्न होते ही कुन्ती ने पिटारी में रखकर जल में प्रवाहित कर दिया। जिससे लोग उसे सूतपुत्र और राधापुत्र मानते रहे। यह कर्ण इस तरह हमारी माता कुन्ती का जेष्ठ पुत्र और हमारा मा का जाया सगा भाई था। मैं यह नहीं जानता था, कि यह हमारा भ्राता है, मैंने राज्य के लोभ से उसे मार गिराया। यह बात मेरे शरीर को, इस तरह दग्ध कर रही है, जैसे अग्नि रुई की ढेरी को जला रही हो ॥२४॥

न हि तं वेद पार्थोऽपि भ्रातरं श्वेतवाहनः ॥२५॥
नाहं न भीमो न यमौ स त्वस्मान्वेद सुव्रतः ।

श्वेत अश्वों के वाहन वाला, अर्जुन भीम, नकुल सहदेव और मैं स्वयं भी इस भ्रातापने के रहस्य को नहीं जानता था और न यह व्रतधारी कर्ण ही इस बात को जाने हुए था ॥२६॥

गता किल पृथा तस्य सकाशमिति नः श्रुतम् ॥
अस्माकं शमकामा वै त्वं च पुत्रो ममेत्यथ ।
पृथाया न कृतः कामस्तेन चापि महात्मना ॥२७॥
अपि पश्चादिदं मातर्यवोचदिति नः श्रुतम् ।
न हि शक्याम्यहं त्यक्तुं नृपं दुर्योधनं रणे ॥२८॥
अनार्यत्वं नृशंसत्वं कृतघ्नत्वं च मे भवेत् ।
युधिष्ठिरेण सन्धिं हि यदि कुर्यां मते तव ॥२९॥
भीतो रणे श्वेतवाहादिति मां मंस्यते जनः ।
सोऽहं निर्जित्य समरे विजयं सहकेशवम् ॥३०॥
सन्धास्ये धर्मपुत्रेण पश्चादिति च सोऽब्रवीत् ।

मैंने तो अब सुना है, कि कुन्ती सन्धि के निमित्त महारथी कर्ण के समीप गई थी, कि तुम भी मेरे पुत्र हो। उस महावीर ने कुन्ती की अभिलाषा पूर्ण नहीं की। उसने अपनी माता कुन्ती से यह वचन कहा-जो हमने अब पीछे सुना है। हे मात! मैं इस युद्ध के उपस्थित होने पर अब राजा दुर्योधन को नहीं छोड़ सकता हूं, इससे मेरा अनार्यपन, नीचता और कृतघ्नता प्रकट होगी। यदि मैं तुम्हारे कहने से राजा युधिष्ठिर से सन्धि करलूँ-तो लोग मुझे यह समझेंगे, कि यह श्वेतवाहनधारी अर्जुन से डर गया।

मैं प्रथम श्रीकृष्ण सहित अर्जुन को जीत लूँ, इसके पश्चात धर्मराज से सन्धि कर लूँगा-यह निश्चय समझो ॥२६-३०॥

तमुवाच किल पृथा पुनः पृथुलवक्षसम् ॥३१॥
चतुर्णामभयं देहि कामं युध्यस्व फाल्गुनम् ।

इसके अनन्तर पुष्ट वक्षस्थलधारी महारथी कर्ण से कुन्ती ने कहा, कि तुम मेरे चारों पुत्रों को अभय दान दे दो और अपनी इच्छानुसार अर्जुन से घोर युद्ध करो ॥३१॥

सोऽब्रवीन्मातरं धीमान् वेपमानां कृताञ्जलिः ॥३२॥
प्राप्तान् विषह्यांश्चतुरो न हनिष्यामि ते सुतान् ।

उस महाबुद्धिमान कर्ण ने काँपती हुई कुन्ती से हाथ जोड़कर कहा—हे माता ! यदि तेरे ये चार पुत्र मेरे वश में भी पड़ जावेंगे, तो भी उनको नहीं मारूँगा ॥३२॥

यश्चैव हि सुता देवि भविष्यन्ति तव ध्रुवाः ॥३३॥
सार्जुना वा हते कर्णे सकर्णा वा हतेऽर्जुने ।

हे देवि ! तुम्हारे तो पांच बेटे बचे रह जाने हैं। यदि मुझ कर्ण को मार लिया गया-तो अर्जुन सहित तेरे पांच बेटे होंगे और अर्जुन के मारे जाने पर कर्ण सहित तेरे पांच बेटे रह जावेंगे।

तं पुत्रगृद्धिनी भूयो माता पुत्रमथाब्रवीत् ॥३४॥
भ्रातृणां स्वस्ति कुर्वीथा येषां स्वस्ति चिकीर्षसि ।

पुत्र के प्रेम में फंसी हुई माता कुन्ती फिर कर्ण से बोली—हे कर्ण ! तुम जिन भ्राताओं को सुरक्षित बचाना चाहो-चलो ? उन्हें ही छोड़ देना ॥३४॥

एवमुक्त्वा किल पृथा विसृज्योपययौ गृहान् ॥३५॥
सोऽर्जुनेन हतो वीरो भ्रात्रा भ्राता सहोदरः ।

हे राजन! इतना कहकर माता कुन्ती महारथी कर्ण को छोड़कर अपने घर चली आईं। अर्जुन ने युद्ध के उपस्थित होने पर अपने सहोदर भाई को भाई होकर भी मार डाला ॥३५॥

न चैव विवृतो मंत्रः पृथायास्तस्य वा विभो ॥३६॥
अथ शूरो महेष्वासः पार्थेनाजौ निपातितः ।
अहं त्वज्ञासिषं पश्चात्स्वसोदर्यं द्विजोत्तम ॥३७॥
पूर्वजं भ्रातरं कर्णं पृथाया वचनात्प्रभो ।

हे द्विजोत्तम! हे विभो! यह कुन्ती और कर्ण का गुप्त रहस्य युद्ध के पूर्व खुल नहीं पाया और महाधनुर्धर, शूरवीर कर्ण, युद्ध में अर्जुन ने मार गिराया। मैंने तो अपनी माता कुन्ती के वचन से पीछे जाना, कि वह मेरा सहोदर ज्येष्ठ भ्राता था ॥३७॥

तेन मे दूयते तीव्रं हृदयं भ्रातृघातिनः ॥३८॥
कर्णार्जुनसहायोऽहं जयेयमपि वासवम् ।

हे महाभागो! इस घटना से मुझ भ्रातृघातक का हृदय बहुत ही तीव्र वेदना से युक्त हो रहा है। यदि कर्ण और अर्जुन दोनों ही मेरे सहायक रहे होते-तो मैं इन्द्र को भी जीतने में समर्थ हो जाता ॥३८॥

सभायां क्लिश्यमानस्य धार्तराष्ट्रैर्दुरात्मभिः ॥३९॥
सहसोत्पतितः क्रोधः कर्णं दृष्ट्वा प्रशाम्यति ।

जब दुरात्मा धृतराष्ट्र-पुत्र दुर्योधनादिकों से हम सभा में क्लेशित किए गए-तो हमारा क्रोध एकदम जागृत हो गया, परन्तु ज्योंही कर्ण को देखा, तो शान्त हो गया-इसमें सहोदर भाव ही कारण था ॥३६॥

यदा ह्यस्य गिरो रूक्षाः शृणोमि कटुकोदयाः ॥४०॥
सभायां गदतो द्यूते दुर्योधनहितैषिणः ।
तदा नश्यति मे रोषः पादौ तस्य निरीक्ष्य ह ॥४१॥

जब द्यूत के समय महारथी कर्ण ने कड़वी और रूखी दुर्योधन के हितपूर्ण बातें सभा में कही थी-तो उसको सुनकर सहसा कोप जागृत हुआ, परन्तु फिर कर्ण के चरणों को देखकर एकदम शान्त हो गया ॥४१॥

कुन्त्या हि सदृशौ पादौ कर्णस्येति मतिर्मम ।
सादृश्यहेतुमन्विच्छन् पृथायास्तस्य चैव ह ॥४२॥
कारणं नाधिगच्छामि कथंचिदपि चिन्तयन् ।

मैं यह सोचा करता था, कि कर्ण और कुन्ती के चरणों की बनावट समान सी दिखाई देती है-मैं इस सदृशता के कारण की बहुत ही खोज करता था, परन्तु बहुत कुछ सोचने पर भी मुझे इसके कारण का कुछ भी पता न लगता था-परन्तु आज उसका पता चल गया ॥४२॥

कथं नु तस्य संग्रामे पृथिवी चक्रमग्रसत् ॥४३॥
कथं नु शप्तो भ्राता मे तत्त्वं वक्तुमिहार्हसि ।

श्रोतुमिच्छामि भगवंस्त्वत्तः सर्वं यथातथम् ।
भवान्हि सर्वविद्विद्वाँल्लोके वेद कृताकृतम् ॥४४॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्या संहितायां वैयासिक्यां शांतिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि कर्णाभिज्ञाने प्रथमोऽध्यायः ॥१॥

हे महाभाग ! पृथिवी ने संग्राम में उसके रथ के चक्रों को कैसे ग्रस लिया और किस प्रकार उसे शाप हुआ-आप मुझे यह सब कुछ बताओ। हे भगवन् ! मैं आप से यह सब कुछ कथा ज्यों की त्यों सुनना चाहता हूं। आप सब कुछ जानने वाले पण्डित हैं तथा लोक की अच्छी बुरी रीति भी जानते हैं ॥४३-४४

इति श्रीमहाभारत शान्तिपर्वान्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्व में कर्ण के जानने के वर्णन का पहिला अध्याय समाप्त हुआ।



दूसरा अध्याय

वैशम्पायन उवाच—

स एवमुक्तस्तु मुनिर्नारदो वदतां वरः ।
कथयामास तत्सर्वं यथा शप्तः स सूतजः ॥१॥

वैशम्पायन बोले—हे राजन् ! जब धर्मराज ने इस तरह प्रश्न किया-तो महर्षि नारद ने वह सारी कथा सुनाई, जिस प्रकार महारथी कर्ण को वह शाप हुआ था ॥१॥

नारद उवाच—एवमेतन्महाबाहो यथा वदसि भारत ।

न कर्णार्जुनयोः किंचिदविषह्यं भवेद्रणे ॥२॥

नारद बोले—हे महाबाहो ! भारत ! जो तुम कह रहे हो-वह ठीक ही है । कर्ण और अर्जुन इन दो के मिल जाने पर रण में किसी का सामना करना कठिन नहीं रह जाता था ॥२॥

गुह्यमेतत्तु देवानां कथयिष्यामि तेऽनघ ।

तन्निबोध महाबाहो यथा वृत्तमिदं पुरा ॥३॥

हे अनघ ! जो बात मैं तुमको बताने चला हूं-यह बात देवों को भी ज्ञात नहीं है-हे महाबाहो ! मैं तुमको बताता हूं-तुम ध्यान से सुनो ॥३॥

क्षत्रं स्वर्गं कथं गच्छेच्छस्त्रपूतमिति प्रभो ।

संघर्षजननस्तस्मात्कन्यागर्भो विनिर्मितः ॥४॥

स बालस्तेजसा युक्तः सूतपुत्रत्वमागतः ।

चकारांगिरसः श्रेष्ठाद्धनुर्वेदं गुरोस्तदा ॥५॥

हे प्रभो ! देवों ने यह सोचकर कि अब सारा क्षत्रियसमूह युद्ध करके किस तरह स्वर्ग में पहुंच सकेगा-उसने कुन्ती के कन्यावस्था में ही गर्भ की रचना की, कि यह बालक उत्पन्न होकर इनमें संघर्ष उत्पन्न कर देगा । वही तेजस्वी बालक सूत-पुत्र कर्ण के नाम से प्रसिद्ध हुआ, जिसने अङ्गिरस-गोत्री द्रोणाचार्य से धनुर्वेद की शिक्षा प्राप्त की ॥४-५॥

स बलं भीमसेनस्य फाल्गुनस्य च लाघवम् ।
बुद्धिं च तव राजेन्द्र यमयोर्विनयं तदा ॥६॥
सख्यं च वासुदेवेन बाल्ये गांडीवधन्वनः ।
प्रजानामनुरागं च चिन्तयानो व्यदह्यत ॥७॥

हे राजेन्द्र! भीमसेन के बल, अर्जुन के लाघव, तुम्हारी बुद्धि, नकुल सहदेव की विनय, श्रीकृष्ण के साथ गाण्डीवधारी अर्जुन की बचपन की मित्रता, इनमें प्रजा के प्रेम को देखकर कर्ण सदा जलता रहता था ॥६-७॥

स सख्यमकरोद्बाल्ये राज्ञा दुर्योधनेन च ।
युष्माभिर्नित्यसंद्विष्टो दैवाच्चापि स्वभावतः ॥८॥

कर्ण ने भी बचपन में अपनी मित्रता राजा दुर्योधन से गांठ ली। वह आप लोगों से सर्वदा द्वेष करता था, इसमें दैवी प्रेरणा और उसका स्वभाव कारण था ॥८॥

वीर्याधिकमथालक्ष्य धनुर्वेदे धनञ्जयम् ।
द्रोणं रहस्युपागम्य कर्णो वचनमब्रवीत् ॥९॥
ब्रह्मास्त्रं वेत्तुमिच्छामि सरहस्यनिवर्तनम् ।
अर्जुनेन समं चाहं युध्येयमिति मे मतिः ॥१०॥

एक बार कर्ण धनुर्वेद में अर्जुन का पराक्रम अधिक देखकर एकान्त में द्रोणाचार्य के पास जाकर यह वचन बोला-हे भगवन्! मैं रहस्यों सहित ब्रह्मास्त्र सीखना चाहता हूं। छोड़ना, लौटाना

आप सब कुछ बताइए। मैं चाहता हूँ-कि मेरा युद्ध अर्जुन से हो जावे ॥९-१०॥

समः शिष्येषु वः स्नेहः पुत्रे चैव तथा ध्रुवम् ।
त्वत्प्रसादान्न मां ब्रूयुरकृतास्त्रं विचक्षणाः ॥११॥

हे महाभाग ! आपका स्नेह, पुत्र और सारे शिष्यों में समान ही है। अब आपकी कृपा हो जावे-तो वीर लोग यह न कह सकें कि कर्ण ब्रह्मास्त्र नहीं जानता है ॥११॥

द्रोणस्तथोक्तः कर्णेन सापेक्षा फाल्गुनं प्रति ।
दौरात्म्यं चैव कर्णस्य विदित्वा तमुवाच ह ॥१२॥

हे राजन ! जब कर्ण ने अर्जुन को ध्यान में रखकर स्पर्धा के साथ द्रोणाचार्य से यह बात कही-तो वे, कर्ण की द्वेषबुद्धि को जानकर कहने लगे ॥१२॥

ब्रह्मास्त्रं ब्राह्मणो विद्याद्यथावच्चरितव्रतः ।
क्षत्रियो वा तपस्वी यो नान्यो विद्यात्कथंचन ॥१३॥

हे कर्ण ! ब्रह्मास्त्र को तो यथावत् व्रत करने वाला ब्राह्मण या तपस्वी क्षत्रिय जान सकता है और कैसे उसके जानने में समर्थ हो सकता है ॥१३॥

इत्युक्तोऽङ्गिरसां श्रेष्ठमामंत्र्य प्रतिपूज्य च ।
जगाम सहसा रामं महेन्द्रं पर्वतं प्रति ॥१४॥
स तु राममुपागम्य शिरसाऽभिप्रणम्य च ।
ब्राह्मणो भार्गवोऽस्मीति गौरवेणाभ्यगच्छत ॥१५॥

जब आङ्गिरागोत्री द्रोणाचार्य ने इतना कहा-तो कर्ण उससे आज्ञा लेकर प्रणाम-पूर्वक चल दिया। उसने महेन्द्र पर्वत पर परशुराम के पास पहुंच कर शिर झुकाकर प्रणाम किया और गौरव के साथ कहा, कि मैं भृगुवंशी ब्राह्मण हूं ॥१४-१५॥

रामस्तं प्रतिजग्राह पृष्ट्वा गोत्रादि सर्वशः।
उष्यतां स्वागतं चेति प्रीतिमांश्चाभवद्भृशम् ॥१६॥

परशुराम ने भी उससे गोत्र आदि पूछ कर उसे शिष्यों में रहने की आज्ञा दी और कहा-तुम आनन्द से रहो, तुम्हारा स्वागत करता हूं। यह अपने ही कुल का समझ कर कर्ण पर बड़ा प्रसन्न हुआ ॥१६॥

तत्र कर्णस्य वसतो महेंद्रे स्वर्गसन्निभे।
गंधर्वै राक्षसैर्यक्षैर्देवैश्चासीत्समागमः ॥१७॥

कर्ण भी स्वर्ग समान दिव्य उस महेन्द्र पर्वत पर निवास करने लगा और वहां उसका गन्धर्व, राक्षस, यक्ष और देवों के साथ समागम होने लगा ॥१७॥

स तत्रेष्वस्त्रमकरोद् भृगुश्रेष्ठाद्यथाविधि।
प्रियश्चाभवदत्यर्थं देवदानवरक्षसाम् ॥१८॥

कर्ण ने भृगुवंशश्रेष्ठ परशुराम से यथाविधि अस्त्रविद्या सीखी। यह देव, दानव और राक्षस सब का अत्यन्त प्रिय हो रहा था ॥१८॥

स कदाचित्समुद्रान्ते विचरन्नाश्रमान्तिके ।
एकः खड्गधनुष्पाणिः परिचक्राम सूर्यजः ॥१९॥
सोऽग्निहोत्रप्रसक्तस्य कस्यचिद्ब्रह्मवादिनः ।
जघानाज्ञानतः पार्थ होमधेनुं यदृच्छया ॥२०॥

एक बार सूर्यपुत्र कर्ण आश्रम के समीप समुद्र तट पर घूम रहे थे, इनके हाथ में खड्ग और धनुष था। हे धर्मराज ! अग्निहोत्र करने वाले, किसी ब्रह्मवादी ब्राह्मण की कर्ण ने अज्ञान से अचानक होमधेनु मार डाली ॥१९-२०॥

तदज्ञानकृतं मत्वा ब्राह्मणाय न्यवेदयत् ।
कर्णः प्रसादयंश्चैनमिदमित्यब्रवीद्वचः ॥२१॥
अबुद्धिपूर्वं भगवन् धेनुरेषा हता तव ।
मया तत्र प्रसादं च कुरुष्वेति पुनः पुनः ॥२२॥
तं स विप्रोऽब्रवीत्क्रुद्धो वाचा निर्भर्त्सयन्निव ।
दुराचार वधार्हस्त्वं फलं प्राप्नुहि दुर्मते ॥२३॥
येन विस्पर्धसे नित्यं यदर्थं घटसेऽनिशम् ।
युध्यतस्तेन ते पाप भूमिश्चक्रं ग्रसिष्यति ॥२४॥

कर्ण ने अपने अज्ञान से उस गौ का वध करके ब्राह्मण से निवेदन कर दिया और उसको प्रसन्न करने को कहा-हे भगवन् ! मैंने अज्ञान से तुम्हारी गाय मार डाली, आप मेरे ऊपर अनुग्रह करें। इस प्रकार बार २ विनय-पूर्वक कर्ण ने ब्राह्मण से प्रार्थना की। ब्राह्मण कुपित हो गया और कर्ण को फटकारते हुए बोला-

हे दुर्मते ! दुराचारी ! तुम मार देने योग्य हो-इसका फल शीघ्र पाओगे। तुम जिससे स्पर्धा करते हो और जिसके साथ युद्ध के लिए यह तुम्हारा सारा प्रयत्न है। हे पापी ! जब तुम उससे युद्ध करोगे-तब भूमि तुम्हारे रथ के चक्र को पकड़ लेगी ॥२१-२४॥

ततश्चक्रे महीग्रस्ते मूर्धानं ते विचेतसः ।
पातयिष्यति विक्रम्य शत्रुर्गच्छ नराधम ॥२५॥

हे नराधम ! जब भूमि तेरे चक्रों को ग्रस लेगी-तो तू घबरा जावेगा और उसी घबराहट में तेरा शत्रु अपना पराक्रम दिखाकर तुझे मार गिरावेगा ॥२५॥

यथेयं गौर्हता मूढ प्रमत्तेन त्वया मम ।
प्रमत्तस्य तथाऽरातिः शिरस्ते पातयिष्यति ॥२६॥

हे मूढ़ ! जिस प्रकार उन्मत्तता के कारण तुमसे यह गौ मारी गई, उसी तरह प्रमत्त अवस्था में तेरा शत्रु अर्जुन तेरा मस्तक काट गिरावेगा ॥२६॥

शप्तः प्रसादयामास कर्णस्तं द्विजसत्तमम् ।
गोभिर्धनैश्च रत्नैश्च स चैनं पुनरब्रवीत् ॥२७॥
न हि मेऽव्याहृतं कुर्यात्सर्वलोकोऽपि केवलम् ।
गच्छ वा तिष्ठ वा यद्वा कार्यं ते तत्समाचर ॥२८॥

हे राजन् ! इस प्रकार शाप देने पर कर्ण ने उस ब्राह्मण को बहुत ही प्रसन्न किया-बहुत से धन, रत्न, गौ देनी चाही; परन्तु उसने कहा—कि मेरी कही हुई बात को सारा संसार नहीं उलट

सकता है, अब तुम जाओ या ठहरो अथवा जो काम हो उसे करो ॥२७-२८॥

इत्युक्तो ब्राह्मणेनाथ कर्णो दैन्यादधोमुखः ।
राममभ्यगमद्भीतस्तदेव मनसा स्मरन् ॥२९॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां शांतिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि कर्णशापो नाम द्वितीयोऽध्यायः ॥२॥

जब ब्राह्मण ने इतना कहा—तो कर्ण दीनता के साथ नीचे को मुख करके खड़ा हो गया। थोड़ी देर बाद वह इसी घटना पर पश्चात्ताप करता हुआ, परशुराम के पास गया ॥२९॥

इति श्रीमहाभारत शान्तिपर्वान्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्व में कर्ण को शाप होने का दूसरा अध्याय समाप्त हुआ।

तीसरा अध्याय

नारद उवाच—कर्णस्य बाहुवीर्येण प्रणयेन दमेन च ।
तुतोष भृगुशार्दूलो गुरुशुश्रूषया तथा ॥१॥
तस्मै स विधिवत्कृत्स्नं ब्रह्मास्त्रं संनिवर्तनम् ।
प्रोवाचाखिलमव्यग्रं तपस्वी तत्तपस्विने ॥२॥

नारद ने कहा—हे भरतर्षभ ! कर्ण के बाहुबल, प्रणय, जितेन्द्रियता और गुरुसेवा से भृगुवंशश्रेष्ठ बड़ा ही प्रसन्न हुआ।

तपस्वी कर्ण को सारा ब्रह्मास्त्र छोड़ने और संहार करने की विधि के अनुसार तपस्वी परशुराम ने विधि पूर्वक अच्छी तरह सिखा दिया ॥१-२॥

विदितास्त्रस्ततः कर्णो रममाणोऽऽश्रमे भृगोः ।
चकार वै धनुर्वेदे यत्नमद्भुतविक्रमः ॥३॥

जब ब्रह्मास्त्र की सारी विधि पूरी हो गई-तो अद्भुत पराक्रमी कर्ण धनुर्विद्या में और भी अभ्यास करता हुआ, भृगु के आश्रम में आनन्द-पूर्वक रहता रहा ॥३॥

ततः कदाचिद्रामस्तु चरन्नाश्रममन्तिकात् ।
कर्णेन सहितो धीमानुपवासेन कर्शितः ॥४॥

वहीं पर घूमते २ आश्रम के समीप बुद्धिमान्, परशुराम चले आए। कर्ण भी उनके साथ थे। ये उपवास से बहुत ही कृश हो रहे थे ॥४॥

सुष्वाप जामदग्न्यस्तु विश्रंभोत्पन्नसौहृदः ।
कर्णस्योत्संग आधाय शिरः क्लान्तमना गुरुः ॥५॥
अथ कृमिः श्लेष्ममेदोमांसशोणितभोजनः ।
दारुणो दारुणस्पर्शः कर्णस्याभ्याशमागतः ॥६॥
स तस्योरुमथासाद्य विभेद रुधिराशनः ।
न चैनमशकत्क्षेप्तुं हन्तुं वापि गुरोर्भयात् ॥७॥

हे राजन् ! थके हुए, जमदग्नि के पुत्र आचार्य परशुराम, कर्ण की गोदी में अपना शिर रखकर विश्वास पूर्वक सो गए । उसी

समय एक कफ, मेद मांस, रक्त का भोजन करने वाला, कोई दारुण स्पर्श वाला भयङ्कर कीड़ा, कर्ण के पास चला आया, उस रुधिर के लालची कीड़े ने कर्ण की जंघा को काट लिया। कर्ण गुरु की नींद के भङ्ग होने के भय से न तो उसे मार ही सका और न हटा ही सका ॥५-७॥

सन्दश्यमानस्तु तथा कृमिणा तेन भारत।
गुरोः प्रबोधनाशंकी तमुपैक्षत सूर्यजः ॥८॥
कर्णस्तु वेदनां धैर्यादसह्यां विनिगृह्य ताम्।
अकम्पयन्नव्यथयन् धारयामास भार्गवम् ॥९॥

हे भारत! जब उस कीट से कर्ण काट लिया गया-तो सूर्य-पुत्र कर्ण ने उस पर ध्यान भी नहीं दिया-क्योंकि वह अपने गुरु के जग आने की बहुत शंका कर रहा था। कर्ण ने उस आलस्य वेदना को धैर्यपूर्वक सह लिया। वह न तो कम्पित हुआ और न कुछ व्यथित ही हुआ, किन्तु उसी तरह गोद में परशुराम को धारण करके बैठा रहा ॥८-९॥

यदाऽस्य रुधिरेणाङ्गं परिस्पृष्टं भृगूद्वहः।
तदाऽबुध्यत तेजस्वी संत्रस्तश्चेदमब्रवीत् ॥१०॥
अहोऽस्म्यशुचितां प्राप्तः किमिदं क्रियते त्वया।
कथयस्व भयं त्यक्त्वा याथातथ्यमिदं मम ॥११॥

जब भृगुवंशश्रेष्ठ, परशुराम का अङ्ग रुधिर से भीगा-तो वह तेजस्वी घबराकर जाग पड़ा और कहने लगा। अरे! यह क्या

जान कृमि-नू ने मुझे अशुचि कर दिया । तुम भय छोड़ कर सारी घटना को ठीक से सुनाओ ॥१०-११॥

तस्य कर्णस्तदाचष्ट कृमिणा परिभक्षणम् ।
ददर्श रामस्तं चापि कृमिं सूकरसन्निभम् ॥१२॥

कर्ण ने परशुराम को उस कीड़े के काटने की कथा सुनाई । परशुराम ने भी शूकर के समान मुखधारी उस कीड़े को वहां घूमता देखा ॥१२॥

अष्टपादं तीक्ष्णदंष्ट्रं सूचीभिरिव संवृतम् ।
रोमभिः सन्निरुद्धाङ्गमलर्कं नाम नामतः ॥१३॥

इस कीड़े के आठ पैर, तीक्ष्ण दांत और सूची के समान रोम सारे अङ्ग में खड़े थे, जिसका नाम अलर्क बताया जाता है ।

स दृष्टमात्रो रामेण कृमिः प्राणानवासृजत् ।
तस्मिन्नेवासृजि क्लिन्नस्तदद्भुतमिवाभवत् ॥१४॥

जब परशुराम ने देखा-तो कर्ण के रक्त में भीगा हुआ वह कीट मर गया । यह एक बड़ी अद्भुत घटना हुई ॥१४॥

ततोऽन्तरिक्षे ददृशे विश्वरूपः करालवान् ।
राक्षसो लोहितग्रीवः कृष्णाङ्गो मेघवाहनः ॥१५॥
स रामं प्राञ्जलिर्भूत्वा बभाषे पूर्णमानसः ।
स्वस्ति ते भृगुशार्दूल गमिष्येऽहं यथागतम् ॥१६॥
मोक्षितो नरकादस्माद्भवता मुनिसत्तम ।
भद्रं तवास्तु वन्दे त्वां प्रियं मे भवता कृतम् ॥१७॥

इसी समय आकाश में भयानक रूपधारी, लालग्रीवा वाला कृष्णरूपधारी, मेघों पर चढ़ा हुआ, एक राक्षस दिखाई दिया। वह प्रसन्न चित्त राक्षस हाथ जोड़कर परशुराम से कहने लगा-हे भृगु-शार्दूल! आपका कल्याण हो। अब मैं अपनी इच्छानुसार जाता हूं। हे मुनिसत्तम! मुझे आपने इस योनि से छुड़ा दिया। अब आपका कल्याण हो-मैं आपकी वन्दना करता हूं, आपने मेरा बड़ा उपकार किया ॥१५-१७॥

तमुवाच महाबाहुर्जामदग्न्यः प्रतापवान् ।
कस्त्वं कस्माच्च नरकं प्रतिपन्नो ब्रवीहि तत् ॥१८॥

महाप्रतापी जमदग्नि के पुत्र महाबाहु परशुराम ने कहा--तू कौन है, कहां से नरक में पड़ा-यह सब कुछ सुनाओ ॥१८॥

सोऽब्रवीदहमासं प्राक् दंशो नाम महासुरः ।
पुरा देवयुगे तात भृगोस्तुल्यवया इव ॥१९॥
सोऽहं भृगोः सुदयितां भार्यामपहरं बलात् ।
महर्षेरभिशापेन क्रिमिभूतोऽपतं भुवि ॥२०॥
अब्रवीद्धि स मां क्रुद्धस्तव पूर्वपितामहः ।
मूत्रश्लेष्माशनः पाप निरयं प्रतिपत्स्यसे ॥२१॥
शापस्यान्तो भवेद्ब्रह्मन्नित्येवं तमथाब्रुवम् ।
भविता भार्गवाद्रामादिति मामब्रवीद्भृगुः ॥२२॥

उसने कहा—हे तात! मैं पूर्वकाल में सत्युग में भृगु के समान आयुधधारी दंश नामक महान् असुर था। मैंने भृगु की प्रिय

भार्या का बलपूर्वक अपहरण किया। महर्षि ने शाप दिया और मैं उसी समय यह कीड़ा बन गया। तुम्हारे पूर्वपितामह भृगु ने क्रोध में भरकर कहा-हे पापी! तू मूत्र, कफ आदि खाने वाला, कृमि बन कर नरक की सी यातना भोग। मैंने इस महर्षि से कहा-हे ब्रह्मन! मेरे शाप का अन्त तो बताओ। तो भृगु ने कहा-कि मेरे वंश में उत्पन्न परशुराम के देखने से तेरे शाप की निवृत्ति हो जावेगी ॥१६-२२॥

सोऽहमेनां गतिं प्राप्तो यथा न कुशलं तथा।
त्वया साधो समागम्य विमुक्तः पापयोनितः ॥२३॥

हे महाभाग! जब से मैं इस योनि में उलझा था, जिसमें मेरा कुछ भी कल्याण नहीं था। हे साधो! तुमने आज मिलकर मुझे पापयोनि से विमुक्त कर दिया ॥२३॥

एवमुक्त्वा नमस्कृत्य ययौ रामं महा महासुरः।
रामः कर्णं च सक्रोधमिदं वचनमब्रवीत् ॥२४॥

हे राजन्! वह दंश नामक महासुर, परशुराम को नमस्कार करके वहां से चलता बना। अब परशुराम ने क्रोध के साथ कर्ण से यह वचन कहा ॥२४॥

अति दुःखमिदं मूढ न जातु ब्राह्मणः सहेत्।
क्षत्रियस्येव ते धैर्यं कामया सत्यमुच्यताम् ॥२५॥

हे मूढ! इस अत्यन्त वेदना के सहने में ब्राह्मण समर्थ नहीं है। इतना धैर्य तो क्षत्रिय में ही हो सकता है। अब तू अपने स्वार्थ को छोड़कर सत्य वचन कह ॥२५॥

तमुवाच ततः कर्णः शापाद्भीतः प्रसादयन् ।
ब्राह्मक्षत्रान्तरे जातं सूतं मां विद्धि भार्गव ॥२६॥
राधेयः कर्ण इति मां प्रवदन्ति जना भुवि ।
प्रसादं कुरु मे ब्रह्मन्नस्त्रलुब्धस्य भार्गव ॥२७॥
पिता गुरुर्न संदेहो वेदविद्याप्रदः प्रभुः ।
अतो भार्गव इत्युक्तं मया गोत्रं तवान्तिके ॥२८॥

हे राजन् ! कर्ण, शाप से भयभीत हो उठा और वह परशुराम के प्रसन्न होने के निमित्त कहने लगा—हे भार्गव ! ब्राह्मण और क्षत्रिय जाति के मध्य में उत्पन्न मुझे आप सूत जानो। मुझे लोग पृथिवी पर राधेय कर्ण कहते है। हे ब्रह्मन् ! आप मुझ पर अनुग्रह करें। हे भार्गव! यह सब कुछ मैंने अस्त्रलोभ से किया है। आप ही मेरे पिता, वेदविद्या देने वाले, शक्तिशाली गुरु हो। इसी कारण से मैंने आपके समीप अपना गोत्र भार्गव बता दिया था ॥२६-२८॥

तमुवाच भृगुश्रेष्ठः सरोषः प्रहसन्निव ।
भूमौ निपतितं दीनं वेपमानं कृताञ्जलिम् ॥२९॥

हे राजन्! इतना कहकर कर्ण हाथ जोड़कर कांपता हुआ भूमि में गिर गया। भृगुवंशश्रेष्ठ परशुराम उनसे कुछ बनावटी हंसी के साथ भीतर से क्रोध में भरे हुए वचन कहने लगे ॥२९॥

यस्मान्मिथ्योपचरितो ह्यस्त्रलोभादिह त्वया ।
तस्मादेतन्न ते मूढ ब्रह्मास्त्रं प्रतिभास्यति ॥३०॥

अन्यत्र वधकालात्ते मत्सदृशेन समीयुषः ।
अब्राह्मणे न हि ब्रह्म ध्रुवं तिष्ठेत्कदाचन ॥३१॥
गच्छेदानीं न ते स्थानमनृतस्येह विद्यते ।
न त्वया सदृशो युद्धे भविता क्षत्रियो भुवि ॥३२॥

हे मूढ़ ! कर्ण ! तूने अस्त्र के लोभ से जो मिथ्या आचरण किया, इसी से तुझे अपने समान वीर के साथ युद्ध होने पर मृत्यु काल में तुझे इस ब्रह्मास्त्र का प्रतिभास नहीं हो सकेगा। अब्राह्मण में ब्राह्मण का तेज नहीं रह सकता है। अब तुम जाओ । झूँठे मनुष्य को यहां स्थान नहीं है, परन्तु यह कहे देता हूं-कि पृथिवी पर तेरे समान कोई वीर, क्षत्रियजाति में नहीं निकलेगा ॥३०-३२॥

एवमुक्तः स रामेण न्यायेनोपजगाम ह ।
दुर्योधनमुपागम्य कृतास्त्रोऽस्मीति चाब्रवीत् ॥३३॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां
शांतिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि
कर्णास्त्रप्राप्तिर्नाम तृतीयोऽध्यायः ॥३॥

जब परशुराम ने इतना कहा-तो वह शिष्य, नीति के अनुसार वहां से चल दिया और राजा दुर्योधन से आकर कहा, कि मैं सारी अस्त्रविद्या में कुशलता प्राप्त कर आया हूं ॥३३॥

इति श्रीमहाभारत शान्तिपर्वान्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्व में कर्ण के परशुराम से अस्त्रप्राप्ति के वर्णन का तीसरा अध्याय समाप्त हुआ

चौथा अध्याय

नारद उवाच— कर्णस्तु समवाप्यैवमस्त्रं भार्गवनन्दनात् ।

दुर्योधनेन सहितो मुमुदे भरतर्षभ ॥१॥

नारदजी ने कहा—हे भरतर्षभ ! इस प्रकार भृगुवंशोद्भव परशुराम से अस्त्रविद्या प्राप्त करके महारथी कर्ण, राजा दुर्योधन के साथ बड़ा प्रसन्न हुआ ॥१॥

ततः कदाचिद्राजानः समाजग्मुः स्वयंवरे ।

कालिङ्गविषये राजन् राज्ञश्चित्राङ्गदस्य च ॥२॥

श्रीमद्राजपुरं नाम नगरं तत्र भारत ।

राजानः शतशस्तत्र कन्यार्थे समुपागमन् ॥३॥

हे राजन ! एक बार कलिङ्ग देश के राजा के यहां स्वयम्वर था, वहाँ के राजा का नाम चित्राङ्गद और उसकी राजधानी का नाम राजपुर था। उसकी कन्या के ग्रहण की इच्छा से वहां सैकड़ों राजा पहुँच गए ॥२-३॥

श्रुत्वा दुर्योधनस्तत्र समेतान् सर्वपार्थिवान् ।

रथेन काञ्चनाङ्गेन कर्णेन सहितो ययौ ॥४॥

जब सारे राजाओं के वहां पहुँचने की बात राजा दुर्योधन ने सुनी-तो वह सुवर्ण के रथ में बैठकर कर्ण के सहित वहां पहुँचा।

ततः स्वयंवरे तस्मिन्संप्रवृत्ते महोत्सवे ।

समाजग्मुर्नृपतयः कन्यार्थे नृपसत्तम ॥५॥

हे कुरुनन्दन ! जब स्वयम्वर के महोत्सव का आरम्भ हुआ-तो इस कन्या के निमित्त अधोलिखित राजा भी पहुँचे ॥५॥

शिशुपालो जरासन्धो भीष्मको वक्र एव च ।
कपोतरोमा नीलश्च रुक्मी च दृढविक्रमः ॥६॥
शृगालश्च महाराजः स्त्रीराज्याधिपतिश्च यः ।
अशोकः शतधन्वा च भोजो वीरश्च नामतः ॥७॥
एते चान्ये च बहवो दक्षिणां दिशमाश्रिताः ।
म्लेच्छाचार्याश्च राजानः प्राच्योदीच्यास्तथैव च ॥
काञ्चनाङ्गदिनः सर्वे शुद्धजाम्बूनदप्रभाः ।
सर्वे भास्वरदेहाश्च व्याघ्रा इव बलोत्कटाः ॥९॥

शिशुपाल, जरासन्ध, भीष्मक, वक्र, कपोतरोमा, नील, महा-पराक्रमी रुक्मी, महाराज शृगाल भी पहुँचे। ये शृगाल अपनी स्त्री के राज्य के अधिकारी हुए थे। अशोक, शतधन्वा, भोजवीर आदि नामधारी तथा अन्य भी बहुत से राजा दक्षिण दिशा में चले गये। इस स्वयम्वर में बहुत से म्लेच्छराज, पूर्व उत्तर के राजा, सुवर्ण के अङ्गद पहनकर गए थे। इन राजाओं की शुद्ध तपाए सुवर्ण की सी कान्ति बहुत ही उज्ज्वलरूप में चमक रही थी। ये सारे वीर सिंह के समान अत्यन्त ही बलवान थे ॥६-९॥

ततः समुपविष्टेषु तेषु राजसु भारत ।
विवेश रङ्गं सा कन्या धात्रीवर्षवरान्विता ॥१०॥

हे भारत ! जब स्वयम्वर मण्डप में सारे राजा बैठ गए-तो वह कन्या, धाय और वर्षवरों (स्त्रीभृत्य) के साथ रङ्गशाला में प्रविष्ट हुई ॥१०॥

ततः संश्राव्यमाणेषु राज्ञां नामसु भारत ।
अत्यक्रामद्धार्तराष्ट्रं सा कन्या वरवर्णिनी ॥११॥

हे भारत ! जब उस कन्या को राजाओं के नाम सुनाए गए, तो वह सुन्दरी कन्या, राजा दुर्योधन का नाम सुनकर वहां से आगे निकल गई ॥११॥

दुर्योधनस्तु कौरव्यो नामर्षयत लङ्घनम् ।
प्रत्यषेधच्च तां कन्यामसत्कृत्य नराधिपान् ॥१२॥

कुरुवंशश्रेष्ठ राजा दुर्योधन को उस कन्या का यह अतिक्रमण बहुत बुरा प्रतीत हुआ । उसने सारे राजाओं को अपमानित कर के उस कन्या को वहीं आगे बढ़ने से रोक दिया ॥१२॥

सवीर्यमदमत्तत्वाद्भीष्मद्रोणावुपाश्रितः ।
रथमारोप्य तां कन्यामाजहार नराधिपः ॥१३॥

राजा दुर्योधन तो अपने बल के मद में उन्मत्त था । उसकी सहायता में भीष्म और द्रोण जैसे महारथी रहते थे । राजा दुर्योधन, उस कन्या को रथ में बैठाकर वहां से चल दिया ॥१३॥

तमन्वगाद्रथी खड्गी बद्धगोधाङ्गुलित्रवान् ।
कर्णः शस्त्रभृतां श्रेष्ठः पृष्ठतः पुरुषर्षभ ॥१४॥

राजा दुर्योधन के पीछे २ रथ में स्थित, खड्गधारी योधा और अंगुलित्राण पहने हुए, शस्त्रधारियों में श्रेष्ठ, महारथी कर्ण चले ॥१४॥

ततो विमर्दः सुमहान् राज्ञामासीद्युयुत्सताम् ।
सन्नह्यतां तनुत्राणि रथान्योजयतामपि ॥१५॥
तेऽभ्यधावन्त संक्रुद्धाः कर्णदुर्योधनावुभौ ।
शरवर्षाणि मुञ्चन्तो मेघाः पर्वतयोरिव ॥१६॥

इस समय युद्ध के अभिलाषी राजाओं का बड़ा ही घोर संघर्ष हुआ। उन लोगों ने कवच पहन लिए और रथ जोड़ दिए। वे लोग क्रोध में भरकर कर्ण और दुर्योधन के पीछे दौड़े। इस समय इन्होंने पर्वत पर मेघ के समान बाणों की झड़ी लगा दी १६॥

कर्णस्तेषामापततामेकैकेन शरेण ह ।
धनूंषि च शरव्रातान्पातयामास भूतले ॥१७॥

जब वे राजा आगे बढ़े-तो महारथी कर्ण, एक २ बाण से उनके धनुष और बाणों को काटने लगा ॥१७॥

ततो विधनुषः कांश्चित्कांश्चिदुद्यतकार्मुकान् ।
कांश्चिच्चोद्वहतो बाणान् रथशक्तिगदास्तथा ॥१८॥

इस समय बहुत से राजा धनुषहीन हो गए और बहुतों ने अपने धनुष उठा रखे थे। कोई अपने बाण सम्हाल रहे थे और कोई रथशक्ति और गदा आदि सम्हालने में लगे थे ॥१८॥

लाघवाद् व्याकुलीकृत्य कर्णः प्रहरतां वरः ।
हतसूतांश्च भूयिष्ठानवजिग्ये नराधिपान् ॥१६॥

प्रहार करने वालों में श्रेष्ठ, महारथी कर्ण ने अपनी लघुता (फुर्ती) से सारे राजाओं को व्याकुल कर दिया तथा बहुत से राजाओं के सारथि मार गिराए ॥१६॥

ते स्वयं वाहयन्तोऽश्वान् पाहि पाहीति वादिनः ।
व्यपेयुस्ते रणं हित्वा राजानो भग्नमानसाः ॥२०॥

अब ये राजा अपने २ अश्वों को स्वयं चलाने लगे और रक्षा करो ? रक्षा करो ? इस तरह कहते रहे । जब इनका उत्साह भग्न हो गया, तो वे रण को छोड़कर वहां से खसक गए ॥२०॥

दुर्योधनस्तु कर्णेन पाल्यमानोऽभ्ययात्तदा ।
हृष्टः कन्यामुपादाय नगरं नागसाह्वयम् ॥२१॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्या शांतिपर्वणि राजधर्मपर्वणि दुर्योधनस्य स्वयंवरे कन्याहरणं नाम चतुर्थोऽध्यायः ॥४॥

राजा दुर्योधन तो कर्ण से सुरक्षित हुआ, बड़ी प्रसन्नता से उस कन्या को लेकर हस्तिनापुर में आ घुसा ॥२१॥

इति श्रीमहाभारत शान्तिपर्वान्तर्गत राजधर्मपर्व में राजा दुर्योधन के स्वयम्वर में कन्यापहरण का चौथा अध्याय समाप्त हुआ ।

पांचवाँ अध्याय

नारद उवाच-आविष्कृतबलं कर्णं श्रुत्वा राजा स मागधः ।

आह्वयद्द्वैरथेनाजौ जरासन्धो महीपतिः ॥१॥

नारदजी बोले—हे राजन् ! जब मगधदेश के राजा जरासन्ध ने कर्ण के पराक्रम की धूम सुनी-तो उसने अपने रथ को आगे बढ़ाकर कर्ण को युद्ध के लिए ललकारा ॥१॥

तयोः समभवद्युद्धं दिव्यास्त्रविदुषोर्द्वयोः ।

युधि नानाप्रहरणैरन्योन्यमभिवर्षतोः ॥२॥

ये दोनों दिव्य अस्त्रों के ज्ञाता थे। इन्होंने एक दूसरे पर अनेक प्रकार के अस्त्र बरसाकर युद्ध करना आरम्भ किया ॥२॥

क्षीणबाणौ विधनुषौ भग्नखड्गौ महीं गतौ ।

बाहुभिः समसज्जेतामुभावपि बलान्वितौ ॥३॥

इन दोनों महारथी, राजा कर्ण और जरासन्ध के सारे बाण व्यतीत हो गए। इन दोनों के धनुष और खड्ग कटकर रणभूमि में गिर गए-तो ये दोनों महाबली बाहुयुद्ध में प्रवृत्त हुए ॥३॥

बाहुकण्टकयुद्धेन तस्य कर्णोऽथ युध्यतः ।

बिभेद सन्धिं देहस्य जरया श्लेषितस्य हि ॥४॥

इस समय बाहुकण्टक नामक युद्ध से कर्ण ने जरा राक्षसी द्वारा जोड़े हुए, युद्ध तत्पर जरासन्ध के जोड़ को चीर देना चाहा ॥४॥

स विकारं शरीरस्य दृष्ट्वा नृपतिरात्मनः ।
प्रीतोऽस्मीत्यब्रवीत्कर्णं वैरमुत्सृज्य दूरतः ॥५॥

राजा जरासन्ध अपने शरीर पर विकार आता देखकर कर्ण से वैर छोड़कर दूर खड़ा हो गया और कहने लगा-मैं तुम पर बड़ा प्रसन्न हूं ॥५॥

प्रीत्या ददौ स कर्णाय मालिनीं नगरीमथ ।
अङ्गेषु नरशार्दूल स राजाऽऽसीत्सपत्नजित् ॥६॥

इस जरासन्ध ने कर्ण को बल के पुरस्कार में इसे मालिनी नगरी प्रदान की । हे नरशार्दूल ! शत्रुविजयी कर्ण पूर्व से ही अङ्गदेश का राजा तो था ही ॥६॥

पालयामास चम्पां च कर्णः परबलार्दनः ।
दुर्योधनस्यानुमते तवापि विदितं तथा ॥६॥

शत्रुबलनाशक कर्ण, राजा दुर्योधन की अनुमति से इस चम्पा (मालिनी) नगरी की पालना करने लगा। हे राजन् ! यह सब कुछ आपको ज्ञात ही है ॥७॥

एवं शस्त्रप्रतापेन प्रथितः सोऽभवत्क्षितौ ।
त्वद्धितार्थं सुरेन्द्रेण भिक्षितो वर्मकुण्डले ॥८॥

इस प्रकार शस्त्र के प्रताप से महारथी कर्ण भूमण्डल में प्रसिद्ध था। हे नृपसत्तम ! आपके हित के लिए ही इन्द्र ने उससे कवच और कुण्डल मांग लिए थे ॥८॥

स दिव्ये सहजे प्रादात्कुण्डले परमार्चिते ।
सहजं कवचं चापि मोहितो देवमायया ॥९॥

राजा कर्ण ने भी अपने दिव्य कवच और दोनों कुण्डल, देव माया से मोहित होकर इन्द्र को प्रदान कर दिये, जो इसके जन्म के साथ ही उत्पन्न हुए थे ॥९॥

विमुक्तः कुण्डलाभ्यां च सहजेन च वर्मणा ।
निहतो विजयेनाजौ वासुदेवस्य पश्यतः ॥१०॥

हे राजन् ! इन कुण्डलों और कवच से रहित हो जाने के कारण ही वसुदेव-पुत्र श्रीकृष्ण के सन्मुख अर्जुन ने रण में महारथी कर्ण को मार गिराया ॥१०॥

ब्राह्मणस्याभिशापेन रामस्य च महात्मनः ।
कुन्त्याश्च वरदानेन मायया च शतक्रतोः ॥११॥
भीष्मावमानात्संख्यायां रथस्यार्धानुकीर्तनात् ।
शल्य तेजोवधाच्चापि वासुदेवनयेन च ॥१२॥
रुद्रस्य देवराजस्य यमस्य वरुणस्य च ।
कुबेरद्रोणयोश्चैव कृपस्य च महात्मनः ॥१३॥
अस्त्राणि दिव्यान्यादाय युधि गाण्डीवधन्वना ।
हतो वैकर्तनः कर्णो दिवाकरसमद्युतिः ॥१४॥

हे राजसत्तम ! महात्मा, सच्चे ब्राह्मण परशुराम के शाप, कुन्ती के वरदान, इन्द्र की माया, रथी महारथियों की संख्या के समय भीष्म द्वारा अपमान, शल्य द्वारा तेजोवध, श्रीकृष्ण की

नीति, रुद्र, देवराज इन्द्र, यम, वरुण, कुवेर, द्रोणाचार्य और महात्मा कृपाचार्य के शस्त्र ग्रहण करने से गाण्डीवधारी अर्जुन ने युद्ध में सूर्य के समान कान्तिधारी कर्ण को मार गिराया ॥११-१४॥

एवं शप्तस्तव भ्राता वहुभिश्चापि वञ्चितः ।
न शोच्यः पुरुषव्याघ्र युद्धेन निधनं गतः ॥१५॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां शांतिपर्वणि राजधर्मपर्वणि कर्णवीर्यकथनं नाम पंचमोऽध्यायः ॥५॥

हे पुरुषव्याघ्र ! इस तरह तुम्हारे भ्राता कर्ण को वहुत जगह से शाप और प्रवञ्चना प्राप्त हुई है । अब तुम उनका शोक न करो, क्योंकि वह वीर तो युद्ध के द्वारा निधन को प्राप्त हुआ है ॥१५॥

इति श्रीमहाभारत शान्तिपर्वान्तर्गत राजधर्मपर्व में कर्ण के पराक्रम के कथन का पांचवां अध्याय समाप्त हुआ ॥



छठा अध्याय

वैशम्पायन उवाच-एतावदुक्त्वा देवर्षिर्विरराम स नारदः ।
युधिष्ठिरस्तु राजर्षिर्दध्यौ शोकपरिप्लुतः ॥१॥

वैशम्पायन वोले—हे राजन् ! इतना कहकर देवर्षि नारद चुप हो गए और राजर्षि युधिष्ठिर शोकातुर होकर कुछ विचार करने लगे ॥१॥

तं दीनमनसं वीरं शोकोपहतमातुरम् ।
निःश्वसन्तं यथा नागं पर्यश्रुनयनं तथा ॥२॥
कुन्तीशोकपरीताङ्गी दुःखोपहतचेतना ।
अब्रवीन्मधुरा भाषा काले वचनमर्थवत् ॥३॥

हे भारत ! उदास मन, शोक से व्याकुल, सर्पवत श्वास मारते हुए, अश्रुओं से व्याप्त, वीरश्रेष्ठ, राजा युधिष्ठिर को देखकर स्वयं शोक में डूबी हुई, दुःख से चेतनाहीन कुन्ती, समयानुकूल मधुर भाषा में यह वचन बोली ॥२-३॥

युधिष्ठिर महाबाहो नैनं शोचितुमर्हसि ।
जहि शोकं महाप्राज्ञ शृणु चेदं वचो मम ॥४॥

हे महाबाहो ! युधिष्ठिर ! तुम इसका शोक न करो । हे महाप्राज्ञ ! अब तुम शोक का अन्त करके मेरे वचन को ध्यान से सुनो ॥४॥

याचितः स मया पूर्वं भ्रात्र्यं ज्ञापयितुं तव ।
भास्करेण च देवेन पित्रा धर्मभृतां वरः ॥५॥
यद्वाच्यं हितकामेन सुहृदा हितमिच्छता ।
तथा दिवाकरेणोक्तः स्वप्नान्ते मम चाग्रतः ॥६॥
न चैनमशकद्भानुरहं वा स्नेहकारणैः ।
पुरा प्रत्यनुनेतुं वा नेतुं वाऽप्येकतां त्वया ॥७॥
ततः कालपरीतः स वैरस्योद्धरणे रतः ।
प्रतीपकारी युष्माकमिति चोपेक्षितो मया ॥८॥

हे धर्मराज ! मैंने तुम्हारे भाईपन को धर्मात्मा कर्ण को सूचित कराने को उसके पिता सूर्य से प्रार्थना की। हित चाहने वाले, हितैषी मित्र को जो बात कहनी चाहिए, उसी प्रकार स्वप्न में मेरे सन्मुख आकर सूर्य ने स्वीकार किया, परन्तु मैं और स्वयं सूर्यदेव, स्नेह के कारण उसे कुछ भी नहीं सुझा सके। न तो हम उसे यह बात ही सुझा सके और न तुमसे ही उसकी एकता करा सके। काल की प्रेरणा से वह तो तुम्हारे साथ वैर को ही उद्दीपन करता रहा। वह तुम लोगों के विपरीत आचरण में लगा था, इससे मैंने उसकी उपेक्षा भी कर दी ॥५-८॥

इत्युक्तो धर्मराजस्तु मात्रा बाष्पाकुलेक्षणः ।
उवाच वाक्यं धर्मात्मा शोकव्याकुलितेन्द्रियः ॥६॥
भवत्या गूढमंत्रत्वात्पीडितोऽस्मीत्युवाच ताम् ॥१०
शशाप च महातेजाः सर्वलोकेषु योषितः ।
न गुह्यं धारयिष्यन्तीत्येवं दुःखसमन्वितः ॥११॥

जब धर्मराज से माता ने इतना कहा-तो उसकी आंखों में आंसू भर आए और वह धर्मात्मा, शोक से व्याकुल चित्त होकर यह वचन बोला—कि हे माता ! तुमने अपने इस रहस्य को छिपा कर मुझे पीड़ित किया। इसके अनन्तर महातेजस्वी धर्मराज ने दुःख से समन्वित होकर उसी शाप को फिर दोहराया, कि स्त्रियां गुप्त बात को आगे छुपा नहीं सकेंगी ॥६-११॥

स राजा पुत्रपौत्राणां सम्बन्धिसुहृदां तदा ।
स्मरन्नुद्विग्नहृदयो बभूवोद्विग्नचेतनः ॥१२॥

इसके बाद राजा युधिष्ठिर को अपने पुत्र, पौत्र, सम्बन्धी और सुहृदों की बात याद आई-तो वह इससे बहुत ही उद्विग्न हो गया और उसके प्राण कुलमुला उठे ॥१२॥

ततः शोकपरीतात्मा सधूम इव पावकः ।
निर्वेदमगमद्धीमान् राजा सन्तापपीडितः ॥१३॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां शांतिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि स्त्रीशापे षष्ठोऽध्यायः ॥६॥

हे राजन् ! अब परम बुद्धिमान् राजा युधिष्ठिर बड़े ही शोकातुर होकर धूम से व्याप्त, अग्नि की तरह धुंधियाते हुए बड़े ही निर्वेद को प्राप्त हुए। इस समय उनका आत्मा सन्ताप से जल रहा था ॥१३॥

इति श्रीमहाभारत शान्तिपर्वान्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्व में धर्मराज के शोक करने के वर्णन का छठा अध्याय समाप्त हुआ ।

सातवां अध्याय

वैशम्पायन उवाच- युधिष्ठिरस्तु धर्मात्मा शोकव्याकुलचेतनः
शुशोच दुःखसन्तप्तः स्मृत्वा कर्णं महारथम् ॥१॥

वैशम्पायन बोले—हे भरतश्रेष्ठ ! धर्मात्मा राजा युधिष्ठिर शोक से व्याकुल चित्त हो रहे थे। वे महारथी कर्ण का स्मरण करके बड़े दुःख से सन्तप्त हुए, उसका शोक करने लगे ॥१॥

आविष्टो दुःखशोकाभ्यां निःश्वसंश्च पुनः पुनः ।
दृष्ट्वाऽर्जुनमुवाचेदं वचनं शोककर्शितः ॥२॥

धर्मराज, दुःख के शोक से विह्वल थे और बार २ श्वास लेते जाते थे । अब वे अर्जुन की ओर देखकर शोक-पूर्वक यह वचन बोले ॥२॥

युधिष्ठिर उवाच—यद्भैक्ष्यमाचरिष्याम वृष्ण्यन्धकपुरे वयम्
ज्ञातीन्निष्पुरुषान्कृत्वा नेमां प्राप्स्याम दुर्गतिम् ॥३॥

युधिष्ठिर कहने लगे—हे अर्जुन ! यदि हम लोगों ने वृष्णि और अन्धक वीरों के नगर में भिक्षा मांगकर निर्वाह कर लिया होता-तो अपनी जाति को वीर पुरुषों से रहित करके हम लोग इस दुर्गति को प्राप्त नहीं होते ॥३॥

अमित्रा नः समृद्धार्थाः वृत्तार्थाः कुरवः किल ।
आत्मानमात्मना हत्वा किं धर्मफलमाप्नुमः ॥४॥

हमारे शत्रु कौरव अपनी समृद्धि को पाकर कृतार्थ हो गए, जो इस दुर्गति में जीवित नहीं हैं । हम अपने आपको मारकर कैसे धर्मफल को प्राप्त कर सकते हैं ॥४॥

धिगस्तु क्षात्रमाचारं धिगस्तु बलपौरुषम् ।
धिगस्त्वमर्षं येनेमामापदं गमिता वयम् ॥५॥

इस क्षत्रियधर्म, बल, पौरुष और पुरुष के तेज को धिक्कार है, जिसके कारण हम लोग इस दुर्दशा को पहुँच गए ॥५॥

साधु क्षमा दमः शौचं वैराग्यं चाप्यमत्सरः ।
अहिंसा सत्यवचनं नित्यानि वनचारिणाम् ॥६॥
वयं तु लोभान्मोहाच्च दम्भं मानं च संश्रिताः ।
इमामवस्थां संप्राप्ता राज्यलाभबुभुत्सया ॥७॥

वनचारी मुनियों के क्षमा, इन्द्रियजय, शौच, वैराग्य, मत्सर हीनता, अहिंसा, सत्यवचन-ये गुण बहुत ही अच्छे माने गए हैं, परन्तु हम लोग तो लोभ, मोह, दम्भ और मान से प्रीति करने लगे। इस राज्यप्राप्ति की लालसा से हम लोग इस दयनीय अवस्था को प्राप्त हो गए हैं ॥६-७॥

त्रैलोक्यस्यापि राज्येन नास्मान्कश्चित्प्रहर्षयेत् ।
बान्धवान्निहतान्दृष्ट्वा पृथिव्यां विजयैषिणः ॥८॥

अब तो हमें कोई त्रिलोकी का राज्य देकर भी सन्तुष्ट नहीं कर सकता है, क्योंकि हमने विजय के लिए युद्ध में उपस्थित अपने बान्धवों को ही पृथिवी पर मारकर गिरा दिया है ॥८॥

ते वयं पृथिवीहेतोरवध्यान् पृथिवीश्वरान् ।
सम्परित्यज्य जीवामो हीनार्था हतबान्धवाः ॥९॥

हम पृथिवी के कारण अवध्य राजाओं को भी मारकर जीवन धारण किए हुए हैं। अपने बान्धवों के मारे जाने से तो हमारे सारे ही प्रयोजन नष्ट हो चुके हैं ॥९॥

आमिषे गृध्यमानानामशुभं वै शुनामिव ।
आमिषं चैव नो हीष्टमामिषस्य विवर्जनम् ॥१०॥

मांसलोलुप कुत्तों की भांति हमको अशुभ फल की प्राप्ति और मांस की सी लालसा हुई है। अब हम इस मांस (राज्य) का परित्याग ही करना चाहते हैं ॥१०॥

न पृथिव्या सकलया न सुवर्णस्य राशिभिः ।
न गवाश्वेन सर्वेण ते त्याज्या य इमे हताः ॥११॥

सारी पृथिवी, सुवर्ण की राशि तथा सारे गौ और अश्व भी प्राप्त हो जावें, तो भी जो बान्धव इस युद्ध में मारे गए-उनका त्याग नहीं किया जा सकता है ॥११॥

काममन्युपरीतास्ते क्रोधहर्षसमन्विताः ।
मृत्युयानं समारुह्य गता वैवस्वतक्षयम् ॥१२॥

वे बान्धव भी काम और क्रोध से व्याप्त थे, आवेश और हर्ष में भरे हुए थे। बस ! इसी मृत्यु के यान पर चढ़कर वे आज यमलोक में पहुँच चुके हैं ॥१२॥

बहुकल्याणसंयुक्तानिच्छन्ति पितरः सुतान् ।
तपसा ब्रह्मचर्येण सत्येन च तितिक्षया ॥१३॥
उपवासैस्तथेज्याभिर्व्रतकौतुकमङ्गलैः ।
लभन्ते मातरो गर्भान्मासान्दश च बिभ्रति ॥१४॥
यदि स्वस्ति प्रजायन्ते जाता जीवन्ति वा यदि ।
सम्भाविता जातबलास्ते दद्युर्यदि नः सुखम् ॥१५॥
इह चामुत्र चैवेति कृपणाः फलहेतवः ।
तासामयं समुद्योगो निवृत्तः केवलोऽफलः ॥१६॥

यदासां निहताः पुत्रा युवानो मृष्टकुण्डलाः ॥१७॥
अभुक्त्वा पार्थिवान् भोगानृणान्यनपहाय च ।
पितृभ्यो देवताभ्यश्च गता वैवस्वतक्षयम् ॥१८॥

माता पिता, अपने पुत्रों को बहुत से कल्याणों से युक्त देखना चाहते हैं । तप, ब्रह्मचर्य, सत्य, तितिक्षा, उपवास, यज्ञ, व्रत तथा अनेक प्रकार के मङ्गल कृत्यों से माता गर्भ धारण करती हैं । उनको दश महीने उदर में धारण किए रहती है । फिर जैसे तैसे कष्ट पूर्वक उत्पन्न होते हैं, उत्पत्ति के अनन्तर कठिनाई से यदि जीवित रह जाते हैं । फिर जैसे तैसे बल की प्राप्ति की जाती है । फिर सन्तान पर सुख की आशा लगाई जाती है । माता इसलोक और परलोक में अपने पुत्रों पर आशा लगाकर फल की अभिलाषा करती रहती हैं । आज उन माताओं की सारी आशाओं पर पानी फिर गया । उनका सारा क्लेश निरर्थक गया । जो सुवर्ण के उज्वल कुण्डल धारण करने वाले इनके युवा पुत्र इस संग्राम में मारे गए । इन पुत्रों ने न तो कोई राजभोग भोगे, न देव और पितरों के ऋण से मुक्त हुए । इस अकृतार्थ दशा में ही ये यमलोक को चले गए ॥१३-१८॥

यदैषामम्बापितरौ जातकामावुभावपि ।
सञ्जातधनरत्नेषु तदैव निहता नृपाः ॥१९॥

ज्योंही इन वीरों के माता पिता की आशालता इन पुत्रों को देखकर हरी हुई थी, धन और रत्नभूत उन पुत्रों की प्राप्ति हुई, त्योंही वे राजा इस रण में मारे गए ॥१९॥

संयुक्ताः काममन्युभ्यां क्रोधहर्षा समञ्जसाः ।
न ते जयफलं किञ्चिद्भोक्तारो जातु कर्हिचित् ॥२०॥
पञ्चालानां कुरूणां च हता एव हि ये हताः ।
न चेत्सर्वानयं लोकः पश्येत्स्वेनैव कर्मणा ॥२१॥

काम और आवेश में भरे हुए, क्रोध हर्ष से परिपूर्ण, हम लोग अपनी विजय का कुछ भी फल भविष्य में नहीं भोग सकेंगे, क्योंकि पञ्चाल और कौरवों के मारे जाने से तो हम सब मारे गए हैं, यदि ऐसा नहीं माना जावे-तो यह सारा संसार अपने अच्छे बुरे कर्म से ही सबको अच्छा बुरा देखने लगे ॥२०-२१॥

वयमेवास्य लोकस्य विनाशे कारणं स्मृताः ।
धृतराष्ट्रस्य पुत्रेषु तत्सर्वं प्रतिपत्स्यति ॥२२॥

इस संसार के विनाश के हम ही लोग कारण हैं अथवा इस जगत् के विनाश का सारा उत्तर-दायित्व धृतराष्ट्र के पुत्रों पर है।

सदैव निकृतिप्रज्ञो द्वेष्टा मायोपजीवनः ।
मिथ्याविनीतः सततमस्मास्वनपकारिषु ॥२३॥

राजा दुर्योधन सर्वदा कपटपरायण, द्वेषकर्ता और छल से अपना काम निकालने वाला था। यह हम अनपकारी भ्राताओं के सन्मुख मिथ्या विनीत बना रहता था ॥२३॥

न सकामा वयं ते च न चास्माभिर्न तैर्जितम् ।
न तैर्भुक्तेयमवनिर्न नार्यो गीतवादितम् ॥२४॥

आज न तो उनकी कामना सिद्ध हुई और न हम लोग ही कृतार्थ हुए हैं। न हमारी विजय हुई और न वे ही जीत सके हैं। इस पृथिवी का भोग न तो वे ही कर सके और न हम ही कर सकेंगे तथा किसी की भी स्त्रियां उत्सव मानकर गाना बजाना नहीं कर सकीं ॥२४॥

नामात्यसुहृदां वाक्यं न च श्रुतवतां श्रुतम् ।
न रत्नानि पराध्यानि न भूर्न द्रविणागमः ॥२५॥
असमद् द्वेषेण सन्तप्तः सुखं न स्मेह विन्दति ।
ऋद्धिमस्मासु तां दृष्ट्वा विवर्णो हरिणः कृशः ॥
धृतराष्ट्रश्च नृपतिः सौवलेन निवेदितः ।
तं पिता पुत्रगृद्धित्वादनुमेनेऽनये स्थितः ॥२७॥

राजा दुर्योधन ने अपने अमात्य, सुहृद् शास्त्र के ज्ञाता, विद्वान, किसी के भी वचन नहीं सुने। उसने न तो कोई अमूल्य रत्नों का संग्रह किया, न पृथिवी का आनन्द लिया और न द्रव्य का सञ्चय किया। वह तो हमारे द्वेष में सन्तप्त हुआ कुछ भी सुख नहीं पा सका। हम लोगों की विभूति देखकर उसका सर्वदा रंग उड़ा रहता था। वह काला पीला पड़कर कृश हो गया था। सुबल-पुत्र शकुनि ने राजा धृतराष्ट्र को भी गांठ लिया था, पुत्र के मोह में फंसा हुआ राजा धृतराष्ट्र भी अनीति में स्थित होकर अन्तरात्मा से शकुनि की ही पुष्टि करता रहा ॥२५-२७॥

अनपेक्ष्यैव पितरं गाङ्गेयं विदुरं तथा ।
असंशयं क्षयं राजा यथैवाहं तथा गतः ॥२८॥
अनियम्याशुचिं लुब्धं पुत्रं कामवशानुगम् ।

राजा धृतराष्ट्र ने अपने पिता, भीष्म और महात्मा विदुर की कुछ भी परवा न की। राजा धृतराष्ट्र भी हमारी तरह ही नष्ट हो गया-इसमें सन्देह नहीं है, क्योंकि उसने अपने अशुभाचरण लोभी कामना के पीछे दौड़ने वाले दुर्योधन का नियमन नहीं किया ॥२८॥

यशसः पतितो दीप्ताद्घातयित्वा सहोदरान् ॥२९॥
इमौ हि वृद्धौ शोकाग्नौ प्रक्षिप्य स सुयोधनः ।

राजा दुर्योधन भी अपने भ्राताओं को मरवा कर प्रदीप्त यश से गिर गया। उसने इन दोनों वृद्ध माता पिताओं को भी शोक की अग्नि में डाल दिया ॥२९॥

अस्मत्प्रद्वेषसंयुक्तः पापबुद्धिः सदैव ह ॥३०॥
को हि बन्धुः कुलीनः संस्तथा ब्रूयात्सुहृज्जने ।
यथाऽसाववदद्वाक्यं युयुत्सुः कृष्णसन्निधौ ॥३१॥

यह पाप-बुद्धि सदा हमसे द्वेष की ही बात करता रहता था। कौन ऐसा कुलीन बन्धु होगा, जो अपने सुहृद् बान्धवों से ऐसे कटु वचन कहे, जैसे सन्धि के लिए उपस्थित श्रीकृष्ण के सम्मुख युद्ध के इच्छुक राजा दुर्योधन ने कहे थे ॥३०-३१॥

आत्मनो हि वयं दोषाद्विनष्टाः शाश्वतीः समाः ।
प्रदहन्तो दिशः सर्वा भास्वरा इव तेजसा ॥३२॥

हम लोग सहस्रों वर्ष तक के लिए अपने ही अपराध से मारे गए। सूर्य तेज से सन्तप्त दिशाओं की भांति हमारे हृदय सर्वदा जलते रहेंगे ॥३२॥

सोऽस्माकं वैरपुरुषो दुर्मतिः प्रग्रहं गतः ।
दुर्योधनकृते ह्य तत्कुलं नो विनिपातितम् ॥३३॥
अवध्यानां वधं कृत्वा लोके प्राप्ताः स्म वाच्यताम् ।

राजा दुर्योधन तो हमारे वैर की साकार मूर्त्ति था। वह दुर्मति अपने आप नष्ट हो गया। राजा दुर्योधन के कारण से ही हमारा सारा कुल नष्ट हुआ है। हम लोग अवध्यों के वध के कारण ही लोक में निन्दा को प्राप्त हुए हैं ॥३३॥

कुलस्यास्यान्तकरणं दुर्मतिं पापपूरुषम् ॥३४॥
राजा राष्ट्रेश्वरं कृत्वा धृतराष्ट्रोऽद्य शोचति ।

कुल के अन्त करने वाले इस दुर्मति पापमूर्त्ति दुर्योधन को भूपति बनाकर राजा धृतराष्ट्र आज अवश्य शोक कर रहा है ॥३४॥

हताः शूराः कृतं पापं विषयः स्वो विनाशितः ॥
हत्वा नो विगतो मन्युः शोको मां रुन्धयत्ययम् ।

शूरवीर मारे गए, पाप बन गया और उसने अपना ही राष्ट्र नष्ट कर दिया। इन दुरात्माओं के मार लेने से हमारा क्रोध तो नष्ट हो गया, परन्तु शोक ने हमको आ दबाया है ॥३५॥

धनञ्जय कृतं पापं कल्याणेनोपहन्यते ॥३६॥
ख्यापनेनानुतापेन दानेन तपसाऽपि वा ।
निवृत्त्या तीर्थगमनाच्छ्रुतिस्मृतिजपेन वा ॥३७॥

हे अर्जुन ! इस किये गए बन्धुवध रूपी पाप का प्रायश्चित्त कल्याणकारी कर्म, अपने अपराध के स्वीकार, पश्चात्ताप, दान, तप, निवृत्ति, तीर्थगमन, वेद स्मृति के पाठ और जप से दूर किया जा सकता है ॥३६-३७॥

त्यागवांश्च पुनः पापं नालं कर्तुमिति श्रुतिः ।
त्यागवान् जन्ममरणे नाप्नोतीति श्रुतिर्यदा ॥३८॥

दुष्कर्म का त्याग कर देने वाला पुरुष, फिर उस पाप में नहीं लिपटता । जब पाप का त्याग ही कर चुका, तो वह उससे होने वाले जन्म मरण में कैसे फंस सकता है—यही श्रुति का सिद्धान्त है ।

प्राप्तवर्त्मा कृतमतिर्ब्रह्म सम्पद्यते तदा ।
स धनञ्जय निर्द्वन्द्वो मुनिर्ज्ञानसमन्वितः ॥३९॥

जो बुद्धिमान अपने उचित मार्ग पर चलता है, वह अन्त में ब्रह्म रूप होकर रहता है । हे अर्जुन ! वह मुनि, द्वन्द्वातीत होकर ज्ञान से समन्वित हो जाता है ॥३९॥

वनमामंत्र्य वः सर्वान् गमिष्यामि परन्तप ।
न हि कृत्स्नतमो धर्मः शक्यः प्राप्तुमिति श्रुतिः ॥
परिग्रहवता तन्मे प्रत्यक्षमरिसूदन ।
मया निसृष्टं पापं हि परिग्रहमभीप्सता ॥४१॥
जन्मक्षयनिमित्तं च प्राप्तु शक्यमिति श्रुतिः ।

हे परन्तप ! अब मैं तुम सब से अनुज्ञा (इजाज़त) लेकर वन में गमन करूँगा । इसके बिना कठिन धर्म की प्राप्ति होना बहुत

भी असाध्य है, यह वेद का सिद्धान्त है। हे अरिसूदन! लोभ में फंसकर परिग्रह (धनसञ्चय) करने वाले को पाप की प्राप्ति होती है। मैंने भी परिग्रह के चक्कर में पड़कर अत्यन्त पाप को बटोरा है, जिससे जन्म मरण का चक्कर प्राप्त किया है ॥४०-४१॥

स परिग्रहमुत्सृज्य कृत्स्नं राज्यं सुखानि च ॥४२॥
गमिष्यामि विनिर्मुक्तो विशोको निर्ममः क्वचित् ।

अब मैं परिग्रह और सारे राज्य तथा सुख की अभिलाषा छोड़कर सारे दुःखों से छुटकारा पाकर शोक मोह से रहित होकर कहीं निकल जाऊँगा ॥४२॥

प्रशाधि त्वमिमामुर्वीं क्षेमां निहतकण्टकाम् ॥४३॥
न ममार्थोऽस्ति राज्येन भोगैर्वा कुरुनन्दन ।

हे धनञ्जय! अब तुम इस शत्रुहीन कल्याण युक्त सारी पृथिवी का शासन करना। हे कुरुनन्दन! मुझे राज्य, भोग आदि सुखों से कुछ भी प्रयोजन नहीं है ॥४३॥

एतावदुक्त्वा वचनं कुरुराजो युधिष्ठिरः ।
उपारमत्ततः पार्थः कनीयानभ्यभाषत ॥४४॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां शांतिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि युधिष्ठिरपरिदेवनं नाम सप्तमोऽध्यायः ॥७॥

हे राजन्! कुरुराज राजा युधिष्ठिर इतना वचन कह कर चुप हो गए। इसके बाद छोटा भाई अर्जुन इस तरह कहने लगा ॥४४॥

इति श्रीमहाभारत शान्तिपर्वान्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्व
में राजा युधिष्ठिर के पश्चात्ताप के वर्णन का सातवां
अध्याय समाप्त हुआ।

आठवां अध्याय

वैशम्पायन उवाच—

अथार्जुन उवाचेदमधिक्षिप्त इवाक्षमी ।
अभिनीततरं वाक्यं दृढवादपराक्रमः ॥१॥
दर्शयन्नैन्द्रिरात्मानमुग्रमुग्रपराक्रमः ।
स्मयमानो महातेजाः सृक्किणी परिसंलिहन् ॥२॥

वैशम्पायन बोले—हे राजन्! जिस तरह फटकारा हुआ व्यक्ति किसी की फटकार को नहीं सहता है, उसी तरह बोलने में भी महारथी, उग्रपराक्रमी इन्द्र-पुत्र महातेजस्वी अर्जुन अपने उग्र रूप को दिखाता हुआ ओठों को चाटता २ कुछ बाहिरी मुसकुराहट के साथ यह नीतियुक्त वचन बोला॥१-२॥

अर्जुन उवाच—अहो दुःखमहो कृच्छ्रमहो वैक्लव्यमुत्तमम् ।
यत्कृत्वाऽमानुषं कर्म त्यजेथाः श्रियमुत्तमाम् ॥३॥

अर्जुन ने कहा—अहो! यह अद्भुत दुःख और कठिनाई या व्याकुलता है, जो आप मनुष्यों से अधिक वीरता दिखा कर प्राप्त की हुई राज्यलक्ष्मी के छोड़ने में प्रयत्न कर रहे हो॥३॥

शत्रून्हत्वा महीं लब्ध्वा स्वधर्मेणोपपादिताम् ।
एवंविधं कथं सर्वं त्यजेथा बुद्धिलाघवात् ॥४॥

तुमने शत्रु मारे, क्षत्रिय धर्मानुसार पृथिवी प्राप्त की, फिर आप अपनी बुद्धि की दुर्बलता के कारण इस सारी राज्यलक्ष्मी के त्याग करने को कैसे उद्यत हो रहे हो ॥४॥

क्लीबस्य हि कुतो राज्यं दीर्घसूत्रस्य वा पुनः ।
किमर्थं च महीपालानवधीः क्रोधमूर्छितः ॥५॥

कायर और दीर्घसूत्री को राज्य-प्राप्ति हो ही कैसे सकती है। तुमने फिर क्रोध में जलकर इन सारे राजाओं का वध ही क्यों किया था ॥५॥

यो ह्याजिजीविषेद्भैक्ष्यं कर्मणा नैव कस्यचित् ।
समारम्भान्बुभूषेत हतस्वस्तिरकिञ्चनः ।
सर्वलोकेषु विख्यातो न पुत्रपशुसंहितः ॥६॥

जो मनुष्य अपना निर्वाह भिक्षा-वृत्ति से करना चाहता है और किसी उद्योग को स्वीकार नहीं करता-उसका कल्याण नष्ट होकर वह दरिद्री बना रहता है। उसकी सर्वत्र यह अवस्था विख्यात हो जाती है और उसके पास स्त्री, पुत्र, पशु आदि कुछ भी नहीं रह पाते ॥६॥

कापालीं नृप पापिष्ठां वृत्तिमासाद्य जीवतः ।
सन्त्यज्य राज्यमृद्धं ते लोकोऽयं किं वदिष्यति ॥७॥

हे नृप ! भीख मांगने की कापालिक पापमयी वृत्ति का धारण करके और समृद्धिशाली राज्य को छोड़कर जीने वाले लोग आपको क्या कहेंगे ॥७॥

सर्वारम्भान् समुत्सृज्य हतस्वस्तिरकिञ्चनः ।
कस्मादाशंससे भैक्ष्यं कर्तुं प्राकृतवत्प्रभो ॥८॥

हे प्रभो ! आप सारे शुभ कर्मों को छोड़कर कल्याणहीन और दरिद्री बने हुए, अधम मनुष्य की भांति, कैसे भीख मांगने में समर्थ हो सकोगे ॥८॥

अस्मिन् राजकुले जातो जित्वा कृत्स्नां वसुन्धराम् ।
धर्मार्थावखिलौ हित्वा वनं मौढ्यात्प्रतिष्ठसे ॥९॥

कुलीन, चन्द्रवंश में उत्पन्न होकर आपने सारी पृथिवी का विजय किया है। अब आप धर्म और अर्थ को छोड़कर कैसे मूर्खता से वन में प्रवेश करोगे ॥९॥

यदीमानि हवींषीह विमथिष्यन्त्यसाधवः ।
भवता विप्रहीनानि प्राप्तं त्वामेव किल्विषम् ॥१०॥

दुष्टपुरुष, हव्य कव्य के मार्ग में रुकावट डाल देंगे, जिससे देव और पितृकर्म लुप्त होंगे। जब आप राज्य छोड़कर चले गए-तो उसका सारा पाप आपको ही तो प्राप्त होगा ॥१०॥

आकिञ्चन्यं मुनीनां च इति वै नहुषोऽब्रवीत् ।
कृत्वा नृशंसं ह्यधने धिगस्त्वधनतामिह ॥११॥

राजा नहुष ने अपनी निर्धनता के समय में नीच कर्म करके निर्धनता को बड़ा धिक्कार दिया है और कहा है, कि निर्धनता तो मुनियों की ही शोभा है ॥११॥

अश्वस्तनमृषीणां हि विद्यते वेद तद्भवान् ।
यं त्विमं धर्ममित्याहुर्धनादेष प्रवर्त्तते ॥१२॥

ऋषि लोगों को ही इतनी अकिञ्चनता में रहना चाहिए, कि उनके पास कल का भी भोजन का संग्रह न हो। इस धर्मशास्त्र की आज्ञा को आप भी जानते हैं, परन्तु जो क्षत्रियों का धर्म बताया है, वह तो धन से ही सम्पन्न होता है ॥१२॥

धर्मं संहरते तस्य धनं हरति यस्य सः ।
ह्रियमाणे धने राजन् वयं कस्य क्षमेमहि ॥१३॥

हे राजन्! जो मनुष्य किसी के धन का अपहरण करता है, वह उसके धर्म को भी छीन लेता है। जब धन का यह स्थान है, तो उसके छीने जाने पर हम लोग कैसे क्षमा कर सकते हैं ॥१३॥

अभिशस्तं प्रपश्यन्ति दरिद्रं पार्श्वतः स्थितम् ।
दरिद्रं पातकं लोके न तच्छंसितुमर्हति ॥१४॥

हे धर्मराज! जो दरिद्री पड़ोस में स्थित होता है, उसकी लोग अनेक प्रकार की भली बुरी चर्चा करते रहते हैं। दरिद्र तो संसार में एक पाप है, आपको उसकी प्रशंसा नहीं करनी चाहिए

पतितः शोच्यते राजन्निर्धनश्चापि शोच्यते ।
विशेषं नाधिगच्छामि पतितस्याधनस्य च ॥१५॥

हे राजन्! जिस तरह धर्म से पतित मनुष्य शोचनीय हो जाता है, उसी तरह दरिद्री भी शोक का ही पात्र है। मैं तो पतित और निर्धन में कोई विशेषता (फर्क) नहीं देखता हूं ॥१५॥

अर्थेभ्यो हि विवृद्धेभ्यः संभृतेभ्यस्ततस्ततः।
क्रियाः सर्वाः प्रवर्तन्ते पर्वतेभ्य इवापगाः ॥१६॥

जब मनुष्य के पास इधर उधर से बटोरने से धन बढ़ जाता है, तो उसकी सारी क्रियायें पर्वतों से नदी की भांति बह निकलती हैं ॥१६॥

अर्थाद्धर्मश्च कामश्च स्वर्गश्चैव नराधिप।
प्राणयात्राऽपि लोकस्य विना ह्यर्थं न सिध्यति ॥

हे नराधिप! धन से ही धर्म, काम और स्वर्ग की प्राप्ति होती है। यह तो सब कुछ है ही, परन्तु मनुष्य की प्राणयात्रा भी इस धन के बिना नहीं चल सकती हैं ॥१७॥

अर्थेन हि विहीनस्य पुरुषस्याल्पमेधसः।
विच्छिद्यन्ते क्रियाः सर्वा ग्रीष्मे कुसरितो यथा ॥

हे राजन्! धन से विहीन पुरुष की सारी बुद्धि मारी जाती है। उसकी सारी क्रियायें इस तरह नष्ट हो जाती हैं, जैसे ग्रीष्म में छोटी नदी सूख जाती हैं ॥१८॥

यस्यार्थास्तस्य मित्राणि यस्यार्थास्तस्य बांधवाः।
यस्यार्थाः स पुमाँल्लोके यस्यार्थाः स च पण्डितः ॥

जिसके पास धन होता है, उसीके सब मित्र होते हैं, जिसके पास धन है, उसी के बान्धव होते हैं, जिसके पास धन है, वही पुरुष है और जिसके पास धन है, वही पण्डित है ॥१६॥

अधनेनार्थकामेन नार्थः शक्यो विधित्सितुम् ।
अर्थैरर्था निबध्यन्ते गजैरिव महागजाः ॥२०॥

यदि धनहीन पुरुष, कोई काम करना चाहे, तो वह उस काम को कैसे सम्पादित कर सकता है । धन से ही कार्य बँधे हुए हैं, जैसे हाथी से बंधा हुआ हाथी चलता है ॥२०॥

धर्मः कामश्च स्वर्गश्च हर्षः क्रोधः श्रुतं दमः ।
अर्थादेतानि सर्वाणि प्रवर्त्तन्ते नराधिप ॥२१॥

हे नराधिप ! धर्म, काम, स्वर्ग, हर्ष, क्रोध, शास्त्र, इन्द्रियजय, ये सारे कार्य धन से ही तो होते हैं ॥२१॥

धनात्कुलं प्रभवति धनाद्धर्मः प्रवर्धते ।
नाधनस्यास्त्ययं लोको न परः पुरुषोत्तम ॥२२॥

धन से कुल उत्तम बनकर वृद्धि को प्राप्त होता है । धन से ही धर्म की प्रवृत्ति होती है । हे पुरुषोत्तम ! निर्धन मनुष्य का यह लोक और परलोक कुछ भी सम्पादित नहीं हो सकता है ॥२२॥

नाधनो धर्मकृत्यानि यथावदनुतिष्ठति ।
धनाद्धि धर्मः स्रवति शैलादभिनदी यथा ॥२३॥

निर्धन मनुष्य, धर्म कृत्यों को कुछ भी पूरा नहीं कर सकता है । पर्वत से नदी के सदृश, धन से ही धर्म प्रवाहित होता है ।

यः कृशार्थः कृशगवः कृशभृत्यः कृशातिथिः ।
स वै राजन्कृशो नाम न शरीरकृशः कृशः ॥२४॥

हे राजन ! जिसके सारे कार्य, गौ, सेवक और अतिथि कृश रहते हैं, वही पुरुष कृश कहाता है, शरीर से ,कृश मनुष्य कृश नहीं कहला सकता है ॥२४॥

अवेक्षस्व यथान्यायं पश्य देवासुरं यथा ।
राजन्किमन्यज्ज्ञातीनां वधादृध्यन्ति देवताः ॥२५॥

अब तुम न्याय के ऊपर दृष्टि डालो और देवासुर संग्राम को देखो ? हे राजन् ! देवता, लोग अपने बन्धुभूत दैत्यों को मारकर ही तो सम्पत्ति पाते हैं-उसमें ज्ञातिवध के अतिरिक्त अन्य क्या है ॥२५॥

न चेद्धर्तव्यमन्यस्य कथं तद्धर्ममारभेत् ।
एतावानेव वेदेषु निश्चयः कविभिः कृतः ॥२६॥

वेद के विद्वानों ने यह निश्चय किया है, कि राजा अन्य दुष्ट राजाओं के अधिकारों को छीनकर धन सम्पत्ति प्राप्त करे । यदि धन का अन्य से अपहरण नहीं किया जावेगा, तो फिर धर्म का संग्रह कैसे हो सकेगा ॥२६॥

अध्येतव्या त्रयी नित्यं भवितव्यं विपश्चिता ।
सर्वथा धनमाहार्यं यष्टव्यं चापि यत्नतः ॥२७॥

मनुष्य को वेद सर्वदा पढ़ना चाहिए । विद्वान बनना उचित है, धन का संग्रह करना उत्तम है और फिर उसका यज्ञ आदि में दान देकर खर्च करना चाहिए ॥२७॥

द्रोहाद्देवैरवाप्तानि दिवि स्थानानि सर्वशः ।
द्रोहात्किमन्यज्ज्ञातीनां गृह्यन्ते येन देवताः ॥२८॥

देखो ? परस्पर के द्रोह से ही देवों ने स्वर्गलोक में स्थान पा रक्खा है अन्यथा दैत्य उन्हें कैसे टिकने देते । बन्धु बान्धवों में द्रोह के सिवा अन्य रक्खा ही क्या है । इस द्रोह से तो देवता भी नहीं बच पाए ॥२८॥

इति देवा व्यवसिता वेदवादाश्च शाश्वताः ।
अधीयन्तेऽध्यापयन्ते यजन्ते याजयन्ति च ॥२९॥
कृत्स्नं तदेव तच्छ्रेयो यदप्याददतेऽन्यतः ।

देवता भी ऐसा ही करते हैं और वेद का भी यही सिद्धान्त है, कि पढ़ना, पढ़ाना, यज्ञ करना और करने का उपदेश देना । इसी तरह यह भी एक कल्याणकारी मार्ग है । जो अन्य (राजा) से धन छीन लिया जाता है ॥२९॥

न पश्यामोऽनपकृतं धनं किंचित्कचिद्वयम् ॥३०॥
एवमेव हि राजानो जयन्ति पृथिवीमिमाम् ।
जित्वा ममेयं ब्रुवते पुत्रा इव पितुर्धनम् ॥३१॥
राजर्षयोऽपि ते स्वर्ग्या धर्मो ह्येषां निरुच्यते ।

हमने तो यह देखा ही नही है, कि विना किसी का अपहरण किए राजा धन का सञ्चय कर सके । इसलिए राजा लोग पृथिवी की विजय किया करते हैं । जब राजा दूसरे की पृथिवी छीन

लेते हैं, तो फिर उसे इस तरह अपनी बताते हैं, जैसे पुत्र अपने पिता के धन को अपना कहता है। राजर्षियों को भी स्वर्ग की प्राप्ति होती है, क्योंकि यह उनका धर्म ही माना गया है ॥३०-३१॥

यथैव पूर्णादुदधेः स्यन्दन्त्यापो दिशो दश ॥३२॥
एवं राजकुलाद्वित्तं पृथिवीं प्रतितिष्ठति ।

जिस तरह भरे हुए समुद्र से दशों दिशाओं में जल फैलता है, उसी तरह राजकुल से ही धन सारी पृथिवी पर फैलता है।

आसीदियं दिलीपस्य नृगस्य नहुपस्य च ॥३३॥
अंबरीपस्य मांधातुः पृथिवी सा त्वयि स्थिता ।
स त्वां द्रव्यमयो यज्ञः संप्राप्तः सर्वदक्षिणः ॥३४॥
तं चेन्न यजसे राजन्प्राप्तस्त्वं राज्यकिल्बिपम् ।

जो पृथिवी राजा दिलीप, नृग, नहुप, अम्बरीप और मान्धाता के पास रही थी, वही अब तुम्हारे पास आई है। सारी दक्षिणा से युक्त यह तो आपको द्रव्ययज्ञ प्राप्त हुआ है। हे राजन्! यदि तुमने इस द्रव्ययज्ञ का यजन नहीं किया अर्थात् ऐश्वर्यशाली राज्य का ग्रहण नहीं किया—तो क्षत्रियकुल में जन्म लेने से तुम्हें पाप ही होगा॥३३-३४॥

येषां राजाऽश्वमेधेन यजते दक्षिणावता ॥३५॥
उपेत्य तस्यावभृथे पूताः सर्वे भवन्ति ते ।

जिस प्रजा का राजा अश्वमेध यज्ञ करता है, उसके यज्ञ के अन्तिम स्नान में सारी प्रजा पवित्र हो जाती है ॥३५॥

विश्वरूपो महादेवः सर्वमेधे महामखे ॥
जुहाव सर्वभूतानि तथैवात्मानमात्मना ॥३६॥

विश्वरूप धारी महादेव ने भी सर्वमेध नामक महायज्ञ में सारे प्राणियों की आहुति दे दी और फिर अपने को भी आहुति के अधीन कर दिया ॥३६॥

शाश्वतोऽयं भूतिपथो नास्त्यन्तमनुशुश्रुम ।
महान्दाशरथः पंथा मा राजन्कुपथं गमः ॥३७॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां
शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि अर्जुनवाक्ये
अष्टमोऽध्यायः ॥८॥

हे राजन ! यह यज्ञ-मार्ग बड़ा कल्याणकारी और सदा से चला आया है। इसका अन्त नहीं सुना गया। हे भारत ! तुम अब इस वेद, वेदाङ्ग से सम्पन्न यज्ञमार्ग का लोप करके कुमार्ग पर पैर न रखो ॥३७॥

इति श्रीमहाभारत शान्तिपर्वान्तर्गत राजधर्मपर्व में अर्जुन, धर्मराज सम्वाद के वर्णन का आठवां अध्याय सम्पूर्ण हुआ।

नौवां अध्याय

युधिष्ठिर उवाच— मुहूर्तं तावदेकाग्रो मनः श्रोत्रेऽन्तरात्मनि
धारयन्नपि तच्छ्रुत्वा रोचते वचनं मम ॥१॥

युधिष्ठिर कहने लगे—हे धनञ्जय ! तुम थोड़ी देर को मन को शान्त बनाकर एकाग्र करो। जब तुम मेरे वचनों पर ध्यान दोगे और अन्तरात्मा में धारण करोगे—तब तुमको मेरे वचन में रुचि होगी ॥१॥

साधुगम्यमहं मार्गं न जातु त्वत्कृते पुनः।
गच्छेयं तद्गमिष्यामि हित्वा ग्राम्यसुखान्युत ॥२॥

हे अर्जुन ! मैं तो महात्माओं के गमन करने योग्य मार्ग का वर्णन कर रहा हूँ, यह तुमको उपदेश नहीं है। मैं तो ग्राम्यसुख मैथुनादि को छोड़कर इस पुनीत मार्ग के अवलम्बन की चर्चा करता हूं ॥२॥

क्षेम्यश्चैकाकिना गम्यः पंथाः कोऽस्तीति पृच्छ माम्
अथवा नेच्छसि प्रष्टुमपृच्छन्नपि मे शृणु ॥३॥

यह ठीक है, कि तुम इसको सुनना भी नहीं चाहते, परन्तु तो भी मैं तुमको सुनाऊँगा। तुम इच्छा न रहने पर भी उसको सुनो। अकेले पुरुष को गमन करने योग्य कौन कल्याणकारी मार्ग है—यह तो तुमको मुझसे पूछना चाहिये था ॥३॥

हित्वा ग्राम्यसुखाचारं तप्यमानो महत्तपः ।
अरण्ये फलमूलाशी चरिष्यामि मृगैः सह ॥४॥
जुह्वानोऽग्निं यथाकालमुभौ कालावुपस्पृशन् ।
कृशः परिमिताहारश्चर्मचीरजटाधरः ॥५॥

मैं ग्रामसुख (मैथुन) के ढोंगों को छोड़कर महान् तप का संग्रह करूँगा। मैं वन में फलमूल खाकर मृगों के साथ घूमता हुआ समय २ पर अग्नि में हवन करूँगा, दोनों काल क्रम से संध्या वन्दन नहीं छोड़ूँगा, नियमानुसार स्वस्थ भोजन करके कृश हो जाऊँगा और मृगचर्म, फटे वस्त्र पहिने हुए, जटा धारण करूँगा ॥४-५॥

शीतवातातपसहः क्षुत्पिपासाश्रमक्षमः ।
तपसा विधिदृष्टेन शरीरमुपशोषयन् ॥६॥

हे अर्जुन ! शीत, वायु, धूप को सहते हुए, भूख प्यास, श्रम आदि के सहने में सर्वदा समर्थ रहूंगा। शास्त्रविधि के अनुसार मैं अपने शरीर को सुखा डालूँगा ॥६॥

मनःकर्णसुखा नित्यं शृण्वन्नुच्चावचा गिरः ।
मुदितानामरण्येषु वसतां मृगपक्षिणाम् ॥७॥

मैं अपने मन कर्ण को सुख देने वाली मृग और पक्षियों की ऊँची नीची चहचहाहट-पूर्वक वाणी को सुनूंगा, जो मृग, पक्षी वन में आनन्द से निवास करते हैं ॥७॥

आजिघ्रन्पेशलान् गन्धान्फुल्लानां वृक्षवीरुधाम् ।
नानारूपान्वने पश्यन् रमणीयान्वनौकसः ॥८॥
वानप्रस्थजनस्यापि दर्शनं कुलवासिनाम् ।
नाप्रियाण्याचरिष्यामि किं पुनर्ग्रामवासिनाम् ॥९॥

खिले हुए वृक्ष और लताओं के पुष्पों की सुन्दर मनोमोदक गन्ध सूँघता और वन में अनेक सुन्दर दृश्यों को देखता हुआ घूमूँगा। वहां पर कुलक्रमागत पहुँचे हुए वानप्रस्थी मुनियों के दर्शन करूँगा और किसी भी ग्राम और वनचारी जीव का अप्रिय आचरण नहीं करूँगा ॥८-९॥

एकान्तशीली विमृशन्पक्कापक्के न वर्तयन् ।
पितॄन्देवांश्च वन्येन वाग्भिरद्भिश्च तर्पयन् ॥१०॥

हे अर्जुन! एकान्तवास में विचरता हुआ वृक्षों के कच्चे पक्के फलों से अपना निर्वाह करता रहूंगा। मैं, पितर और देवों को वन के फल, वाणी और जल से सन्तुष्ट करूँगा ॥१०॥

एवमारण्यशास्त्राणामुग्रमुग्रतरं विधिम् ।
सेवमानः प्रतीक्षिष्ये देहस्यास्य समापनम् ॥११॥

जो वनवासी मुनियों के उग्र से उग्र नियम हैं, उनको सेवन करता हुआ इस देह की समाप्ति की प्रतीक्षा करूँगा ॥११॥

अथवैकोऽहमेकाहमेकैकस्मिन्वनस्पतौ ।
चरन् भैक्ष्यं मुनिर्मुण्डः क्षपयिष्ये कलेवरम् ॥१२॥

मैं अकेला ही एक दिन में एक वृक्ष के नीचे निवास करूँगा तथा मूंड़ मुँडाए हुए भिक्षावृत्ति से जीवन बिताता हुआ इस शरीर की अन्तिम अवधि प्राप्त करूँगा ॥१२॥

पांसुभिः समभिच्छन्नः शून्यागारप्रतिश्रयः ।
वृक्षमूलनिकेतो वा त्यक्तसर्वप्रियाप्रियः ॥१३॥

हे अर्जुन! मैं मिट्टी धूलि में सना हुआ, शून्यागार का आश्रय लेकर रात बिताऊँगा या सब कुछ प्रिय अप्रिय का आग्रह छोड़ कर वृक्ष के मूल में निवास करूँगा ॥१३॥

न शोचन्न प्रहृष्यंश्च तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः ।
निराशीर्निर्ममो भूत्वा निर्द्वन्द्वो निष्परिग्रहः ॥१४॥
आत्मारामः प्रसन्नात्मा जडान्धबधिराकृतिः ।
अकुर्वाणः परैः काञ्चित्संविदं जातुकैरपि ॥१५॥
जङ्गमाजङ्गमान्सर्वानविहिंसंश्चतुर्विधान् ।
प्रजाः सर्वाः स्वधर्मस्थाः समः प्राणभृतः प्रति ॥

अब न तो मैं किसी बात की चिन्ता करूँगा और न कुछ पाकर प्रफुल्लित होऊँगा। अपनी निन्दा और स्तुति में तुल्य रहूंगा। आशारहित, भूख-प्यास आदि द्वन्द्वों से मुक्त, सारे झगड़ों से निश्चिन्त, ममताहीन, अपनी आत्मा में प्रसन्न, जड़, अन्धे और बहरे मनुष्य के सदृश व्यवहार परायण, प्रसन्न मन रहकर आचरण करूँगा। मेरा अब किसी भी प्राणी से कोई सम्बन्ध

नहीं रहेगा। जरायुज आदि चारों प्रकार के जड़ चेतन प्राणियों की हिंसा का परित्याग कर दूंगा। धर्म में स्थित सारी प्रजा तथा प्राणिमात्र के साथ मेरा समान व्यवहार होगा ॥१४-१६॥

न चाप्यवहसन्कञ्चिन्न कुर्वन्भ्रुकुटीः क्वचित् ।
प्रसन्नवदनो नित्यं सर्वेन्द्रियसुसंयतः ॥१७॥

न तो मैं आगे किसी पर प्रसन्न होकर हँसूगा और न कुपित होकर किसी पर टेढी दृष्टि डालूँगा तथा सर्वदा प्रसन्न मुख रहता हुआ सारी इन्द्रियों को रोक लूँगा ॥१७॥

अपृच्छन्कस्यचिन्मार्गं प्रव्रजन्नेव केनचित् ।
न देशं न दिशं कांचिद्गन्तुमिच्छन् विशेषतः ॥१८॥

किसी मार्ग से चलता हुआ आगे निकल जाऊँगा, परन्तु किसी खास स्थान का मोह से मार्ग न पूछूँगा। किसी देश या दिशा में जाने का मेरा कोई विशेष आग्रह नहीं रहेगा ॥१८॥

गमने निरपेक्षश्च पश्चादनवलोकयन् ।
ऋजुः प्रणिहितो गच्छंस्त्रसस्थावरवर्जकः ॥१९॥

गमन में कोई वस्तु साथ ले चलने की आकांक्षा छोड़कर पीछे तक को नहीं देखूँगा। सीधी चाल से, सावधानी से जाता हुआ और जड़ जङ्गम जीवों को बचाता हुआ गमन करता रहूंगा ॥१९॥

स्वभावस्तु प्रयात्यग्रे प्रभवन्त्यशनान्यपि ।
द्वन्द्वानि च विरुद्धानि तानि सर्वाण्यचिन्तयन् ॥

प्राणी का स्वभाव आगे २ चलता है, भोजन भी अपना प्रभाव दिखाता है । भूख प्यास आदि द्वन्द्व बड़े विरोधी हैं, मैं इन सब का कुछ भी खयाल नहीं करूंगा ॥२०॥

अन्नं वा स्वादु वा भोज्यं पूर्वालाभेन जातुचित् ।
अन्येष्वपि चरँल्लाभमलाभे सप्त पूरयन् ॥२१॥
विधूमे न्यस्तमुसले व्यङ्गारे भुक्तवज्जने ।
अतीतपात्रसञ्चारे काले विगतभिक्षुके ॥२२॥
एककालं चरन्भैक्ष्यं त्रीनथ द्वे च पञ्च वा ।
स्नेहपाशं विमुच्याहं चरिष्यामि महीमिमाम् ॥२३॥

मैं जब भिक्षा मांगने जाऊँगा-तब यदि थोड़ा स्वादु या अस्वादु भोजन की अप्राप्ति रहेगी-तो अन्य घर से प्राप्त करूँगा । यदि वहां भी नहीं मिला, तो सात घर तक जाऊंगा । जब घरों की रसोई बनाने की धूम निवृत्त हो जावेगी, ऊखल मूसल का कार्य समाप्त हो जावेगा । आग बुझाई जा चुकी होगी और अन्य भिक्षु अपनी भिक्षा ले गए होंगे, घर के मनुष्य भोजन कर चुके होंगे, अन्य पात्र व्यक्तियों का भी सत्कार हो चुका होगा, तब मैं एक समय दो तीन या पांच घरों से भिक्षा मांगूँगा । हे अर्जुन ! स्नेह के बन्धन को तोड़कर मैं इस तरह इस पृथिवी पर घूमना चाहता हूँ ॥२१-२३॥

अलाभे सति वा लाभे समदर्शी महातपाः ।
न जिजीविषुवत्किञ्चिन्न मुमूर्षुवदाचरन् ॥२४॥

जीवितं मरणं चैव नाभिनन्दन्न च द्विषन् ।
वास्यैकं तक्षतो बाहुं चन्दनेनैकमुक्षतः ।
नाकल्याणं न कल्याणं चिन्तयन्नुभयोस्तयोः ॥२५॥

मुझे कहीं से भिक्षा मिले या न मिले, सर्वत्र समदर्शी रहकर महान् तप का आचरण करता रहूँगा। मेरा व्यवहार जीवित या मृत किसी के समान नहीं होगा। जीवन यामृत्यु का न तो स्वागत करूंगा और न इससे द्वेष ही करूंगा। यदि मेरा एक हाथ वसोले से काटा जावे और एक पर चन्दन लगाया जावे-इससे काटने पर दुःख या चन्दन लगाने पर सुख का कुछ भी अनुभव नहीं करूंगा ॥२४-२५॥

याः काश्चिज्जीवता शक्याः कर्तुमभ्युदयक्रियाः ।
सर्वास्ताः समभित्यज्य निमेषादिव्यवस्थितः ॥२६॥
तेषु नित्यमसक्तश्च त्यक्तसर्वेन्द्रियक्रियः ।
संपरित्यक्तसङ्कल्पः सुनिर्णिक्तात्मकल्मषः ॥२७॥
विमुक्तः सर्वसङ्गेभ्यो व्यतीतः सर्ववागुराः ।
न वशे कस्यचित्तिष्ठन्सधर्मा मातरिश्वनः ॥२८॥
वीतरागश्चरन्नेवं तुष्टिं प्राप्स्यामि शाश्वतीम् ।
तृष्णया हि महत्पापमज्ञानादस्मि कारितः ॥२९॥

जिन क्रियाओं को जीवित मनुष्य करके अपनी उन्नति चाहता है, मैं उन सबका संन्यास करूंगा और शरीर निर्वाह के कर्म करता रहूँगा। संसार की उन्नति करने वाली सारी क्रियाओं में

मेरी कोई आसक्ति नहीं होगी, यही नहीं-मैं इन्द्रियों की सारी क्रियाएँ ही छोड़ दूँगा। सारे सङ्कल्पों को अच्छी तरह छोड़कर अपनी आत्मा के कल्याण में डालूँगा। सारे सङ्गो को छोड़ दूँगा और सारे बन्धन काट डालूँगा। वायु के समान मुझे कोई बांध कर नहीं रख सकेगा, मैं सारे रागद्वेषों को छोड़कर घूमूँगा और इस तरह शाश्वती तुष्टि प्राप्त करूँगा। मैंने तृष्णा के चक्कर में पड़कर अज्ञान में बड़े दुष्कर्म कर डाले हैं ॥२६-२६॥

कुशलाकुशलान्येके कृत्वा कर्माणि मानवाः ।
कार्यकारणसंश्लिष्टं स्वजनं नाम बिभ्रति ॥३०॥

मनुष्य, शुभ या अशुभ कर्म करते रहते हैं। उन कर्मों के कारण से कार्यभूत स्त्री पुत्र आदि उत्पन्न होते हैं। मनुष्य उनका ही नाम स्वजन रख लेता है ॥३०॥

आयुषोऽन्ते प्रहायेदं क्षीणप्राणं कलेवरम् ।
प्रतिगृह्णाति तत्पापं कर्तुः कर्मफलं हि तत् ॥३१॥

जब मनुष्य की आयु क्षीण हो जाती है, तो वह प्राणहीन इस शरीर को छोड़ देता है। वहां अपने कर्म के अनुसार कर्ता को जो कुछ मिलता है, वह पाप-पुण्य का बन्धन ही होता है ॥३१॥

एवं संसारचक्रेऽस्मिन् व्याविद्धे रथचक्रवत् ।
समेति भूतग्रामोऽयं भूतग्रामेण कार्यवान् ॥३२॥

इस तरह रथ के चक्र की भांति इस संसार का चक्र घूमता रहता है। इस तरह इस सारे संसार चक्र में सारे प्राणी, प्राणि समूहों से कार्यकारण के सम्बन्ध में जकड़े हुए हैं ॥३२॥

जन्ममृत्युजराव्याधिवेदनाभिरभिद्रुतम् ।
अपारमिव चास्वस्थं संसारं त्यजतः सुखम् ॥३३॥

यह संसार तो जन्म, व्याधि, जरा, मृत्यु और वेदनाओं से भरा पड़ा है। अपार दुःख के पात्र, इस संसार के तो छोड़ देने में ही सुख है ॥३३॥

दिवः पतत्सु देवेषु स्थानेभ्यश्च महर्षिषु ।
को हि नाम भवेनार्थी भवेत्कारणतत्त्ववित् ॥३४॥

जब स्वर्ग से देवता गिरते हैं, महर्षि अपने स्थानों से गिर जाते हैं, तो कौन बुद्धिमान मनुष्य होगा-जो कार्य कारण के तत्व जान कर भी इस जन्म मरण के चक्करभूत संसार में फंसेगा।

कृत्वा हि विविधं कर्म तत्तद्विविधलक्षणम् ।
पार्थिवैर्नृपतिः स्वल्पैः कारणैरेव बध्यते ॥३५॥

अनेक लक्षणों से युक्त भिन्न २ प्रकार के अनेक कर्म करके, छोटे मोटे राजा, संसारी कारणों से नित्य बँधते रहते हैं ॥३५॥

तस्मात्प्रज्ञामृतमिदं चिरान्मां प्रत्युपस्थितम् ।
तत्प्राप्य प्रार्थये स्थानमव्ययं शाश्वतं ध्रुवम् ॥३६॥

अब मुझे चिरकाल में यह ज्ञानामृत प्राप्त हो चुका है। इस को पाकर तो मैं अव्यय शाश्वत अचल स्थान की प्राप्ति कर लेना चाहता हूँ ॥३६॥

एतया सन्ततं धृत्या चरन्नेवं प्रकारया ।
जन्ममृत्युजराव्याधिवेदनाभिरभिद्रुतम् ।
देहं संस्थापयिष्यामि निर्भयं मार्गमास्थितः ॥३७॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां
शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि युधिष्ठिरवाक्ये
नवमोऽध्यायः ॥९॥

हे अर्जुन ! अब मैं पूर्वोक्त बुद्धि के धारण से जन्म, मृत्यु, जरा, व्याधि और वेदनाओं से भरे हुए इस देह को सर्वत्र गमन करने से रोकूँगा और इसे निर्भय मार्ग पर ले जाऊँगा ॥३३॥

इति श्रीमहाभारत शान्तिपर्वान्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्व में
धर्मराज के अवधूत दशा के वर्णन करने का नौवां
अध्याय समाप्त हुआ

दशवां अध्याय

भीम उवाच– श्रोत्रियस्येव ते राजन् मन्दकस्याविपश्चितः ।
अनुवाकहता बुद्धिर्नैषा तत्त्वार्थदर्शिनी ॥१॥

भीमसेन बोले—हे राजन् ! किसी मन्द-बुद्धि, अविद्वान् वेद-पाठी की अनुवाक (वेद का भाग) से आहत बुद्धि की भांति तुम्हारी बुद्धि क्षीण हो गई है। इससे परमार्थ का दर्शन नहीं हो रहा है ॥१॥

आलस्ये कृतचित्तस्य राजधर्मानसूयतः ।
विनाशे धार्त्तराष्ट्राणां किं फलं भरतर्षभ ॥२॥

हे भरतर्षभ ! तुम तो आलस्य में चित्त लगाकर बैठे हो, इसी से राजधर्मों की निन्दा कर रहे हो। अब यह तो बताओ, कि इन कौरवों के मारने का फल क्या निकला ॥२॥

क्षमाऽनुकम्पा कारुण्यमानृशंस्यं न विद्यते।
क्षात्रमाचरतो मार्गमपि बन्धोस्त्वदन्तरे ॥३॥

हे राजन् ! क्षमा, अनुकम्पा, करुणा, उदारता आदि गुण क्षत्रियधर्म का आचरण करने वाले तुम्हारे अन्य क्षत्रिय बन्धुओं में भी विद्यमान हैं, परन्तु कोई इस तरह वैरागी नहीं होता ॥३॥

यदीमां भवतो बुद्धिं विद्याम वयमीदृशीम्।
शस्त्रं नैव ग्रहीष्यामो न वधिष्याम कञ्चन ॥४॥

यदि हमको तुम्हारी इस ढिलमिल बुद्धि का पता होता तो मैं कभी शस्त्र ग्रहण नहीं करता और न किसी भी बन्धु का वध करता ॥४॥

भैक्ष्यमेवाचरिष्याम शरीरस्याविमोक्षणात्।
न चेदं दारुणं युद्धमभविष्यन्महीक्षिताम् ॥५॥

हम लोग भी आपकी भांति आजीवन भीख मांगते रहते, परन्तु राजाओं के इस घोर संग्राम को कभी नहीं होने देते ॥५॥

प्राणस्यान्नमिदं सर्वमिति वै कवयो विदुः।
स्थावरं जङ्गमं चैव सर्वं प्राणस्य भोजनम् ॥६॥

विद्वानों ने तो सारी वस्तु प्राणियों का भोजन बनाई हैं। जो कुछ भी स्थावर जंगम जीव हैं, वे भी तो प्राणी के भोजन ही हैं।

आददानस्य चेद्राज्यं ये केचित्परिपंथिनः ।
हन्तव्यास्त इति प्राज्ञाः क्षत्रधर्मविदो विदुः ॥७॥

जो शत्रु किसी राजा का निरर्थक (नाहक़) राज्य छीनते हैं, उनको मार गिराना चाहिए । क्षत्रियधर्म के ज्ञाता, विद्वान् यही तो व्यवस्था देते हैं ॥७॥

ते सदोषा हताऽस्माभी राज्यस्य परिपन्थिनः ।
तान्हत्वा भुंक्ष्व धर्मेण युधिष्ठिर महीमिमाम् ॥८॥

हे युधिष्ठिर ! वे कौरव भी हमारे राज्य के अपहरण में लगे हुए हमारे कण्टक बने थे । अब आप उनको मार चुके-तो फिर आपको इस पृथिवी की पालना करनी ही चाहिए ॥८॥

यथा हि पुरुषः खात्वा कूपमप्राप्य चोदकम् ।
पङ्कदिग्धो निवर्तेत कर्मेदं नस्तथोपमम् ॥९॥

जब पुरुष कुआं खोदे और जब कीचड़ निकलने लगे, तब उसे छोड़ बैठे-यही हमारे इस युद्धकर्म की तुम दशा कर रहे हो ।

यथाऽऽरुह्य महावृक्षमपहृत्य ततो मधु ।
अप्राश्य निधनं गच्छेत्कर्मेदं नस्तथोपमम् ॥१०॥

जिस तरह मनुष्य बड़े ऊँचे पर्वत पर चढ़ जाता है और वहां से मधु (शहद) प्राप्त कर लेता है, परन्तु जब खाने का मौका आवे-तो मर जावे-यही दशा इस युद्ध की होनी है ॥१०॥

यथा महान्तमध्वानमाशया पुरुषः पतन् ।
स निराशो निवर्त्तेत कर्मैतन्नस्तथोपमम् ॥११॥

कोई पुरुष किसी आशा से बड़े लम्बे चौड़े मार्ग का उल्लंघन करे और फिर वहाँ से निराश होकर लौट आवे, वही हमारे इस युद्ध की तुम दशा बना रहे हो ॥११॥

यथा शत्रून् घातयित्वा पुरुषः कुरुनन्दन।
आत्मानं घातयेत्पश्चात्कर्मेदं नस्तथोपमम् ॥१२॥

हे कुरुनन्दन ! जिस तरह पुरुष प्रथम तो शत्रु को मार डाले और फिर अपनी भी हत्या कर डाले-यही तो इस हमारे युद्ध की दशा आप करना चाहते हैं ॥१२॥

यथाऽन्नं क्षुधितो लब्ध्वा न भुञ्जीयाद्यदृच्छया।
कामीव कामिनीं लब्ध्वा कर्मेदं नस्तथोपमम् ॥१३॥

जिस तरह भूखा मनुष्य उत्तमान्न को पाकर और कामी कामिनी को पाकर भी न भोगे-वही दशा हमारे इस युद्ध की होनी है ॥१३॥

वयमेवात्र गर्ह्या हि यद्वयं मन्दचेतसम्।
त्वां राजन्ननुगच्छामो ज्येष्ठोऽयमिति भारत ॥१४॥

हे भरतवंशोद्भव ! राजन् ! तुम्हारा इसमें क्या अपराध है, निन्दा तो हमारी ही होनी चाहिए, जो हमने तुम जैसे बेसमझ पुरुष को अपना बड़ा भ्राता मानकर अनुसरण किया ॥१४॥

वयं हि बाहुबलिनः कृतविद्या मनस्विनः।
क्लीबस्य वाक्ये तिष्ठामो यथैवाशक्तयस्तथा ॥१५॥

हे भारत ! तुम अपने को बाहुबलशाली, विद्या में कुशल और सुखी समझते थे. परन्तु तुम कायर के वचनों में पड़कर मसक से हो गए ॥१५॥

अगतीकगतानस्मान्नष्टार्थानर्थसिद्धये ।
कथं वै नानुपश्येयुर्जनाः पश्यत यादृशम् ॥१६॥

हे राजन ! हम लोग तो असहायों के सहायक बनते थे, अब स्वयं हमारे भी कार्यभ्रष्ट हो जावेंगे । इस दशा में स्थित तुमको मनुष्य फिर क्यों अपने कार्यसिद्धि के लिए व्यर्थ नहीं समझेंगे-तुम इसे विचार कर देखो ? ॥१६॥

आपत्काले हि संन्यासः कर्तव्य इति शिष्यते ।
जरयाऽभिपरीतेन शत्रुभिर्व्यंसितेन वा ॥१७॥
तस्मादिह कृतप्रज्ञास्त्यागं न परिचक्षते ।
धर्मव्यतिक्रमं चैव मन्यन्ते सूक्ष्मदर्शिनः ॥१८॥

शास्त्र की आज्ञा तो यही है, कि आपत्काल, वृद्धावस्था या शत्रु से पराजित होने पर संन्यास ग्रहण करना चाहिए, परन्तु हम लोग तो शास्त्र के जानने वाले, कृतकार्य पुरुष हैं । हम लोगों को इस तरह राज्य छोड़कर निकल जाना नहीं चाहिए । सूक्ष्मदर्शी विद्वान तो इस तरह संन्यास धारण को अधर्म मानते हैं ॥१८॥

कथं तस्मात्समुत्पन्नास्तन्निष्ठास्तदुपाश्रयाः ।
तदेव निन्दां भाषेयुर्धाता तत्र न गर्ह्यते ॥१९॥

जो पुरुष जिसमें उत्पन्न हो, जिसमें अपना निर्वाह करता रहा हो, जिसका सर्वदा आश्रय ग्रहण किया, उस अपने धर्म की यदि निन्दा करता है, तो वह ईश्वर की व्यवस्था की निन्दा करता है ॥१६॥

श्रिया विहीनैरधनैर्नास्तिकैः संप्रवर्तितम् ।
वेदवादस्य विज्ञानं सत्याभासमिवानृतम् ॥२०॥

यह संन्यास मार्ग तो ऐश्वर्यहीन, दरिद्री, नास्तिक पुरुषों का चलाया हुआ है। इसको वेदवाद का विज्ञान बताना मिथ्या है। यह तुम जैसे कायरों को व्यर्थ ही सत्य सा दीखता है ॥२०॥

शक्यं तु मौनमास्थाय बिभ्रताऽत्मानमात्मना ।
धर्मच्छद्म समास्थाय च्यवितुं न तु जीवितुम् ॥

अपने आपको मौनी बाबा बनाकर धर्म के नाम पर पाखण्ड चलाना है। इससे पतन होता है, कोई जीवन की सार्थकता प्राप्त नहीं होती ॥२१॥

शक्यं पुनररण्येषु सुखमेकेन जीवितुम् ।
अबिभ्रता पुत्रपौत्रान्देवर्षीनतिथीन्पितॄन् ॥२२॥

हे राजन् ! हां ? जो मनुष्य पुत्र, पौत्र, देवर्षि, अतिथि और पितरों का पालन पोषण, पूजा सत्कार आदि न कर सके-वह नंगा पुरुष वन में सचमुच अच्छे गुलछर्रे उड़ा सकता है ॥२२॥

नेमे मृगाः स्वर्गजितो न वराहा न पक्षिणः ।
अथान्येन प्रकारेण पुण्यमाहुर्न तं जनाः ॥२३॥

वनवासी मृग, वराह, पक्षी आदि जीव तो सदा अरण्य में भी पड़े रहते हैं, परन्तु इन्होंने आज तक स्वर्ग प्राप्त नहीं किया। जो मनुष्य व्यर्थ अपने कर्म को छोड़कर संन्यास ग्रहण करता है, उसे विद्वान धर्मात्मा नहीं कह सकते ॥२३॥

यदि संन्यासतः सिद्धिं राजा कश्चिदवाप्नुयात् ।
पर्वताश्च द्रुमाश्चैव क्षिप्रं सिद्धिमवाप्नुयुः ॥२४॥
एते हि नित्यसंन्यासा दृश्यन्ते निरुपद्रवाः ।
अपरिग्रहवन्तश्च सततं ब्रह्मचारिणः ॥२५॥

यदि कोई भी राजा संन्यासमार्ग से सिद्धि प्राप्त कर सकता हो, तो इन पर्वत और वृक्षों को तो कभी की सिद्धि प्राप्त हो गई होती, क्योंकि ये तो सब कुछ त्यागे बैठे हैं। इनका तो सदा से ही संन्यास है, इनके कोई भी झगड़ा नहीं लगा है और न इनके पास कोई परिग्रह है, ये तो सदा ही नैष्ठिक ब्रह्मचारी बने हुए हैं।

अथ चेदात्मभाग्येषु नान्येषां सिद्धिमश्नुते ।
तस्मात्कर्मैव कर्तव्यं नास्ति सिद्धिरकर्मणः ॥२६॥

मनुष्य अपने भाग्य (कर्म) के बिना कभी सिद्धि नहीं पा सकता। इससे सदा कर्म ही करना चाहिए। कर्म-संन्यासी पुरुष को कभी सिद्धि नहीं मिल सकती ॥२६॥

औदकाः सृष्टयश्चैव जन्तवः सिद्धिमाप्नुयुः ।
तेषामात्मैव भर्तव्यो नान्यः कश्चन विद्यते ॥२७॥

यदि केवल उदरमात्र भर कर व्यर्थ चक्कर लगाने से संन्यासी को सिद्धि मिल सकती है, तो ये जलजन्तु मछली आदि तो अपना पेट ही भर कर निर्द्वन्द्व घूमते हैं, इनको तो किसी अन्य का भरण पोषण करना नहीं है, फिर इनको तो अवश्य सिद्धि हो जानी चाहिए ॥२७॥

अवेक्षस्व यथा स्वैः स्वैः कर्मभिर्व्यापृतं जगत् ।
तस्मात्कर्मैव कर्तव्यं नास्ति सिद्धिरकर्मणः ॥२८॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि दशमोऽध्यायः ॥१०॥

हे राजन ! तुम सूक्ष्म दृष्टि से देखो, कि सारा जगत्-कर्म से ही बंधा हुआ है। इन सब बातों को सोच कर कर्म करना चाहिए। कर्म संन्यासी पुरुष को कभी सिद्धि नहीं मिल सकती है ॥२८॥

इति श्रीमहाभारत शान्तिपर्वान्तर्गत राजधर्मपर्व में भीमसेन के कर्मसंन्यास के खण्डन का दशवां अध्याय समाप्त हुआ ।

ग्यारहवां अध्याय

अर्जुन उवाच— अत्रैवोदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
तापसैः सह संवादं शक्रस्य भरतर्षभ ॥१॥

अर्जुन कहने लगे—हे भरतर्षभ ! इस विषय में एक इतिहास भी सुना जाता है, वह तपस्वियों के साथ देवराज इन्द्र का सम्वाद है ॥१॥

केचिद्गृहान्परित्यज्य वनमभ्यागमन् द्विजाः ।
अजातश्मश्रवो मन्दाः कुले जाताः प्रवव्रजुः ॥२॥

एक समय कुछ ब्राह्मण घर छोड़कर वन में चल दिए । उनके मुख पर अभी तक रेखें भी नहीं निकली थीं । वे अच्छे २ कुलों में उत्पन्न हुए थे ॥२॥

धर्मोऽयमिति मन्वानाः समृद्धा ब्रह्मचारिणः ।
त्यक्त्वा भ्रातॄन् पितॄंश्चैव तानिन्द्रोऽन्वकृपायत ॥३॥

इन समृद्धिशाली ब्राह्मण नवयुवकों ने संन्यास को ही धर्म समझा । उन्होंने ब्रह्मचर्य व्रत धारण किया और वे अपने भाई पिता आदि बन्धु बान्धवों को छोड़कर वन में चल दिए । इन पर इन्द्र ने अनुग्रह प्रदर्शन किया ॥३॥

तानाबभाषे भगवान् पक्षी भूत्वा हिरण्मयः ।
सुदुष्करं मनुष्यैश्च यत्कृतं विघसाशिभिः ॥४॥

पुण्यं भवति कर्मेदं प्रशस्तं चैव जीवितम् ।
सिद्धार्थास्ते गतिं मुख्यां प्राप्ता धर्मपरायणाः ॥५॥

भगवान् इन्द्र ने सुनहरी पक्षी बनकर इनसे कहा—जो मनुष्य यज्ञ आदि करके शेष अन्न का भोजन करते हैं, वह बहुत ही दुष्कर और उत्तम कर्म का सेवन करते हैं। यह यज्ञमार्ग बड़ा पवित्र, जीवन देने वाला, उत्तम कर्म है। धर्म परायण मनुष्य, इस कर्म मार्ग से ही मुख्य गति को पाकर सिद्ध हो गए हैं ॥५॥

ऋषय ऊचुः— अहो बतायं शकुनिर्विघसाशान्प्रशंसति ।
अस्मान्नूनमयं शास्ति वयं च विघसाशिनः ॥६॥

ऋषि बोले—हे महाभागो ! यह पक्षी विघस (अमृत) के भोजन करने वालों की प्रशंसा करता है। यह हमको इस उपदेश को कर रहा है, इससे यही ज्ञात होता है, कि यह हमारी भिक्षा को ही विघस समझता है और हमको विघसाशी मानता है।

शकुनिरुवाच—

नाहं युष्मान् प्रशंसामि पङ्कादिग्धान् रजस्वलान् ।
उच्छिष्टभोजिनो मन्दानन्ये वै विघसाशिनः ॥७॥

पक्षी रूपधारी इन्द्र ने कहा–हे संन्यासियो ! मैं तुम्हारी प्रशंसा नहीं करता। तुम तो कीचड़ धूलि में फंसे हुए गृहस्थियों के उच्छिष्ट खाने वाले मूर्ख हो। विघस (यज्ञशेष) खाने वाले अन्य मनुष्य होते हैं ॥७॥

ऋषय ऊचुः—इदं श्रेयः परमिति वयमेवाभ्युपास्महे ।
शकुने ब्रूहि यच्छ्रेयो भृशं ते श्रद्दधामहे ॥८॥

ऋषि बोले-हे पक्षी ! हम लोगों ने तो यही परम कल्याण समझा था। यदि इससे भी अच्छा कोई अन्य कल्याण का मार्ग है, तो बताओ-हम आप पर बड़ी श्रद्धा रखते हैं ॥८॥

शकुनिरुवाच—

यदि मां नाभिशंकध्वं विभज्यात्मानमात्मना ।
ततोऽहं वः प्रवक्ष्यामि याथातथ्यं हितं वचः ॥९॥

पक्षी ने कहा-हे ऋषियो ! तुम अपने को मुझ से पृथक् समझ कर यदि शङ्का न करो-तो मैं तुमको यथार्थ हितकारी वचन सुनाता हूं ॥९॥

ऋषय ऊचुः—शृणुमस्ते वचस्तात पन्थानो विदितास्तव ।
नियोगे चैव धर्मात्मन्स्थातुमिच्छाम शाधि नः ॥

ऋषि बोले-हे तात ! हम आपके वचन सुनेंगे, क्योंकि आपको सारे मार्ग विदित हैं। हे धर्मात्मन् ! आपकी आज्ञा में हम स्थित होना चाहते हैं-आप हमको शिक्षा प्रदान करें ॥१०॥

शकुनिरुवाच—

चतुष्पदां गौः प्रवरा लोहानां काञ्चनं वरम् ।
शब्दानां प्रवरो मन्त्रो ब्राह्मणो द्विपदां वरः ॥११॥

पक्षी कहने लगा-हे ऋषियो ! चौपायों में गाय, धातुओं में सोना, शब्दों में मन्त्र और मनुष्यों में ब्राह्मण श्रेष्ठ है ॥११॥

मन्त्रोऽयं जातकर्मादिर्ब्राह्मणस्य विधीयते ।

जीवतोऽपि यथाकालं श्मशाननिधनादिभिः ॥१२॥

कर्माणि वैदिकान्यस्य स्वर्ग्यः पन्थास्त्वनुत्तमः ।

कथं मे सर्वकर्माणि मन्त्रसिद्धानि चक्रिरे ॥१३॥

आत्मानं दृढवादीति तथा सिद्धिरिहेष्यते ।

वेदमन्त्र ही ब्राह्मण के जन्म से लेकर मृत्यु तक के संस्कारों के साधन हैं। वैदिककर्म ही मनुष्य को स्वर्ग में पहुंचाने का उत्तम मार्ग है। किस प्रकार मेरे किए हुए कर्म भी मन्त्रों से ही सिद्ध किए जाते हैं। जो दृढ़ निश्चय के साथ आत्मा की खोज करता है, उस मन्त्रों से ही सिद्धि प्राप्त होती देखी गई है ॥१२-१३॥

मासार्धमासा ऋतव आदित्यशशितारकम् ॥१४॥

ईहन्ते सर्वभूतानि तदिदं कर्म संज्ञितम् ।

मास, अर्धमास और ऋतुओं में यज्ञादि द्वारा जो सिद्धि होती है, वह आदित्य, शशि या तारक ज्योति के नाम से कहाती है। आदित्यलोक, चन्द्रलोक, ब्रह्मलोक की प्राप्ति सब ही प्राणी चाहते हैं, जो कर्म ही कहाती है। उसको गृहस्थ में सम्पादन किया जाता है, इससे गृहस्थधर्म श्रेष्ठ है ॥१४॥

सिद्धिक्षेत्रमिदं पुण्यमयमेवाश्रमो महान् ॥१५॥

अथ ये कर्म निन्दन्तो मनुष्याः कापथं गताः ।

मूढानामर्थहीनानां तेषामेनस्तु विद्यते ॥१६॥

गार्हस्थ्याश्रम बड़ा सिद्धि देता है। यही महान आश्रम है। जो मनुष्य, इस आश्रम की निन्दा करते हैं, वे कुमार्गगामी समझने चाहिए। उन मूर्ख, प्रयोजनहीन पुरुषों को पाप के सिवा क्या मिल सकता है ॥१५-१६॥

देववंशान्पितृवंशान् ब्रह्मवंशांश्च शाश्वतान् ।
सन्त्यज्य मूढा वर्तन्ते ततो यान्त्यश्रुतीपथम् ॥१७॥

जो मूर्ख, देवता, पितर और ब्राह्मणों की पूजा छोड़कर संन्यास मार्ग में जाते हैं, वे वेदमार्ग से रहित होकर भटकते हैं।

एतद्वोऽस्तु तपोयुक्तं ददामीत्यृषिचोदितम् ।
तस्मात्तद्व्यवस्थानं तपस्वि तप उच्यते ॥१८॥

मैं यह कर्म आपको अर्पित करता हूं, इस प्रकार ईश्वरार्पण बुद्धि से किया हुआ कर्म ही उचित तप है। इससे यही सिद्ध हुआ, कि अपने २ कर्म में स्थित होना ही तपस्वी का तप कहाता है ॥१८॥

देववंशान्ब्रह्मवंशान्पितृवंशांश्च शाश्वतान् ।
संविभज्य गुरोश्चर्या तद्वै दुष्करमुच्यते ॥१९॥

देवता, पितर और ब्राह्मणों की सेवा करके जो गुरु के पास वेदाध्ययन है-यही तो दुष्कर तप समझना चाहिए ॥१९॥

देवा वै दुष्करं कृत्वा विभूतिं परमां गताः ।
तस्माद्गार्हस्थ्यमुद्वोढुं दुष्करं प्रब्रवीमि वः ॥२०॥
तपः श्रेष्ठं प्रजानां हि मूलमेतन्न संशयः ।

इन सब कारणों से गृहस्थधर्म का धारण करना बड़ा ही दुष्कर है। गृहस्थधर्म का आचरण करना बड़ा तप है और यही संसार का मूल है-इसमें संशय नहीं है। देवताओं ने वेदाध्ययन आदि कर्म करके दुष्कर सिद्धि को प्राप्त किया है ॥२०॥

कुटुम्बविधिनाऽनेन यस्मिन्सर्वं प्रतिष्ठितम् ॥२१॥
एतद्विदुस्तपो विप्रा द्वन्द्वातीता विमत्सराः।
तस्माद्व्रतं मध्यमं तु लोकेषु तप उच्यते ॥२२॥
दुराधर्षं पदं चैव गच्छन्ति विघसाशिनः।

जिसने कुटुम्ब को धारण करके सब कुछ कर्मों का अनुष्ठान किया है-इसी को द्वन्द्वों से अतीत, मत्सरहीन ब्राह्मण तप मानते हैं, इसी से मध्यम आश्रम का व्रत ही लोक में तप समझो। जो विघस (यज्ञामृत) के खाने वाले हैं, वे दुर्लभ लोकों की प्राप्ति कर सकते हैं ॥२२॥

सायं प्रातर्विभज्यान्नं स्वकुटुम्बे यथाविधि ॥२३॥
दत्वाऽतिथिभ्यो देवेभ्यः पितृभ्यः स्वजनाय च।
अवशिष्टानि येऽश्नन्ति तानाहुर्विघसाशिनः ॥२४॥

जो सायंकाल, प्रातःकाल अपने कुटुम्ब को अन्न का विभाग करके देता है। अतिथि, देव, पितर और अपने सेवक आदि का विभाग कर देता है, उसके अनन्तर जो खाता है, वे ही विघसाशी कहाते हैं ॥२३-२४॥

तस्मात्स्वधर्ममास्थाय सुव्रताः सत्यवादिनः ।

लोकस्य गुरवो भूत्वा ते भवन्त्यनुपस्कृताः ॥२५॥

इन कारणों से व्रतशील, सत्यवादी, अपने धर्म में स्थित होकर वे लोक में पूज्य होकर प्रशंसा को प्राप्त होते हैं ॥२५॥

त्रिदिवं प्राप्य शक्रस्य स्वर्गलोके विमत्सराः ।

वसन्ति शाश्वतान्वर्षान् जना दुष्करकारिणः ॥२६॥

जो गृहस्थधर्म के दुष्कर तप को करते हैं, वे मत्सरहीन पुरुष, इन्द्र के लोक स्वर्ग को प्राप्त करके असंख्य वर्षों तक वहां निवास करते हैं ॥२६॥

अर्जुन उवाच— ततस्ते तद्वचः श्रुत्वा धर्मार्थसहितं हितम् ।

उत्सृज्य नास्तीति गता गार्हस्थ्यं समुपाश्रिताः ॥

अर्जुन बोले–हे राजन्! उन्होंने पक्षी रूपधारी इन्द्र के धर्मार्थ युक्त वचन सुनकर संन्यास आश्रम छोड़ दिया और वे गृहस्थ आश्रम में चले आए ॥२७॥

तस्मात्त्वमपि सर्वज्ञ धैर्यमालम्ब्य शाश्वतम् ।

प्रशाधि पृथिवीं कृत्स्नां हतामित्रां नरोत्तम ॥२८॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि अर्जुनवाक्ये ऋषिशकुनिसंवादकथने एकादशोऽध्यायः ॥११॥

हे सर्वज्ञ ! अब तुम भी धैर्य का अच्छी तरह अवलम्बन करो। हे नरोत्तम ! सारी पृथिवी के शत्रु नष्ट किए जा चुके हैं, इससे आप भी इस पृथिवी का शासन करो ॥२८॥

इति श्रीमहाभारत शान्तिपर्वान्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्व में गृहस्थाश्रम के महत्व वर्णन का ग्यारहवां अध्याय समाप्त हुआ।



बारहवाँ अध्याय

वैशम्पायन उवाच-

अर्जुनस्य वचः श्रुत्वा नकुलो वाक्यमब्रवीत्।
राजानमभिसम्प्रेक्ष्य सर्वधर्मभृतां वरम् ॥१॥

अनुरुध्य महाप्राज्ञो भ्रातुश्चित्तमरिन्दम।
व्यूढोरस्को महाबाहुस्ताम्रास्यो मितभाषिता ॥२॥

वैशम्पायन बोले—हे अरिमर्दन ! जब अर्जुन भी कह चुके तो सब धर्म के ज्ञाताओं में श्रेष्ठ राजा युधिष्ठिर की ओर देखकर दृढ़ वक्षःस्थलधारी, महाबुद्धिमान्, रक्तवर्ण से युक्त मुख वाला, स्वल्पभाषी, नकुल, अपने भ्राता धर्मराज के चित्त को अनुकूल करने के निमित्त यह वचन बोला ॥१-२॥

नकुल उवाच—विशाखयूपे देवानां सर्वेषामग्रयाश्रिताः।
तस्माद्विद्धि महाराज देवाः कर्मफले स्थिताः ॥३॥

हे महाराज ! एक समय विशाखायूप नामक स्थान में देवों ने अग्नि का चयन किया । इससे क्या आप यह नहीं समझे, कि देवता भी कर्म के सिद्धान्त को ही मानते हैं ॥३॥

अनास्तिकानां भूतानां प्राणदाः पितरश्च ये ।
तेऽपि कर्मैव कुर्वन्ति विधिं सम्प्रेक्ष्य पार्थिव ॥४॥

हे नराधिप ! धार्मिक, आस्तिक पुरुषों को जो शान्ति देने वाले हैं । वे पितर भी वेद विधि को देखकर कर्म ही करते हैं ॥४॥

वेदवादापविद्धांस्तु तान्विद्धि भृशनास्तिकान् ।
न हि वेदोक्तमुत्सृज्य विप्रः सर्वेषु कर्मसु ॥५॥
देवयानेन नाकस्य पृष्ठमाप्नोति भारत ।

हे भारत ! जो मनुष्य वेदोक्त कर्म कलाप का त्याग करता है, वे तो पूरे नास्तिक माने गए हैं । वेदोक्त कर्म कलाप को छोड़कर ब्राह्मण किसी भी कर्म का अधिकारी नहीं माना गया । कर्म द्वारा देवयान मार्ग की प्राप्ति होती है, जिससे पुरुष स्वर्ग लोक में पहुँच जाता है ॥५॥

अत्याश्रमानयं सर्वानित्याहुर्वेदनिश्चयाः ॥६॥
ब्राह्मणाः श्रुतिसम्पन्नास्तान्निबोध नराधिप ।

हे नराधिप ! वेद मार्ग के जानने वाले विद्वान ब्राह्मणों ने यह कहा है, कि सारे आश्रमों से उत्तम गृहस्थाश्रम है । इसका तुम विवेचन सुनो ॥६॥

वित्तानि धर्मलब्धानि कृतमुख्येष्ववासृजन् ॥७॥
कृतात्मा स महाराज स वै त्यागी स्मृतो नरः ॥

हे महाराज ! धर्म से अर्जन किए हुए धन को जो शुभ कर्मों में व्यय करता है, वही कृतार्थ है और वही त्यागी कहाता है ।७-८।

अनवेक्ष्य सुखादानं तथैवोर्ध्वं प्रतिष्ठितः ।
आत्मत्यागी महाराज स त्यागी तामसो मतः ॥६॥

हे राजाधिराज ! जो मनुष्य गृहस्थ के सुखों को निरर्थक समझकर संन्यासमार्ग में चला जाता है, वह आत्मत्यागी, तामसी त्यागी माना गया है ॥६॥

अनिकेतः परिपतन्वृक्षमूलाश्रयो मुनिः ।
अपाचकः सदा योगी स त्यागी पार्थ भिक्षुकः ॥

हे पार्थ ! कोई घर न बनाकर, वृक्ष मूल आदि के आश्रय में मुनि बनकर रहता है और पाक नहीं बनाता, वह योगी भिक्षुक माना गया है ॥१०॥

क्रोधहर्षावनादृत्य पैशुन्यं च विशेषतः ।
विप्रो वेदानधीते यः स त्यागी पार्थ उच्यते ॥११॥

हे कौन्तेय ! जो मनुष्य, क्रोध हर्ष आदि का त्याग करता है और पिशुनता (चुगली) का बिल्कुल त्याग कर देता है एवं वेद के अध्ययन में लगा रहता है-वही सच्चा त्यागी होता है ॥११॥

आश्रमांस्तुलया सर्वान्धृतानाहुर्मनीषिणः ।
एकतश्च त्रयो राजन् गृहस्थाश्रम एकतः ॥१२॥

समीक्ष्य तुलया पार्थ कामं स्वर्गं च भारत ।
अयं पन्था महर्षीणामियं लोकविदां गतिः ॥१३॥
इति यः कुरुते भावं स त्यागी भरतर्षभ ।
न यः परित्यज्य गृहान्वनमेति विमूढवत् ॥१४॥

हे राजन् ! मनीषी गणों ने एक ओर तो तीनों आश्रम रखे और एक ओर गृहस्थाश्रम को रखा, तो जब तराजू के पलड़े की ओर देखा, तो गृहस्थाश्रम ही भारी पाया, क्योंकि गृहस्थाश्रम में काम और स्वर्ग दोनों की प्राप्ति होती है । हे भरतर्षभ ! यही गृहस्थधर्म महर्षियों का मार्ग रहा है और इसी आश्रम में लोकों की प्राप्ति होती है । जो ऐसा भाव धारण करता है, वही त्यागी है । जो मूर्ख की भांति घर छोड़कर वन में चल देता है, वह त्यागी नहीं है ॥१२-१४॥

यदा कामान्समीक्षेत धर्मवैतंसिको नरः ।
अथैनं मृत्युपाशेन कण्ठे बध्नाति मृत्युराट् ॥१५॥

जो पाखण्डी संन्यास ग्रहण करके गुलछर्रे उड़ाता है और भोगों पर दृष्टि गड़ाता है, उसके गले में यमराज मृत्यु की फांसी डालता है ॥१५॥

अभिमानकृतं कर्म नैतत्फलवदुच्यते ।
त्यागयुक्तं महाराज सर्वमेव महाफलम् ॥१६॥

हे महाराज ! अभिमान से किया हुआ कर्म फलदायी नहीं होता, परन्तु त्याग के साथ किया हुआ कर्म महान् फल का देने वाला है ॥१६॥

शमो दमस्तथा धैर्य सत्यं शौचमथार्जवम् ।
यज्ञो धृतिश्च धर्मश्च नित्यमार्षो विधिः स्मृतः ॥१७॥

मन का विजय, इन्द्रियजय, धैर्य, सत्य, शौच, सरलता, यज्ञ, निश्चय, धर्म-सेवन-ये सारे ऋषियों के बताए हुए शुभ मार्ग हैं ॥१७॥

पितृदेवातिथिकृते समारम्भोऽत्र शस्यते ।
अत्रैव हि महाराज त्रिवर्गः केवलं फलम् ॥१८॥

पितर, देव और अतिथियों के निमित्त किया गया कार्यारम्भ ही श्रेष्ठ माना गया है । हे महाराज ! इसी में तो धर्म, अर्थ और काम की प्राप्ति होती है ॥१८॥

एतस्मिन्वर्तमानस्य विधावप्रतिषेधिते ।
त्यागिनः प्रसृतस्येह नोच्छित्तिर्विद्यते क्वचित् ॥१९॥

वेदोक्त इस निष्काम गृहस्थाश्रम की उत्तम विधि में वर्तमान त्यागी पुरुष का कहीं नाश नहीं होता है, वह सर्वत्र फैल जाता है ।

असृजद्धि प्रजा राजन्प्रजापतिरकल्मषः ।
मां यक्ष्यन्तीति धर्मात्मा यज्ञैर्विविधदक्षिणैः ॥२०॥

वीरुधश्चैव वृक्षांश्च यज्ञार्थं वै तथौषधीः ।
पशूंश्चैव तथा मेध्यान् यज्ञार्थानि हवींषि च ॥२१॥

हे राजन् ! सब पापों से शुद्ध धर्मात्मा प्रजापति ने प्रजा की रचना इसीलिए की हैं, कि वह बहुत सी दक्षिणाओं से युक्त यज्ञ का सम्पादन करती रहे । लता, वृक्ष, ओषधि-ये सब कुछ यज्ञ के

निमित्त ही तो हैं। पवित्र पशु और सारी हवियां भी यज्ञ के निमित्त ही मानी गई हैं ॥२०-२१॥

गृहस्थाश्रमिणस्तच्च यज्ञकर्म विरोधकम् ।
तस्माद्गार्हस्थ्यमेवेह दुष्करं दुर्लभं तथा ॥२२॥

यह यज्ञकर्म गृहस्थी पुरुष को अपने कर्तव्य कर्म में लगाए रखता है। इन सब युक्तियों पर विचार करने से गृहस्थ ही दुर्लभ और दुष्कर है ॥२२॥

तत्संप्राप्य गृहस्था ये पशुधान्यधनान्विताः ।
न यजन्ते महाराज शाश्वतं तेषु किल्बिषम् ॥२३॥

राजन् ! इस गृहस्थाश्रम को पाकर और उसमें पशु, धन, धान्य से युक्त होकर जो यजन नहीं करते-वे सर्वदा पाप को प्राप्त करते हैं ॥२-३॥

स्वाध्याययज्ञा ऋषयो ज्ञानयज्ञास्तथाऽपरे ।
अथापरे महायज्ञान् मनस्येव वितन्वते ॥२४॥

बहुत से ऋषि स्वाध्याय करते रहते हैं और बहुत से ज्ञान-यज्ञ में लगे हैं तथा अनेक ऋषि मुनि, मानसिक महायज्ञों का मनन करते हैं अर्थात् मन के विजय और विचार में लीन रहते हैं ॥२४॥

एवं मनः समाधानं मार्गमातिष्ठतो नृप ।
द्विजातेर्ब्रह्मभूतस्य स्पृहयन्ति दिवौकसः ॥२५॥

हे नृप ! इस प्रकार कर्म करते २ उन को वशीभूत करके चलने वाले, ब्रह्मभूत ब्राह्मण की देवता भी श्रद्धा करते हैं अर्थात् उस पदवी को पाने की अभिलाषा करते हैं ।।२५।।

सरत्नानि विचित्राणि संहृतानि ततस्ततः ।
मखेष्वनभिसन्त्यज्य नास्तिक्यमभिजल्पसि ।।२६।।

बड़े २ विचित्र रत्नों को इधर उधर से इकट्ठे करके यज्ञ में उनका बिना व्यय किए संन्यास लेना वेदविरुद्ध नास्तिकता का प्रतिपादन करना है ।।२६।।

कुटुम्बमास्थिते त्यागं न पश्यामि नराधिप ।
राजसूयाश्वमेधेषु सर्वमेधेषु वा पुनः ।।२७।।

हे नराधिप ! गृहस्थाश्रम का अवलम्बन करके इस तरह छोड़कर चल देना-हमने तो कहीं नहीं देखा । राजसूय, अश्वमेध या सर्वमेध यज्ञ में धन का त्याग करना तो सब बताते आए हैं ।

ये चान्ये क्रतवस्तात ब्राह्मणैरभिपूजिताः ।
तैर्यजस्व महीपाल शक्रो देवपतिर्यथा ।।२८।।

हे तात ! महीपाल ! जितने भी यज्ञ, ब्राह्मणों से अभिपूजित है, आप देवपति इन्द्र की भांति इनसे यजन करो ।।२८।।

राज्ञः प्रमाददोषेण दस्युभिः परिमुष्यताम् ।
अशरण्यः प्रजानां यः स राजा कलिरुच्यते ।।२९।।

जब राजा प्रमाद में फंस जाता है। तो प्रजा को दस्यु लोग लेते हैं। जो प्रजा की रक्षा नहीं करता-वह पापी राजा होता है ॥२६॥

अश्वान् गाश्चैव दासीश्च करेणूश्च स्वलंकृताः ।
ग्रामान् जनपदांश्चैव क्षेत्राणि च गृहाणि च ॥३०॥
अप्रदाय द्विजातिभ्यो मात्सर्याविष्टचेतसः ।
वयं ते राजकलयो भविष्याम विशाम्पते ॥३१॥

हे विशाम्पते ! अश्व, गौ, दासी, अलङ्कृत हथिनी, ग्राम, देश क्षेत्र और घर आदि ब्राह्मणों को बिना दान दिए रागद्वेष के वश में होकर जो संन्यास ग्रहण करता है, वह राजा कलयुग का स्वरूप कहाता है ॥३०-३१॥

अदातारोऽशरण्याश्च राजकिल्विषभागिनः ।
दोषाणामेव भोक्तारो न सुखानां कदाचन ॥३२॥

जो यज्ञ आदि करके दान नहीं देते और प्रजा की रक्षा में तत्पर नहीं होते-वे राजा पाप के फल के भोगने वाले होंगे । उनको सुख कभी नहीं मिल सकता है ॥३२॥

अनिष्ट्वा च महायज्ञैरकृत्वा च पितृस्वधाम् ।
तीर्थेष्वनभिसंप्लुत्य प्रव्रजिष्यसि चेत्प्रभो ॥३३॥
छिन्नाभ्रमिव गन्ताऽसि विलयं मारुतेरितम् ।
लोकयोरुभयोर्भ्रष्टो ह्यन्तराले व्यवस्थितः ॥३४॥

हे प्रभो ! बड़े २ यज्ञों से यजन न करके और पितरों को दान न देकर तथा तीर्थ यात्रा विना किए यदि सन्यास ग्रहण करोगे- तो वायु से उड़ाए हुए मेघों के तुल्य विलीन हो जाओगे, यह तो दोनों लोकों से भ्रष्ट होकर वीच में लटकना माना जावेगा।

अन्तर्बहिश्च यत्किञ्चिन्मनो व्यासङ्गकारकम् ।
परित्यज्य भवेत्यागी न हि त्वा प्रतितिष्ठति ॥३५॥

मन को विषयों में लिप्त कराने के जो बाहिरी या भीतरी रागद्वेषादि कारण हैं, उनका त्याग करना ही संन्यास है। तुम्हारी तरह छोड़कर भाग जाने वाला मनुष्य, संन्यासी नहीं हो सकता है।

एतस्मिन्वर्तमानस्य विधावप्रतिषेधिते ।
ब्राह्मणस्य महाराज नोच्छितिर्विद्यते क्वचित् ॥३६॥

हे महाराज ! इस प्रकार वेदानुकूल निष्काम कर्मविधि में वर्तमान ब्राह्मणादि वर्णों को कुछ भी हानि नहीं उठानी पड़ती।

निहत्य शत्रूंस्तरसा समृद्धान् शक्रो यथा दैत्यबलानि संख्ये
कः पार्थ शोचेन्निरतः स्वधर्मे पूर्वैः स्मृते पार्थिवशिष्टजुष्टे ॥

हे धर्मराज ! युद्धक्षेत्र में आपने अपने बल से बड़े२ शक्तिशाली शत्रुओं को इस तरह मार गिराया, जैसे इन्द्र; दैत्य सेना का विध्वंस उड़ा देता है। पूर्वजों से मान्य उत्तम २ राजाओं से स्वीकृत, अपने धर्म का उत्तम रीति से पालन करने पर कौन अज्ञानी चिन्ता कर सकता है ॥३७॥

क्षात्रेण धर्मेण पराक्रमेण जित्वा महीं मन्त्रविद्भ्यः प्रदाय
नाकस्य पृष्ठेऽसि नरेन्द्र गन्ता न शोचितव्यंभवताऽद्य पार्थ॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि नकुलवाक्ये द्वादशोऽध्यायः ॥१२॥

हे नरेन्द्र ! क्षात्रधर्म में स्थित होकर पराक्रम द्वारा सारी पृथिवी का विजय करके एवं उसका मंत्रपाठी ब्राह्मणों को दान देकर आप स्वर्ग लोक में गमन करेंगे। हे पार्थ ! आपको ऐसी उत्तम स्थिति का शोक नहीं करना चाहिए ॥३८॥

इति श्रीमहाभारत शान्तिपर्वान्तर्गत राजधर्मपर्व में नकुल के संन्यास विरोध का बारहवां अध्याय समाप्त हुआ।

तेरहवां अध्याय

सहदेव उवाच—न बाह्यं द्रव्यमुत्सृज्य सिद्धिर्भवति भारत।
शारीरं द्रव्यमुत्सृज्य सिद्धिर्भवति वा न वा ॥१॥

सहदेव ने कहा—हे भारत ! ये बाहरी द्रव्य-धन आदि के त्याग से किसी को सिद्धि नहीं मिला करती-सिद्धि तो शरीर के भीतरी रागद्वेष आदि के त्याग से ही मिलना सम्भव है ॥१॥

बाह्यद्रव्यविमुक्तस्य शारीरेष्वनुगृध्यतः।
यो धर्मो यत्सुखं वा स्याद् द्विषतां तत्तथाऽस्तु नः ॥२॥

बाहरी द्रव्यों का तो त्याग कर दिया जावे और आन्तरिक शरीर में रागद्वेष जड़ पकड़े बैठे रहें-तो इससे जो धर्म और सुख होवे-वह तो हमारे शत्रुओं को प्राप्त होना चाहिए ।।२।।

शारीरं द्रव्यमुत्सृज्य पृथिवीमनुशासतः ।
यो धर्मो यत्सुखं वा स्यात्सुहृदां तत्तथाऽस्तु नः ।।

शरीर के आन्तरिक मन आदि की आसक्ति छोड़कर पृथिवी के अनुशासन करने में जो धर्म और सुख होता है, वह हमें और हमारे सुहृदों को प्राप्त होवे ।।३।।

द्व्यक्षरस्तु भवेन्मृत्युस्त्र्यक्षरं ब्रह्म शाश्वतम् ।
ममेति च भवेन्मृत्युर्न ममेति च शाश्वतम् ।।४।।

मनुष्य को दो अक्षर में मृत्यु और तीन अक्षर में सनातन ब्रह्म की प्राप्ति हो जाती है । संसारिक पदार्थों में ममता का होना, मृत्यु और उनमें आसक्ति का नहीं होना-ब्रह्मप्राप्ति का साधन है

ब्रह्ममृत्यू ततो राजन्नात्मन्येव समाश्रितौ ।
अदृश्यमानौ भूतानि योधयेतामसंशयम् ।।५।।

हे राजन् ! ब्रह्मप्राप्ति या मृत्यु का वरण-यह दोनों अपने ही तो हाथ में है । ये दोनों "मम" और "न मम" का भाव सर्वदा प्राणियों के हृदय में संघर्ष मचाए रहते हैं ।।५।।

अविनाशोऽस्य सत्वस्य नियतो यदि भारत ।
हत्वा शरीरं भूतानां न हिंसा प्रतिपत्स्यते ।।६।।

हे भारत ! यदि प्राणियों के आत्मा का कभी विनाश नहीं होता, तो कर्तव्य कर्म द्वारा युद्ध में प्राणियों के वध करने से हिंसा कैसे मानी जा सकती है, इस तरह आवश्यक युद्ध में हिंसा नहीं हो सकती ॥६॥

अथापि च सहोत्पत्तिः सत्वस्य प्रलयस्तथा ।
नष्टे शरीरे नष्टः स्याद्वृथा च स्यात् क्रियापथः ॥७॥

यदि तुम्हारे मत की कसौटी से आत्मा की शरीर के साथ उत्पत्ति और नाश माना जावे-तो जब शरीर के साथ जीवात्मा भी नष्ट हो गया, तो यह सारा वैदिक कर्मकाण्ड वृथा होजावेगा ।

तस्मादेकान्तमुत्सृज्य पूर्वैः पूर्वतरैश्च यः ।
पन्था निषेवितः सद्भिः स निषेव्यो विजानता ॥८॥

इन सब युक्तियों को सोचकर प्राचीन से प्राचीन पूर्वजों ने एकान्त वास संन्यास का परित्याग करके वैदिक निष्काम कर्म योग का ही अवलम्बन ग्रहण किया है । समझदार मनुष्य को उसका ही आचरण करना चाहिए ॥८॥

लब्ध्वाऽपि पृथिवीं कृत्स्नां सहस्थावरजङ्गमाम् ।
न भुङ्क्ते यो नृपः सम्यङ् निष्फलं तस्य जीवितम् ॥

स्थावर जङ्गम प्राणियों से युक्त, सारी पृथिवी को पाकर भी जो राजा उसका भोग नहीं करता, उसका जीवन निरर्थक है ।

अथवा वसतो राजन् वने वन्येन जीवतः ।
द्रव्येषु यस्य ममता मृत्योरास्ये स वर्तते ॥१०॥

हे राजन् ! जो मनुष्य वन में रहता हो और वन के कन्द मूल फलों से अपना जीवन धारण करता हो, परन्तु उसकी ममता यदि द्रव्यों में लगी रहे, तो बस ? उसे तो मृत्यु के मुख में फंसा हुआ ही जानो ॥१०॥

बाह्यान्तरं च भूतानां स्वभावं पश्य भारत ।
ये तु पश्यन्ति तद्भूतं मुच्यन्ते ते महाभयात् ॥११॥

हे भारत ! तुम प्राणियों के स्वभावों को देखो, कि बाह्यद्रव्य का त्याग कर देते हैं और अन्तर्द्रव्य ममता का त्याग नहीं करते, परन्तु जो साधक घर में या वन में आत्मा ही आत्मा देखता है, वे ही सर्वत्र मृत्यु के भय से छुटकारा पा लेते हैं ॥११॥

भवान् पिता भवान्माता भवान्भ्राता भवान् गुरुः ।
दुःखप्रलापनार्तस्य तन्मे त्वं क्षन्तुमर्हसि ॥१२॥

आप हमारे पिता, माता, भ्राता और गुरु हैं । हे पूज्य ! हमने जो कुछ कहा है, वह दुःख से प्रेरित होकर कहा है, आप हमारी इस धृष्टता को क्षमा कर देना ॥१२॥

तथ्यं वा यदि वाऽतथ्यं यन्मयैतत्प्रभाषितम् ।
तद्विद्धि पृथिवीपाल भक्त्या भरतसत्तम ॥१३॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां
शान्तिपर्वणि राजधर्मपर्वणि सहदेववाक्ये
त्रयोदशोऽध्यायः ॥१३॥

हे भरतवंशश्रेष्ठ ! महीपते ! सच हो या मिथ्या, जो मैंने कुछ भी कहा है-वह सब आपकी भक्ति से ही कहा है-आप उसको कुछ अन्य प्रकार से न समझें ॥१३॥

इति श्रीमहाभारत शान्तिपर्वान्तर्गत राजधर्मपर्व में
सहदेव के कथन का तेरहवां अध्याय
समाप्त हुआ ।

चौदहवां अध्याय

वैशम्पायन उवाच—

अव्याहरति कौन्तेये धर्मराजे युधिष्ठिरे ।
भ्रातृणां ब्रुवतां तांस्तान् विविधान् वेदनिश्चयान् ॥
महाभिजनसम्पन्ना श्रीमत्यायतलोचना ।
अभ्यभाषत राजेन्द्र द्रौपदी योषितां वरा ॥२॥
आसीनमृषभं राज्ञां भ्रातृभिः परिवारितम् ।
सिंहशार्दूलसदृशैर्वारणैरिव यूथपम् ॥३॥

वैशम्पायन बोले—हे राजेन्द्र ! धर्मराज के भ्राता भीमसेन आदि ने अनेक प्रकार से वेद के सिद्धान्त कर्मयोग का प्रतिपादन किया, परन्तु धर्मात्मा कुन्ती-पुत्र राजा युधिष्ठिर बिल्कुल भी न बोले, तब महाकुलोत्पन्न, कान्तिमती, विशाल लोचन धारण करने वाली, स्त्रियों में श्रेष्ठ, द्रौपदी, राजाओं में श्रेष्ठ, सिंह और

शार्दूल आदि के सदृश, भ्राताओं से घेरे हुए, हाथियों से घेर कर बैठे हुए, यूथपति गजराज के समान स्थित धर्मराज से ये वचन बोली ॥१-३॥

अभिमानवती नित्यं विशेषेण युधिष्ठिरे ।
लालिता सततं राज्ञा धर्मज्ञा धर्मदर्शिनी ॥४॥

उसे अपने पति धर्मराज पर विशेष अभिमान था और धर्मराज भी इसका बड़ा ही आदर करते थे, क्योंकि वे इसे धर्म के जानने वाली ही क्या ? धर्म के प्रत्यक्ष आचरण करने वाली समझते थे ॥४॥

आमंत्र्य विपुलश्रोणी साम्ना परमवल्गुना ।
भर्तारमभिसंप्रेक्ष्य ततो वचनमब्रवीत् ।

पुष्ट नितम्बों वाली द्रौपदी ने, बड़ी सुन्दर स्पष्ट मीठी वाणी से धर्मराज को अपनी ओर सम्बोधित किया । अब यह अपने पति धर्मराज की ओर देखती हुई यह वचन कहने लगी ।

द्रौपद्युवाच—इमे ते भ्रातरः पार्थ शुष्यन्ते स्तोकका इव ।
वावाश्यमानास्तिष्ठन्ति न चैनानभिनन्दसे ॥६॥

हे पार्थ ! चातक की भांति तुम्हें समझाने का प्रयत्न करते २ तुम्हारे इन भ्राताओं के कण्ठ सूख चले हैं, परन्तु तुम इनको उत्तर देकर भी प्रफुल्लित नहीं करते ॥६॥

नन्दयैतान्महाराज मत्तानिव महाद्विपान् ।
उपपन्नेन वाक्येन सततं दुःखभागिनः ॥७॥

हे महाराज ! ये मदोन्मत्त हाथी की भांति बिगड़े हुए हैं, तुम इनको युक्तियुक्त वचन सुनाकर प्रफुल्लित करो-यह तुम्हारे साथ सदा से दुःख भोगते चले आ रहे हैं ॥७॥

कथं द्वैतवने राजन् पूर्वमुक्त्वा तथा वचः ।
भ्रातॄनेतान् स्म सहितान् शीतवातातपार्दितान् ॥८॥
वयं दुर्योधनं हत्वा मृधे भोक्ष्याम मेदिनीम् ।
संपूर्णां सर्वकामानामाहवे विजयैषिणः ॥९॥
विरथांश्च रथान् कृत्वा निहत्य च महागजान् ।
संस्तीर्य च रथैर्भूमिं ससादिभिररिन्दमाः ॥१०॥
यजतां विविधैर्यज्ञैः समृद्धैराप्तदक्षिणैः ।
वनवासकृतं दुःखं भविष्यति सुखाय वः ॥११॥
इत्येतानेवमुक्त्वा त्वं स्वयं धर्मभृतां वर ।
कथमद्य पुनर्वीर विनिहंसि मनांसि नः ॥१२॥

हे राजन ! तुमने पूर्व में द्वैतवन में यह वचन कहा था, कि शीत, आतप, वायु और वर्षा आदि से पीड़ित इन सारे भ्राताओं से राजा दुर्योधन को रण में मारकर हम पृथिवी का पालन करेंगे, जो सारी कामनाओं से परिपूर्ण होगी। तुम अरि-विजयी भ्राता, विजयाभिलाषी सारे शत्रु महारथियों को रथहीन बनाकर और उनको गजराजों की भांति पछाड़कर एवं अश्वारोही और रथों से सारी रणभूमि से पार होकर समृद्धिशाली उत्तम २ दक्षिणाओं से युक्त अनेक यज्ञ सम्पादित करना। उस

समय हमारा यह वनवास जनित दुःख, सुख में परिणत हो जावेगा। हे धर्मात्माओं में श्रेष्ठ! वीर! तुम इनसे इस प्रकार स्वयं कहकर भी आज फिर इनके मन को क्यों क्लेशित कर रहे हो ॥८-१२॥

न क्लीबो वसुधां भुंक्ते न क्लीबो धनमश्नुते ।
न क्लीबस्य गृहे पुत्रा मत्स्याः पंक इवासते ॥१३॥

कायर पुरुष, वसुधा का भोग नहीं कर सकता और न वह धन का ही उपार्जन कर सकता है। कायर मनुष्य के घर में पुत्र जीवित नहीं रह सकते या जीते रहते हैं, तो दारिद्र्य में इस तरह पीड़ित होते हैं, जैसे कीचड़ में मछली तड़फती रहती है ॥१३॥

नादण्डः क्षत्रियो भाति नादण्डो भूमिमश्नुते ।
नादण्डस्य प्रजा राज्ञः सुखं विन्दन्ति भारत ॥१४॥

हे भारत! बिना शासन की शक्ति हुए राजा सुशोभित नहीं होता और न बिना प्रभाव उसे पृथिवी प्राप्त ही हो सकती है। प्रभावहीन राजा की प्रजा भी कभी सुख नहीं पा सकती ॥१४॥

मित्रता सर्वभूतेषु दानमध्ययनं तपः ।
ब्राह्मणस्यैव धर्मः स्यान्न राज्ञो राजसत्तम ॥१५॥

हे राजसत्तम! सब प्राणियों से मित्रता, दान, अध्ययन और तप, यह ब्राह्मण का धर्म होता है, क्षत्रिय का नहीं ॥१५॥

असतां प्रतिषेधश्च सतां च परिपालनम् ।
एष राज्ञां परो धर्मः समरे चापलायनम् ॥१६॥

दुष्टों का शासन और सज्जनों का पालन तथा इन बातों को पूर्ण करने में युद्ध से पीछे नहीं हटना-यही क्षत्रियों का परमधर्म माना गया है ॥१६॥

यस्मिन् क्षमा च क्रोधश्च दानादाने भयाभये ।
निग्रहानुग्रहौ चोभौ स वै धर्मविदुच्यते ॥१७॥

जिस मनुष्य में क्षमा और क्रोध, देना, लेना, धर्म से भय और अधर्म से अभय तथा दण्ड और अनुग्रह की शक्ति होती है, वही धर्म का ज्ञाता माना जाता है ॥१७॥

न श्रुतेन न दानेन न सांत्वेन न चेज्यया ।
त्वयेयं पृथिवी लब्धा न संकोचेन चाप्युत ॥१८॥

शास्त्र ज्ञान, दान, शान्ति, यजन और संकोचभाव से इस पृथिवी को तुम नहीं पा सकते हो ॥१८॥

यत्तद्बलममित्राणां तथा वीर्यसमुद्यतम् ।
हस्त्यश्वरथसम्पन्नं त्रिभिरङ्गैरनुत्तमम् ॥१९॥
रक्षितं द्रोणकर्णाभ्यामश्वत्थाम्ना कृपेण च ।
तत्त्वया निहतं वीर तस्माद्भुंक्ष्व वसुन्धराम् ॥२०॥

शत्रुओं की सेना किस प्रकार उद्धत शक्ति से सम्पन्न थी । उसमें हाथी, घोड़े और रथ-ये तीनों सेना के उत्तम अङ्ग भरे पड़े थे, जिसकी द्रोण, कर्ण, अश्वत्थामा और कृपाचार्य आदि रक्षा कर रहे थे-हे वीर ! तुमने उस सेना का भी विनाश कर डाला ।

फिर अब तो आपको इस विशाल पृथिवी का भोग ही करना चाहिए ॥१६-२०॥

जम्बूद्वीपो महाराज नानाजनपदैर्युतः ।
त्वया पुरुषशार्दूल दण्डेन मृदितः प्रभो ॥२१॥

हे महाराज ! अनेक देशों से युक्त जम्बूद्वीप भी तुमने अपने दण्ड से कुचल डाला ॥२१॥

जंबूद्वीपेन सदृशः क्रौञ्चद्वीपो नराधिप ।
अधरेण महामेरोर्दण्डेन मृदितस्त्वया ॥२२॥

हे नराधिप ! जम्बूद्वीप के सदृश ही क्रौञ्च द्वीप है, जो मेरु पर्वत के नीचे की ओर है, उसको भी तुमने दण्ड से अपने वश में कर लिया ॥२२॥

क्रौञ्चद्वीपेन सदृशः शाकद्वीपो नराधिप ।
पूर्वेण तु महामेरोर्दण्डेन मृदितस्त्वया ॥२३॥

हे जनाधिप ! क्रौञ्चद्वीप के सदृश शाकद्वीप है, वह महामेरु पर्वत के पूर्व में है, उसे भी तुमने दण्ड से जीत लिया है ॥२३॥

उत्तरेण महामेरोः शाकद्वीपेन सम्मितः ।
भद्राश्वः पुरुषव्याघ्र दण्डेन मृदितस्त्वया ॥२४॥

हे पुरुष-श्रेष्ठ ! महामेरु पर्वत के उत्तर की ओर शाकद्वीप के सदृश भद्राश्व द्वीप है-आपने उसको अपने प्रभाव से जीत लिया ॥२४॥

द्वीपाश्च सान्तरद्वीपा नानाजनपदाश्रयाः ।
विगाह्य सागरं वीर दण्डेन मृदितास्त्वया ॥२५॥

हे वीर ! बहुत से द्वीप अवान्तर द्वीप जिनमें अनेक देश थे, उन सबको समुद्र का आलोडन करके आपने अपने सैनिक बल से जीत लिया है ॥२५॥

एतान्यप्रतिमेयानि कृत्वा कर्माणि भारत ।
न प्रीयसे महाराज पूज्यमानो द्विजातिभिः ॥२६॥

हे भारत ! इस तरह अनुपम वीर कर्मों को करके भी आप क्यों नहीं प्रसन्न होते हो । हे महाराज ! आपकी तो ब्राह्मण लोग भी सब तरह से प्रशंसा कर रहे हैं ॥२६॥

स त्वं भ्रातृनिमान् दृष्ट्वा प्रतिनन्दस्व भारत ।
ऋषभानिव सम्मत्तान् गजेन्द्रानूर्जितानिव ॥२७॥
अमरप्रतिमाः सर्वे शत्रुसाहाः परन्तपाः ।
एकोऽपि हि सुखायैषां मम स्यादिति मे मतिः ॥
किं पुनः पुरुषव्याघ्र पतयो मे नरर्षभाः ।
समस्तानीन्द्रियाणीव शरीरस्य विचेष्टने ॥२८॥

हे भारत ! अब तुम अपने इन भाइयों की ओर देखकर इन को आनन्दित करो । ये वृषभ की भांति उद्धत और गजों की भांति बलवान् हैं । ये सारे ही भ्राता, देवों के समान सुन्दर, बलवान् और शत्रु-विजयी हैं । इनमें से प्रत्येक वीर की ओर जब दृष्टि से देखती

हूं, तो मुझे प्रत्येक से सुख की प्राप्ति होती है। हे पुरुष-व्याघ्र! इस पर भी ये सारे पुरुष-प्रवीर मेरे पति (रक्षक) हैं, जिससे मेरे हृदय में इनको देखकर आल्हाद होता है। शरीर की चेष्टा में जैसे प्रत्येक इन्द्रिय अपना २ काम करती है, ऐसे ही ये भी मेरी रक्षा में लगे रहते हैं ॥२७-२९॥

अनृतं नाब्रवीच्छ्वश्रूः सर्वज्ञा सर्वदर्शिनी।
युधिष्ठिरस्त्वां पाञ्चालि सुखे धास्यत्यनुत्तमे ॥३०॥
हत्वा राजसहस्राणि बहून्याशु पराक्रमः।
तद्व्यर्थं सम्प्रपश्यामि मोहात्तव जनाधिप ॥३१॥

सब कुछ परिणाम देख लेने वाली सर्वज्ञ मेरी सास कुन्ती मिथ्या नहीं कहा करती है। उसने मुझे कहा है—हे सुन्दरी पाञ्चाली! राजा युधिष्ठिर तुमको सुख में अवश्य स्थापित करेगा। वह पराक्रमी बहुत शीघ्र इन सहस्रों की संख्या में खड़े हुए राजाओं को मार गिरावेगा। हे जनाधिप! आज तुम्हारे मोह से माननीय कुन्ती की बात मिथ्या होती जा रही है ॥३०-३१॥

येषामुन्मत्तको ज्येष्ठः सर्वे तेऽप्यनुसारिणः।
तवोन्मादान्महाराज सोन्मादाः सर्वपाण्डवाः ॥३२॥

जब बड़ा भ्राता ही उन्मत्त हो जाता है, तो उसके छोटे भ्राता भी उसके पीछे चल पड़ते हैं। हे महाराज! आज तुम्हारे उन्माद से ये सारे पाण्डव पागल हो जावेंगे ॥३२॥

यदि हि स्युरनुन्मत्ता भ्रातरस्ते नराधिपः ।
बद्ध्वा त्वां नास्तिकैः सार्धं प्रशासेयुर्वसुन्धराम् ॥

हे नराधिप ! यदि ये तुम्हारे भ्राता पागल न होने वाले होते-तो तुमको नास्तिक विरोधियों के साथ बाँधकर आप स्वयं पृथिवी के शासन के लिए उद्यत हो जाते ॥२३॥

कुरुते मूढ एवं हि यः श्रेयो नाधिगच्छति ।
धूपैरञ्जनयोगैश्च नस्यकर्मभिरेव च ॥२४॥
भेषजैः स चिकित्स्यः स्याद्य उन्मार्गेण गच्छति ।
साऽहं सर्वाधमा लोके स्त्रीणां भरतसत्तम ॥२५॥
तथा विनिकृता पुत्रैर्याऽहमिच्छामि जीवितुम् ।
एतेषां यतमानानां न मेऽद्य वचनं मृषा ॥२६॥
त्वं तु सर्वां महीं त्यक्त्वा कुरुषे स्वयमापदम् ।

मूर्ख मनुष्य ऐसी मूर्खतापन की बातें करा ही करता है, इसी से उसे कुछ भी कल्याण प्राप्त नहीं होता। जो इस तरह पागल होने को हो-उसका धूप, अञ्जन, नस्यकर्म आदि औषध उपचार से चिकित्सा करनी ही चाहिए अर्थात् उसको बांध ही लेना चाहिए। हे भरतसत्तम ! इन सब बातों को देखकर मैं बहुत ही निन्दित स्त्री हूं। जो अपने पुत्रों से बीच में छोड़ी हुई-तुम्हारी यह दशा देखकर भी जीवित रहना चाहती हूं। मैं इन प्रयत्नशील भ्राताओं की कोई अवहेलना नहीं कर रही हूं, परन्तु यह मेरा

वचन मिथ्या नहीं है। तुम अब सारी पृथिवी को छोड़कर अपनी विपत्ति आप स्वयं खड़ी कर रहे हो ॥३४-३६॥

यथाऽऽस्तां सम्मतौ राज्ञां पृथिव्यां राजसत्तम ॥
मान्धाता चाम्बरीषश्च तथा राजन् विराजसे ।
प्रशाधि पृथिवीं देवीं प्रजा धर्मेण पालयन् ॥३८॥
सपर्वतवनद्वीपां मा राजन् विमना भव ।

हे राजसत्तम ! जिस तरह पूर्वकाल में राजा मान्धाता और अम्बरीष सारे राजाओं में श्रेष्ठ हो चुके-उसी तरह आप भी आज सर्वश्रेष्ठ राजा हैं। अब तो आप भी इस पर्वत, वन, द्वीपों से युक्त दिव्य पृथिवी का भोग और धर्मानुसार प्रजा का पालन करो। हे राजन् ! आप अपनी उदासी को छोड़ दीजिए ॥३७-३८॥

यजस्व विविधैर्यज्ञैर्युध्यस्वारीन्प्रयच्छ च ।
धनानि भोगान् वासांसि द्विजातिभ्यो नृपोत्तम ॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि द्रौपदीवाक्ये चतुर्दशोऽध्यायः ॥१४॥

हे नृपोत्तम ! आप अनेक यज्ञों से यजन और शत्रुओं से युद्ध करो तथा ब्राह्मणों को धन, भोग और वस्त्र आदि का दान करते रहो ॥३९॥

इति श्रीमहाभारत शान्तिपर्वान्तर्गत राजधर्मपर्व में द्रौपदी के कथन का चौदहवां अध्याय समाप्त हुआ।

पन्द्रहवां अध्याय

वैशम्पायन उवाच-

याज्ञसेन्या वचः श्रुत्वा पुनरेवार्जुनोऽब्रवीत् ।

अनुमान्य महाबाहुं ज्येष्ठं भ्रातरमच्युतम् ॥१॥

वैशम्पायन बोले—हे राजन ! यज्ञसेनपुत्री द्रौपदी के वचन सुनकर अर्जुन, अपने ज्येष्ठ भ्राता महाबाहु, वीर धर्मराज से सत्कार के साथ यह वचन कहने लगा ॥१॥

अर्जुन उवाच-दण्डः शास्ति प्रजाः सर्वा दण्ड एवाभिरक्षति

दण्डः सुप्तेषु जागर्ति दण्डं धर्मं विदुर्बुधाः ॥२॥

हे राजन ! राजदण्ड ही सारी प्रजा का पालन करता है, दण्ड ही रक्षा करता है, दण्ड ही सोते हुए मनुष्यों में जागता है, इससे विद्वानों ने राजा का धर्म प्रजानुशासन ही माना है ॥२॥

दण्डः संरक्षते धर्मं तथैवार्थं जनाधिप ।

कामं संरक्षते दण्डस्त्रिवर्गो दण्ड उच्यते ॥३॥

हे जनाधिप ! यह राजदण्ड ही प्रजा में धर्म, अर्थ और काम की रक्षा करता है, इससे राजदण्ड ही त्रिवर्ग का संग्रह करने वाला सिद्ध होता है ॥३॥

दण्डेन रक्ष्यते धान्यं धनं दण्डेन रक्ष्यते ।

एवं विद्वन्नुपाधत्स्व भावं पश्यस्व लौकिकम् ॥४॥

हे राजन्! दण्ड से ही प्रजा के धन और धान्य की रक्षा हो सकती है। तुम सारे धर्म के तत्व को समझ लो और लौकिक धर्म कर्मयोग का अनुसरण करो ॥४॥

राजदण्डभयादेके पापाः पापं न कुर्वते ।
यमदण्डभयादेके परलोकभयादपि ॥५॥

परस्परभयादेके पापः पापं न कुर्वते ।
एवं सांसिद्धिके लोके सर्वं दण्डे प्रतिष्ठितम् ॥६॥
दण्डस्यैव भयादेके न खादन्ति परस्परम् ।
अन्धे तमसि मज्जेयुर्यदि दण्डो न पालयेत् ॥७॥

कोई पापी तो राजा के दण्ड के भय से ही पाप नहीं करते हैं और कोई २ यमराज के दण्ड और कोई परलोक के भय से पाप से बचे रहते हैं। किसी को आपस में एक दूसरे की निन्दा का भय लगा रहता है और पाप से पृथक् रहते हैं। संसार का यह स्वभाव तुमने समझ लिया होगा, कि लोग भय से ही एक दूसरे को नहीं खा रहे हैं। यदि संसार में राजशासन पालना न करे-तो सब अन्धकार में डूब कर मर जावें ॥५-७॥

यस्माददान्तान् दमयत्यशिष्टान् दण्डयत्यपि ।
दमनाद्दण्डनाच्चैव तस्माद्दण्डं विदुर्बुधा ॥८॥

यह दण्ड उद्धत लोगों का दमन और चोर लुटेरे जैसे अशिक्षित पुरुषों को दण्ड देने-वाला है। दमन और शासन के कारण ही विद्वान् दण्ड को (सर्वश्रेष्ठ) दण्ड कहते हैं ॥८॥

वाचा दण्डो ब्राह्मणानां क्षत्रियाणां भुजार्पणम्।
दानदण्डाः स्मृता वैश्या निर्दण्डः शूद्र उच्यते ॥

ब्राह्मण को वाणी का दण्ड, क्षत्रिय को भोजन मात्र या भुजा का बन्धन, वैश्य को दान दण्ड का विधान है, शूद्र निर्दण्ड माना गया है। उसे सेवा के सिवा किसी दण्ड का विधान नहीं है॥९॥

असम्मोहाय मर्त्यानामर्थसंरक्षणाय च।
मर्यादा स्थापिता लोके दण्डसंज्ञा विशाम्पते ॥१०॥

हे विशाम्पते! लोगों को अपने २ नियम में चलने, धन की रक्षा करने के निमित्त, लोक में मनीषियों ने मर्यादा स्थापित की है वही तो दण्ड कहाती है ॥१०॥

यत्र श्यामो लोहिताक्षो दण्डश्चरति सूद्यतः।
प्रजास्तत्र न मुह्यन्ते नेता चेत्साधु पश्यति ॥११॥

इस दण्ड का काला आकार है, जिसकी लाल २ आँखें हैं। जिस स्थान पर सावधानी के साथ इस दण्ड का प्रचार है, वहां पर प्रजा मोहित नहीं होती, परन्तु नेता (राजा) को बड़े न्याय से चलना चाहिये ॥११॥

ब्रह्मचारी गृहस्थश्च वानप्रस्थश्च भिक्षुकः।
दण्डस्यैव भयादेते मनुष्या वर्त्मनि स्थिताः ॥१२॥

ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यासी-ये सारे दण्ड के भय से ही अपने २ मार्ग में चल रहे हैं ॥१२॥

नाभीतो यजते राजन्नाभीतो दातुमिच्छति ।
नाभीतः पुरुषः कश्चित्समये स्थातुमिच्छति ॥१३॥

हे राजन ! किसी को राजशासन का भय नहीं हो-तो वह व्यर्थ क्यों यजन का कष्ट उठावेगा । कोई भी दण्ड के विना किसी अधिकार को नहीं देगा । कोई भी पुरुष विना भय के अपने नियम में स्थित नहीं रह सकता है ॥१३॥

नाच्छित्त्वा परमर्माणि नाकृत्वा कर्म दुष्करम् ।
नाहत्वा मत्स्यघातीव प्राप्नोति महतीं श्रियम् ॥१४॥

दूसरे अनधिकारी के मर्मो को आघात पहुँचाए विना अथवा युद्ध आदि दुष्कर्म के विना किए एवं दुष्टों को मत्स्यघाती धीवर की तरह विना मारे-कोई भी राज्यलक्ष्मी को नहीं पा सकता है ।

नाघ्नतः कीर्तिरस्तीह न वित्तं न पुनः प्रजाः ।
इन्द्रो वृत्रवधेनैव महेन्द्रः समपद्यत ॥१५॥
य एव देवा हन्तारस्ताँल्लोकोऽर्चयते भृशम् ।
हन्ता रुद्रस्तथा स्कन्दः शक्रोऽग्निर्वरुणो यमः ॥१६॥
हन्ता कालस्तथा वायुर्मृत्युर्वैश्रवणो रविः ।
वसवो मरुतः साध्या विश्वेदेवाश्च भारत ॥१७॥
एतान्देवान्नमस्यन्ति प्रतापप्रणता जनाः ।

हे भारत ! इन्द्र ने वृत्रासुर का वध करके ही स्वर्ग का राज्य प्राप्त किया है । जो देवता उसके साथ युद्ध में सम्मिलित होकर

दैत्यों का नाश करने हैं, इनकी ही संसार सबसे अधिक पूजा करता है। रुद्र, स्कन्द, शुक्र, अग्नि, वरुण, यम, काल, वायु, मृत्यु, कुवेर, सूर्य, वसु, मरुत, साध्य, विश्वेदेवा-ये सब युद्ध करने वाले हैं। इनको लोग इनके प्रताप के कारण ही झुकते हैं ॥१७॥

न ब्रह्माणं न धातारं न पूषाणं कथञ्चन ॥१८॥

मध्यस्थान्सर्वभूतेषु दान्तान् शमपरायणान् ।

यजन्ते मानवाः केचित्प्रशान्ताः सर्वकर्मसु ॥१६॥

कोई भी मनुष्य, ब्रह्मा, धाता, पूषा जैसे शान्ति परायण उदार देवों की पूजा करता नहीं देखा, क्योंकि ये किसी को मारते नहीं-सबसे उदासीन रहते हैं। जो सारे कर्मों में शान्त हो चुके हैं, ये कोई २ मनुष्य ही कभी २ इनकी पूजा करता देखा गया है ॥१८-१६॥

न हि पश्यामि जीवन्तं लोके कश्चिदहिंसया ।

सत्वैः सत्वा हि जीवन्ति दुर्बलैर्बलवत्तरा ॥२०॥

बिना हिंसा किए कोई जीता रह सका हो-मैंने तो ऐसा कहीं देखा नहीं है। बलवान् जन्तु, दुर्बल जीवों को नित्य खाते देखे गए हैं ॥२०॥

नकुलो मूषिकानत्ति बिडालो नकुलं तथा ।

बिडालमत्ति श्वा राजन् श्वानं व्यालमृगस्तथा ॥

तानत्ति पुरुषः सर्वान्पश्य कालो यथागतः ।

हे राजन! नकुल चूहे, बिडाल नकुल, कुत्ता बिडाल और व्याघ्र आदि हिंसक जन्तु, कुत्ते को मार खाते हैं, परन्तु इन सब को पुरुष खाता या मारता रहता है। तुम काल की इस चाल का अवलोकन करो ॥२१॥

प्राणस्यान्नमिदं सर्वं जङ्गमं स्थावरं च यत् ॥२२॥
विधानं दैवविहितं तत्र विद्वान्न मुह्यति।

जो कुछ भी स्थावर जड़ी बूटी और जङ्गम पशु आदि जगत है, यह एक दूसरे प्राणी का भोजन बना हुआ है। यह तो दैव का विधान है। विद्वान् को यह देखकर मोहित नहीं होना चाहिए।

यथा सृष्टोऽसि राजेन्द्र तथा भवितुमर्हसि ॥२३॥
विनीतक्रोधहर्षा हि मन्दा वनमुपाश्रिताः।

हे राजेन्द्र! तुमको जिस क्षत्रिय वर्ण में उत्पन्न किया-तुम्हें वैसा ही कर्म करना उचित है। जो क्रोध हर्ष को जीतकर वन में जाना चाहते हैं, हम तो उन्हें मूर्ख ही समझते हैं ॥२३॥

विना वधं न कुर्वन्ति तापसाः प्राणयापनम् ॥२४॥
उदके बहवः प्राणाः पृथिव्यां च फलेषु च।

हम तो तपस्वी मुनियों को भी विना जीव जन्तुओं के वध के प्राण यात्रा चलाते नहीं देखते। जल में बहुत से प्राणी रहते हैं और इसी तरह पृथिवी और फलों में भी जीवों का निवास है।

न च कश्चिन्न तान् हन्ति किमन्यत्प्राणयापनात् ॥
सूक्ष्मयोनीनि भूतानि तर्कगम्यानि कानिचित्।
पक्ष्मणोऽपि निपातेन येषां स्यात्स्कंधपर्ययः ॥२६॥

कोई भी व्यक्ति ऐसा नहीं है, जो जीव वध न करता हो। प्राण-यात्रा के बिना तो कोई प्राणी है ही नहीं। कुछ तो इतने छोटे जन्तु हैं, जो केवल अनुमान से ही जाने जा सकते हैं। वे तो पलक मारने से भी संसार से विदा होकर अपनी योनि बदल लेते हैं ॥२५-२६॥

ग्रामान्निष्क्रम्य मुनयो विगतक्रोधमत्सराः ।
वने कुटुम्बधर्माणो दृश्यन्ते परिमोहिताः ॥२७॥

गांवों से निकल कर और क्रोध-मत्सर आदि का परित्याग करके बहुत से मनुष्य मुनि बन जाते हैं, परन्तु फिर भी वे काम-वासनाओं में लिप्त होकर कुटुम्ब के कामधन्धों में उलझे देखे जाते हैं, जिससे नरक मिलता है ॥२७॥

भूमिं भित्त्वौषधीश्छित्वा वृक्षादीनंडजान् पशून् ।
मनुष्यास्तन्वते यज्ञांस्ते स्वर्गं प्राप्नुवन्ति च ॥२८॥

भूमि को खोद कर, ओषधि वृक्ष आदि को काट कर तथा पशु पक्षियों को भी हानि पहुँचा कर लोग यज्ञ करते हैं और उसमें परोपकार की भावना होने से स्वर्ग चले जाते हैं ॥२८॥

दण्डनीत्यां प्रणीतायां सर्वे सिद्ध्यन्त्युपक्रमाः ।
कौन्तेय सर्वभूतानां तत्र मे नास्ति संशयः ॥२९॥

हे कौन्तेय ! सारे मनुष्यों के जितने भी कार्य हैं, वे सब उचित दण्डनीति के प्रयोग से सिद्ध होते हैं-इसमें तुम सन्देह न समझो ॥२९॥

दण्डश्चेन्न भवेल्लोके विनश्येयुरिमाः प्रजाः ।
जले मत्स्यानिवाभक्षन् दुर्बलान्बलवत्तराः ॥३०॥

यदि लोक में दण्ड की सत्ता उठा ली जावे, तो सारी प्रजा नष्ट हो जावेगी । बलवान मनुष्य, दुर्बलों को इस तरह खा जावें जैसे जल में बड़ी मछली छोटी मछली को खा जाती है ॥३०॥

सत्यं चेदं ब्रह्मणा पूर्वमुक्तं दण्डः प्रजा रक्षति साधु नीतः ।
पश्याग्नयश्च प्रतिशाम्य भीताः सन्तर्जितादण्डभयाज्ज्वलन्ति

ब्रह्मा ने सर्व प्रथम यही सत्य बात कही थी, कि उचित विधि से किया गया दण्ड का प्रयोग प्रजा की रक्षा करता रहता है । ये अग्नियां भी शान्त हो जाती हैं, परन्तु ज्यों ही इनको परमात्मा की फटकार प्राप्त होती है, त्योंही ये दण्ड के भय से मानो प्रज्वलित हो उठती हैं ॥३१॥

अन्धं तम इवेदं स्यान्न प्रज्ञायत किंचन ।
दण्डश्चेन्न भवेल्लोके विभजन्साध्वसाधुनी ॥३२॥

यदि संसार में साधु और असाधु पुरुष के विभाग का करने वाला, यह दण्ड न होता-तो इस संसार में केवल अन्धकार ही अन्धकार होता और कुछ भी नहीं जाना जा सकता था ॥३२॥

येऽपि संभिन्नमर्यादा नास्तिका वेदनिन्दकाः ।
तेऽपि भोगाय कल्पन्ते दण्डेनाशु निपीडिताः ॥३३॥

जो वेदनिन्दक नास्तिक, मर्यादा के उच्छेदक हैं, वे भी इस दण्ड के भय से सीधे २ चलते रहते हैं, जिससे प्राणियों के भोगों के साधन बनते रहते हैं ॥३३॥

सर्वो दण्डजितो लोको दुर्लभो हि शुचिर्जनः ।
दण्डस्य हि भयाद्भीतो भोगायैव प्रवर्तते ॥३४॥

यह संसार तो दण्ड के अधीन ही चलता देखा गया है। धर्म के आश्रय से चलने वाला पुरुष तो कोई विरला ही होगा। सारा संसार दण्ड के भय से एक दूसरे के व्यवहार का प्रवर्तक दिखाई देता है ॥३४॥

चातुर्वर्ण्यप्रमोदाय सुनीतिनयनाय च ।
दण्डो विधात्रा विहितो धर्मार्थौ भुवि रक्षितुम् ॥३५॥

चारों वर्णों के प्रमोद, न्याय के विकास के निमित्त विधाता ने दण्ड का एक विधान किया है, जिससे पृथिवी पर धर्म और अर्थ की रक्षा होती है ॥३५॥

यदि दण्डान्न बिभ्येयुर्वयांसि श्वापदानि च ।
अद्युः पशून्मनुष्यांश्च यज्ञार्थानि हवींषि च ॥३६॥

यदि बनैले सिंह आदि जन्तु और सर्प आदि कीट-पक्षी, दण्ड से भयातुर न होवें-तो वे आज ही सारे मनुष्य और गवादि पशुओं का भक्षण कर जावें और यज्ञ के निमित्त कोई भी हवि के साधन न छोड़ें ॥३६॥

न ब्रह्मचार्यधीयीत कल्याणीं न दुहेत गाम् ।
न कन्योद्वहनं गच्छेद्यदि दण्डो न पालयेत् ॥३७॥

कोई ब्रह्मचारी वेदाध्ययन न करे और न गुरुकुल में वह गुरुसेवा करता हुआ गाय को दुहे तथा न कोई कन्या विवाह के बन्धन में पड़े, जो यह दण्ड संसार में विद्यमान न होवे ॥३७॥

विष्वग्लोपः प्रवर्तेत भिद्येरन्सर्वसेतवः ।
ममत्वं न प्रजानीयुर्यदि दण्डो न पालयेत् ॥३८॥

यदि दण्ड प्रजा की रक्षा में तत्पर न होवे-तो सारे संसार का लोप हो जावे, सारी मर्यादाएँ छिन्न भिन्न हो जावें। कोई किसी से ममता का प्रदर्शन न करे ॥३८॥

न सम्वत्सरसत्राणि तिष्ठेयुरकुतोभयाः ।
विधिवद्दक्षिणावन्ति यदि दण्डो न पालयेत् ॥३९॥

इस जगत् में प्रजा की रक्षा दण्ड न करता होता, तो निर्भीकता के साथ बड़ी २ दक्षिणा वाले, यज्ञों को कोई पुरुष विधि-पूर्वक सम्पादित नहीं कर सकता ॥३९॥

चरेयुर्नाश्रमं धर्मं यथोक्तं विधिसाश्रिताः ।
न विद्यां प्राप्नुयात्कश्चिद्यदि दण्डो न पालयेत् ॥४०॥

कोई भी मनुष्य शास्त्रोक्त विधि से अपने २ वर्णाश्रम धर्मों के पालन में तत्पर दिखाई नहीं देता और न कोई विद्या ही पढ़ता-जो दण्ड आकर उसका शासन न करता ॥४०॥

न चोष्ट्रा न बलीवर्दा नाश्वाश्वतरगर्दभाः ।
युक्ता वहेयुर्यानानि यदि दण्डो न पालयेत् ॥४१॥

हे राजन्! क्या ऊँट, क्या बैल, गधे, घोड़े और घोड़ियां-सभी उचित रीति से भार उठाने का कर्म सम्पादित करते दिखाई नहीं देते-जो दण्ड, उनके मस्तक पर नाचता दिखाई नहीं देता ॥४१॥

न प्रेष्या वचनं कुर्युर्न बाला जातु कर्हिचित् ।
न तिष्ठेद्युवतिर्धर्मे यदि दण्डो न पालयेत् ॥४२॥

कभी सेवक आज्ञा का पालन न करते और बच्चे नियम में नहीं रहते। युवति स्त्रियां कब पतिव्रत धर्म का पालन कर सकती थी। यह तो सब कुछ दण्ड की महिमा से ही हो रहा है ॥४२॥

दण्डे स्थिताः प्रजाः सर्वा भयं दण्डे विदुर्बुधाः ।
दण्डे स्वर्गो मनुष्याणां लोकोऽयं सुप्रतिष्ठितः ॥४३॥

हे नृप ! सारी प्रजा दण्ड पर स्थित है। दण्ड से सब को भय हो रहा है। इस दण्ड के ऊपर ही मनुष्यों को सुख के देने वाले स्वर्ग-लोक की स्थिति है ॥४३॥

न तत्र कूटं पापं वा वञ्चना वाऽपि दृश्यते ।
यत्र दण्डः सुविहितश्चरत्यरिविनाशनः ॥४४॥

जिस स्थान पर उचित रीति पर शत्रुनाशक दण्ड का प्रयोग है, वहां पर कोई छल, पाप या प्रवञ्चना दिखाई नहीं देती है।

हविः श्वा प्रलिहेद्दृष्ट्वा दण्डश्चेन्नोद्यतो भवेत् ।
हरेत्काकः पुरोडाशं यदि दण्डो न पालयेत् ॥४५॥

यदि सन्मुख दण्ड खड़ा दिखाई न देवे, तो सारी यज्ञ हवि को कुत्ता खा जावे तथा जो दण्ड पालना न कर रहा हो, तो इस यज्ञ के पुरोडाश को कव्वा खाकर अलग करे ॥४५॥

यदीदं धर्मतो राज्यं विहितं यद्यधर्मतः ।
कार्यस्तत्र न शोको वै भुंक्ष्व भोगान् यजस्व च ॥४६॥

हे राजन् ! अब तो यह पृथिवी का राज्य धर्म या अधर्म जैसे भी कहो—वैसे ही हम लोगों को प्राप्त हो गया है । तुमको इस विषय में शोक नहीं करना चाहिए। अब तो तुम भोगों का उपभोग करो और धर्मानुसार यज्ञ वेदी रचाओ ॥४६॥

सुखेन धर्मं श्रीमन्तश्चरन्ति शुचिवाससः ।
संवर्षन्तः फलैर्दानैर्भुञ्जानाश्चान्नमुत्तमम् ॥४७॥

शुद्ध उज्ज्वल वस्त्र धारण करके धर्मात्मा धनी मनुष्य सुखपूर्वक धर्म का आचरण करते हैं । वे लोग उत्तम भोगों को भोगते हुए उत्तम २ दान के साथ बरसते रहते हैं ॥४७॥

अर्थे सर्वे समारम्भाः समायत्ता न संशयः ।
स च दण्डे समायत्तः पश्य दण्डस्य गौरवम् ॥४८॥

संसार के सारे कार्य धन पर अवलम्बित हैं और धन इस दण्ड के अधीन है, अब आप इस बात से ही दण्ड के महत्व का अनुमान लगा सकते हैं ॥४८॥

लोकयात्रार्थमेवेह धर्म प्रवचनं कृतम् ।
अहिंसा साधु हिंसेति श्रेयान् धर्मपरिग्रहः ॥४९॥

संसार का व्यवहार चलता रहे, इसी लिए धर्म की व्याख्या की गई है। अहिंसा हो या हिंसा कुछ भी क्यों न हो, जिससे धर्म की रक्षा हो-उसे ही ग्रहण करना चाहिए ॥४९॥

नात्यन्तं गुणवत्किञ्चिन्न चाप्यत्यन्तनिर्गुणम् ।
उभयं सर्वकार्येषु दृश्यते साध्वसाधु वा ॥५०॥

संसार में कोई भी कर्म सर्वदा धर्म ही नहीं होता और न किसी कर्म को सर्वथा अधर्म ही कह सकते हैं। यह तो समय २ पर कामों के परिणाम पर अच्छे बुरे की विवेचना होती है ॥५०॥

पशूनां वृषणं छित्वा ततो भिन्दन्ति मस्तकम्।
वहन्ति बहवो भारान्बध्नन्ति दमयन्ति च ॥५१॥

कोई मनुष्य पशुओं के वृषण (अण्डकोश) फोड़कर उन्हें बधिया बना देते हैं और उनकी नाक बींधकर उसमें रस्सी डाल देते हैं, उनसे बहुत से भार उठाते हैं तथा उन्हें बांधते और मारते हैं, यह सब कुछ कर्म दण्ड की व्यवस्था ही से तो हो रहा है ॥५१॥

एवं पर्याकुले लोके वितथैर्जर्जरीकृते।
तैस्तैर्न्यायैर्महाराज पुराणं धर्ममाचर ॥५२॥

हे महाराज ! इस संसार में तो ऐसे ही एक दूसरे से पीड़ित किया जाता है। अन्याय से सारे जर्जरित है। अब आप न्याय व्यवस्था का अवलम्बन करके प्राचीन धर्म की पालना करने को उद्यत हो जाओ ॥५२॥

यज देहि प्रजां रक्ष धर्मं समनुपालय।
अमित्रान् जहि कौन्तेय मित्राणि परिपालय ॥५३॥

हे कौन्तेय ! अब यज्ञ करो-प्रजा पालन में तत्पर हो जाओ-धर्म की रक्षा को कमर कस लो। इसी तरह आगे भी शत्रुओं का वध और मित्रों की रक्षा करते रहो ॥५॥

मा च ते निघ्नतः शत्रून् मन्युर्भवतु पार्थिव ।
न तत्र किल्विषं किञ्चित्कर्तुर्भवति भारत ॥५४॥

हे महीपते ! तुम शत्रुओं को मारो और उससे शोक न करो, हे भारत ! इस विषय में पाप की आशंका करना भारी भूल होगी। धर्मरक्षार्थ की गई हिंसा में कर्ता को कोई पाप नहीं लगता है ॥५४॥

आततायी हि यो हन्यादाततायिनमागतम् ।
न तेन भ्रूणहा स स्यान्मन्युस्तं मन्युमार्च्छति ॥५५॥

आते हुए घातक को यदि दूसरा घातक मार लेवे-तो इससे वह पाप का भागी नहीं होता-क्योंकि उसको तो उसका पाप ही नष्ट कर रहा है ॥५५॥

अवध्यः सर्वभूतानामन्तरात्मा न संशयः ।
अवध्ये चात्मनि कथं वध्यो भवति कस्य चित् ॥५६॥

अपना आत्मा सबके लिए अवध्य है-इसमें कोई सन्देह नहीं है। जब आत्मा ही अवध्य ठहरा गया, तो फिर दूसरे के मारने के निमित्त इसे कैसे सौंपा जा सकता है ॥५६॥

यथा हि पुरुषः शालां पुनः सम्प्रविशेन्नवाम् ।
एवं जीवः शरीराणि तानि तानि प्रपद्यते ॥५७॥

जिस प्रकार मनुष्य समय २ पर नये २ गृहों में अपने को प्रविष्ट करता रहता है, उसी तरह यह जीवात्मा भी समय २ पर शरीर बदलता है ॥५७॥

देहान्पुराणानुत्सृज्य नवान्सम्प्रतिपद्यते ।
एवं मृत्युमुखं प्राहुर्जना ये तत्वदर्शिनः ॥५८॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्त्र्यां संहितायां वैयासिक्यां शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि अर्जुनवाक्ये पंचदशोऽध्यायः ॥१५॥

जो तत्वदर्शी विद्वान् मनुष्य हैं, वे मृत्यु की व्याख्या ही यह करते हैं, कि जीवात्मा अपने पुराने देहों को वस्त्रों की भांति छोड़ कर नये ग्रहण कर लेता है-बस ? यही मृत्यु है, इसके सिवा मृत्यु अन्य कुछ भी नहीं है ॥५८॥

इति श्रीमहाभारत शान्तिपर्वान्तर्गत राजधर्मपर्व में अर्जुन द्वारा दण्ड महत्व वर्णन का पन्द्रहवाँ अध्याय समाप्त हुआ ।

सोलहवां अध्याय

वैशम्पायन उवाच—अर्जुनस्य वचः श्रुत्वा भीमसेनोऽत्यमर्षणः
धैर्यमास्थाय तेजस्वी ज्येष्ठं भ्रातरमब्रवीत् ॥१॥

वैशम्पायन बोले—हे ब्रह्मन् ! अर्जुन के वचन सुनकर अत्यन्त असहिष्णु तेजस्वी भीमसेन धैर्य के साथ अपने ज्येष्ठ भ्राता राजा युधिष्ठिर से इस प्रकार कहने लगा ॥१॥

राजन् विदितधर्मोऽसि न तेऽस्त्यविदितं क्वचित् ।
उपशिक्षाम ते वृत्तं सदैव न च शक्नुमः ॥२॥

हे राजन् ! आपको सारे धर्मों का ज्ञान है। आपको कुछ भी अविदित नहीं है। हम लोग तो आपके आचरण का अनुसरण मात्र करते हैं, किन्तु वैसा आचरण पूरा करने में समर्थ नहीं हो पाते ॥२॥

न वक्ष्यामि न वक्ष्यामीत्येवं मे मनसि स्थितम् ।
अतिदुःखात्तु वक्ष्यामि तन्निबोध जनाधिप ॥३॥

हे जनाधिप ! मैं बार २ सोचता हूँ, कि कुछ कहूं या न कहूं। यह बात मेरे मन में बहुत देर से चक्कर लगा रही है, परन्तु मेरा चित्त बड़ा दुःखी है, इससे कहे विना रहा नहीं जाता। आप इस को ध्यान से सुने ॥३॥

भवतः सम्प्रमोहेन सर्वं संशयितं कृतम् ।
विक्लवत्वं च नः प्राप्तमबलत्वं तथैव च ॥४॥

हे महाराज ! आपके इस मोह से हमारे सारे कार्य झंझट में फंस गए हैं, इससे हमारी व्याकुलता और दुर्बलता बढ़ती चली जा रही है ॥४॥

कथं हि राजा लोकस्य सर्वशास्त्रविशारदः ।
मोहमापद्यसे दैन्याद्यथा कापुरुषस्तथा ॥५॥

जो सारे शास्त्रों का विद्वान् और सारी पृथिवी का सम्राट् हो-वह कायर पुरुष की भांति दीन होकर इस तरह मोह में फंस जावे-यह बड़ी विचित्र बात है ॥५॥

अगतिश्च गतिश्चैव लोकस्य विदिता तव ।
आयत्यां च तदात्वे च न तेऽस्त्यविदितं प्रभो ॥६॥

हे प्रभो! लोक की गति और अगति के आप भावुक पर.त्तक हैं। आप भविष्य और वर्तमान के परिणाम के सोचने में समर्थ हैं। आपको कुछ भी अविदित नहीं है ॥६॥

एवं गते महाराज राज्यं प्रति जनाधिप।
हेतुमत्र प्रवक्ष्यामि तमिहैकमनाः शृणु ॥७॥

हे महाराज! जनाधिप! जब ऐसी परिस्थति उत्पन्न हो गई-तो राज्य को लक्ष्य करके मैं तुमको कारण-पूर्वक कुछ वचन कहता हूं. तुम एकाग्र मन से सुनो ॥७॥

द्विविधो जायते व्याधिः शारीरो मानसस्तथा।
परस्परं तयोर्जन्म निर्द्वन्द्वं नोपलभ्यते ॥८॥
शारीराज्जायते व्याधिर्मानसो नात्र संशयः।
मानसाज्जायते वाऽपि शारीर इति निश्चयः ॥९॥
शारीरं मानसं दुःखं योऽतीतमनुशोचति।
दुःखेन लभते दुःखं द्वावनर्थौ च विन्दति ॥१०॥

व्याधि, शरीर और मन के भेद से दो प्रकार की होती हैं। एक के उत्पन्न होते ही दूसरी भी उत्पन्न हो जाती है। कोई केवल शारीरिक या मानसिक ही नहीं रह जाती है। शारीरिक व्याधि से मानसिक और मानसिक से शारीरिक व्याधि उत्पन्न होती हैं, यह निश्चय है। जो मनुष्य शारीरिक या मानसिक भूतकाल के दुःखों की व्यर्थ चिन्ता करता रहता है, उसे प्रथम दुःख के साथ यह दूसरा दुःख उत्पन्न होता है। वह तो दोनों प्रकार

के अनर्थों को पाता है-कोई स्मरण करने से दुःख से छुटकारा नहीं पा सकता है ॥८-१०॥

शीतोष्णे चैव वायुश्च त्रयः शारीरजा गुणाः ।
तेषां गुणानां साम्यं यत्तदाहुः स्वस्थलक्षणम् ॥११॥
तेषामन्यतमोद्रेके विधानमुपदिश्यते ।
उष्णेन बाध्यते शीतं शीतेनोष्णं प्रबाध्यते ॥१२॥

शीत (कफ) उष्ण (पित्त) और वायु-ये तीन शरीर के धातु हैं। इन तीनों गुणों के ठीक २ कार्य करने को नीरोगता कहते हैं। यदि इनमें से एक भी गुण बिगड़ गया-तो फिर उसकी चिकित्सा करनी पड़ती है। उष्ण (पित्त) से शीत (कफ) और शीत से उष्ण की शान्ति होती है ॥११-१२॥

सत्वं राजस्तम इति मानसाः स्युस्त्रयो गुणाः ।
तेषां गुणानां साम्यं यत्तदाहुः स्वस्थलक्षणम् ॥१३॥
तेषामन्यतमोत्सेके विधानमुपदिश्यते ।
हर्षेण बाध्यते शोको हर्षः शोकेन बाध्यते ॥१४॥

मन के सत्व, रज और तम-ये तीन गुण माने जाते हैं। इनके ठीक २ रहने से मन की नीरोगता समझनी चाहिये। इनमें एक के बिगड़ने से इसकी चिकित्सा करनी चाहिए। हर्ष से शोक का नाश और शोक से हर्ष का नाश होता है ॥१३-१४॥

कश्चित्सुखे वर्तमानो दुःखस्य स्मर्तुमिच्छति ।
कश्चिद्दुःखे वर्तमानः सुखस्य स्मर्तुमिच्छति ॥१५॥

जो कोई मनुष्य सुख में रहता है, वह दुखः का स्मरण करता है और जो दुःख में फंस जाता है, वह सुख का स्मरण करता रहता है ॥१५॥

स त्वं न दुःखी दुःखस्य न सुखी च सुखस्य वा ।
न दुःखी सुखजातस्य न सुखी दुःखजस्य वा ॥१६॥
स्मर्तुमिच्छसि कौरव्य दिष्टं हि बलवत्तरम् ।
अथवा ते स्वभावोऽयं येन पार्थिव क्लिश्यसे ॥१७॥

हे कुरुवंशश्रेष्ठ ! धर्मराज ! न तो तुम दुःखी होकर दुःख को और न सुखी होकर सुख का क्लेश या आनन्द मानते हो तथा न दुःखी होकर सुख को और सुखी होकर दुःख की पीड़ा का स्मरण ही करते हो, इसमें भाग्य को ही बलवान् कहना चाहिए। हे महीपते ! तुम्हारा तो यह चिन्ता करने का स्वभाव ही प्रतीत होता है ॥१६-१७॥

दृष्ट्वा सभागतां कृष्णामेकवस्त्रां रजस्वलाम् ।
मिषतां पाण्डुपुत्राणां न तस्य स्मर्तुमर्हसि ॥१८॥

द्रौपदी रजस्वलावस्था में एक वस्त्र ही पहिने हुई थी। उसको उसी अवस्था में कौरवसभा में खींच लाए और हम पाण्डव देखते रहे-इस दुःख का क्या तुम स्मरण न करोगे ॥१८॥

प्रव्राजनं च नगरादजिनैश्च विवासनम् ।
महारण्यनिवासश्च न तस्य स्मर्तुमर्हसि ॥१९॥

हम लोगों को मृगचर्म पहिनाकर नगर से बाहर निकाल दिया और वन में रहने को बाधित किया, तो भी आपको उसका स्मरण करके क्या दुःखी नहीं होना चाहिए ॥१६॥

जटासुरात्परिक्लेशं चित्रसेनेन चाहवम् ।
सैन्धवाच्च परिक्लेशं कथं विस्मृतवानसि ॥२०॥
पुनरज्ञातचर्यायां कीचकेन पदा वधम् ।
द्रौपद्या राजपुत्र्याश्च कथं विस्मृतवानसि ॥२१॥

हमने जटासुर राक्षस से महान् क्लेश, चित्रसेन गन्धर्व के साथ युद्ध और सिन्धुराज जयद्रथ से जो धर्षणा प्राप्त की, उनको आप कैसे भूल सकेंगे। विराट के नगर में अज्ञातवास करते हुए राजपुत्री द्रौपदी के कीचक ने पैर की ठोकर मारी-उसे आप भूल नहीं सकते हैं ॥२१॥

यच्च ते द्रोणभीष्माभ्यां युद्धमासीदरिन्दम ।
मनसैकेन योद्धव्यं तत्ते युद्धमुपस्थितम् ॥२२॥

हे अरिमर्दन ! पूर्वकाल में तुम्हारा द्रोण और भीष्म दो के साथ युद्ध हुआ था और अब एक मन से युद्ध करना है और उसका अब समय उपस्थित हो गया है ॥२२॥

यत्र नास्ति शरैः कार्यं न मित्रैर्न च बन्धुभिः ।
आत्मनैकेन योद्धव्यं तत्ते युद्धमुपस्थितम् ॥२३॥

इस युद्ध में न तो बाणों का काम पड़ेगा और न मित्र, बन्धु ही कुछ काम आवेंगे। यह भौतिक युद्ध नहीं है। यह तो आत्मा का युद्ध है-जो आपको आज लड़ना है ॥२३॥

तस्मिन्ननिर्जिते युद्धे प्राणान्यदि विमोक्ष्यसे ।
अन्यं देहं समास्थाय ततस्तैरपि योत्स्यसे ॥२४॥

यदि मन के बिना जीते आपने युद्ध में अपने प्राण छोड़ दिए, तो अन्य देह में जाकर उनके साथ युद्ध करना ही पड़ेगा ॥२४॥

तस्मादद्यैव गन्तव्यं युद्धयस्व भरतर्षभ ।
परमं व्यक्तरूपस्य व्यक्तं त्यक्त्वा स्वकर्मभिः ॥२५॥

हे भरतर्षभ ! अब तुमको आज ही मन के साथ युद्धयात्रा कर देनी चाहिए। तुम युद्ध को सन्नद्ध हो जाओ। मन का अत्यन्त स्थूल रूप हो रहा है। अपने दिव्य कर्मों से उसके व्यक्त (स्थूल) रूप का परित्याग करो ॥२५॥

तस्मिन्ननिर्जिते युद्धे कामवस्थां गमिष्यसि ।
एतज्जित्वा महाराज कृतकृत्यो भविष्यसि ॥२६॥

यदि आपने इस मानसिक युद्ध में विजय प्राप्त न की-तो तुम्हारी न जाने क्या दशा होगी। हे महाराज ! जो इस युद्ध को जीत लिया-तो तुम कृतार्थ हो जाओगे ॥२६॥

एतां बुद्धिं विनिश्चित्य भूतानामागतिं गतिम् ।
पितृपैतामहे वृत्ते शाधि राज्यं यथोचितम् ॥२७॥

तुम इस बुद्धि को निश्चित बनाओ और प्राणियों के मरने जीने की गति का विचार करो। इन सब कारणों से चिन्ता छोड़ो और पिता, पितामह से चले आते हुए राज्य का यथाविधि उपभोग करो ॥२७॥

दिष्ट्या दुर्योधनः पापो निहतः सानुगो युधि ।

द्रौपद्याः केशपाशस्य दिष्ट्या त्वं पदवीं गतः ॥२८॥

दुष्ट राजा दुर्योधन सेना सहित मार लिया गया, यह बड़े आनन्द की बात है । आज तुम द्रौपदी के बालों के बंधवाने के पद को पा चुके हो, क्योंकि वह कौरवों के विनाश के अनन्तर ही बाल बंधवाने की प्रतिज्ञा कर चुकी थी ॥२८॥

यजस्व वाजिमेधेन विधिवद्दक्षिणावता ।

वयं ते किङ्कराः पार्थ वासुदेवश्च वीर्यवान् ॥२६॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि भीमवाक्ये षोडशोऽध्यायः ॥१६॥

हे पार्थ ! अब तुम दक्षिणा से सम्पन्न अश्वमेध यज्ञ करो। हम लोग और वसुदेव-पुत्र महावीर्यवान श्रीकृष्ण आपके उसी तरह अनुयायी विद्यमान हैं ॥२६॥

इति श्रीमहाभारत शान्तिपर्वान्तर्गत राजधर्मपर्व में भीमसेन के कथन का सोलहवां अध्याय समाप्त हुआ ॥

सत्रहवां अध्याय

युधिष्ठिर उवाच—असन्तोषः प्रमादश्च मदो रागोऽप्रशान्तता ।
बलं मोहोऽभिमानश्चाप्युद्वेगश्चैव सर्वशः ॥१॥
एभिः पाप्मभिराविष्टो राज्यं त्वमभिकांक्षसे ।
निरामिषो विनिर्मुक्तः प्रशान्तः सुसुखी भव ॥२॥

युधिष्ठिर बोले—हे भीम ! तुम असन्तोष, प्रमाद, मद, राग अशान्ति, बल, मोह, अभिमान और द्वेष आदि सारे दोषों से युक्त होकर भी क्या राज्यप्राप्ति की अभिलाषा कर रहे हो ? अब तो तुम मांसादि का परित्याग करके सारे भोगों से छुटकारा पा लो और शान्त मन होकर सुखी होने का प्रयत्न करो ॥१-२॥

य इमामखिलां भूमिं शिष्यादेको महीपतिः ।
तस्याप्युदरमेकं वै किमिदं त्वं प्रशंससि ॥३॥

हे वृकोदर ! जो महीपति अकेला ही इस सारी पृथिवी का एकच्छत्र सम्राट् होता है, उसको भी अपना एक ही पेट भरना पड़ता है, उसका कोई पेट लम्बा चौड़ा नहीं हो जाता-फिर तुम एक उदर मात्र के भरने के निमित्त क्यों इस राज्य की प्रशंसा कर रहे हो ॥३॥

नाह्ना पूरयितुं शक्यां न मासैर्भरतर्षभ ।
अपूर्यां पूरयन्निच्छामायुषाऽपि न शक्नुयात् ॥४॥

हे भरतर्षभ ! कोई मनुष्य अपनी तृष्णा को एक दिन क्या महीने भर भी राज्योपभोग से पूरी नहीं कर सकता । ये

आशाएँ तो कभी भी नहीं भरा करती, किन्तु मनुष्य की आयु समाप्त हो जाती है। कोई आयु भर भोगों का उपभोग करके तृप्ति प्राप्त नहीं कर सकता है।४॥

यथेद्धः प्रज्वलत्यग्निरसमिद्धः प्रशाम्यति ।
अल्पाहारतया त्वग्निं शमयौदर्यमुत्थितम् ॥५॥

जब अग्नि में काष्ठ पड़ता रहता है, तो यह प्रज्वलित होती रहती है और जब इसमें भोगों का काष्ठ गिरना बन्द हो जाता है, तो यह स्वयं शान्त हो जाती है। इस उदर की अग्नि को तो नियमित अहार आदि से ही शान्त करना चाहिये ॥५॥

आत्मोदरकृते प्राज्ञः करोति विघसं बहु ।
जयोदरं पृथिव्या ते श्रेयो निर्जितया जितम् ॥६॥

मूर्ख मनुष्य, अपने पेट के भरने को ही बहुत सा परिश्रम सञ्चित करने लगते हैं, परन्तु हे भीम ! तू केवल इस पेट का विजय कर ले, बस ? इसी में सारी पृथिवी के कल्याण तेरे वश में हो जावेंगे ॥६॥

मानुषान्कामभोगांस्त्वमैश्वर्यं च प्रशंससि ।
अभोगिनोऽबलाश्चैव यान्ति स्थानमनुत्तमम् ॥७॥

आज तू मनुष्य लोक के भोगों की प्रशंसा करने को ऐश्वर्य की प्रशंसा करता है, परन्तु भोग के त्याग और बल के अभिमान से रहित कृश पुरुष ही उत्तम स्थान को प्राप्त होते हैं ॥७॥

योगःक्षेमश्च राष्ट्रस्य धर्माधर्मौ त्वयि स्थितौ ।
मुच्यस्व महतो भारात्त्यागमेवाभिसंश्रय ॥८॥

हे भीम ! तुम्हारे चित्त में भोगविलास, दण्ड का कल्याण और भंग की वासना घर किए बैठी है, परन्तु तुमको इस महाभार से मुक्त हो जाना चाहिए, जिसका एक ही मार्ग है, कि तुम त्याग का अवलम्बन करो ॥८॥

एकोदरकृते व्याघ्रः करोति विघसं बहु ।
तमन्येऽप्युपजीवन्ति मन्दा लोभवशा मृगाः ॥९॥

हिंसक व्याघ्र, एक अपने पेट के लिए बहुत सी हिंसा करके भोजन संगृहीत कर लेता है, उसी के इकट्ठे किए हुए भोजन से अन्य मन्दबुद्धि, लालची वन के जीव अपना निर्वाह करते हैं-यही दशा राजा की समझो ॥९॥

विषयान्प्रतिसंगृह्य संन्यासं कुर्वते यदि ।
न च तुष्यन्ति राजानः पश्य बुद्ध्यन्तरं यथा ॥१०॥

तुम विषय भोगों को भोगते हुए यदि संन्यास की विधि कर्म योग द्वारा बताना चाहते हो, तो राजा लोग कभी विषयों से तृप्त नहीं होते । तुमको उनकी बुद्धि का सूक्ष्म निरीक्षण करना चाहिए, कि भोगों के अभ्यासी कैसे संन्यास कर सकेंगे ॥१०॥

पत्राहारैरश्मकुट्टैर्दन्तोलूखलिकैस्तथा ।
अब्भक्षैर्वायुभक्षैश्च तैरयं नरको जितः ॥११॥

कन्द, मूल, फल और पत्तों का आहार करने वाले, पत्थर से कूट कर या दाँत तथा ऊखल से कूट करके खा जाने वाले तथा जलाहारी और वायुहारी तपस्वी मुनि ही इस दुःखमय संसार का विजय कर सकते हैं ॥११॥

यस्त्विमां वसुधां कृत्स्नां प्रशासेदखिलां नृपः ।
तुल्याश्मकाञ्चनो यश्च स कृतार्थो न पार्थिवः ॥१२॥

जो राजा इस सारी पृथिवी का धर्मपूर्वक शासन करता है और दूसरी ओर सुवर्ण और पत्थर दोनों को समान समझने वाला संन्यासी है, इनमें संन्यासी कृतार्थ समझना चाहिए-राजा कृतार्थ नहीं माना जा सकता ॥१२॥

सङ्कल्पेषु निरारम्भो निराशो निर्ममो भव ।
अशोकं स्थानमातिष्ठ इह चामुत्र चाव्ययम् ॥१३॥

अब तुम अपने सङ्कल्पों को दग्ध कर डालो और आशा एवं ममता रहित हो जाओ। इस तरह होने से तुम इस लोक और परलोक दोनों में अव्यय पद को प्राप्त करने में समर्थ हो सकोगे।

निरामिषा न शोचन्ति शोचसि त्वं किमामिषम् ।
परित्यज्यामिषं सर्वं मृषा वादात्प्रमोक्ष्यसे ॥१४॥

इस संसार में उपभोगों की लालसा से रहित पुरुष ही शोक नहीं करते हैं, जब तुम यह जानते हो, तो क्यों आशा बन्धनों में उलझे जाते हो। जब तुम सारी आशा ममताओं का परित्याग कर दोगे, तब ही इस मिथ्या माया मोह से छुटकारा पा सकोगे ॥१४॥

पन्थानौ पितृयानश्च देवयानश्च विश्रुतौ ।
ईजानाः पितृयानेन देवयानेन मोक्षिणः ॥१५॥

पितृयान और देवयान-ये मार्ग सद्गति के लिए प्रसिद्ध हैं। यज्ञ करने वाले पितृयान मार्ग से जाते हैं और मुमुक्षु जन देवयान मार्ग के अधिकारी होते हैं ॥१५॥

तपसा ब्रह्मचर्येण स्वाध्यायेन महर्षयः।

विमुच्य देहांस्ते यान्ति मृत्योरविषयं गताः ॥१६॥

महर्षि जन, तप, ब्रह्मचर्य, स्वाध्याय आदि में परायण होकर अपना जीवन व्यतीत करते हैं। जब वे अपनी देह का परित्याग करते हैं, तब अन्त में मृत्यु के दण्ड से बच जाते हैं ॥१६॥

आमिषं बन्धनं लोके कर्मेहोक्तं तथाऽमिषम्।

ताभ्यां विमुक्तः पापाभ्यां पदमाप्नोति तत्परम् ॥१७॥

इस लोक में माया ममता का बन्धन आमिष कहाता है और राज्य आदि का उपभोग रूप कर्म भी आमिष ही माना गया है। जब इन दोनों पापों से मनुष्य मुक्त हो जाता है, तभी उसे वह दिव्य मोक्ष पद प्राप्त होता है ॥१७॥

अपि गाथां पुरा गीतां जनकेन वदन्त्युत।

निर्द्वन्द्वेन विमुक्तेन मोक्षं समनुपश्यता ॥१८॥

अनन्तं बत मे वित्तं यस्य मे नास्ति किञ्चन।

मिथिलायां प्रदीप्तायां न मे दह्यति किञ्चन ॥१९॥

मोक्षमार्ग के अच्छी तरह देखने वाले, शीतोष्णादि द्वन्द्वों से मुक्त राजा जनक ने एक गाथा कही है, जिसे लोग अभी तक कहते चले आते हैं, कि मेरे पास बहुत अधिक वित्त का सञ्चय है, तो भी मेरे पास कुछ नहीं है। यदि सारी मिथिलापुरी में आग लग जावे, तो भी मेरा कुछ नहीं जलेगा ॥१९॥

प्रज्ञाप्रासादमारुह्य अशोच्यान् शोचतो जनान् ।
जगतीस्थानि वाऽद्रिस्थो मन्दबुद्धिर्न चेचते ॥२०॥

तुम अपनी बुद्धि के द्वारा रचे हुए काल्पनिक महलों पर चढ़ रहे हो और नहीं ध्यान में लाने योग्य दुर्योधनादि का ध्यान करते हो। जो मनुष्य पर्वत की चोटी पर चढ़ जाता है, उसे पृथिवी पर स्थित-जन दिखाई ही नहीं पड़ते। इसी तरह तुम भी हवाई घोड़े पर चढ़े हुए किसी को नहीं देख रहे हो ॥२०॥

दृश्यं पश्यति यः पश्यन्स चक्षुष्मान्स बुद्धिमान् ।
अज्ञातानां च विज्ञानात्सम्बोधाद्बुद्धिरुच्यते ॥२१॥

जो अपनी सूक्ष्म बुद्धि में देखने योग्य वस्तु को देख लेता है, वही आंख वाला बुद्धिमान् कहाता है। अज्ञात वस्तुओं को जान लेना और उनका समझ लेना ही तो बुद्धि कहाती है ॥२१॥

यस्तु वाचं विजानाति बहुमानमियात्स वै ।
ब्रह्मभावप्रपन्नानां वैद्यानां भावितात्मनाम् ॥२२॥
यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति ।
तत एव च विस्तारं ब्रह्म सम्पद्यते तदा ॥२३॥

ब्रह्मभाव को प्राप्त हुए महात्मा-विद्वानों की तरह जो बोलना जानता है, वह इस संसार में प्रतिष्ठा पा लेता है-चाहे तत्व ज्ञान न भी होवे, परन्तु जो पृथक् २ भूतों को एक ब्रह्मगत अनुभव करता है और सारे प्रपञ्च का उसी से विस्तार हुआ है-यह समझ लेता है-वह ब्रह्म बन जाता है ॥२२-२३॥

ते जनास्तां गतिं यान्ति नाविद्वांसोऽल्पचेतसः ।

मानुद्धया नातपसः सर्वं बुद्धौ प्रतिष्ठितम् ॥२४॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां

शान्तिपर्वणि राजधर्मपर्वणि युधिष्ठिरवाक्ये

सप्तदशोऽध्यायः ॥१७॥

उस वाली अवस्था को वे ज्ञानी मनुष्य ही प्राप्त होते हैं, अज्ञानी और क्षुद्र चित्त वाले प्राप्त नहीं होते । बुद्धिविहीन, तपो रहित पुरुष, उस दिव्य स्थान को नहीं पा सकते हैं । यह सब कुछ तत्व तो बुद्धि में ही प्रतिष्ठित होते हैं ॥१४॥

इति श्रीमहाभारत शान्तिपर्वान्तर्गत राजधर्मपर्व में युधिष्ठिर

के ज्ञान मार्ग के उपदेश करने के वर्णन का सत्रहवां

अध्याय समाप्त हुआ

अट्ठारहवां अध्याय

वैशम्पायन उवाच—तूष्णीं भूतं तु राजानं पुनरेवार्जुनोऽब्रवीत्

सन्तप्तः शोकदुःखाभ्यां राजवाक्शल्यपीडितः ॥१॥

वैशम्पायन बोले—हे राजन् ! अब धर्मराज चुप हो गए तो फिर अर्जुन बोले—अर्जुन, शोक और दुःख से सन्तप्त हो रहे थे और राजा की वाणी रूपी बाण से पीड़ित थे ॥१॥

अर्जुन उवाच— कथयन्ति पुरावृत्तमितिहासमिमं जना ।
विदेहराज्ञः संवादं भार्यया सह भारत ॥२॥

अर्जुन ने कहा—हे भारत ! मनुष्य, एक प्राचीन इतिहास को कहते आ रहे हैं, जो राजा जनक और उनकी भार्या का सम्वाद रूप है ॥२॥

उत्सृज्य राज्यं भिक्षार्थं कृतबुद्धिं नरेश्वरम् ।
विदेहराजमहिषी दुःखिता यदभापत ॥३॥

एक बार राजा जनक ने राज्य छोड़कर भिक्षावृत्ति से निर्वाह करने के निमित्त विचार किया । उनसे दुःखयुक्त, विदेह-राज की पत्नी यह वचन बोली ॥३॥

धनान्यपत्यं दाराश्च रत्नानि विविधानि च ।
पन्थानं पावकं हित्वा जनको मौढ्यमास्थितः ॥४॥

धन, सन्तान, स्त्रियां राज्य और अनेक प्रकार के रत्न पाकर तथा यज्ञ मार्ग (कर्मयोग) का परित्याग करके राजा जनक मूर्खता में फँसकर संन्यास ग्रहण करने लगा है ॥४॥

तं ददर्श प्रिया भार्या भैक्ष्यवृत्तिमकिञ्चनम् ।
धानामुष्टिमुपासीनं निरीहं गतमत्सरम् ॥५॥

अकिञ्चन रूपधारी, भिक्षापरायण, उदरपूर्तिमात्र अन्न से युक्त उद्योग विहीन, मत्सर आदि से शून्य राजा जनक को उसकी पत्नी ने देखा ॥५॥

तमुवाच समागत्य भर्तारमकुतोभयम् ।
क्रुद्धा मनस्विनी भार्या विविक्ते हेतुमद्वचः ॥६॥

सब प्रकार के भय से मुक्त अपने भर्ता के पास आकर क्रोध में भरी हुई, मनस्विनी जनक भार्या एकान्त में अपने पति से यह वचन बोली॥६॥

कथमुत्सृज्य राज्यं स्वं धनधान्यसमन्वितम् ।
कापालीं वृत्तिमास्थाय धानामुष्टिर्न ते वरः ॥७॥

हे आर्यपुत्र ! तुम धन धान्य सम्पन्न राज्य छोड़कर कैसे इस कापालिकी वृत्ति (ठीकरे में भीख मांगने की वृत्ति) को प्राप्त हुए हो । तुमको इस प्रकार मुट्ठी भर अन्न से सन्तुष्ट होना अच्छा नहीं लगता ॥७॥

प्रतिज्ञातेऽन्यथा राजन् विचेष्टा चान्यथा तव ।
यद्राज्यं महदुत्सृज्य स्वल्पे तुष्यसि पार्थिव ॥८॥

हे राजन् ! तुमने प्रतिज्ञा तो कुछ की थी और चेष्टा कुछ कर रहे हो, जो इस विशाल राज्य को छोड़कर स्वल्प अन्नमात्र पर अपना सन्तोष प्रकट करने लगे हो ॥८॥

नैतेनातिथयो राजन्देवर्षिपितरस्तथा ।
अद्य शक्यास्त्वया भर्तुं मोघस्तेऽयं परिश्रमः ॥९॥

हे महीपते ! इस मुट्ठी भर अन्न से देव, ऋषि, पितर, अतिथि आदि किसी का भी भरण पोषण नहीं कर सकोगे । तुम्हारा यह सारा आरम्भ निष्फल ही हो जावेगा ॥९॥

देवतातिथिभिश्चैव पितृभिश्चैव पार्थिव ।
सर्वैरेतैः परित्यक्तः परिव्रजसि निष्क्रियः ॥१०॥

हे पार्थिव ! तुम देवता, अतिथि, पितर आदि पूजा के योग्य व्यक्तियों को छोड़कर कैसे सब कुछ चेष्टा से हीन होकर आज वन में जाने की तय्यारी कर रहे हो ॥१०॥

यस्त्वं त्रैविद्यवृद्धानां ब्राह्मणानां सहस्रशः ।
भर्ता भूत्वा च लोकस्य सोऽद्य तैर्भृतिमिच्छसि ॥११॥

तुम तो वेदत्रयी के ज्ञाता, सहस्रों ब्राह्मणों के भरण पोषण करने वाले थे । इस प्रकार लोक के भर्ता होकर भी फिर कैसे उन अपने पोष्यों से अपनी पुष्टि चाहने लगे ॥११॥

श्रियं हित्वा प्रदीप्तां त्वं श्ववत्संप्रतिवीक्ष्यसे ।
अपुत्रा जननी तेऽद्य कौसल्या चापतिस्त्वया ॥१२॥

हे राजन् ! आप इस विशाल राज्यलक्ष्मी को छोड़कर, कुत्ते की तरह इधर उधर भटकने की ओर देख रहे हैं । आज तुम्हारी माता पुत्र-हीन और तुम्हारी पत्नी कौसल्या पतिहीन समझनी चाहिए ॥१२॥

अमी च धर्मकामास्त्वां क्षत्रियाः पर्युपासते ।
त्वदाशामभिकांक्षन्तः कृपणाः फलहेतुकाः ॥१३॥

धर्म के आचरण के अभिलाषी ये क्षत्रिय, तुम्हारी उपासना कर रहे हैं, इनको केवल तुम्हारी ही आशा है, परन्तु वे बेचारे फल से वञ्चित ही रहते दिखाई दे रहे हैं ॥१३॥

तांश्च त्वं विफलान्कुर्वन्कं नु लोकं गमिष्यसि ।
राजन्संशयिते मोक्षे परतन्त्रेषु देहिषु ॥१४॥

नैव तेऽस्ति परो लोको नापरः पापकर्मणः ।
धर्म्यान्दारान्परित्यज्य यस्त्वमिच्छसि जीवितुम् ॥१५॥

हे राजन ! तुम अपने आश्रित क्षत्रियों की आशा को निष्फल करके न जाने किन लोकों में जाओगे। तुम्हारा मोक्ष संशय में पड़ा हुआ है। प्राणी सर्वथा कर्मों के आधीन हैं, जब तुम इस तरह पाप कर्मों में लिप्त हो जाओगे, तो तुमको इस लोक और परलोक में कहीं भी सिद्धि प्राप्त नहीं होगी, क्योंकि तुम तो धर्मानुसार प्राप्त की हुई स्त्रियों को छोड़कर जीवन धारण करना चाहते हो ॥१४-१५॥

स्रजो गन्धानलङ्कारान्वासांसि विविधानि च ।
किमर्थमभिसन्त्यज्य परिव्रजसि निष्क्रियः ॥१६॥

हे नृप ! माला, गन्ध, अलङ्कार तथा अनेक प्रकार के वस्त्रों को छोड़कर वन में निश्चेष्ट होकर निकल जाने की आवश्यकता ही क्या है ॥१६॥

निपानं सर्वभूतानां भूत्वा त्वं पावनं महत् ।
आढ्यो वनस्पतिर्भूत्वा सोऽन्यांस्त्वं पर्युपाससे ॥१७॥

तुम तो सारे प्राणियों के जलपान के कूप और आश्रय के विशाल वृक्ष होकर भी अब कैसे अन्य के आश्रय पर जीवन निर्वाह की चेष्टा चाहते हो ॥१७॥

खादन्ति हस्तिनं न्यासैः क्रव्यादा बहवोऽप्युत ।
बहवः कृमयश्चैव किं पुनस्त्वामनर्थकम् ॥१८॥

यदि हाथी भी अपनी चेष्टा छोड़ देवे; तो मांसभोजी जन्तु ही क्या ? बहुत से कीड़े मकोड़े ही उसे खा जावे, फिर तुम्हारे निश्चेष्ट होने पर तो तुम्हें शत्रु दबोच डालेंगे-इसमें सन्देह ही क्या है ॥१८॥

य इमां कुण्डिकां भिंद्यात्त्रिविष्टब्धं च यो हरेत् ।
वासश्चापि हरेत्तस्मिन्कथं ते मानसं भवेत् ॥१६॥

जो संन्यास वृत्ति, कमण्डलु के भी टुकड़े २ उड़ा दे तथा त्रिदण्ड धारण एवं वस्त्र त्याग करवा कर कौपीन धारण करवा दे, उस वृत्ति में तुम्हारी आज कैसे प्रवृत्ति हो रही है ॥१६॥

यत्त्वयं सर्वमुत्सृज्य धानामुष्टेरनुग्रहः ।
यदानेन समं सर्वं किमिदं ह्यवसीयसे ॥२०॥

जब तुम सारे ऐश्वर्य को छोड़ कर भिक्षा के एक मुष्टि अन्न पर अपना अवलम्बन करना चाहते हो-वह भी तो एक संग्रह ही है, फिर सारे संग्रह छोड़ने का यह आग्रह क्यों कर रहे हो ॥२०॥

धानामुष्टेरिहार्थश्चेत्प्रतिज्ञाते विनश्यति ।
को वाऽहं तव को मे त्वं कश्च ते मय्यनुग्रहः ॥२१॥

यदि तुमने सर्वत्याग की प्रतिज्ञा की है और तुमको अन्न की एक मुट्ठी मात्र से प्रयोजन रह गया है, तो सारा ही सम्बन्ध नष्ट भ्रष्ट हो जावेगा, फिर मैं तुम्हारा क्या रह जाऊँगा और तुम ही मेरे क्या रहोगे। तुम्हारा मेरे ऊपर अनुग्रह ही क्या रहेगा क्योंकि फिर तो सारा भेद नष्ट हो जावेगा ॥२१॥

प्रशाधि पृथिवीं राजन् यदि तेऽनुग्रहो भवेत् ।
प्रासादं शयनं यानं वासांस्याभरणानि च ।
श्रिया विहीनैरधनैस्त्यक्तमित्रैरकिंचनैः ।
सौखिकैः संभृतानर्थान् यः संत्यजति किं नु तत् ॥२३॥

हे राजन् ! तुम पृथिवी का शासन करो-यही तुम्हारा हम पर अनुग्रह है । महल, शयन, यान, वस्त्र, आभरण आदि का त्याग तो धनहीन, ऐश्वर्य रहित, मित्रहीन, सुख के लोलुप दरिद्री पुरुष करते हैं, क्योंकि उनको वे प्राप्त ही नहीं होते । वे संन्यास के नाम पर फिर आनन्द उड़ाते हैं, परन्तु जो अपने प्राप्त ऐश्वर्य का त्याग करता है, उसको इससे क्या प्राप्ति होगी ॥२२-२३॥

योऽत्यन्तं प्रतिगृह्णीयाद्यश्च दद्यात्सदैव हि ।
तयोस्त्वमन्तरं विद्धि श्रेयांस्ताभ्यां क उच्यते ॥२४॥

हे राजन् ! एक तो सदा प्रतिग्रह लेता रहे और दूसरा सर्वदा दान देता रहे, इनके भेद को तुम भी जानते हो । तुम ही बताओ इनमें कौन उत्तम है ॥२४॥

सदैव याचमानेषु तथा दंभान्वितेषु च ।
एतेषु दक्षिणा दत्ता दावाग्नाविव दुर्हुतम् ॥२५॥

जो सदा याचना करता रहता है और बाह्य वेष भूषा बनाकर पाखण्ड रचता है, इनको दक्षिणा देना दावाग्नि में निरर्थक हवन करना है ॥२५॥

जातवेदा यथा राजन्नादग्ध्वैवोपशाम्यति ।
सदैव याचमानो हि तथा शाम्यति वै द्विजः ॥२६॥

हे राजन्! जिस तरह अग्नि विना भस्म किए पीछा नहीं हटती है, उसी तरह सदा याचक ब्राह्मण भी विना लिए पीछा नहीं छोड़ता है ॥२६॥

सतां वै ददतोऽन्नं च लोकेऽस्मिन्प्रकृतिर्ध्रुवा ।
न चेद्राजा भवेद्दाता कुतः स्युर्मोक्षकांक्षिणः ॥२७॥

जब राजा मुमुक्षु सज्जनों को दान देता रहता है, तो इस लोक की ठीक २ स्थिति चलती है। यदि राजा दान देना बन्द कर दे, तो फिर ये मोक्ष के अभिलाषी संसार से नष्ट हो जावें ॥२७॥

अन्नाद्गृहस्था लोकेऽस्मिन् भिक्षवस्तत एव च ।
अन्नात्प्राणः प्रभवति अन्नदः प्राणदो भवेत् ॥२८॥

इस लोक में अन्न धारण करने वाले गृहस्थी ही होते हैं और उन ही के आश्रय पर इन संन्यासी भिक्षुओं का जीवन है। अन्न से ही प्राण होते हैं, जो अन्न दाता है, वही प्राण दाता समझना चाहिए ॥२८॥

गृहस्थेभ्योऽपि निर्मुक्ता गृहस्थानेव संश्रिताः ।
प्रभवं च प्रतिष्ठां च दांता विन्दन्त आसते ॥२९॥

ये त्यागी, गृहस्थों से निकल कर फिर गृहस्थों के ही चिपटते जाते हैं। इस तरह इनको दान देने वाले उदार गृहस्थी ही सब कुछ पुण्य की प्राप्ति और प्रतिष्ठा को प्राप्त करते हैं ॥२९॥

त्यागान्न भिक्षुकं विद्यान्न मौढ्यान्न च याचनात् ।
ऋजुस्तु योऽर्थं त्यजति न सुखं विद्धि भिक्षुकम् ॥३०

कोई पुरुष त्याग से भिक्षुक नहीं होता और न मूढ़ता के कर्म मूँड मुड़ाने आदि से संन्यासी बनता है। याचना से भी संन्यासी नहीं होता, किन्तु जो सरल रहकर धन का दान करता है, सुख में नहीं लिपटता-उसे ही सच्चा संन्यासी समझना चाहिए ॥३०॥

असक्तः सक्तवद्गच्छन्निःसंगो मुक्तबन्धनः ।
समः शत्रौ च मित्रे च स वै मुक्तो महीपते ॥३१॥

हे महीपते ! सच्चा संन्यासी असक्त होता है और सक्त सा दिखाई पड़ता है। वह निःसङ्ग और मुक्त बन्धन होता है। जो शत्रु और मित्र के साथ समान व्यवहार करता है, उसे ही मुक्त मानना चाहिए ॥३१॥

परिव्रजन्ति दानार्थं मुंडाः काषायवाससः ।
सिता बहुविधैः पाशैः संचिन्वन्तो वृथाऽऽमिषम् ॥३२॥

जो भीख माँगने के निमित्त मूँड मुँडाकर काषायवस्त्र धारण करते हैं, वे बहुत सी फांसियों से बंधकर वृथा भोग लालसा में फंसते हैं ॥३२॥

त्रयीं च नाम वार्तां च त्यक्त्वा पुत्रान्व्रजन्ति ये ।
त्रिविष्टब्धं च वासश्च प्रतिगृह्णन्त्यबुद्धयः ॥३३॥

जो वेद के मार्ग को छोड़कर युक्ति विहीन संन्यास का ग्रहण करते हैं तथा पुत्र आदि का परित्याग कर देते हैं-वे मूर्ख हैं। वृथा ही त्रिदण्ड और कौपीन धारण करते हैं ॥३३॥

अनिष्कषाये काषायमीहार्थमिति विद्धि तम् ।
धर्मध्वजानां मुण्डानां वृत्यर्थमिति मे मतिः ॥३४॥

शुद्ध परमात्मा के रंगे श्वेत वस्त्रों को त्याग कर जो काषाय वस्त्र धारण करते हैं, वे सब उनके माल उड़ाने के धन्धे जानने चाहिए। मूँड मुँडाने वाले पाखण्डी लोगों का अपने मजे उड़ाने का यह मार्ग है-मैं तो ऐसा मानता हूँ ॥३४॥

काषायैरजिनैश्चीरैर्नग्नान्मुण्डान् जटाधरान् ।
विभ्रत्साधून्महाराज जय लोकान् जितेन्द्रियः ॥३५॥

हे महाराज ! आप तो इन । काषायधारी, मृगचर्म धारक, फटे वस्त्र पहिनने वाले, नग्न, मुंडी और जटाधारी, साधुओं का पालन करो। आप तो इस तरह जितेन्द्रिय रहकर ही लोकों को जीतकर मोक्ष मार्ग को प्राप्त कर सकते हो ॥३५॥

अग्न्याधेयानि गुर्वर्थं क्रतूनपि सुदक्षिणान् ।
ददात्यहरहः पूर्वं को नु धर्मरतस्ततः ॥३६॥

जो पूर्व आश्रम में ब्रह्मचर्य धारण करके गुरु की सेवा में अग्निहोत्री करता है। बड़े २ दक्षिणा वाले यज्ञ करता है-प्रतिदिन दान देता है, इससे अधिक अन्य कौन धर्म होगा ॥३६॥

अर्जुन उवाच— तत्त्वज्ञो जनको राजा लोकेऽस्मिन्निति गीयते
सोऽप्यासीन्मोहसंपन्नो मा मोहवशमन्वगाः ॥३७॥

अर्जुन ने कहा—हे राजन् ! राजा जनक इस लोक में तत्वज्ञानी कहाते हैं। वे भी आपकी भांति ही मोह में उलझे थे

इनकी ही तरह आपको भी मोह पाश काट देनी चाहिए। उसके फंदे में नहीं उलझना चाहिये ॥३७॥

एवं धर्ममनुक्रान्ताः सदा दानतपःपराः ।
आनृशंस्यगुणोपेताः कामक्रोधविवर्जिताः ॥३८॥
प्रजानां पालने युक्ता दानमुत्तममास्थिताः ।
इष्टान् लोकानवाप्स्यामो गुरुवृद्धोपचायिनः ॥३९॥
देवतातिथिभूतानां निर्वपन्तो यथाविधि ।
स्थानमिष्टमवाप्स्यामो ब्रह्मण्याः सत्यवादिनः ॥४०॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि अर्जुनवाक्ये अष्टादशोऽध्यायः ॥१८॥

इस प्रकार हम लोग धर्मशील रहकर सर्वदा दान और तप में लग जावें। उत्तम २ गुणों का संग्रह करें। काम क्रोध आदि से वर्जित हो जावें। प्रजा पालन में तत्पर होकर उत्तम दान देते रहें। इस प्रकार गुरु और वृद्धों की सेवा से हमको अभीष्ट लोकों की प्राप्ति होगी। देवता, अतिथि और भूतों को विधि-पूर्वक बलि देते हुए सत्यवादन में रत हुए वल ज्ञानपरायण होकर अभीष्ट स्थान को प्राप्त होंगे ॥३८॥

इति श्रीमहाभारत शान्तिपर्वान्तर्गत राजधर्मपर्व में अर्जुन द्वारा कर्मयोग के प्रतिपादन का अट्ठारहवां अध्याय समाप्त हुआ।

उन्नीसवाँ अध्याय

युधिष्ठिर उवाच—वेदाहं तात शास्त्राणि अपराणि पराणि च ।
उभयं वेद वचनं कुरु कर्म त्यजेति च ॥१॥

धर्मराज बोले—हे तात! मैं लौकिक और पारलौकिक सारे शास्त्रों को जानता हूं। कर्म संन्यास और कर्मयोग इन दोनों प्रकार के वचनों का मैं ठीक २ अभिप्राय समझता हूँ ॥१॥

आकुलानि च शास्त्राणि हेतुभिश्चिन्तितानि च ।
निश्चयश्चैव यो मन्त्रे वेदाहं तं यथाविधि ॥२॥

जिस शास्त्र का निर्वचन कुतर्क के आधार पर किया जावेगा, वह ठीक नहीं होगा। जो मन्त्र संहिता में इनका निश्चय किया गया है, मैं वह सब कुछ जानता हूं ॥२॥

त्वं तु केवलमस्त्रज्ञो वीरव्रतसमन्वितः ।
शास्त्रार्थं तत्वतो गन्तुं न समर्थः कथंचन ॥३॥

हे अर्जुन! तुम तो अस्त्रविद्या के पण्डित हो और वीर-व्रत के ग्रहण करने वाले हो। अभी तुम शास्त्र के तत्व के पूर्ण रूप से जानने में समर्थ नहीं हो ॥३॥

शास्त्रार्थसूक्ष्मदर्शी यो धर्मनिश्चयकोविदः ।
तेनाप्येवं न वाच्योऽहं यदि धर्मं प्रपश्यसि ॥४॥

हे धनञ्जय! जो शास्त्र के सूक्ष्म अर्थ के जानने वाले और धर्म के निश्चय करने में पण्डित पुरुष होवा, वह कभी मेरी बात

का इस प्रकार से खण्डन नहीं करता, क्योंकि वह धर्म को समझने वाला होता है ॥४॥

भ्रातृसौहृदमास्थाय यदुक्तं वचनं त्वया ।

न्याय्यं युक्तं च कौन्तेय प्रीतोऽहं तेन तेऽर्जुन ॥५॥

हे कौन्तेय ! तुमने अपने भ्रातापन के प्रेम में यह सब कुछ फटकार बताई है। यह तुम्हारा अधिकार ही है। हे अर्जुन ! इस से तो मैं प्रसन्न ही हुआ हूं ॥५॥

युद्धधर्मेषु सर्वेषु क्रियाणां नैपुणेषु च ।

न त्वया सदृशः कश्चित्त्रिषु लोकेषु विद्यते ॥६॥

युद्ध के सारे धर्म, सांसारिक क्रियाओं की कुशलता में तेरे बराबर तीनों लोकों में कोई नहीं है ॥६॥

धर्मं सूक्ष्मतरं वाच्यं तत्र दुष्प्रतरं त्वया ।

धनंजय न मे बुद्धिमभिशंकितुमर्हसि ॥७॥

धर्म की गति बड़ी सूक्ष्म है, उसको तू तैर कर पार नहीं हो सकता । हे धनञ्जय ! तुमको मेरी बुद्धि पर अश्रद्धा नहीं रखनी चाहिए ॥७॥

युद्धशास्त्रविदेव त्वं न वृद्धाः सेवितास्त्वया ।

संक्षिप्तविस्तरविदां न तेषां वेत्सि निश्चयम् ॥८॥

तुम तो केवल युद्ध-शास्त्र के ज्ञाता हो, तुमने अभी धर्मात्मा वृद्धों की उपासना नहीं की है। जो धर्म के सिद्धान्तों का संक्षेप

और विस्तार से जानते हैं, उनकी विवेचन शैली को तू नहीं समझ सकता है ॥८॥

तपस्त्यागोऽविधिरिति निश्चयस्त्वेष धीमताम् ।
परस्परं ज्याय एषां येषां नैश्रेयसी मतिः ॥९॥

तप, त्याग, संन्यास और ब्रह्म की प्राप्ति-ये ही तीन इ के निश्चय हैं । इनमें एक से एक बढ़कर है-यही विद्वानों का मत है ॥९॥

यस्त्वेतन्मन्यसे पार्थ न ज्यायोऽस्ति धनादिति ।
तत्र ते वर्तयिष्यामि यथा नैतत्प्रधानतः ॥१०॥

हे पार्थ ! जो मनुष्य यह जानता है, कि धन से बड़ी कोई वस्तु नहीं है, तो मैं तुमको यह समझा दूँगा, कि केवल धन, प्रधान नहीं है ॥१०॥

तपःस्वाध्यायशीला हि दृश्यन्ते धार्मिका जनाः ।
ऋषयस्तपसा युक्ता येषां लोकाः सनातनाः ॥११॥

तप और स्वाध्यायशील, मनुष्य ही धार्मिक माने गए हैं । तपो-युक्त होने पर ही ऋषि माने गए हैं और फिर उनको ही सनातन लोकों की प्राप्ति होती है ॥११॥

अजातशत्रवो धीरास्तथाऽन्ये वनवासिनः ।
अरण्ये बहवश्चैव साध्या येन दिवं गताः ॥१२॥

जिनके कोई शत्रु नहीं है, जो विद्वान तथा वनवासी हैं, वन में रहने वाले बहुत से तपस्वी देखे गए, जो तपस्या आदि के द्वारा स्वर्गलोक में पहुँचे हैं ॥१२॥

उत्तरेण तु पन्थानमार्या विषयनिग्रहात् ।
अबुद्धिजं तमस्त्यक्त्वा लोकांस्त्यागवतां गताः ॥

भोग विषयों के परित्याग से ही आर्यपुरुष, उत्तम मार्ग (देवयान) को प्राप्त हुए हैं। वे अपने अज्ञान जन्य अन्धकार का नाश कर ही त्यागी महात्माओं के लोकों को प्राप्त हुए हैं ॥१३॥

दक्षिणेन तु पन्थानं यं भास्वन्तं प्रचक्षते ।
एते क्रियावतां लोका ये श्मशानानि भेजिरे ॥१४॥

दूसरा दक्षिण मार्ग (पितृयान) भी प्रकाशमान ही माना गया है। उन लोकों को यज्ञ आदि करने वाले जानते हैं। वे बार २ जन्म मरण में आते रहते हैं और श्मशान में जाते हैं ॥१४॥

अनिर्देश्या गतिः सा तु यां प्रपश्यन्ति मोक्षिणः ।
तस्माद्योगः प्रधानेष्टः स तु दुखं प्रवेदितुम् ॥१५॥

मुमुक्षुजन, जिस गति की ओर टकटकी लगाए रहते हैं, उसका वर्णन नहीं किया जा सकता। इसमें योग ही प्रधान माना गया है, जिसका जान लेना बड़ा क्लेशकारी है ॥१५॥

अनुस्मृत्य तु शास्त्राणि कवयः समवस्थिताः ।
अपीहस्यादपीहस्यात्सारासारदिदृक्षया ॥१६॥

विद्वान् लोग शास्त्रों के तत्व को देखकर निश्चिन्त हो जाते हैं, परन्तु साधारण पुरुष, तत्व और अतत्व की खोज में भटकते रहते हैं, कि शायद यहाँ तत्व हो या वहाँ तत्व होगा ॥१६॥

वेदवादानतिक्रम्य शास्त्राण्यारण्यकानि च ।
विपाट्य कदलीस्तम्भं सारं ददृशिरे न ते ॥१७॥

वेद के सिद्धान्त तथा आरण्यक (वेदान्त) शास्त्रों का उल्लंघन करके जो तत्व की खोज में भटकते हैं, वे कदली के स्तम्भ के चीरने के समान उसमें कुछ भी सार नहीं पा सकते हैं ॥१७॥

अथैकान्तव्युदासेन शरीरे पाञ्चभौतिके ।
इच्छाद्वेषसमासक्तमात्मानं प्राहुरिङ्गितैः ॥१८॥
अग्राह्यं चक्षुषा सूक्ष्ममनिर्देश्यं च तद्गिरा ।
कर्महेतुपुरस्कारं भूतेषु परिवर्तते ॥१९॥

कुछ पुरुष, आत्मा के एकत्व का खण्डन करके इस पाञ्च-भौतिक शरीर में इच्छा द्वेष आदि से संयुक्त आत्मा को मानते हैं, क्योंकि वे जीवात्मा को नित्य इच्छा आदि के लिङ्गों से युक्त समझते हैं, परन्तु आत्म तत्व तो इतना सूक्ष्म है, कि वह चक्षु से देखा नहीं जा सकता। वाणी से उसका ग्रहण नहीं होता। वह तो कर्म संज्ञक माया के प्रपञ्च से प्राणियों में भिन्न २ दिखाई दे रहा है ॥१८-१९॥

कल्याणगोचरं कृत्वा मनस्तृष्णां निगृह्य च ।
कर्मसन्ततिमुत्सृज्य स्यान्निरालम्बनः सुखी ॥२०॥

अपने को कल्याण वस्तु आत्मा की ओर प्रवृत्त करके मन और तृष्णा को रोककर और इस कर्म के प्रवाह को छोड़कर निरहंकार हो जाने में ही सुख समझना चाहिए ॥२०॥

अस्मिन्नेवं सूक्ष्मगम्ये मार्गे सद्भिर्निषेविते ।
कथमर्थमनर्थाढ्यमर्जुन त्वं प्रशंससि ॥२१॥
पूर्वशास्त्रविदोऽप्येवं जनाः पश्यन्ति भारत ।
क्रियासु निरता नित्यं दाने यज्ञे च कर्मणि ॥२२॥

हे अर्जुन ! सज्जनों से सेवित इस सूक्ष्म बुद्धि से जानने योग्य मार्ग में अनर्थ का प्रतिपादन करके कैसे उसे ही तुम अर्थ मानने में प्रवृत्त हो रहे हो और उसी की बार २ प्रशंसा करते हो। हे भारत ! जो क्रियाओं में निरत और यज्ञ आदि कर्मों में परायण हैं, वे भी पूर्वशास्त्र वैदिक कर्म कलाप के जानने वाले विद्वान्, अर्थ की निरर्थकता मानते आए हैं ॥२१-२२॥

भवन्ति सुदुरावर्ता हेतुमन्तोऽपि पण्डिताः ॥
दृढपूर्वे स्मृता मूढा नैतदस्तीति वादिनः ॥२३॥

ये पण्डित, यद्यपि न्याय आदि शास्त्रों के ज्ञाता होते हैं, परन्तु सत्य सिद्धान्त को जान लेना, इनको भी कठिन है, क्योंकि इनके हृदय में पूर्व जन्म के संस्कार दृढ़ होते हैं। वे तो ऐसा कहते ही रहते हैं, कि आत्मा ऐसा नहीं है ॥२३॥

अनृतस्यावमन्तारो वक्तारो जनसंसदि ।
चरन्ति वसुधां कृत्स्नां वावदूका बहुश्रुताः ॥२४॥

अनृत सिद्धान्त के जानने वाले, बड़े २ वाचाल विद्वान्, सभाओं में भाषण देते हुए इस पृथिवी पर घूमते ही हैं ॥२४॥

पार्थ यन्न विजानीमः कस्तान् ज्ञातुमिहार्हति ।
एवं प्राज्ञाः श्रुताश्चापि महान्तः शास्त्रवित्तमाः ॥

हे पार्थ ! जिस तत्व को हम जानते हैं, उसे कौन जान सकता है, इस तरह के बहुत से विद्वान् गर्वोन्मत्त विद्यमान हैं, जो सचमुच बड़े २ शास्त्रों के ज्ञाता भी हैं ॥२५॥

तपसा महदाप्नोति बुद्ध्या वै विन्दते महत् ।
त्यागेन सुखमाप्नोति सदा कौन्तेय तत्त्ववित् ॥२६॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि युधिष्ठिरवाक्ये एकोनविंशतितमोऽध्याय ॥१६॥

हे कौन्तेय ! तप से महान वैराग्य की प्राप्ति होती है, फिर ज्ञान से महान् ब्रह्म प्राप्त होता है। इसके अनन्तर कर्म संन्यास से तत्व ज्ञानी सुख को प्राप्त होता है अर्थात ब्रह्म लीन हो जाता है

इति श्रीमहाभारत शान्तिपर्वान्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्व में राजा युधिष्ठिर के कर्मसंन्यास के विवेचन का उन्नीसवां अध्याय समाप्त हुआ ॥

बीसवां अध्याय

वैशम्पायन उवाच—

अस्मिन्वाक्यान्तरे वक्ता देवस्थानो महातपाः ।
अभिनीततरं वाक्यमित्युवाच युधिष्ठिरम् ॥१॥

वैशम्पायन बोले—हे राजन् ! इस प्रकार जब वार्तालाप चल रहा था, तो उसी समय महातपस्वी देवस्थान नामक महर्षि, धर्मराज से इस तरह युक्ति युक्त वचन कहने लगे ॥१॥

देवस्थान उवाच—

यद्वचः फाल्गुनेनोक्तं न ज्यायोऽस्ति धनादिति ।
अत्र ते वर्तयिष्यामि तदेकान्तमनाः शृणु ॥२॥

देवस्थान बोले—हे धर्मराज ! अर्जुन ने जो यह वचन कहा है, कि धन से अधिक कुछ नहीं है, मैं इसको खोलकर तुम्हें समझाता हूँ तुम एकाग्र मन से इसे सुनो ॥२॥

अजातशत्रो धर्मेण कृत्स्ना ते वसुधा जिता ।
तां जित्वा च वृथा राजन्न परित्यक्तुमर्हसि ॥३॥

हे अजातशत्रो ! तुमने यह सारी पृथिवी धर्मपूर्वक जीती है । हे राजन् ! इसको जीत कर अब तुमको इसे योंही निरर्थक नहीं छोड़ देना चाहिए ॥३॥

चतुष्पदी हि निःश्रेणी ब्रह्मण्येव प्रतिष्ठिता ।
तां क्रमेण महाबाहो यथावज्जय पार्थिव ॥४॥

हे महाबाहो ! ब्रह्मप्राप्ति के निमित्त में चार आश्रम चार ही सीढ़ी बनाए गए हैं । तुम इनको क्रम से प्राप्त करके ब्रह्मप्राप्ति के योग्य बन जाओ ॥४॥

तस्मात्पार्थ महायज्ञैर्यजस्व बहुदक्षिणैः ।
स्वाध्याययज्ञा ऋषयो ज्ञानयज्ञास्तथाऽपरे ॥५॥
कर्मनिष्ठांश्च बुद्ध्येथास्तपोनिष्ठांश्च पार्थिव ।

हे पार्थ ! अब तो तुम बड़ी २ दक्षिणा वाले, बड़े २ यज्ञों से यजन करो। ऋषियों में भी कोई तो स्वाध्याययज्ञ को अधिक मानते हैं, कोई ज्ञानयज्ञ की प्रशंसा करते हैं। हे राजन् ! कोई कर्म की प्रशंसा और कोई तप की प्रशंसा करते दिखाई देते हैं।

वैखानसानां कौन्तेय वचनं श्रूयते यथा ॥६॥
ईहेत धनहेतोर्यस्तस्यानीहा गरीयसी।
भूयान्दोषो हि वर्धेत यस्तं धर्ममुपाश्रयेत् ॥७॥

हे कौन्तेय ! वैखानस (वानप्रस्थी) ऋषि तो यह सिद्धान्त बताते हैं, कि जो मनुष्य धन प्राप्त करके यज्ञादि कराना चाहता है, उससे तो धन की अभिलाषा न करे-तो अच्छी बात है। परन्तु जो इस सिद्धान्त को मानता है, वह बहुत सी कठिनाइयों में उलझ जाता है ॥६-७॥

कृत्स्नं च धनसंहारं कुर्वन्ति विधिकारणात्।
आत्मानं दूषितो बुद्धया भ्रूणहत्यां न बुद्धयते ॥

इसी तरह जो कार्य चलाने का साधन होने के कारण केवल धन के सञ्चय में ही रातदिन लगे रहते हैं और बुद्धि से आत्मतत्व को दूषित करते हैं, वे इसके भीतर कितना पाप छुपा है, उसे नहीं जान पाते हैं ॥८॥

अनर्हते यददाति न ददाति यदर्हते।
अर्हानर्हा परिज्ञानाद्दानधर्मोऽपि दुष्करः ॥९॥

देने योग्य व्यक्ति को नहीं देना और नहीं देने योग्य व्यक्ति को दे देना-यह भी बुरी बात है। योग्य अयोग्य के परिज्ञान के बिना दानधर्म भी बड़ा ही दुष्कर है ॥६॥

यज्ञाय सृष्टानि धनानि धात्रा यज्ञोदिष्टः पुरुषो रक्षिता च।
तस्मात्सर्वं यज्ञ एवोपयोज्यं धनं ततोऽनन्तर एव कामः ॥

परमात्मा ने यज्ञ के निमित्त ही धन को उत्पन्न किया है। धन की रक्षा के निमित्त पुरुष को भी यज्ञ के लिए रचा है। इस कारण से सब कुछ धन यज्ञ में ही लगा देना चाहिए। अपनी अभिलाषा की पूर्ति तो यज्ञ शेष धन से ही करनी उचित है ॥१०॥

यज्ञैरिन्द्रो विविधै रत्नवद्भिर्देवान्सर्वानभ्ययाद्भूरितेजाः।
तेनेन्द्रत्वं प्राप्य विभ्राजतेऽसौ तस्माद्यज्ञे सर्वमेवोपयोज्यम्

महातेजस्वी इन्द्र ने बड़े २ रत्नों से यज्ञ करके देवों में उत्तम पद प्राप्त किया है। वह इन्द्र पदवी को पाकर आज तक यज्ञों के कारण से ही देदीप्यमान हो रहा है। इससे यज्ञ में सब कुछ व्यय कर देना चाहिए ॥११॥

महादेवः सर्वयज्ञे महात्मा हुत्वाऽऽत्मानं देवदेवो बभूव।
विश्वाँल्लोकान्व्याप्यविष्टभ्य कीर्त्याविराजतेद्युतिमान्कृत्तिवासाः

सर्वमेध नामक यज्ञ में महात्मा महादेव ने अपना हवन कर दिया, जिस से वह देवों का देव हो गया। वे कृत्तिवासा, अत्यन्त कान्तिमान भगवान् शङ्कर, अपनी कीर्ति से सारे लोकों को व्याप्त करके जगत में स्थित हैं ॥१२॥

आविक्षितः पार्थिवोऽसौ मरुत्तो वृद्ध्या शक्रं योऽजयद्देवराजम्
यज्ञेयस्यश्रीःस्वयंसन्निविष्टायस्मिन्भाण्डं काञ्चनं सर्वमासीद्

अविक्षित के पुत्र मरुत्त ने अपने यज्ञ के ऐश्वर्य से ही देवराज इन्द्र को जीत लिया है। इसके यज्ञ में लक्ष्मी मूर्ति धारण करके आ विराजी। उस यज्ञ में सारे पात्र सुवर्णमय विद्यमान थे ॥१३॥

हरिश्चन्द्रः पार्थिवेन्द्रः श्रुतस्ते यज्ञैरिष्ट्वा पुण्यभाग्वीतशोकः
ऋद्ध्या शक्रं योऽजयन्मानुषःसंस्तस्माद्यज्ञेसर्वमेवोपयोज्यम्

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि देवस्थानवाक्ये विंशतितमोऽध्यायः ॥२०॥

राजा हरिश्चन्द्र को तुमने सुना ही है, कि वह पुण्यात्मा यज्ञों से यजन करके शोक रहित हो गया। यह यद्यपि मनुष्य था, तो भी इसने अपने यज्ञ की ऋद्धि से इन्द्र को भी जीत लिया। इससे यज्ञ में सब कुछ लगा देना चाहिए-यही सिद्धान्त है ॥१४॥

इति श्रीमहाभारत शान्तिपर्वान्तर्गत राजधर्मपर्व में देवस्थान ऋषि द्वारा यज्ञ के महत्व प्रतिपादन का बीसवां अध्याय समाप्त हुआ ।



इक्कीसवाँ अध्याय

देवस्थान उवाच-अत्रैवोदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।

इन्द्रेण समये पृष्टो यदुवाच बृहस्पतिः ॥१॥

यह एक प्राचीन इतिहास चला आता है, कि एकवार इन्द्र ने देवगुरु बृहस्पति से इस मत के विषय में पूछा था । उन्होंने जो वचन कहा-वह मैं तुमको सुनाता हूं ॥१॥

सन्तोषो वै स्वर्गतमः सन्तोषः परमं सुखम् ।

तुष्टेर्न किञ्चित्परतः सा सम्यक्प्रतितिष्ठति ॥२॥

वे बोले—सन्तोष ही सब से बड़ा स्वर्ग है, सन्तोष ही परम सुख है । सन्तोष से उत्तम कोई वस्तु नहीं है । वही सन्तोष, मनुष्य में सुख का कारण बनकर स्थित होता है ॥२॥

यदा संहरते कामान्कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः ।

तदाऽऽत्मज्योतिरचिरात्स्वात्मन्येव प्रसीदति ॥३॥

जब मनुष्य अपनी कामनाओं को कछुवे के अङ्गों की भांति सुकोड़ लेता है, तब वह बहुत शीघ्र आत्मज्योति प्राप्त कर लेता है और अपने आपसे सन्तुष्ट हो जाता है ॥३॥

न बिभेति यदा चायं यदा चास्मान्न बिभ्यति ।

कामद्वेषौ च जयति तदाऽऽत्मानं च पश्यति ॥४॥

जब यह किसी से नहीं डरता और न इससे ही कोई डरते हैं तथा रागद्वेष को जीत लेता है, तब ही वह अपने आत्मा को देख लेता है ॥४॥

यदाऽसौ सर्वभूतानां न द्रुह्यति न कांक्षति ।
कर्मणा मनसा वाचा ब्रह्म सम्पद्यते तदा ॥५॥

जब यह मनुष्य किसी भी प्राणी से कर्म, मन और वाणी से न तो द्रोह करता है और न उनसे कुछ अभिलाषा करता है, तब समझ लेना चाहिए, कि प्राणी ब्राह्मीस्थिति को प्राप्त हो गया है।

एवं कौन्तेय भूतानि तं तं धर्मं तथा तथा ।
तदात्मना प्रपश्यन्ति तस्माद् बुध्यस्व भारत ॥६॥

हे कौन्तेय! इस प्रकार प्राणी भिन्न २ धर्मों को स्वीकार करते रहते हैं और उसी को सत्य समझते हैं और तदनुसार फल भोगते रहते हैं, तुमको इस मर्म को समझ लेना चाहिए ॥६॥

अन्ये साम प्रशंसन्ति व्यायाममपरे जनाः ।
नैकं न चापरे केचिदुभयं च तथाऽपरे ॥७॥

कोई तो प्रेम की प्रशंसा करते हैं, कोई उद्योग परायण हैं। कोई ध्यान की प्रशंसा करते हैं। कोई इनमें एक की उपयोगिता नहीं मानते। कोई दूसरे को स्वीकार करते हैं। कोई दोनों को ही नहीं मानते हैं ॥७॥

यज्ञमेव प्रशंसन्ति संन्यासमपरे जनाः ।
दानमेके प्रशंसन्ति केचिच्चैव प्रतिग्रहम् ॥८॥
केचित्सर्वं परित्यज्य तूष्णीं ध्यायन्त आसते ।
राज्यमेके प्रशंसन्ति प्रजानां परिपालनम् ॥९॥
हत्वा छित्वा च भित्वा च केचिदेकान्तशीलिनः

कोई विद्वान् यज्ञ की प्रशंसा करते हैं। कोई संन्यास के परिपोषक हैं। कोई दान देने की और कोई दान लेने की प्रशंसा करते रहते हैं। कोई सब कुछ त्याग कर चुपचाप ध्यान का मण्डन करते हैं। कोई राजसिंहासन पर स्थित होकर प्रजापालन के महत्व का प्रतिपादन करते हैं। वे कहते हैं, कि मार-काट छेदन-भेदन करके राज्य प्राप्त करना चाहिए, परन्तु कोई एकान्तशील होकर संन्यास की ही प्रशंसा करते हैं ॥८-९॥

एतत्सर्वं समालोक्य बुधानामेष निश्चयः ॥१०॥
अद्रोहेणैव भूतानां यो धर्मः स सतां मतः ।

इन सारे मतों को देखकर बुद्धिमानों का यही निश्चय होता है, कि किसी भी प्राणी से द्रोह नहीं करना ही सज्जनों का धर्म माना गया है ॥१०॥

अद्रोहः सत्यवचनं संविभागो दया दमः ॥११॥
प्रजनं स्वेषु दारेषु मार्दवं ह्रीरचापलम् ।
एवं धर्मं प्रधानेष्टं मनुः स्वायम्भुवोऽब्रवीत् ॥१२॥
तस्मादेतत्प्रयत्नेन कौन्तेय प्रतिपालय ।

द्रोह का परित्याग, सत्यवचन, प्रत्येक के विभाग का दान, दया, इन्द्रियदमन, अपनी ही स्त्रियों से सम्भोग, कोमलता, लज्जा, चपलता का त्याग--ये धर्म प्रधान माने गए हैं। ऐसा स्वयम्भू मनु ने कहा है। हे कौन्तेय ! तुम यह सब कुछ समझ लो और प्रयत्न पूर्वक इसका आचरण करो ॥११-१२॥

योहि राज्ये स्थितः शश्वद्वशी तुल्यप्रियाप्रियः ॥१३॥
क्षत्रियो यज्ञशिष्टाशी राजा शास्त्रार्थ तत्ववित् ।

जो राज्य सिंहासन पर स्थित होकर अपने मन और इन्द्रियों को वश में रखता है, किसी को प्रिय अप्रिय नहीं मानता। जो राजा यज्ञ शेष का भोजन करता है-वही शास्त्र के तत्व का जानने वाला राजा होता है ॥१३॥

असाधुनिग्रहरतः साधूनां प्रग्रहे रतः ॥१४॥
धर्मवर्त्मनि संस्थाप्य प्रजा वर्तेत धर्मतः ।
पुत्रसंक्रामितश्रीश्च वने वन्येन वर्तयन् ॥१५॥
विधिना श्रावणेनैव कुर्यात्कर्माण्यतन्द्रितः ।
य एवं वर्तते राजन्स राजा धर्मनिश्चितः ॥१६॥
तस्यायं च परश्चैव लोकः स्यात्सफलोदयः ।

जो राजा दुष्टों का दमन और साधु पुरुषों का पालन करता है। प्रजा को धर्म के मार्ग में लगाकर आप भी धर्मानुसार बर्ताव करता है। आयु के चतुर्थभाग में अपने पुत्र को राज्य का भार सौंप कर वन में चला जाता है और वन के कन्दमूल फलों से अपना निर्वाह करता है। वेद के श्रवण की विधि से उसे सुनकर सावधानी के साथ कर्म करता है। हे राजन्! इस तरह से जो राजा चलता है, वही धर्मात्मा राजा माना गया है। उसी राजा को इस लोक में उन्नति और परलोक में फल की प्राप्ति होती है।

निर्वाणं हि सुदुष्प्राप्यं बहुविघ्नं च मे मतम् ॥१७॥

एवं धर्ममनुक्रान्ताः सत्यदानतपःपराः ।

आनृशंस्यगुणैर्युक्ताः कामक्रोधविवर्जिताः ॥१८॥

प्रजानां पालने युक्ता धर्ममुत्तममास्थिताः ।

गोब्राह्मणार्थे युध्यन्तः प्राप्ता गतिमनुत्तमाम् ॥१९॥

हे राजन ! मोक्ष धर्म बड़ा दुर्लभ और बहुत से विघ्नों से समन्वित है। इस तरह सत्य, दान, तप में परायण होकर धर्मात्मा पुरुष धर्म का आचरण करते आए हैं। वे पुरुष उत्तम २ गुणों से युक्त होकर काम क्रोध से रहित होते हैं । वे प्रजा पालन में परायण होकर उत्तम राजा के धर्मों को स्वीकार करते हैं । जिन राजाओं ने गौ और ब्राह्मणों की रक्षा में युद्ध किया-उन्होंने परम गति प्राप्त की है ॥१७-१९॥

एवं रुद्राः सवसवस्तथाऽऽदित्याः परन्तप ।

साध्या राजर्षिसङ्घाश्च धर्ममेतं समाश्रिताः ।

अप्रमत्तास्ततः स्वर्गं प्राप्ताः पुण्यैः स्वकर्मभिः ॥२०

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां शान्तिपर्वणि राजधर्मपर्वणि राजधर्मे देवस्थानवाक्ये एकविंशोऽध्यायः ॥२१॥

हे परन्तप ! इस तरह रुद्र, वसु, आदित्य, साध्य और राजर्षि-गण, इसी उत्तम धर्म का आश्रय किए हुए हैं और बड़ी सावधानी

से धर्म का आचरण करने वाले, उन पुरुषों ने अपने २ पुण्य कर्मों से स्वर्ग लोक को प्राप्त किया है ॥२०॥

इति श्रीमहाभारत शान्तिपर्वान्तर्गत राजधर्मपर्व में देवस्थान ऋषि द्वारा धर्मनिरूपण के वर्णन का इक्कीसवां अध्याय समाप्त हुआ ।

बाईसवां अध्याय

वैशम्पायन उवाच--

> अस्मिन्नेवान्तरे वाक्यं पुनरेवार्जुनोऽब्रवीत् ।
> निर्विण्णमनसं ज्येष्ठमिदं भ्रातरमच्युतम् ॥१॥
> क्षत्रधर्मेण धर्मज्ञ प्राप्य राज्यं सुदुर्लभम् ।
> जित्वा चारीन्नरश्रेष्ठ तप्यते किं भृशं भवान् ॥२॥

वैशम्पायन बोले—हे राजन्! इसी बातचीत के अनुक्रम में अपने उदास मन वाले ज्येष्ठ भ्राता धर्मराज से अर्जुन ने फिर ये वचन कहा—हे धर्मात्मन्! आपने क्षत्रिय धर्मानुसार इस उत्पन्न दुर्लभ राज्य की प्राप्ति की है। हे नरश्रेष्ठ! आप अपने शत्रुओं को जीत कर भी क्यों आज इतने अधिक सन्तापित हो रहे हो।

> क्षत्रियाणां महाराज संग्रामे निधनं मतम् ।
> विशिष्टं बहुभिर्यज्ञैः क्षत्रधर्ममनुस्मर ॥३॥

हे महाराज ! क्षत्रिय वीरों का युद्ध में मर जाना, बहुत से यज्ञों के सम्पादन से भी श्रेष्ठ माना गया है। तुम तनिक क्षत्रिय धर्म पर विचार तो करो ॥३॥

ब्राह्मणानां तपस्त्यागः प्रेत्य धर्मविधिः स्मृतः ।
क्षत्रियाणां च निधनं संग्रामे विहितं प्रभो ॥४॥

हे प्रभो ! तप और त्याग तो मरने पर ब्राह्मण को कल्याणकारी होते हैं। क्षत्रियों का तो युद्ध में मरना ही श्रेयस्कर है ॥४॥

क्षात्रधर्मो महारौद्रः शस्त्रनित्य इति स्मृतः ।
वधश्च भरतश्रेष्ठ काले शस्त्रेण संयुगे ॥५॥

क्षत्रिय धर्म बड़ा भयानक असिधारा व्रत है। इसमें नित्य शस्त्र से काम पड़ता है। हे भरत-श्रेष्ठ ! समय पर इसमें शस्त्र द्वारा मृत्यु प्राप्त कर लेना ही क्षत्रिय का धर्म है ॥५॥

ब्राह्मणस्यापि चेद्राजन् क्षत्रधर्मेण वर्ततः ।
प्रशस्तं जीवितं लोके क्षत्रं हि ब्रह्मसम्भवम् ॥६॥

हे राजन् ! यदि ब्राह्मण भी क्षत्रिय धर्म से बर्ताव करे, तो उसको भी संसार में श्रेष्ठ माना गया है, क्योंकि क्षत्रिय तो ब्राह्मण से ही उत्पन्न है अर्थात् ब्राह्मणों की व्यवस्था से ही इस धर्म में स्थित हैं ॥६॥

न त्यागो न पुनर्यज्ञो न तपो मनुजेश्वर ।
क्षत्रियस्य विधीयन्ते परस्वोपजीवनम् ॥७॥
स भवान्सर्वधर्मज्ञो धर्मात्मा भरतर्षभ ।
राजा मनीषी निपुणो लोके दृष्टपरावरः ॥८॥

हे मनुजेश्वर ! त्याग, यज्ञ, तप तथा अन्य से भिक्षा आदि का ग्रहण करके क्षत्रिय को जीवन धारण नहीं करना चाहिये। हे भरतर्षभ ! आप तो धर्मात्मा और सारे धर्मों के ज्ञाता हैं। तुम तो बुद्धिमान्, कुशल और संसार के सारे तत्व के पार पहुँचे हुए राजा हो ॥७-८॥

त्यक्त्वा सन्तापजं शोकं दंशितो भव कर्मणि
क्षत्रियस्य विशेषेण हृदयं वज्रसन्निभम् ॥९॥

अब आप इस सन्ताप से उत्पन्न शोक का परित्याग करो और कर्म करने को सन्नद्ध हो जाओ। क्षत्रिय का हृदय तो विशेष रूप से वज्र के समान होता है ॥९॥

जित्वाऽरीन् क्षत्रधर्मेण प्राप्य राज्यमकण्टकम् ।
विजितात्मा मनुष्येन्द्र यज्ञदानपरो भव ॥१०॥

हे मनुष्येन्द्र ! आपने क्षत्रियधर्मानुसार शत्रुओं को जीता और अकण्टक राज्य प्राप्त किया। अब आप अपने मन को वश में करके यज्ञ और दान परायण हो जाइए ॥१०॥

इन्द्रो वै ब्रह्मणः पुत्रः क्षत्रियः कर्मणाऽभवत् ।
ज्ञातीनां पापवृत्तीनां जघान नवतीर्नव ॥११॥

इन्द्र, ब्रह्मा का पुत्र माना गया है, परन्तु वह कर्म से क्षत्रिय माना जाता है। इसने पापपरायण अपने ही बन्धुओं का निन्यानवें बार हनन किया है ॥११॥

तच्चास्य कर्म पूज्यं च प्रशस्यं च विशाम्पते ।
तेनेन्द्रत्वं समापेदे देवानामिति नः श्रुतम् ॥१२॥

हे विशाम्पते ! सब लोग इन्द्र के इस क्षत्रिय कर्म को पूज्य और प्रशंसा के योग्य मानते हैं। इसी कर्म के कारण वे देवों में सर्वश्रेष्ठ इन्द्र बने हैं-ऐसा हमने सुना है ॥१२॥

स त्वं यज्ञैर्महाराज यजस्व बहुदक्षिणैः ।
यथैवेन्द्रो मनुष्येन्द्र चिराय विगतज्वरः ॥१३॥

हे मनुष्येन्द्र ! महाराज ! अब आप भी बड़ी २ दक्षिणा वाले यज्ञ करने में इस तरह प्रवृत्त हो जाओ, जैसे चिन्ता छोड़कर इन्द्र इस क्षत्रियधर्म में प्रवृत्त हो रहा है ॥१३॥

मा त्वमेवं गते किञ्चिच्छोचेथाः क्षत्रियर्षभ ।
गतास्ते क्षत्रधर्मेण शस्त्रपूताः परां गतिम् ॥१४॥

हे क्षत्रियर्षभ ! इस परिस्थित में तुम कुछ चिन्ता न करो । तुम्हारे ये मृत बन्धु बान्धव क्षत्रियधर्मानुसार शस्त्र से पवित्र होकर परमगति को प्राप्त हो चुके हैं ॥१४॥

भवितव्यं तथा तच्च यद् वृत्तं भरतर्षभ ।
दिष्टं हि राजशार्दूल न शक्यमतिवर्तितुम् ॥१५॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि अर्जुनवाक्ये द्वाविंशोऽध्यायः ॥२२॥

हे भरतर्षभ ! जो होनहार थी, वही होकर रही है। हे राज-शार्दूल ! इस होनहार के उल्लंघन करने में कौन समर्थ हो सकता है। इसको तो कोई भी उल्लंघन करने में समर्थ नहीं है ॥१५॥

इति श्रीमहाभारत शान्तिपर्वान्तर्गत राजधर्मपर्व में अर्जुन के कर्म-योग विवेचन का बाईसवां अध्याय समाप्त हुआ ॥

तेईसवां अध्याय

वैशम्पायन उवाच—

एवमुक्तस्तु कौन्तेयो गुडाकेशेन पाण्डवः ।
नोवाच किञ्चित्कौरव्यस्ततो द्वैपायनोऽब्रवीत् ॥१॥

वैशम्पायन बोले—हे जनमेजय ! जब अर्जुन ने कुरुवंशश्रेष्ठ, पाण्डु-पुत्र राजा युधिष्ठिर से इतना कहा—तो वे कुछ न बोले। तब कृष्णद्वैपायन ने इस प्रकार कहना आरम्भ किया ॥१॥

व्यास उवाच—बीभत्सोर्वचनं सौम्य सत्यमेतद्युधिष्ठिर ।
शास्त्रदृष्टः परो धर्मः स्थितो गार्हस्थ्यमाश्रितः ॥२॥

व्यासजी बोले—हे सौम्य ! युधिष्ठिर ! अर्जुन का वचन बिल्कुल सत्य है। वेदादि शास्त्र में गृहस्थधर्म सर्वोत्कृष्ट माना गया है ॥२॥

स्वधर्मं चर धर्मज्ञ यथाशास्त्रं यथाविधि ।
न हि गार्हस्थ्यमुत्सृज्य तवारण्यं विधीयते ॥३॥

हे धर्मज्ञ ! अब तुम अपने धर्म का पालन शास्त्रविधि के अनुसार करो। तुम्हें गृहस्थधर्म को छोड़कर वन में जाना उचित नहीं है ॥३॥

गृहस्थं हि सदा देवाः पितरोऽतिथयस्तथा ।
भृत्याश्चैवोपजीवन्ति तान्भरस्व महीपते ॥४॥

हे महीपते ! इस गृहस्थ से ही देव, पितर, अतिथि और सेवकों की पूजा तथा भरण पोषण होता है। तुम भी इनके भरण पोषण का ध्यान करो ॥४॥

वयांसि पशवश्चैव भूतानि च जनाधिप ।
गृहस्थैरेव धार्यन्ते तस्माच्छ्रेष्ठो गृहाश्रमी ॥५॥

हे जनाधिप ! पशु, पक्षी तथा अन्य प्राणी इस गृहस्थाश्रम से ही पलते हैं। जब गृहस्थ द्वारा ही इनका धारण होता है, तो गृहस्थी को ही संन्यासी से श्रेष्ठ समझना चाहिए ॥५॥

सोऽयं चतुर्णामेतेषामाश्रमाणां दुराचरः ।
तं चराद्य विधिं पार्थ दुश्चरं दुर्बलेन्द्रियैः ॥६॥

इन चारों आश्रमों में गृहस्थधर्म का पालन करना ही सबसे अधिक कठिन है। हे धर्मराज ! अब तुम गृहस्थधर्म के पालन के लिए सन्नद्ध हो जाओ। दुर्बल इन्द्रिय वाले पुरुष इस धर्म का ठीक २ पालन नहीं कर सकते हैं ॥६॥

वेदज्ञानं च ते कृत्स्नं तपश्चाचरितं महत् ।
पितृपैतामहं राज्यं धुर्यवद्वोढुमर्हसि ॥७॥

तुमको सारे वेद का ज्ञान है और तुमने महान् तप का आचरण किया है। अब अपने पिता पितामह के राज्य की धुर को अग्रगामी बैल के समान धारण करके दिखाओ ॥७॥

तपो यज्ञस्तथा विद्या भैक्ष्यमिन्द्रियसंयमः ।
ध्यानमेकान्तशीलत्वं तुष्टिर्ज्ञानं च शक्तितः ॥८॥

ब्राह्मणानां महाराज चेष्टा संसिद्धिकारिका ।
क्षत्रियाणां तु वक्ष्यामि तवापि विदितं पुनः ॥९॥

हे महाराज ! तप, यज्ञ, विद्या, भिक्षा, (संन्यास) इन्द्रिय संयम ध्यान, एकान्त निवास, सन्तोष, ज्ञान-इनका शक्ति के अनुसार सेवन करना-ब्राह्मणों को सिद्धि देने वाला है। अब मैं क्षत्रियों के धर्म बताता हूं, जो तुमको स्वयं ही विदित है ॥८-९॥

यज्ञो विद्या समुत्थानमसंतोषः श्रियं प्रति ।
दण्डधारणमुग्रत्वं प्रजानां परिपालनम् ॥१०॥
वेदज्ञानं तथा कृत्स्नं तपः सुचरितं तथा ।
द्रविणोपार्जनं भूरि पात्रे च प्रतिपादनम् ॥११॥
एतानि राज्ञां कर्माणि सुकृतानि विशाम्पते ।
इमं लोकममुं चैव साधयन्तीति नः श्रुतम् ॥१२॥

हे विशाम्पते ! यज्ञ करना, विद्याध्ययन, वीरता प्रकाश, अपने प्राप्त वैभव से असन्तोष, दुष्टों को दण्ड देना, उग्र स्वभाव रखना, प्रजा का पालन, सारे वेदों का ज्ञान, अच्छी तरह तप का आचरण, बहुत से द्रव्य का सञ्चय और उसका योग्यपात्र में दान करना ये

राजाओं के उत्तम कर्म माने गए हैं। जो क्षत्रिय, इस तरह करता है, वह इस लोक और परलोक दोनों को साध लेता है-ऐसा शास्त्र में देखा गया है ॥१०-१२॥

एषां ज्यायस्तु कौन्तेय दण्डधारणमुच्यते ।
बलं हि क्षत्रिये नित्यं बले दण्डः समाहितः ॥१३॥

हे कौन्तेय ! इनमें सब से बड़ा दुष्टों का दमन करना ही है। क्षत्रिय में तो बल का ही महत्त्व है, क्योंकि बल के अधीन ही दुष्ट का दमन माना गया है ॥१३॥

एता विद्याः क्षत्रियाणां राजन् संसिद्धिकारिकाः ।
अपि गाथामिमां चापि बृहस्पतिरगायत ॥१४॥
भूमिरेतौ निगिरति सर्पो बिलशयानिव ।
राजानं चाविरोद्धारं ब्राह्मणं चाप्रवासिनम् ॥१५॥

हे राजन ! ये सारी विद्यायें क्षत्रियों की सिद्धि करने वाली हैं, बृहस्पति ने इस गाथा का गान किया है, कि जिस तरह सर्प, बिल में रहने वाले चूहों को निगल जाता है, उसी तरह भूमि, इन दोनों को निगल जाती है, जो क्षत्रिय होकर शत्रु का विरोध न करे और ब्राह्मण होकर विषयों के परित्याग में प्रवृत्त न होवे ॥१४॥

सुद्युम्नश्चापि राजर्षिः श्रूयते दण्डधारणात् ।
प्राप्तवान्परमां सिद्धिं दक्षः प्राचेतसो यथा ॥१६॥

सुना जाता है, कि राजर्षि सुद्युम्न ने राज-दण्ड को धारण किया, जिससे उसने प्रचेता-पुत्र दक्ष प्रजापति के समान सिद्धि प्राप्त की।

युधिष्ठिर उवाच-भगवन्कर्मणा केन सुद्युम्नो वसुधाधिपः ।
संसिद्धिं परमां प्राप्तः श्रोतुमिच्छामि तं नृपम् ॥१७॥

धर्मराज बोले—हे भगवन्! राजा सुद्युम्न ने किस कर्म के द्वारा परम सिद्धि प्राप्त की-मैं उस राजा के चरित का श्रवण करना चाहता हूँ ॥१७॥

व्यास उवाच-अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
शङ्खश्च लिखितश्चास्तां भ्रातरौ संशितव्रतौ ॥१८॥

व्यासजी कहने लगे—हे राजन्! इस विषय में यह एक पुराना इतिहास है, कि शंख और लिखित नामक दो व्रतशील भ्राता थे ॥१८॥

तयोरावसथावास्तां रमणीयौ पृथक् पृथक् ।
नित्यपुष्पफलैर्वृक्षैरुपेतौ बाहुदामनु ॥१९॥

हे धर्मराज! उन दोनों भ्राताओं के बड़े सुन्दर पृथक् २ दो आश्रम थे, जिनमें नित्य पुष्प फलों से लदे हुए वृक्ष थे ॥१९॥

ततः कदाचिल्लिखितः शङ्खस्याश्रममागतः ।
यदृच्छयाऽथ शङ्खोऽपि निष्क्रान्तोऽभवदाश्रमात् ॥

एक दिन लिखित अपने भ्राता शंख के आश्रम में गया। उस समय यदृच्छा (इत्तफ़ाक) से शङ्ख कहीं आश्रम के बाहर गया हुआ था ॥२०॥

सोऽभिगम्याश्रमं भ्रातुः शङ्खस्य लिखितस्तदा ।
फलानि पातयामास सम्यक्परिणतान्युत ॥२१॥

तान्युपादाय विस्रब्धो भक्षयामास स द्विजः ।
तस्मिंश्च भक्षयत्येव शङ्खोऽप्याश्रममागतः ॥२२॥
भक्षयन्तं तु तं दृष्ट्वा शङ्खो भ्रातरमब्रवीत् ।
कुतः फलान्यवाप्तानि हेतुना केन खादसि ॥२३॥

लिखित ने अपने भ्राता शङ्ख के आश्रम में पहुँचकर अच्छे पके २ फल झड़ाना आरम्भ किया। उसने उन फलों को ले लिया और निःशङ्क भाव से उनका भक्षण आरम्भ किया। जब वह फलों का भक्षण कर रहा था, तभी वहां शङ्ख भी चला आया। उसने अपने भ्राता लिखित को जब फल खाते देखा-तो वह अपने भ्राता से कहने लगा—हे भ्राता! तुमने यह फल कहां से प्राप्त किए। किस कारण से तुम इनके भक्षण में प्रवृत्त हुए हो ॥२१-२३॥

सोऽब्रवीद्भ्रातरं ज्येष्ठमुपसृत्याभिवाद्य च ।
इत एव गृहीतानि मयेति प्रहसन्निव ॥२४॥

वह अपने भ्राता शङ्ख के पास पहुँचा और प्रणाम करके उससे मुस्कराकर बोला—ये फल मैंने यहीं से तो ग्रहण किये हैं ॥२४॥

तमब्रवीत्तथा शङ्खस्तीव्ररोषसमन्वितः ।
स्तेयं त्वया कृतमिदं फलान्याददता स्वयम् ॥२५॥
गच्छ राजानमासाद्य स्वकर्म कथयस्व वै ।
अदत्तादानमेवं हि कृतं पार्थिवसत्तम ॥२६॥
स्तेनं मां त्वं विदित्वा च स्वधर्ममनुपालय ।
शीघ्रं धारय चौरस्य मम दण्डं नराधिप ॥२७॥

इतना सुनते ही शङ्ख तीव्र क्रोध में भरकर अपने भ्राता से बोला-तुमने स्वयं फल ग्रहण कर लिए-इससे यह तुम्हारी चोरी है। तुम राजा के पास जाओ और उनके सन्मुख अपने कर्म का कथन करो, कि हे राजश्रेष्ठ ! मैंने विना स्वामी के दिए-फलों को ग्रहण कर लिया है। अब तुम मुझे चोर समझो और अपने धर्म का पालन करो। हे नराधिप ! जो चोर को दण्ड देने का विधान है, वही दण्ड आप मुझे प्रदान करें ॥२५-२७॥

इत्युक्तस्तस्य वचनात्सुद्युम्नं स नराधिपम् ।
अभ्यगच्छन्महाबाहो लिखितः संशितव्रतः ॥२८॥

हे महाबाहो ! जब उसने इतना कहा--तो सुद्युम्न नामक राजा के पास व्रतशील महर्षि लिखित जा पहुँचा ॥२८॥

सुद्युम्नस्त्वन्तपालेभ्यः श्रुत्वा लिखितमागतम् ।
अभ्यगच्छत्सहामात्यः पद्भ्यामेव जनेश्वरः ॥२९॥

जब राजा सुद्युम्न ने अपने सेवकों से लिखित मुनि का आगमन सुना, तो राजा पैदल ही अमात्यों को साथ लेकर उनसे मिलने पहुँचा ॥२९॥

तमब्रवीत्समागम्य स राजा धर्मवित्तमम् ।
किमागमनमाचच्व भगवन्कृतमेव तत् ॥३०॥
एवमुक्तः स विप्रर्षिः सुद्युम्नमिदमब्रवीत् ।
प्रतिश्रुत्य करिष्येति श्रुत्वा तत्कर्तुमर्हसि ॥३१॥

उन धर्मात्मा मुनि के पास पहुँचकर राजा ने प्रार्थना की—हे भगवन ! कहिए आपने कैसे आगमन किया। जब राजा सुद्युम्न ने इतना कहा—तो वह ब्रह्मर्षि, राजा सुद्युम्न से इस तरह कहने लगा-कि आप प्रतिज्ञा करें, कि जो आज्ञा होगी-वह मैं पूरी करूँगा। मेरे वचन सुनकर उसे तुम्हें पूरा करना चाहिए ॥३१॥

अनिसृष्टानि गुरुणा फलानि मनुजर्षभ।
भक्षितानि महाराज तत्र मां शाधि मा चिरम् ॥

हे मनुजर्षभ ! महाराज ! मेरे ज्येष्ठ भ्राता ने मुझे फल नहीं दिए थे और मैंने वे खा लिए-अब आप इस चोरी का मुझे शीघ्र दण्ड प्रदान करो ॥३२॥

सुद्युम्न उवाच—प्रमाणं चेन्मतो राजा भवतो दण्डधारिणे।
अनुज्ञायामपि तथा हेतुः स्याद्ब्राह्मणर्षभ ॥३३॥

सुद्युम्न ने कहा—हे ब्राह्मण-श्रेष्ठ ! यदि दण्ड देने के लिए आपको राजा प्रमाण है-तो मैं इस तरह फल खाने की आज्ञा देता हूं-इसमें कोई पाप नहीं मानता-तुमको यह भी मान लेना चाहिए।

स भवानस्यनुज्ञातः शुचिकर्मा महाव्रतः
ब्रूहि कामानघोऽन्यांस्त्वं करिष्यामि हि ते वचः ॥

मैंने आपके इस कर्म की अनुज्ञा दे दी, आप तो बड़े पवित्र कर्म करने वाले, व्रतशील महात्मा है। यह चोरी थोड़े ही है। अब आप यहाँ आने का अन्य कारण बतइए-मैं आपकी आज्ञा पूरी करूँगा ॥३४॥

व्यास उवाच-संछन्द्यमानो ब्रह्मर्षिः पार्थिवेन महात्मना ।
नान्यं स वरयामास तस्माद्दण्डादृते वरम् ॥३५॥

व्यासजी बोले—हे राजन ! महात्मा राजा सुद्युम्न ने ब्रह्मर्षि लिखित को इस कर्म के लिए निर्दोष सिद्ध कर दिया, परन्तु लिखित मुनि ने दण्ड के लिए बार २ आज्ञा दी, उसने दण्ड के सिवा अन्य कुछ वर ही नहीं मांगा ॥३५॥

ततः स पृथिवीपालो लिखितस्य महात्मनः ।
करौ प्रच्छेदयामास धृतदण्डो जगाम सः ॥३६॥

जब महात्मा लिखित ने बहुत ही आग्रह किया, तो राजा सुद्युम्न ने उन मुनि के हाथ कटवा डाले-वह दण्ड स्वीकार करके वहां से चले आए ॥३६॥

स गत्वा भ्रातरं शङ्खमार्तरूपोऽब्रवीदिदम् ।
धृतदण्डस्य दुर्बुद्धेर्भवांस्तत्क्षन्तुमर्हति ॥३७॥

अब लिखित अपने भाई शंख के पास पहुंचा और कहने लगा—मैं दुर्बुद्धि, दण्ड ग्रहण करके आ गया हूं-अब आप भी मुझे क्षमा करें ॥३७॥

शङ्ख उवाच—न कुप्ये तव धर्मज्ञ न त्वं दूषयसे मम ।
धर्मस्तु ते व्यतिक्रान्तस्ततस्ते निष्कृतिः कृता ॥३८॥

शङ्ख बोले —हे धर्मज्ञ ! मैं तुम पर कोई कुपित नहीं हूं। तुम ने मेरा कोई अपराध नहीं किया। तुम्हारे धर्म का व्यतिक्रमण होता था, इससे मैंने यह प्रायश्चित्त करवाया है ॥३८॥

त्वं गत्वा बाहुदां शीघ्रं तर्पयस्व यथाविधि ।
देवानृषीन्पितॄंश्चैव मा चाधर्मे मनः कृथाः ॥३८॥

अब तुम बाहुदा नदी पर शीघ्र जाकर देव, ऋषि और पितरों के तर्पण करो; अधर्म में कभी मन नहीं लगाओ ॥३९॥

तस्य तद्वचनं श्रुत्वा शङ्खस्य लिखितस्तथा ।
अवगाह्यापगां पुण्यामुदकार्थं प्रचक्रमे ॥४०॥
प्रादुरास्तां ततस्तस्य करौ जलजसन्निभौ ।
ततः सविस्मितो भ्रातुर्दर्शयामास तौ करौ ॥४१॥
ततस्तमब्रवीच्छङ्खस्तपसेदं कृतं मया ।
मा च तेऽत्र विशङ्काऽभूद्देवमत्र विधीयते ॥४२॥

अपने ज्येष्ठ भ्राता शङ्ख के वचन सुनकर लिखित बाहुदा नदी पर पहुंचे और वहां उसमें स्नान करके जलदान की चेष्टा करने लगे। यह विचार करते ही उसके कमल के समान हाथ निकल आये। अब लिखित अपने हाथों को देखकर चकित हो गया और उसने वे हाथ अपने भ्राता शङ्ख को दिखाए। शङ्ख ने उससे कहा—यह सब कुछ मैंने तप से सम्पादित किया है, इसमें तुम कोई आश्चर्य न करो। इसमें दैव की ऐसी ही इच्छा थी ॥४२॥

लिखित उवाच—किं तु नाहं त्वया पूतः पूर्वमेव महाद्युते ।
यस्य ते तपसो वीर्यमीदृशं द्विजसत्तम ॥४३॥

लिखित ने कहा—हे महाद्युते ! द्विजसत्तम ! यदि तुम्हारा इतना ही तीव्र तप था, तो तुमने पूर्व में ही मुझे पाप से क्यों नहीं मुक्त कर दिया ॥४३॥

शङ्ख उवाच—एवमेतन्मया कार्यं नाहं दण्डधरस्तव ।
स च पूतो नरपतिस्त्वं चापि पितृभिः सह ॥४४॥

शङ्ख ने कहा-हे भ्राता ! बात तो यही थी, परन्तु मैं दण्ड देने वाला नहीं था । इस दण्ड के देने से राजा भी पवित्र हो गया और तुम भी अपने पितरों के साथ पवित्र हुए ॥४४॥

व्यास उवाच—स राजा पाण्डवश्रेष्ठ श्रेयान्वै तेन कर्मणा ।
प्राप्तवान्परमां सिद्धिं दक्षः प्राचेतसो यथा ॥४५॥

व्यास जी ने कहा-हे पाण्डवश्रेष्ठ ! इस विधान से ही राजा सुद्युम्न को प्राचेतस दक्ष के समान परम सिद्धि प्राप्त हुई, वह सर्वश्रेष्ठ माना गया ॥४५॥

एष धर्मः क्षत्रियाणां प्रजानां परिपालकम् ।
उत्पथोऽन्यो महाराज मा स्म शोके मनः कृथाः ॥

क्षत्रियों का धर्म प्रजा का पालन करना और दण्ड देना है । हे महाराज ! इस धर्म का परित्याग करके जो मार्ग स्वीकार किया जावे, वह विपरीत मार्ग होगा । अब तुम शोक में अपने मन को निमग्न न करो ॥४६॥

भ्रातुरस्य हितं वाक्यं शृणु धर्मज्ञसत्तम ।
दण्ड एव हि राजेन्द्र क्षत्रधर्मो न मुण्डनम् ॥४७॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि व्यासवाक्ये त्रयोविंशोऽध्यायः ॥२३॥

हे धर्मात्माओं में श्रेष्ठ ! राजेन्द्र ! तुम अपने भ्राता अर्जुन के हितकारी वचनों का श्रवण करो। राजा का धर्म तो दण्ड-विधान करना ही है। क्षत्रिय को मूँड मुँडाकर घर से निकल जाना उचित नहीं है ॥४७॥

इति श्रीमहाभारत शान्तिपर्वान्तर्गत राजधर्मपर्व में व्यास के संन्यास योग के खण्डन के प्रतिपादन का तेईसवां अध्याय समाप्त हुआ।

चौबीसवां अध्याय

वैशम्पायन उवाच—

पुनरेव महर्षिस्तं कृष्णद्वैपायनो मुनिः।
अजातशत्रुं कौन्तेयमिदं वचनमब्रवीत् ॥१॥

वैशम्पायन बोले—हे राजन् ! इसके अनन्तर फिर कृष्णद्वैपायन मुनि ने कुन्ती-पुत्र धर्मराज से यह वचन कहा ॥१॥

अरण्ये वसतां तात भ्रातृणां ते मनस्विनाम्।
मनोरथा महाराज ये तत्रासन्युधिष्ठिर ॥२॥
तानि मे भरतश्रेष्ठ प्राप्नुवन्तु महारथाः।
प्रशाधि पृथिवीं पार्थ ययातिरिव नाहुषः ॥३॥

हे तात! महाराज! युधिष्ठिर! तुम्हारे महाबली महारथी भ्राताओं ने वन में रहने के समय जो मनोरथ किए थे। हे भरतश्रेष्ठ! उनको अब तुम्हें पूरा करना चाहिए। हे पार्थ! अब तो आप नहुष-पुत्र ययाति की भांति पृथिवी के पालने में प्रवृत्त हो जाओ ॥२-३॥

अरण्ये दुःखवसतिरनुभूता तपस्विभिः।
दुःखस्यान्ते नरव्याघ्र सुखान्यनुभवन्तु वै ॥४॥

धर्ममर्थं च कामं च भ्रातृभिः सह भारत।
अनुभूय ततः पश्चात्प्रस्थाताऽसि विशाम्पते ॥५॥

हे नरव्याघ्र! इन तपस्वी (बेचारे) तुम्हारे भ्राताओं ने वन में बड़े दुःख का अनुभव किया है। अब तो दुःख का अन्त हो चुका और इनके सुख भोगने का काल उपस्थित हुआ है। हे भरतवंशोद्भव! प्रजापालक! राजन्! प्रथम तुम अपने भ्राताओं के साथ धर्म, अर्थ और काम का उपभोग करो, उसके पीछे वन में चले जाना ॥५॥

अर्थिनां च पितृणां च देवतानां च भारत।
आनृण्यं गच्छ कौन्तेय तत्सर्वं च करिष्यसि ॥६॥

हे भारत! कौन्तेय! तुम प्रथम अतिथि, पितर और देवताओं से उऋण हो लो-उसके अनन्तर सब कुछ कर लेना ॥

सर्वमेधाश्वमेधाभ्यां यजस्व कुरुनन्दन।
ततः पश्चान्महाराज गमिष्यसि परां गतिम् ॥७॥

हे कुरुनन्दन ! प्रथम तो सर्वमेध और अश्वमेध यज्ञ करो। हे महाराज ! इसके बाद तुम परमगति को प्राप्त होजाओगे ॥७॥

भ्रातॄंश्च सर्वान् क्रतुभिः संयोज्य बहुदक्षिणैः ।
संप्राप्तः कीर्तिमतुलां पाण्डवेय भविष्यसि ॥८॥

हे पाण्डवेय ! तुम बड़ी २ दक्षिणा वाले यज्ञों में प्रथम अपने भ्राताओं को सम्मिलित करो, जिससे तुमको अनुपम कीर्ति प्राप्त होगी ॥८॥

विद्मस्ते पुरुषव्याघ्र वचनं कुरुसत्तम ।
शृणुष्वैवं यथा कुर्वन्न धर्माच्च्यवसे नृप ॥९॥

हे कुरुवंशश्रेष्ठ ! पुरुषव्याघ्र ! राजन् ! हमने तुम्हारे वचन को समझ लिया है, परन्तु तुम हमारे वचनों को भी सुनो । हम जिस प्रकार कहें, उस तरह करने में तुम्हारा धर्म से पतन नहीं होगा ॥९॥

आददानस्य विजयं विग्रहं च युधिष्ठिर ।
समानधर्मकुशलाः स्थापयन्ति नरेश्वर ॥१०॥

हे राजन ! युधिष्ठिर ! जो राजा, प्रजा को समान मान कर चलते हैं, वे अन्य के द्रव्य के अपहरण करने वाले डाकुओं के साथ युद्ध और उनका विजय करके धर्म की स्थापना किया करते हैं ॥१०॥

देशकालप्रतीक्षी यो दस्यून्मर्षयते नृपः ।
शास्त्रजां बुद्धिमास्थाय युज्यते नैनसा हि सः ॥११॥

जो देशकाल की प्रतीक्षा करने वाला राजा, चोर और डाकुओं को शास्त्रानुसार बुद्धि के द्वारा दण्ड देता है, वह पाप से युक्त नहीं होता ॥११॥

आदाय बलिषड्भागं यो राष्ट्रं नाभिरक्षति ।
प्रतिगृह्णाति तत्पापं चतुर्थांशेन भूमिपः ॥१२॥

जो राजा प्रजा से उत्पत्ति का छठा भाग कर रूप में लेता रहता है और राष्ट्र की रक्षा नहीं करता-वह प्रजा के पाप के चतुर्थांश का भागी होता है ॥१२॥

निबोध च यथाऽऽतिष्ठन् धर्मान्न च्यवते नृपः ।
निग्रहाद्धर्मशास्त्राणामनुरुद्ध्यन्नपेतभीः ॥१३॥

अब तुम इस बात को समझ लो, कि जिसके आचरण करने से धर्म से च्युत नहीं होना पड़ता । धर्मशास्त्र के विरुद्ध कर्मों के रोक देने से ही राजा अभयभाव को प्राप्त होता है ॥१३॥

कामक्रोधावनादृत्य पितेव समदर्शनः ।
शास्त्रजां बुद्धिमास्थाय युज्यते नैनसा हि सः ॥१४॥

तुम काम और क्रोध का परित्याग करके पिता के समान जा पर समदृष्टि रखो । इस प्रकार जो शास्त्रानुकूल बुद्धि रखकर प्रजापालन और दुष्टों का दमन करता है, वह पाप से युक्त नहीं होता है ॥१४॥

दैवेनाभ्याहतो राजा कर्मकाले महाद्युते ।
न साधयति यत्कर्म न तत्राहुरतिक्रमम् ॥१५॥

हे महाद्युते ! किसी कर्म के करने के समय राजा के उद्योग को यदि दैव नष्ट कर देवे और वह अपने कर्म करने में समर्थ न हो सके, तो इसमें उसका दोष नहीं माना जा सकता है ॥१५॥

तरसा बुद्धिपूर्वं वा निग्राह्या एव शत्रवः ।

पापैः सह न सन्दध्याद्राज्यं पुण्यं च कारयेत् ॥१६॥

राजा को अपने तेज से बुद्धि-पूर्वक शत्रुओं का नाश करते रहना चाहिए और राज्य को पाप से रहित करके पुण्य-युक्त बनाते रहना चाहिए ॥१६॥

शूराश्चार्याश्च सत्कार्या विद्वांसश्च युधिष्ठिर ।

गोमिनो धनिनश्चैव परिपाल्या विशेषतः ॥१७॥

हे युधिष्ठिर ! राजा, सर्वदा आर्य शूरवीरों का सत्कार करता रहे और वेदपाठी, कर्मकाण्डी ब्राह्मण तथा गौ रखने वाले किसान और धनी वैश्यों की विशेष रूप से रक्षा करे ॥१७॥

व्यवहारेषु धर्मेषु योक्तव्याश्च बहुश्रुताः ।

गुणयुक्तोपि नैकस्मिन् विश्वसेत विचक्षणः ॥१८॥

राज्यकार्य और धर्मकार्यों में बहुश्रुत विद्वानों को नियुक्त करे। एक कार्य में कितना भी गुणी और अनुभवी विद्वान् क्यों न हो-उस अकेले का विश्वास नहीं करना चाहिए ॥१८॥

अरक्षिता दुर्विनीतो मानी स्तब्धोऽभ्यसूयकः ।

एनसा युज्यते राजा दुर्दान्त इति चोच्यते ॥१९॥

जो राजा प्रजा की रक्षा नहीं करता वह उद्धत, अभिमानी, बुद्धिहीन और निन्दक है। वह पाप से युक्त होता है और दुर्दान्त कहाता है ॥१६॥

ये रक्षमाणा हीयन्ते दैवेनाभ्याहता नृप ।
तस्करैश्चापि हीयन्ते सर्वं तद्राजकिल्बिषम् ॥२०॥

हे नृप ! यदि राजा प्रजा की रक्षा कर रहा है और अनावृष्टि, अतिवृष्टि आदि दैव प्रकोप से तथा प्रजा, चोरों से पीड़ित होती है, तो यह सब राजा का पाप माना जाता है ॥२०॥

सुमन्त्रिते सुनीते च सर्वतश्चोपपादिते ।
पौरुषे कर्मणि कृते नास्त्यधर्मो युधिष्ठिर ॥२१॥

हे युधिष्ठिर ! अच्छी तरह मन्त्रणा करके नीतिपूर्वक सब कुछ पुरुषार्थ कर्म करने पर भी यदि प्रजा का नाश हो रहा हो-तो वह प्रजा का अधर्म है, उसमें राजा को कुछ पाप नहीं लगता।

विच्छिद्यन्ते समारब्धाः सिद्ध्यन्ते चापि दैवताः ।
कृते पुरुषकारे तु नैनः स्पृशति पार्थिवम् ॥२२॥

बड़े २ उद्योग के साथ किए गए कार्य भी बिगड़ते देखे गए हैं और विपरीत करने पर भी दैव की सहायता से कार्य सिद्ध हो जाते हैं, परन्तु राजा तो अपना पुरुषार्थ दिखाता रहे, फिर इसको कोई पाप नहीं छूता-चाहे कार्य पूरा हो या न होवे ॥२२॥

अत्र ते राजशार्दूल वर्तयिष्ये कथामिमाम् ।
यद्वृत्तं पूर्वराजर्षेर्हयग्रीवस्य पाण्डव ॥२३॥

हे राजशार्दूल ! पाण्डव ! मैं तुमको एक कथा सुनाता हूं-जो पूर्वकाल में एक राजर्षि हयग्रीव का इतिहास है ॥२३॥

शत्रून्हत्वा हतस्याजौ शूरस्याक्लिष्टकर्मणः ।
असहायस्य संग्रामे निर्जितस्य युधिष्ठिर ॥२४॥

हे युधिष्ठिर ! उसने अपने शत्रुओं का वध कर दिया । इसके अनन्तर उस उत्तम कर्म करने वाले, शूरवीर राजा हयग्रीव की संग्राम में पराजय हुई । वह अकेला मारा गया, परन्तु उसका यश सर्वत्र फैला हुआ है ॥२४॥

यन्त्‌सर्वं निग्रहे शात्रवाणांयोगश्चाग्र्यः पालने मानवानाम् ।
कृत्वा कर्म प्राप्य कीर्तिं स युद्धाद्वाजिग्रीवो मोदते स्वर्गलोके ॥

राजा हयग्रीव ने शत्रुओं के विनाश में महान् प्रयत्न किया तथा प्रजा के पालन में बड़े उत्तम कर्म कर दिखाए । उसने उत्तम २ कर्म करके युद्ध में बड़ी कीर्ति प्राप्त की और अन्त में वह मृत्यु पाकर स्वर्गलोक में चला गया ॥२५॥

संयुक्तात्मा समरेष्वाततायी शस्त्रैश्छिन्नो दस्युभिर्वध्यमानः ।
अश्वग्रीवः कर्मशीलो महात्मा संसिद्धार्थो मोदते स्वर्गलोके ॥

वह बड़ा जितेन्द्रिय और युद्ध में शस्त्र चलाने में कुशल था । दस्युओं ने इसको शस्त्रों से छेद डाला । महात्मा हयग्रीव, इस संसार में महान कर्म करके सफल हो गया और अन्त में स्वर्ग में पहुँच कर आनन्द भोग रहा है ॥२६॥

धनुर्यूपो रशना ज्या शरः स्रुक्स्रुवःखड्गोरुधिरंयत्रचाज्यम् ।
रथो वेदी कामजो युद्धमग्निश्चातुर्होत्रं चतुरो वाजिमुख्याः ॥
हुत्वा तस्मिन्यज्ञवह्नावथारीन्पापान्मुक्तो राजसिंहस्तरस्वी ।
प्राणान् हुत्वा चावभृथे रणे स वाजिग्रीवोमोदतेदेवलोके ॥

इस राजा हयग्रीव का धनुष तो यज्ञस्तम्भ समझना चाहिए । धनुष की प्रत्यञ्चा रशना (अश्वरस्सी) बाण स्रुचा, खड्ग स्रुवा, शत्रुओं का रक्त घृत, रथ वेदी, क्रोधोत्पन्नयुद्ध, अग्नि और रथ के चारों अश्व चारों अध्वर्यु थे । इस वेगशाली राजसिंह हयग्रीव ने इस युद्ध रूपी अग्नि में पापी शत्रुओं का हवन कर दिया, जिससे यह पाप मुक्त हो गया । इसके पीछे इस ने युद्ध रूपी यज्ञ में अपने प्राण भी छोड़ दिए, जिससे यह स्वर्गलोक में पहुँचकर आनन्द मना रहा है ॥२७-२८॥

राष्ट्रं रक्षन्बुद्धिपूर्वं नयेन संत्यक्तात्मा यज्ञशीलो महात्मा ।
सर्वाल्लोकान्व्याप्यकीर्त्यामनस्वीवाजिग्रीवोमोदतेदेवलोके ॥

महात्मा, यज्ञशील, जितेन्द्रिय राजा हयग्रीव ने नीति के साथ बुद्धि-पूर्वक राष्ट्र की रक्षा की । इस मनस्वी ने अपनी कीर्ति से सारे लोकों को व्याप्त कर लिया और अन्त में देवलोक की प्राप्ति की ॥२९॥

दैवीं सिद्धिं मानुषींदण्डनीतिंयोगन्यासैःपालयित्वामहीं च ।
तस्माद्राजा धर्मशीलो महात्मा वाजीग्रीवोमोदतेदेवलोके ॥

इस राजा को दैवी सिद्धि प्राप्त थी अर्थात् इसके राज्य में वर्षा आदि अच्छी तरह होती थी। मनुष्यलोक में सिद्धि देने वाली दण्डनीति भी इसकी सफल थी। इसने बुद्धि के साथ सारी पृथिवी का पालन किया। इन सब कारणों से महात्मा धर्मशाली राजा हयग्रीव, देवलोक में आनन्द मना रहा है ॥३०॥

विद्वांस्त्यागीश्रद्दधानः कृतज्ञस्त्यक्त्वालोकंमानुषंकर्मकृत्वा
मेधाविनां विदुषां संमतानां तनुत्यजांलोकमाक्रम्यराजा ॥

यह राजा हयग्रीव, बड़ा विद्वान्, त्यागी, श्रद्धावान और कृतज्ञ था। इसने मनुष्य लोक में उत्तम २ कर्म किए। यह विद्वान और ज्ञानी मनुष्यों के मरकर प्राप्त करने योग्य लोकों में पहुँचा ॥३१॥

सम्यग्वेदान्प्राप्यशास्त्राण्यधीत्यसम्यग्राज्यंपालयित्वामहात्मा
चातुर्वर्ण्यं स्थापयित्वा स्वधर्मे वाजिग्रीवोमोदतेदेवलोके ॥

इस महात्मा ने सारे वेदों और शास्त्रों का अध्ययन किया तथा अच्छी तरह राज्य की पालना की। अपने २ धर्म में चारों वर्णों की स्थापना की। इस तरह कर्म करके अन्त में यह, देवलोक में जा सुशोभित हुआ ॥३२॥

जित्वासंग्रामान्पालयित्वाप्रजाश्चसोमंपीत्वातर्पयित्वाद्विजाग्र्यान्
युक्त्या दण्डं धारयित्वाप्रजानां युद्धेक्षीणो मोदतेदेवलोके ॥

राजा हयग्रीव ने संग्राम जीते, प्रजा का पालन किया। यज्ञ में सोमपान किया और उत्तम २ ब्राह्मणों को सन्तुष्ट किया। इसने

योग्यता के साथ दुष्टों को दण्ड दिया और फिर युद्ध में प्राण त्याग कर देवलोक की प्राप्ति की ॥३३॥

वृत्तंयस्यश्लाघनीयंमनुष्याःसन्तोविद्वांसोऽर्हयन्त्यर्हणीयम् ।
स्वर्गं जित्वा वीरलोकानवाप्यसिद्धिं प्राप्तःपुण्यकीर्तिर्महात्मा

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां
शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि व्यासवाक्ये
चतुर्विंशतितमोऽध्यायः ॥२४॥

इस राजा हयग्रीव का यश बड़ा प्रशंसनीय है। विद्वान, सज्जन उस योग्य चरित्र का नित्य गान करते हैं। महात्मा पुण्यकीर्ति राजा हयग्रीव ने इस तरह स्वर्ग जीत लिया और वीर लोकों की प्राप्ति करके अन्तिम सिद्धि प्राप्त की ॥३४॥

इति श्रीमहाभारत शान्तिपर्वान्तर्गत राजधर्मपर्व में व्यास जी का
धर्मराज को समझाने का चौबीसवां अध्याय समाप्त हुआ।

पच्चीसवां अध्याय

वैशम्पायन उवाच- द्वैपायनवचः श्रुत्वा कुपिते च धनञ्जये ।

व्यासमामन्त्र्य कौन्तेयः प्रत्युवाच युधिष्ठिरः ॥१॥

वैशम्पायन कहने लगे—हे भरतर्षभ ! धनञ्जय अर्जुन को कुपित देखकर और द्वैपायन मुनि के वचन सुनकर कुन्ती-पुत्र राजा युधिष्ठिर ने उनको सम्बोधित करके यह वचन कहा ॥१॥

युधिष्ठिर उवाच-न पार्थिवमिदं राज्यं न भोगाश्च पृथग्विधाः

प्रीणयन्ति मनो मेऽद्य शोको मां रुन्धयत्ययम् ॥२॥

धर्मराज ने कहा—हे मुने ! इस सारी पृथिवी का राज्य और अनेक प्रकार के ये भोग मेरे मन को प्रसन्न करने के साधन नहीं बन पाते हैं, क्योंकि शोक मुझे बहुत ही व्याकुल बना रहा है ॥२॥

श्रुत्वा वीरविहीनानामपुत्राणां च योषिताम् ।
परिदेवयमानानां शान्ति नोपलभे मुने ॥३॥

हे महर्षे ! जब मैं वीर-पुत्र और पतियों से रहित रोती, चिल्लाती स्त्रियों को सुनता हूं, तो मेरे मन को बिलकुल शान्ति नहीं मिल पाती है ॥३॥

इत्युक्तः प्रत्युवाचेदं व्यासो योगविदां वरः ।

युधिष्ठिरं महाप्राज्ञो धर्मज्ञो वेदपारगः ॥४॥

जब राजा युधिष्ठिर ने इतना वचन कहा—तो योगियों में

श्रेष्ठ, वेदपारगामी, धर्मात्मा, महाबुद्धिमान् व्यास जी यह वचन बोले ॥४॥

व्यास उवाच–

न कर्मणा लभ्यते चेज्यया वा नाप्यस्तिदातापुरुपस्यकश्चित्
पर्यायययोगाद्विहितं विधात्रा कालेन सर्वं लभते मनुष्यः ॥

व्यास जी ने कहा—हे धर्मराज ! कोई मनुष्य किसी उद्योग या यज्ञ आदि से कुछ नहीं पा सकता है। कोई पुरुप किसी को कुछ देता लेता नहीं है। विधाता ने ही वस्तुओं का इधर उधर बदलना अपने नियमों से रखा है। जब किसी वस्तु की प्राप्ति का काल दूसरे मनुष्य के लिए प्राप्त हो जाता है, तो वह वस्तु पूर्व-जन्म के कर्मानुसार उस दूसरे पुरुष को मिल जाता है ॥५॥

न बुद्धिशास्त्राध्ययनेन शक्यं प्राप्तुं विशेपं मनुजैरकाले ।
मूर्खोऽपि चाप्नोति कदाचिदर्थान्कालोहिकार्यंप्रति निर्विशेपः

जब तक वस्तु की प्राप्ति का समय नहीं आ जावे, तब तक ज्ञान और शास्त्राध्ययन से कुछ भी प्राप्त नहीं किया जा सकता है। कभी २ मूर्ख भी धन को पा लेता है या अपने कार्यों को सिद्ध कर लेता है। इससे सिद्ध हो गया, कि कार्यसिद्धि के प्रति एक मात्र काल ही कारण है ॥६॥

नाभूतिकालेषु फलं ददन्ति शिल्पानि मन्त्राश्च तथौषधानि
तान्येव कालेन समाहितानिसिद्ध्यन्ति वर्धन्तिच भूतिकाले

जब तक मनुष्य की उन्नति का काल नहीं आता, तब तक किसी

को उसको फल, यन्त्र और औषधि कोई काम नहीं दे सकते, परन्तु जब ऐश्वर्य का काल आ जाता है, तब उसी काल संयोग से सारे कार्य बन जाते हैं और सिद्धि हो जाती है ॥७॥

कालेन शीघ्राः प्रवहन्ति वाताः कालेन वृष्टिर्जलदानुपैति
कालेन पद्मोत्पलवज्जलं च कालेन पुष्यन्ति वनेषु वृक्षाः ॥

समय की प्रेरणा से ही वायु चलता है और समय के अनुसार ही मेघों से वर्षा होती है। जब समय आता है, तभी जल में कमल खिलते हैं और काल के आने पर ही वन में वृक्ष खिले हुए देखे गये हैं ॥८॥

कालेन कृष्णाश्च सिताश्चरात्र्यः कालेन चन्द्रः परिपूर्णबिम्बः
नाकालतः पुष्पफलं द्रुमाणां नाकालवेगाः सरितो वहन्ति

काल से ही कृष्णपक्ष और शुक्ल पक्ष होते हैं। काल से चन्द्रमा का मण्डल पूर्ण हो जाता है। जब तक समय नहीं आता, वृक्षों में पुष्प और फल नहीं लगा करते और विना काल के वेग के साथ नदी भी नहीं बह सकती है ॥९॥

नाकालमत्ताः खगपन्नगाश्च मृगाद्विपाः शैलमृगाश्च लोके।
नाकालतः स्त्रीषु भवन्तिगर्भानायान्त्यकालेशिशिरोष्णवर्षाः

इस संसार में काल के आए विना पक्षी, सर्प, मृग, हाथी और वानर आदि जीव जन्तु कोई भी आनन्द नहीं प्राप्त कर सकता। जब तक समय नहीं आवे, स्त्रियां भी गर्भ धारण नहीं

कर सकती है और काल के उपस्थित हुए विना तो ग्रीष्म या शीत काल भी उपस्थित नहीं होता ॥१०॥

नाकालतो म्रियते जायते वा नाकालतो व्याहरते च बालः
नाकालतो यौवनमभ्युपैति नाकालतो रोहति बीजमुप्तम् ॥

कोई भी विना समय के न मरता है और न उत्पन्न होता है। बालक भी समय के आये विना एक भी अक्षर बोलने में समर्थ नहीं हो पाता। जब तक समय नहीं आता, किसी को भी यौवन प्राप्त नहीं होता और न विना काल के बोया हुआ बीज (वीर्य) भी कभी उत्पन्न हो सकता है ॥११॥

नाकालतो भानुरुपैति योगं नाकालतोऽस्तं गिरिमभ्युपैति
नाकालतो वर्धते हीयते च चन्द्रः समुद्रोऽपि महोर्मिमाली

जब तक समय नहीं आता-सूर्य उदय नहीं हो सकता और समय आए विना वह अस्त गिरि की चोटी पर जाकर नहीं छुप पाता है। समय के योग के विना न तो चन्द्रमा ही घटता, बढ़ता है और न यह विशाल तरङ्गों वाला समुद्र ही उछल सकता है।

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
गीतं राज्ञा सेनजिता दुःखार्तेन युधिष्ठिर ॥१३॥

हे धर्मराज ! इस विषय में भी एक प्राचीन इतिहास चला आता है। दुःख में फंसे हुए राजा सेनजित् ने उसे सुनाया है।

सर्वानिवैष पर्यायो मर्त्यान् स्पृशति दुःसहः ।
कालेन परिपक्वा हि म्रियन्ते सर्वपार्थिवाः ॥१४॥

संसार का दुःसह परिवर्तन सारे मनुष्यों को प्राप्त होकर रहता है। जब काल से मनुष्य पक जाता है, तो उसे काल की प्रेरणा से मरना ही पड़ता है ॥१४॥

घ्नन्ति चान्यान्नरान् राजंस्तानप्यन्ये तथा नराः।
संज्ञैषा लौकिकी राजन्न हिनस्ति न हन्यते ॥१५॥

हे राजन! लोक में यह व्यवहार चला आता है, कि मनुष्य अपने शत्रुओं को मारते हैं या अन्य शत्रु अपने उन शत्रुओं को मार लेता है-परन्तु यह तो काल का खेल है। मनुष्य न तो किसी को मारता है और न कोई मरता है ॥१५॥

हन्तीति मन्यते कश्चिन्न हन्तीत्यपि चापरः।
स्वभावतस्तु नियतौ भूतानां प्रभवाप्ययौ ॥१६॥

कोई मानता है, कि एक ने दूसरे का वध कर दिया। कुछ कहते हैं, कि कोई किसी का वध नहीं कर सकता। भवितव्यता के स्वभाव से ही प्राणियों की उत्पत्ति और विनाश होते हैं, मनुष्य इसमें कर्ता नहीं है ॥१६॥

नष्टे धने वा दारे वा पुत्रे पितरि वा मृते।
अहो दुःखमिति ध्यायन्दुःखस्यापचितिं चरेत् ॥१७॥

धन, स्त्री, पुत्र, पिता आदि के नष्ट हो जाने पर प्राणी दुःख से व्याकुल होता रहता है। इस तरह प्रत्येक प्राणी काल की गति को न समझकर अपने दुःख को आप बढ़ा रहा है ॥१७॥

स किं शोचसि मूढः सन् शोच्यान् किमनुशोचसि।
यस्य दुःखेषु दुःखानि भयेषु च भयान्यपि ॥१८॥

हे राजन् ! अब तुम मोहित होकर क्यों शोक कर रहे हो । मृत व्यक्तियों को शोक से क्या लाभ है। इससे तो प्राणी को दुःख में दुःख और भय में अधिक भय की प्राप्ति होती है ।।१८।।

आत्माऽपि चायं न मम सर्वाऽपि पृथिवी मम ।
यथा मम तथाऽन्येषामिति पश्यन्न मुह्यति ।।१६।।

इस संसार में तो अपना शरीर भी नहीं है, फिर यह पृथिवी अपनी कैसे हो सकती है। यह तो जैसी अपनी, वैसी ही दूसरे की भी है। जो प्राणी इस तत्व को समझ लेता है-वह सब कुछ देखकर भी मोहित नहीं होता ।।१६।।

शोकस्थान सहस्राणि हर्षस्थान शतानि च
दिवसे दिवसे मूढमाविशन्ति न पण्डितम् ।।२०।।

संसार में सहस्रों शोक के स्थान और सैंकड़ों ही हर्ष के स्थान माने गए हैं। ये सब कुछ राग द्वेष के कारण मूढ़ पुरुषों को प्राप्त होते हैं, पण्डित इस झगड़े में नहीं फँसता ।।२०।।

एवमेतानि कालेन प्रियद्वेष्याणि भागशः ।
जीवेषु परिवर्तन्ते दुःखानि च सुखानि च ।।२१।।

इस प्रकार समय के चक्र से ही प्राणियों को प्रिय और अप्रिय वस्तु मिलती हैं और यही कारण दुःख और सुख की प्राप्ति में समझना चाहिए ।।२१।।

दुःखमेवास्ति न सुखं तस्मात्तदुपलभ्यते ।
तृष्णार्तिप्रभवं दुःखं दुःखार्तिप्रभवं सुखम् ।।२२।।
सुखस्यानन्तरं दुःखं दुःखस्यानन्तरं सुखम् ।
न नित्यं लभते दुःखं न नित्यं लभते सुखम् ।।२३।।

यह संसार तो दुख रूप ही है, इसी से तो दुःख ही दुःख मिलता रहता है। तृष्णा से दुःख की उत्पत्ति और दुःख की पीड़ा के अनुभव से विरक्ति द्वारा सुख मिलता है। सुख के पीछे दुःख और दुःख के पीछे सुख यह तो चक्र लगा ही रहता है। किसी भी प्राणी को नित्य दुःख या नित्य सुख नहीं मिल पाता है।

सुखमेव हि दुःखान्तं कदाचिद्दुःखतः सुखम्।
नतस्मादेतद् द्वयं जह्याद्य इच्छेच्छाश्वतं सुखम् ॥ २४॥

सुख का अन्तिम परिणाम दुःख ही तो है और कभी २ दुःख में सुख भी प्राप्त होता देखा गया है। इस सारे तत्व को सोचकर तुम इस झंझट को छोड़ो और निष्काम होकर शाश्वत सुख को प्राप्त करो ॥२४॥

सुखान्तप्रभवं दुखं दुःखान्तप्रभवं सुखम्।
यन्निमित्तोभवेच्छोकस्तापो वा दुःखमूर्छितः।
आयासो वाऽपि यन्मूलस्तदेकाङ्गमपि त्यजेत् ॥२५॥

सुख के अन्त में दुःख और दुःख के अन्त में सुख की उत्पत्ति देखी जाती है, जिसके कारण से शोक, सन्ताप और दुःख की प्राप्ति होती है तथा चित्त की व्यग्रता बढ़ती है, इससे उसका अंश भी अपने पास न फटकने दो ॥२५॥

सुखं वा यदि वा दुःखं प्रियं वा यदि वाऽप्रियम्।
प्राप्तं प्राप्तमुपासीत हृदयेनापराजितः ॥२६॥

सुख या दुःख प्रिय हो या अप्रिय, जो कुछ भी प्राप्त हो जावे, उसे ग्रहण करे और हृदय को अपने वश में रखे ॥२६॥

ईषदप्यङ्ग दाराणां पुत्राणामाचरन्प्रियम् ।
ततो ज्ञास्यसि कः कस्य केन वा कथमेव च ॥२७॥

हे राजन्! पुत्र, स्त्री आदि के प्रिय आचरण में कुछ भी कमी कर दो-फिर देखो ? तुमको पता लग जावेगा, कि कौन किसका किस प्रकार प्रिय है ॥२७॥

ये च मूढतमा लोके ये च बुद्धेः परं गताः ।
त एव सुखमेधन्ते मध्यमः क्लिश्यते जनः ॥२८॥

संसार में तो दो ही प्रकार के मनुष्यों को सुख मिलता है, या तो वह बिल्कुल ही मूढ़ है या बुद्धि के पार को पा गया है। ये दो तो संसार में सुख पा लेते हैं, परन्तु दुःख सुख के विवेचन में लगा हुआ मध्यम कोटि का मनुष्य तो क्लेश ही पाता रहता है ।

इत्यब्रवीन्महाप्राज्ञो युधिष्ठिर स सेनजित् ।
परावरज्ञो लोकस्य धर्मवित्सुखदुःखवित् ॥२९॥

हे युधिष्ठिर ! महाबुद्धिमान् राजा सेनजित् ने इस प्रकार की गाथा कही है। यह राजा संसार के नियम, धर्म के तत्व और सुख दुःख के सार को समझ चुका था ॥२९॥

येन दुःखेन यो दुःखी न स जातु सुखी भवेत् ।
दुःखानां हि क्षयो नास्ति जायते ह्यपरात्परम् ॥३०॥

जिस मनुष्य को दुःख लग चुका और उसका पर्दा गिर चुका, फिर वह सुखी कैसे हो सकता है, वह तो उसे सोच २ कर कुढ़ता रहता है। इस तरह तो दुःख का क्षय ही नहीं होगा—एक चिन्ता के बाद वह सोचते २ अनेक चिन्ता खड़ी कर लेगा ॥३०॥

132578

सुखं च दुःखं च भवाभवौ च लाभालाभौ मरणं जीवितं च।
पर्यायतः सर्वमवाप्नुवन्ति तस्माद्धीरो नैव हृष्येन्न शोचेत् ॥

हे राजन्! सुख-दुःख, जन्म-नाश, लाभ अलाभ, मरण-जीवन ये सब मनुष्यों को कालक्रम से प्राप्त होते हैं। इनके प्राप्त होने पर विद्वान् मनुष्य, हर्ष या शोक नहीं किया करता ॥३१॥

दीक्षां राज्ञः संयुगे युद्धमाहुर्योगं राज्ये दण्डनीत्या च सम्यक्
वित्तत्यागो दक्षिणानां च यज्ञे सम्यग्दानं पावनानीति विद्यात्

हे भारत! शत्रु के सन्मुख होकर युद्ध में जुट जाना ही क्षत्रिय के लिए यज्ञ दीक्षा मानी गई है। राज्यशासन में उचित रीति से दण्ड का प्रयोग करना ही योग विधि है। यज्ञों में विधिपूर्वक दान देना ही राजाओं का संन्यास है। ये ही तीन बातें क्षत्रियों को पवित्र कर देने वाली मानी गई हैं ॥३२॥

रक्षन् राज्यं बुद्धिपूर्वं नयेन संत्यक्तात्मा यज्ञशीलो महात्मा।
सर्वान् लोकान् धर्मदृष्ट्या चरंश्चाप्यूर्ध्वं देहान्मोदते देवलोके॥

जो राजा अपने शरीर पर विजय करके नीति के साथ बुद्धिपूर्वक प्रजा की रक्षा करता है-वही यज्ञशील महात्मा माना जाता है। जो राजा सारे लोगों को धर्म दृष्टि से समान देखता है, वह मृत्यु के बाद देवलोक में जाकर आनन्द प्राप्त करता है ॥३३॥

जित्वासङ्ग्रामान्पालयित्वा च राष्ट्रंसोमंपीत्वावर्धयित्वाप्रजाश्च
युक्त्या दण्डं धारयित्वा प्रजानां युद्धे क्षीणो मोदते देवलोके

संग्राम जीतकर राष्ट्र की पालना करके, यज्ञ में सोमरस पीकर और प्रजा की वृद्धि करके जो राजा युक्तिपूर्वक दण्ड का प्रयोग करता है तथा युद्ध में शरीर त्याग करता है; वह देवलोक में जाकर बड़ा आनन्द प्राप्त करता है ॥३४॥

सम्यग्वेदान्प्राप्य शास्त्राण्यधीत्यसम्यग्राज्यंपालयित्वाच राजा
चातुर्वर्ण्यं स्थापयित्वा स्वधर्मे पूतात्मा वै मोदते देवलोके ॥

जो राजा अच्छी तरह वेद और शास्त्रों का अध्ययन करता है तथा प्रजा का पालन और प्रजा को अपने २ चारों वर्णों के धर्मों में स्थापित कर देता है, वह पवित्र हो जाता है और अन्त में देवलोक में पहुँच कर आनन्द प्राप्त करता है ॥३५॥

यस्य वृत्तं नमस्यन्ति स्वर्गस्थस्यापि मानवा.
पौरजानपदामात्याः स राजा राजसत्तमः ॥३६

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां
शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि सेनजिदुपाख्याने
पञ्चविंशोऽध्यायः ॥२५॥

जिसके आचरण की पुर, राष्ट्र के सारे मनुष्य और अमात्य प्रशंसा करते रहें, वही राजा श्रेष्ठ माना गया है ॥३६॥

इति श्रीमहाभारत शान्तिपर्वान्तर्गत राजधर्म पर्व में २ सेनजित् के उपाख्यान का पच्चीसवां अध्याय समाप्त हुआ ।

GARH.

वां भाग समाप्त हुआ